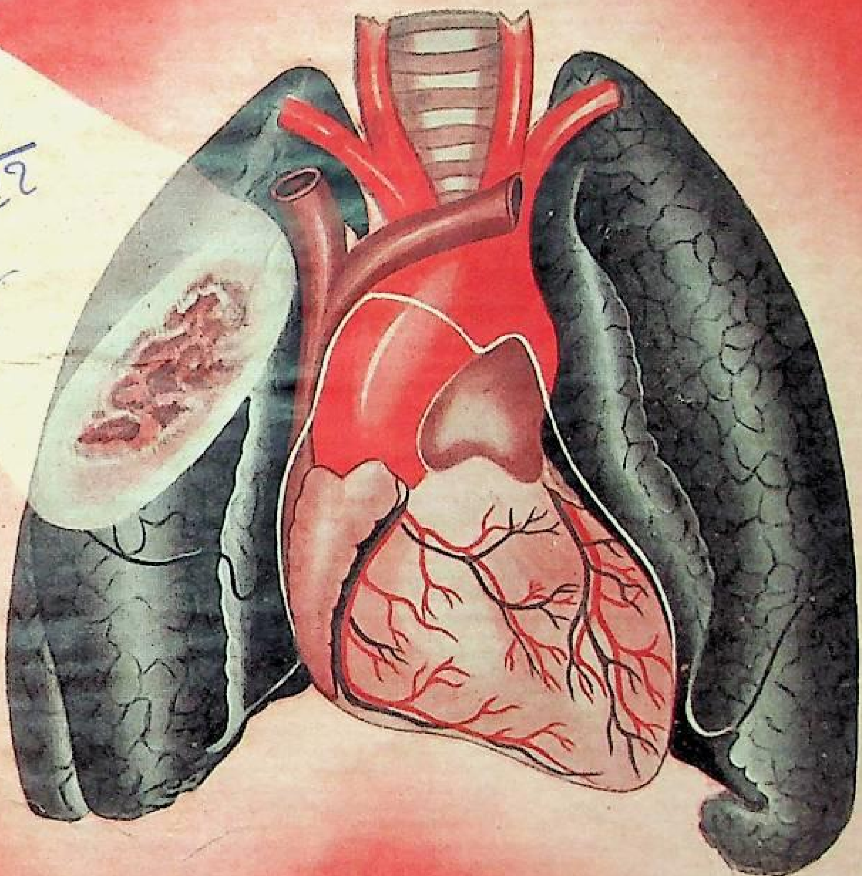


# सचित्र आयुर्वेद

राजयक्ष्मा विशेषांक







प्रकाशक * श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि॰

कलकत्ता - ६

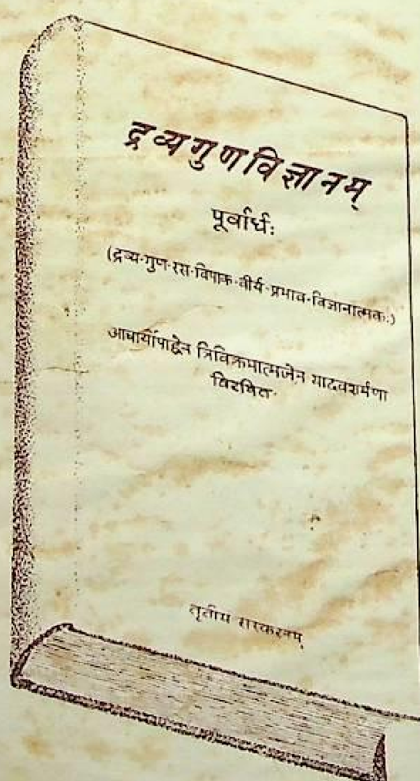
# वैद्यनाथ-प्रकाशन द्वारा प्रकाशित

## आयुर्वेद-विज्ञान के अनुपम ग्रन्थरत्न

शास्त्रीय विवेचन, सुग्राह्य शैली और प्रामाणिक सिद्धान्तों के एकत्रीकरण से गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ हो गई है :




आयुर्वेद-जगत् के सुख्यात **वैद्य श्री रणजितराय** ने इस ग्रन्थ के प्रणयन द्वारा आयुर्वेद-साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। इसलिए मदनमोहनलाल आयुर्वेदीय रिसर्च इन्स्टिट्यूट ने एक हजार रुपये पारितोषिक के रूप में देकर इस ग्रन्थ को समादृत किया है। शारीर-शास्त्र सम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन इस पुस्तक की विशेषता है। इस एक ही पुस्तक में प्राचीन और अर्वाचीन उभय क्रियाशारीर-पद्धति को सामने रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है। साथ ही विषय को व्यावहारिक रूप देने के लिए स्थान-स्थान पर रोगों के निदान और चिकित्सा का भी उल्लेख है, इससे पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ गयी है। नयनाभिराम कवर, सुन्दर गेटअप और पक्की जिल्द युक्त ११०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य लागतमात्र ११)




आयुर्वेदीय-साहित्य में द्रव्यगुण-विवेचन सूत्ररूप में यत्रतत्र बिखरे हुए पाये जाते हैं। आयुर्वेद-तत्त्ववेत्ता पूज्यपाद **आचार्य यादवजी-त्रिकमजी वैद्य** ने उन्हीं सूत्रों का क्रमबद्ध संकलन करके रस-गुण-वीर्य विपाक और प्रभाव आदि पाँच पृथक् अध्यायों द्वारा, संस्कृत-हिन्दी उभय भाषाओं में, ऐसा सरल-सांगोपांग विवेचन किया है, जो आयुर्वेद-विज्ञान को समझने के लिए बहुत लाभदायक है। विशेषकर आयुर्वेद के अध्यापकों, छात्रों तथा छात्रोपयोगी पाठ्य-ग्रन्थ निर्माणकर्त्ताओं को इस ग्रन्थ के द्वारा आयुर्वेद-विज्ञान की मूल भित्ति द्रव्य-गुण शास्त्र का विस्तृत ज्ञान सरलता से प्राप्त हो सकेगा। स्नातकों के शिक्षण के लिये भी यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है। डबल डिमाई १६ पेजी ४०० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य लागतमात्र ४॥) है।

**श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता, पटना, झाँसी, नागपुर**

# वैद्यनाथ-प्रकाशन की वैद्योपयोगी पुस्तकें




## आरोग्य-स्वच्छता और चिकित्सा पर श्रेष्ठ ग्रन्थ

भारत प्रसिद्ध "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्षों में बड़ी मिहनत से इस ... लिखा है। ग्रन्थ का एक-... देता है। इसके ६ ... क चुकी हैं और १० वें ... ी हैं। इसीसे इसकी ... होती है। प्रचार ... या है। मूल्य २),









... आयुर्वेदीय पुस्तकों की बड़ी कमी थी, जिनमें रोग-विचार के साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझा कर सरल भाषा में एकत्र दिया गया हो। इससे सर्व साधारण पाठकों के सामने बहुत दिक्कतें आती थीं। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेद-साहित्य की इसी कमीको दूर करने का प्रयत्न किया गया है। "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" द्वारा बनाई जानेवाली प्रायः सभी दवाओं की निर्माण-विधि तथा उनके गुण-धर्म और योगविधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातों का वर्णन सरल हिन्दी भाषामें किया गया है। मूल्य--७) मात्र।

**श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०; कलकत्ता, पटना, झांसी, नागपुर।**

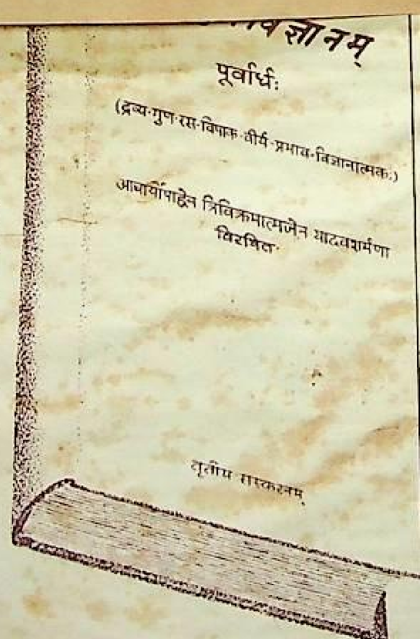
# वैद्यनाथ-प्रकाशन द्वारा प्रकाशित

## आयुर्वेद-विज्ञान के अनुपम ग्रन्थरत्न

शास्त्रीय विवेचन, सुग्राह्य शैली और प्रामाणिक सिद्धान्तों के एकत्रीकरण से गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ हो गई है :

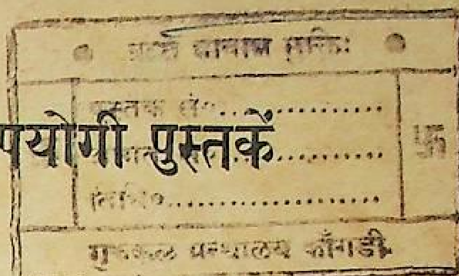


आयुर्वेद-जगत् के सुख्यात वैद्य **श्री रणजितराय** ने इस ग्रन्थ के प्रणयन द्वारा आयुर्वेद-साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्त्ति की है। इसलिए मदनमोहनलाल आयुर्वेदीय रिसर्च इन्स्टिच्यूट ने एक हजार रुपये पारितोषिक के रूप में देकर इस ग्रन्थ को समादृत किया है। शारीर-शास्त्र सम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन इस पुस्तक की विशेषता है। इस एक ही पुस्तक में प्राचीन और अर्वाचीन




आयुर्वेदीय-साहित्य में द्रव्यगुण-विवेचन सूत्ररूप में यत्रतत्र बिखरे हुए पाये जाते हैं। आयुर्वेद-तत्त्ववेत्ता पूज्यपाद **आचार्य यादवजी-त्रिकमजी वैद्य** ने उन्हीं सूत्रों का क्रमबद्ध संकलन करके रस-गुण-वीर्य विपाक और प्रभाव आदि पाँच पृथक् अध्यायों द्वारा, संस्कृत-हिन्दी उभय भाषाओं में, ऐसा सरल-सांगोपांग विवेचन किया है, जो आयुर्वेद-विज्ञान को समझने के लिए बहुत लाभदायक है। विशेषकर आयुर्वेद के अध्यापकों, छात्रों तथा छात्रोपयोगी पाठ्य-ग्रन्थ निर्माणकर्त्ताओं को इस ग्रन्थ के द्वारा आयुर्वेद-विज्ञान की मूल भित्ति द्रव्य-गुण शास्त्र का विस्तृत ज्ञान सरलता से प्राप्त हो सकेगा। स्नातकों के शिक्षण के लिये भी यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है। डबल डिमाई १६ पेजी ४०० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य लागतमात्र ४।।) है।

**श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता, पटना, झाँसी, नागपुर**




# वैद्यनाथ-प्रकाशन की वैद्योपयोगी पुस्तकें




## आरोग्य-स्वच्छता और चिकित्सा पर श्रेष्ठ ग्रन्थ

भारत प्रसिद्ध "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्षों में बड़ी मिहनत से इस ग्रन्थको स्वयं लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। इसके ९ संस्करणों में ८३००० प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं और १० वें संस्करण में १५ हजार प्रतियाँ फिर छापी गयी हैं। इसीसे इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। मूल्य २), डाकखर्च ।।=)

हिन्दी में ऐसी आयुर्वेदीय पुस्तकों की बड़ी कमी थी, जिनमें रोग-विचार के साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझा कर सरल भाषा में एकत्र दिया गया हो। इससे सर्व साधारण पाठकों के सामने बहुत दिक्कतें आती थीं। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेद-साहित्य की इसी कमीको दूर करने का प्रयत्न किया गया है। "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" द्वारा बनाई जानेवाली प्रायः सभी दवाओं की निर्माण-विधि तथा उनके गुण-धर्म और योगविधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातों का वर्णन सरल हिन्दी भाषामें किया गया है। मूल्य—७) मात्र।




**श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०; कलकत्ता, पटना, झांसी, नागपुर।**

# सिद्धयोग संग्रह (चतुर्थ संस्करण) पर

## सहयोगियों के विचार

लेखक--वैद्य यादव जी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई; चतुर्थ संस्करण, मूल्य २॥)

प्रकाशक-श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, १, गुप्ता लेन, कलकत्ता-६

इस ग्रन्थ का १९४३ ई० में प्रथम संस्करण, १९४६ई०में द्वितीय संस्करण, १९५०ई० में तृतीय और १९५४ ई० में चतुर्थ संस्करण हुआ है। यद्यपि इन चार संस्करणों में इस ग्रन्थ की कुल कितनी प्रतियाँ प्रकाशित हुई हैं, इसका कोई उल्लेख नहीं है; फिर भी हम आशा करते हैं कि इसकी दस हजार प्रतियाँ अवश्य बिकी होंगी। इस ग्रन्थ के महान लेखक के नाम पर पूरा संस्करण कुछ ही दिनों में बिक जाना चाहिये था, लेकिन ग्यारह वर्षों में इस के कुल चार संस्करण हुए हैं, यह विशेष हर्ष की बात नहीं है। अंग्रेजी भाषा में यदि इतने लब्धप्रतिष्ठ विद्वान की कोई पुस्तक प्रकाशित हुई होती, तो पहले ही दिन उसकी लाखों प्रतियाँ बिक जातीं।

इस महान ग्रन्थ के महान लेखक वैद्य यादव जी त्रिकमजी आचार्य हैं, जिनकी सारे देश में प्रतिष्ठा है। आप आयुर्वेद के एकनिष्ठ सेवक हैं और आपकी लेखनशैली पूर्णतया सिद्ध और परिपुष्ट है। यद्यपि अनेक योग-ग्रन्थ चल रहे हैं, पर यह ग्रन्थ उनमें सर्वोत्तम है।

प्रकाशकों ने अपने वक्तव्य में कहा है कि प्रथम संस्करण में जितने योग प्रकाशित किये गये थे, उनसे काफी परिवर्द्धन किया गया है। अनेक यूनानी योग भी इस ग्रन्थ में दिये गये हैं, जो उल्लेखनीय हैं। वैद्य यादवजी इतनी अधिक वय में भी आयुर्वेद की सेवा के लिए जो अथक परिश्रम कर रहे हैं, उससे यह आशा की जा सकती है कि उनके अनेक ग्रन्थों से वैद्य समाज लाभान्वित होगा। एतदर्थ लेखक और प्रकाशक, दोनों ही धन्यवादार्ह हैं।

**--भिषग्भारती-सूरत**

० ० ० ० ० ०

कलकत्ते के श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड द्वारा प्रकाशित, "सिद्धयोग-संग्रह" का चौथा संस्करण अभी-अभी छपा है, यह जानकर वैद्यों को प्रसन्नता होगी। 'आयुर्वेद-जगत्' के अप्रेल १९४४ के २२वें अंक में इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण का परिचय देते हुए हमने लिखा था-

"इस पुस्तक में लेखक ने अपने वर्षों के अनुभव का दोहन करके अनेक उपयोगी चीजें वैद्यों के समक्ष उपस्थित किया है। भावमिश्र के सिद्धान्त का अनुसरण करके, ज्वराधिकार से लेकर रसायन-वाजीकरणाधिकार पर्यन्त, भिन्न-भिन्न २९ प्रकरणों में लेखक ने साधिकार औषध-चिकित्सा समझाई है। परिशिष्ट में स्वर्णादि धातुओं के शोधन की विधियाँ भी बताई गई हैं, जिन्हें वैद्य सरलता से व्यवहार में ला सकते हैं।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि रोगों की अनेक विध चिकित्सा न बताते हुए, लेखक ने अपने अनुभूत चिकित्सा-प्रयोगों को ही प्रस्तुत किया है। परिणाम-स्वरूप यह ग्रन्थ नये तथा पुराने वैद्यों और आयुर्वेद महाविद्यालयों के अन्तिम वर्ष की पढ़ाई में विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी होगी।

**--आयुर्वेद जगत-बम्बई**

# यूनानी चिकित्सासार पर विद्वानों के विचार

आ० म० म० पं० भागीरथ स्वामी रसायनाचार्य-कलकत्ता—लिखते हैं :—

"यूनानी चिकित्सा-सार" के लेखक वैद्य-हकीम ठा० दलजीत सिंह जी हैं। वैद्य समाज को यूनानी निदान-चिकित्सा का भी ज्ञान हो, इसी उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गयी है। प्रत्येक रोगों के नाम उर्दू, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषा में लिखे जाने के कारण वैद्यों के लिये बहुत सरलता हो गई है। इसमें रोगों के चिकित्सा क्रम का भी बहुत उत्तम ढंग से **उल्लेख किया गया है**। पुस्तक के अन्त में कुछ यूनानी सिद्धयोंगों के निर्माण-प्रक्रिया भी दी गयी है **जो वैद्यों के लिए बहुत उपयोगी हैं**। यूनानी-चिकित्सा-प्रेमियों के लिए यह पुस्तक बहुत लाभदायक है।

**—वैद्य भागीरथ स्वामी**

डॉ० प्रसादीलाल झा, एल० एम० एस० कानपुर से लिखते हैं :—

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड कलकत्ता द्वारा प्रकाशित "यूनानी चिकित्सा-सार" के रचयिता-वैद्य-हकीम ठा० दलजीत सिंह यूनानी और आयुर्वेद शास्त्र के पूर्ण विद्वान् तथा तुलनात्मक अनुसंधानकर्त्ता और अच्छे लेखक हैं। हिन्दी में यूनानी ग्रन्थों का प्रकाशन होना अच्छा है। इस पुस्तक में अरबी, फारसी, हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषा में रोगों के नाम दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त रोगों के वर्णन, भेद, हेतु, लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि के साथ परिशिष्ट में ज्वर का विशेष रूप से वर्णन तथा "यूनानी चिकित्सा सार" में उल्लिखित योगों की निर्माण-प्रक्रिया का भी उल्लेख है। यह पुस्तक वैद्यों, देशी-चिकित्सा प्रेमी डॉक्टरों तथा साधारण शिक्षित जनता आदि सभी के लिए उपयोगी है। मूल्य भी लागत मात्र सिर्फ ४।।) मात्र है। प्रत्येक को ऐसे उपयोगी पुस्तक खरीदकर लेखक तथा प्रकाशक का उत्साह बढ़ाना चाहिए।

**—डॉ० प्रसादीलाल झा**

आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी, आयुर्वेदाचार्य, डी० एस० सी०, प्रधान आयुर्वेद विभाग, अध्यापक किंगजार्ज कॉलेज लखनऊ से लिखते हैं :—

वास्तव में इस ग्रन्थ के यशस्वी लेखक श्री दलजीत सिंह ने यूनानी चिकित्सा के सार को शुद्ध हिन्दी भाषा में लिखकर वैद्य समाज को इससे परिचय कराने का श्रेय प्राप्त किया है। यह पुस्तक परमोपादेय है। इसमें यूनानी-चिकित्सा के प्रसिद्ध रोगों के लक्षण व उनकी चिकित्सा का संग्रह अच्छा है। प्रत्येक चिकित्सक को इससे लाभ उठाना उचित है।

**—वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी**

वैद्यरत्न पं० प्रभुदत्त जी शास्त्री भिषगाचार्य, प्रिन्सिपल श्री परशुरामपुरिया आयुर्वेदीय कॉलेज सीकर से लिखते हैं :—

श्रीयुत् हकीम ठा० दलजीत सिंह जी वैद्य द्वारा अपनी शैली से राष्ट्रभाषा में लिखित "यूनानी सिद्धयोग संग्रह" के अनन्तर आशिर:पाद समस्त रोगों की यूनानी मतसे सरलतया चिकित्सा का सम्यक् अवबोध कराने वाला "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा लि०" प्रकाशित द्वितीय ग्रन्थ होने पर भी अद्वितीय 'यूनानी-चिकित्सा सार' देखने को मिला। वास्तव में इतना सुन्दर, वास्तविक ज्ञान प्रदान करने वाला सुगम संग्रह ग्रन्थ अबतक हिन्दी में मुद्रित नहीं हुआ था। वैद्य एवं चिकित्सा के विद्यार्थियों को यूनानी-चिकित्सा का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने में यह ग्रन्थ अवश्य सहायक होगा। जिन विद्यालयों में आयुर्वेद के साथ यूनानी का अध्यापन होता है वहां यह ग्रंथ पाठ्यक्रम में उपयोगी रहेगा। इसका श्रेय श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० को देना चाहिए जिन के प्रोत्साहन से शास्त्र-बृंहण का समुद्योग अनवरत विकसित हो रहता है। आशा ही नहीं प्रबल विश्वास भी है कि वैद्य समाज इस ग्रन्थ का अतिशय समादर करेगा।

**—वैद्य प्रभुदत्त शास्त्री**

# संक्रामक रोग विज्ञान पर विद्वानों की सम्मतियाँ

आ० स० स० पं० भागीरथ स्वामी रसायनाचार्य, कलकत्ता से लिखते हैं :—

श्रीयुत् पं०बालक रामजी शुक्ल द्वारा लिखित "संक्रामक रोग विज्ञान" नामक पुस्तक अवलोकन कर बड़ी प्रसन्नता हुई, इस पुस्तक में प्राच्य-पाश्चात्य मत से सरल हिन्दीभाषा में संक्रामक रोगों के निदान—चिकित्सा आदि का सविस्तर वर्णन है। नवीन वैद्यों तथा छात्रों के लिये यह पुस्तक अत्युपयोगी है। हिन्दीमें संक्रामक रोगों पर ऐसी नवीन पुस्तक प्रथम ही देखने आयी है। हम पुस्तक-प्रकाशन के लिए इसके प्रकाशक "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" धन्यवाद के पात्र हैं।

**—वैद्य भागीरथ स्वामी**

डॉ० प्रसादीलाल झा, एल० एम० एस० कानपुर से लिखते हैं :—

श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० कलकत्ता द्वारा प्रकाशित तथा पं० बालकराम जी शुक्ल आयुर्वेदाचार्य द्वारा लिखित पुस्तक "संक्रामक रोग विज्ञान" नामक पुस्तक दीर्घ कालीन तुलनात्मक अध्ययन का फल है। इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ थोड़े समय के अध्ययन से तैयार नहीं होते हैं। यह आयुर्वेद और हिन्दी साहित्य को बढ़ानेवाला है। भारत में होनेवाले प्रायः सभी प्रकार के संक्रामक रोगों के निदान और चिकित्सा आदि का वर्णन इसमें है। आयुर्वेदीय पाठ्यकोर्स में इस पुस्तक का रहना नितान्त आवश्यक है। इस पुस्तक से वैद्य, डॉक्टर तथा सभी श्रेणी के छात्रगण पूर्ण लाभान्वित हो सकते हैं। जनता को चाहिए कि इस पुस्तक को खरीदकर लेखक तथा प्रकाशक दोनों का परिश्रम सफल बनावें।

**—डा० प्रसादीलाल झा**

आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी, आयुर्वेदाचार्य लखनऊ से लिखते हैं :—

"संक्रामक रोग विज्ञान" संक्रामक रोगों के ऊपर संकलित १०८० पृष्ठों की वृहदाकार पुस्तक है। इसमें प्राच्य व प्रतीच्य मत का विवेचन उत्तम ढंग से किया गया है। जो लोग आयुर्वेद में संक्रामक रोगों का अभाव मानते हैं उनके लिए यह ग्रन्थ उत्तम पथप्रदर्शक है। विशेष कर यह छात्रोपयोगी और अल्पमूल्य में प्राप्त होनेवाली सुन्दर पुस्तक है। इसके लिए लेखक व प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। अल्पमूल्य में सब की सेवा करनेवाली इस पुस्तक के प्रकाशन का विशेषश्रेय "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" को है।

**—वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी**

वद्यरत्न पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री भिषगाचार्य, प्रिन्सिपल श्री परशुरामपुरिया आयुर्वैदिक कॉलेज सीकर से लिखते हैं :—

"औपसर्गिक रोगों के विषय में आयुर्वेद का दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए स्वतन्त्रतया उनके निदान व चिकित्सा का झटिति अवबोध करानेवाला कोई ज्ञान कोष अबतक राष्ट्र भाषा में मुद्रित नहीं हुआ था। प्रोफेसर पं० बालकरामजी शुक्ल आयुर्वेदशास्त्राचार्य को वैद्य जगत् की ओर से कृतज्ञता का पात्र समझा जाना चाहिए, जिन्हों ने पाश्चात्य मत से बहुविध संकलन करके संक्रामक रोगों के गतिगहन ज्ञान के अवशेष-विशेष प्रकार से सर्वसाधारण के समक्ष सरलातिसरल शब्दों में उपस्थित किया है। इस प्रकार के अभिनव ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालकों को धन्यवाद है।

**—वैद्य प्रभुदत्त शास्त्री**

आयुर्वेद बृहस्पति श्रीयुत पं० घनानन्द पन्त जी देहली से लिखते हैं :—

'संक्रामक रोग विज्ञान' पुस्तक पढ़कर अत्यधिक आनन्द हुआ। वैद्य और विद्यार्थियों के लिये स्वाध्यायग्रन्थ (रेफरन्स बुक्) के रूप में अत्युपयोगी बना रहेगा। प्रयत्न बहुत स्तुत्य है। मैं इसके प्रकाशन का हृदय से स्वागत करता हूँ और सिफारिश करता हूँ कि वैद्यजन अवश्य अपनायंगे।

**—वैद्य घनानन्द पन्त**

# "सचित्र आयुर्वेद" के पाठकों को महत्त्वपूर्ण सूचना

पिछले ६ वर्षों से 'सचित्र आयुर्वेद' भारतीय जनता और खासकर भारत की प्राचीन चिकित्सा-पद्धति—आयुर्वेद की सेवा पूर्ण सफलता, सुयोग्यता एवं सत्यता के साथ करता आ रहा है। आयुर्वेद के पुनरुद्धार तथा राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति के गौरवपूर्ण आसन पर इसको पुनः प्रतिष्ठित करने की दिशा में हमारे अबतक के यथासाध्य प्रयासों की भारतीय जनता एवं विद्वान वैद्य-समाज ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

'सचित्र आयुर्वेद' के प्रति आयुर्वेद-विशेषज्ञों और आधुनिक चिकित्सा-विशेषज्ञों की समानरूप से सहानुभूति रही है और उनके स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विषयक बहुमूल्य निबन्धों से 'सचित्र आयुर्वेद' का प्रत्येक अंक परिपूर्ण रहा करता है। 'सचित्र आयुर्वेद' की देशव्यापी ख्याति, प्रचार एवं प्रतिष्ठा का यह भी एक प्रधान कारण है।

'सचित्र आयुर्वेद' का वृहदाकार विशेषांक प्रतिवर्ष नववर्षोपलक्ष में प्रकाशित होता है। प्रस्तुत 'राजयक्ष्मा-विशेषांक' आपके हाथों में हैं। लगातार छः मास के परिश्रम से यह अंक प्रस्तुत किया जा सका है और इसके लिये हमें अथक परिश्रम के साथ अपार अर्थराशि का भी व्यय करना पड़ा है।

किन्तु, 'सचित्र आयुर्वेद' की श्रेष्ठता, उपादेयता और लोकप्रियता का प्रधान कारण इसके विशेषांक ही नहीं हैं। इसका प्रत्येक अंक एक-एक विशेषांक जैसा उपयोगी होता है और उनमें संकलित लेखादि अपने विषय के गम्भीर विद्वानों की लेखनी से लिखे होते हैं।

आयुर्वेद की सेवा में 'सचित्र आयुर्वेद' जब कि इतना महान आत्मत्याग, परिश्रम और अथक प्रयास कर रहा है, आयुर्वेद के समर्थकों, सेवकों, चिकित्सकों तथा सर्वसाधारण भारतीय जनता का भी इसको यथासाध्य सहयोग प्राप्त होना वांछनीय है। 'सचित्र आयुर्वेद' के प्रकाशकों के आयुर्वेद-प्रेम और सेवा-भावना की जितनी भी प्रशंसा की जाय, उनके महान् स्वार्थ-त्याग की तुलना में नगण्य ही होगी; क्योंकि पिछले ६ वर्षों से उन्हों ने अपार आर्थिक हानि उठाकर भी 'सचित्र आयुर्वेद' को सर्वाङ्गपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ पत्रिका बनाने में कोई कोरकसर नहीं रखी।

अब, हम अपने भार को कुछ कम करने के लिए अपने सहृदय पाठकों से सहयोग की अपील करते हैं। आगामी जनवरी १९५५ से हम 'सचित्र आयुर्वेद' के वार्षिक मूल्य में कुछ वृद्धि करना चाहते हैं, ताकि हमारा बोझ कुछ हल्का हो सके। अतएव, अपने कृपालु पाठकों को हम सूचित करते हैं कि जनवरी १९५५ से 'सचित्र आयुर्वेद' का वार्षिक शुल्क ५) और एक अंक का मूल्य आठ आने हो जायगा। लेकिन, १९५४ साल में ही जो व्यक्ति इसके ग्राहक बन जायँगे, उनको वर्तमान मूल्य पर ही यह पत्र, विशेषांक के साथ, मिल सकेगा। हमें पूर्ण विश्वास है, आयुर्वेद-प्रेमीजनों का पूर्ववत् सहयोग हमें सदैव प्राप्त होता रहेगा। —स० सम्पादक

# 'सचित्र आयुर्वेद' के 'राजयक्ष्मा-विशेषांक'

## के लिए प्राप्त

## शुभकामनाएँ एवं सम्मतियाँ



भारतवर्ष जैसे विशाल देश में, जहाँ राजयक्ष्मा का प्रभाव विस्तार पा रहा है, यक्ष्मा-रोगियों की चिकित्सा के लिए अधिकाधिक केन्द्रों की स्थापना आवश्यक है। राजयक्ष्मा मानव-जाति का एक शक्तिशाली शत्रु है। इस शत्रु को शीघ्रातिशीघ्र पराजित कर जनसाधारण की रक्षा करनी चाहिये।

**——राजेन्द्र प्रसाद**



भारतीय जनता को यह महत्त्वपूर्ण तथ्य सदैव स्मरण रखना चाहिए कि राजयक्ष्मा एक सार्वजनिक स्वास्थ्य-समस्या है और इसके निरोध के प्रयासों में समाज को ठोस कदम उठाना होगा। जनता को यक्ष्मा-निरोध के उपायों से अवगत कराने के लिए प्रचारों की भी बड़ी आवश्यकता है। इस दिशा में होनेवाले सभी कार्य प्रशंसनीय हैं।

**——राजकुमारी अमृतकौर**



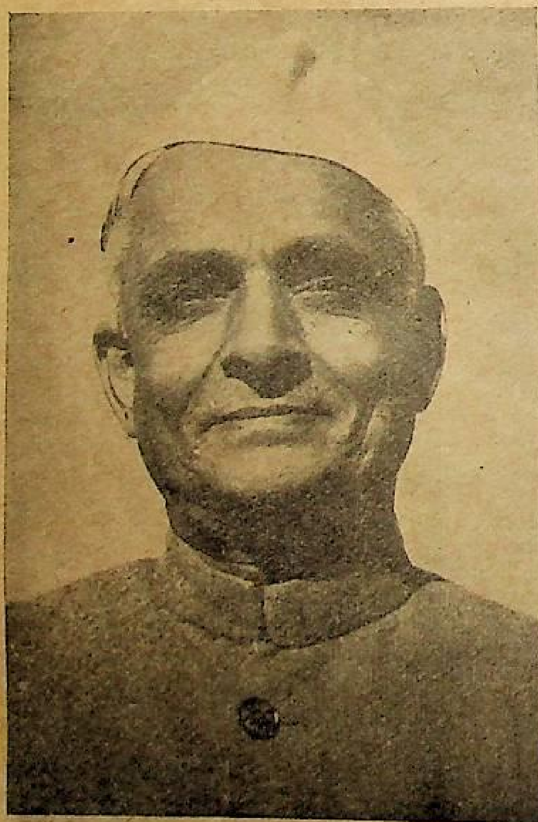
## उपराष्ट्रपति का कार्यालय
नई दिल्ली

प्रिय महोदय,

आप के ४ फरवरी '५४ के पत्र के लिये धन्यवाद। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि यक्ष्मारोग के निरोध के सम्बन्ध में आप ज्ञान का प्रसार करना चाहते हैं। मैं आपके कार्य में सफलता की कामना करता हूँ।

भवदीय,

—एस० राधाकृष्णन्



## माननीय राज्यपाल
बिहार-राज्य, पटना

आयुर्वेद को प्राचीन गौरवपूर्ण पद पर पुनः लाने तथा अनुसन्धान की आधुनिक प्रणालियों के आधार पर इसमें व्यापक ऋषिअर्चन-कार्य करने की आज सब से अधिक आवश्यकता है। मैं आशा करता हूँ कि **'सचित्र-आयुर्वेद'** और इसके विशेषांक, स्वास्थ्य और कल्याण के विज्ञान के रूप में इस आयुर्वेद-विज्ञान की महत्ता का प्रसार करने का प्रयास करेंगे।

—आर० आर० दिवाकर



## मुख्यमंत्री, पंजाब-राज्य

चण्डीगढ़

प्रिय महोदय,

"निस्सन्देह हमारे देशवासियों की अज्ञानता, दारिद्र्य और रहन-सहन का अत्यन्त निकृष्ट स्तर इस सांघातिक रोग के प्रसार के लिये अधिकतर अंशों में जिम्मेदार है; लेकिन ऐसा कोई भी खतरनाक रोग नहीं है, जो मानव-ज्ञान-शक्ति से चंगा न हो सके। मुझे हर्ष है कि आप यक्ष्मा पर एक विशेषांक प्रकाशित कर रहे हैं। मैं आशा करता हूँ कि 'आयुर्वेद भवन' जनसाधारण के लिए बोधगम्य और सुपाठ्य भाषा में उपयोगी लघु-पुस्तिकाएँ प्रकाशित करेगा तथा सम्पूर्ण देश में उनका वितरण और प्रचार करेगा, जिससे प्रत्येक देशवासी इस क्षेत्र में आयुर्वेदिक अनुसन्धानों से अधिकाधिक लाभान्वित हो सके।

**--भीमसेन सच्चर**



## राज्यपाल, मध्यप्रदेश

**राजभवन, नागपुर**

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि आप यक्ष्मा के विषय पर विशेषांक प्रकाशित कर रहे हैं। आपके पिछले विशेषांक जनता को जागरूक बनाने में अत्यधिक सहायक हुए हैं। जटिल रोगों के नियन्त्रण और रोग-मुक्ति में सक्षम होने के लिए आयुर्वेद की महान् प्रतिष्ठा और ख्याति है; अतएव, राजयक्ष्मा और अन्य यक्ष्मा रोगों के विषय पर आप का विशेषांक अवश्य ही अत्यधिक उपयोगी और आकर्षक होगा।

**--बी० पट्टाभि सीतारामय्या**



## स्वास्थ्य तथा खाद्य-मन्त्री, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि प्रसिद्ध आयुर्वेदीय मासिक पत्र **'सचित्र आयुर्वेद'** आगामी मास में राजयक्ष्मा अंक प्रकाशित करने जा रहा है। राजयक्ष्मा रोग की समस्या किसी एक स्थान या प्रदेश के लिए ही नहीं, बल्कि सारे देश के लिए एक बड़ी विकट समस्या है। इस ओर आयुर्वेदीय एवं अन्य चिकित्सा सम्बन्धी पत्रों को विशेष ध्यान देना उचित ही है। छुआछूत से बढ़नेवाले इस अत्यन्त कष्टप्रद रोग से छुटकारा पाने के लिए ऐसे रोगियों को तथा उनके परिवारों को एवं सर्वसाधारण जनता को भी शिक्षित करके पथ-निर्देश करना अत्यन्त आवश्यक कार्य है। यह अतीव संतोष का विषय है कि **'सचित्र आयुर्वेद'** के प्रकाशकों ने अपने उत्तरदायित्व को समझकर **'सचित्र आयुर्वेद'** के राजयक्ष्मा अंक को प्रकाशित करने का निश्चय किया है। **"सचित्र-आयुर्वेद"** मासिक पत्र भारतीय जनता की बड़ी सेवा कर रहा है। इसकी महान् सेवा को एवं महत्ता को ध्यान में रख कर ही हमारी प्रदेश की सरकार ने इस मासिक पत्र को हमारे प्रदेश के कुल ५३७ आयुर्वेदीय एवं यूनानी औषधालयों के लिए उपलब्ध करा देना आवश्यक समझा है।

मुझे आशा है कि इस विशेष अंक द्वारा इस रोग के प्रतिरोध और चिकित्सा की दिशा में जनता को आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से भलीभाँति परिचय होकर चिकित्सा-विषयक साहित्य के एक आवश्यक अंक की पूर्त्ति हो सकेगी।

**—चन्द्रभानु गुप्त**

## शिक्षा मन्त्री, पंजाब

चण्डीगढ़

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप **"सचित्र आयुर्वेद"** का राजयक्ष्मा-विशेषांक प्रकाशित करने जा रहे हैं।

देश की सर्व साधारण जनता को स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्या से निबटने के लिये जागरूक बनाने के हेतु, विविध विशेषज्ञों के सहयोग से, आपने अपने सम्मुख जो लक्ष्य निर्धारित किया है, वह निश्चय ही स्तुत्य है। इस सत्कार्य का अभिनन्दन करता हुआ मैं आपके इन प्रयत्नों की उन्नति की कामना करता हूँ।

**—जगतनारायण**





## समाज-सेवा मन्त्री

विन्ध्य प्रदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि **'सचित्र आयुर्वेद'** का राजयक्ष्मा-अंक प्रकाशित होने जा रहा है। राजयक्ष्मा की समस्या हमारे देश की एक बहुत बड़ी समस्या है। भारत में बहुत बड़ी संख्या में लोग इस रोग के शिकार होते हैं। आशा है, इस अंक के द्वारा राजयक्ष्मा के निवारण की जनता को जानकारी दी जा सकेगी। मैं प्रकाशन की सफलता की कामना करता हूँ।

**—महेन्द्रकुमार**

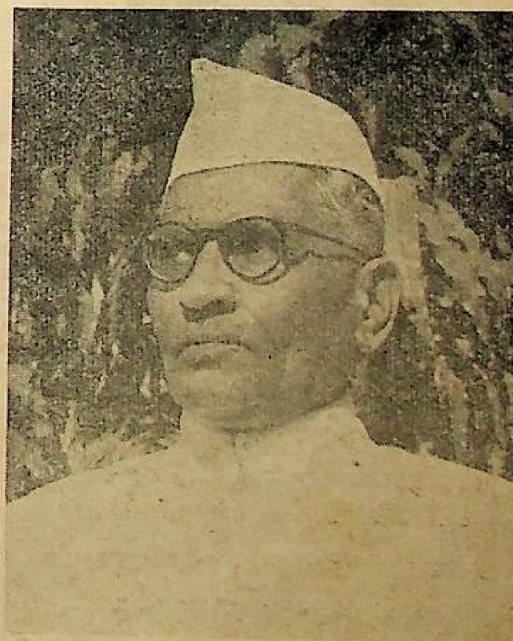
## न्याय और स्वास्थ्य मन्त्री

सौराष्ट्र राज्य, राजकोट

यह हर्ष का विषय है कि श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित **"सचित्र आयुर्वेद"** विभिन्न रोगों के विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में अनेक विशेषांक प्रकाशित कर रहा है और उससे जनता को उद्बुद्ध करने के कार्य में महान् सहायता पहुँचा रहा है। प्रस्तुत राजयक्ष्मा-विशेषांक भी इसी दिशा में एक उत्तम प्रयास है।

हमारे देशवासियों के रोगों और कष्टों को दूर करने की दिशा में होनेवाला कोई भी प्रयास स्तुत्य है।

**—डी० टी० दवे**





आयुर्वेद मार्त्तण्ड, आयुर्वेद वाचस्पति

## पूज्य वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य की

शुभकामना

'सचित्र आयुर्वेद' का विशेषांक 'राजयक्ष्मा-अंक' निकालने का आप का प्रयत्न प्रशंसनीय है। भगवान् धन्वन्तरि इस कार्य में आपको यश प्रदान करें, यही मेरी शुभकामना है।

—वैद्य यादवजी त्रिकमजी



## अखिल भारतीय आयुर्वेद महामण्डल के अध्यक्ष

वैद्यरत्न पं० शिव शर्मा की शुभ सम्मति

"मुझको यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि सचित्र आयुर्वेद' ने "राजयक्ष्मा अंक" प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इस पत्र ने आरम्भ से ही अपना स्तर काफी ऊँचा रखा है और मेरा यह विश्वास है कि राजयक्ष्मा पर इस का विशेषांक भी अपनी महान् परम्परा को अक्षुण्ण रखेगा तथा आयुर्वेद के चिकित्सकों एवं विद्यार्थियों को इस सांघातिक रोग के विषय पर अत्यन्त उपयोगी और ठोस साहित्य प्रदान करेगा। मैं इस विशेषांक की पूरी सफलता की कामना करता हूँ।

—शिवशर्मा

## वैद्यार्णव पं० घनानन्द जी पन्त,

आयुर्वेद बृहस्पति की शुभ सम्मति

'सचित्र आयुवद' के विशेषांक के लिये महत्वपूर्ण "राजयक्ष्मा अंक" प्रकाशित करने का जो निर्णय किया गया है, उसका मैं स्वागत करता हूँ और धन्यवाद देता हूँ। क्षय प्रतिवर्ष ५-६ लाख से भी अधिक जनोंका भोग लेता है और ३० लाख से अधिक इससे रोगग्रस्त हैं। हमारी सरकार उसके निरोध के लिये लाखों नहीं, बल्कि करोड़ों रुपये बी० सी० जी० वेक्सिन, टी० बी० हॉस्पिटल के लिए अयोग्य दिशा में खर्च कर रही हैं। उसको इस यक्ष्मा अंक से युगधर्म का सत्य और उत्तम मार्गदर्शन अवश्य होगा, यही विश्वास है।

—वैद्य घनानन्द पन्त






## माननीय मुख्य मन्त्री

वम्बई-राज्य

हम लोगों ने आयुर्वेद की गौरवशाली परम्परा को अति प्राचीनकाल से पैतृक उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त किया है और यह हमारा पुनीत कर्त्तव्य है कि आयुर्वेद के ज्ञान के विस्तार तथा आयुर्वेद के विकाश और समृद्धि के लिये हम यथोपयुक्त पथानुसरण करें। रोग-व्याधियों और औषधियों के ऋषिअर्चन तथा उनके सभी उपलब्ध वैज्ञानिक ज्ञानों के समन्वय की आवश्यकता होगी। मुझे हर्ष है कि **'सचित्र आयुर्वेद'** ऐसे ज्ञान पर प्रकाश डालने का अवसर देता है और मेरा विश्वास है कि रोगियों और पीड़ितों की सेवा में आयुर्वेद को संलग्न करने के लिये यह दत्तचित्त होगा। मैं आप के राजयक्ष्मा-विशेषांक की सफलता-कामना करता हूँ।

**मोरारजी देशाई**

## मुख्यमन्त्री, उड़ीसा-राज्य

भुवनेश्वर

महोदय,

'सचित्र आयुर्वेद' के 'राजयक्ष्मा अंक' नामक विशेषांक के प्रकाशन के सम्बन्ध में मुख्य मन्त्री को आप की सूचना मिली है। मुख्य मन्त्री ने इस विशेषांक की सफलता की कामना की है।

आपका विश्वस्त

**डी० के० काचरू,**

मुख्य मंत्री के सहायक सचिव।

## शुभसन्देश

**'सचित्र आयुर्वेद'** का 'राजयक्ष्मा विशेषांक' भारत के उन आर्तजनों की रक्षा करने में समर्थ सिद्ध होगा, जिन्हों ने अनवरत डाक्टरों के इंजेक्शनों से शरीर को जीवन-हीन बना लिया है और जिस बहुअर्थसाध्य एलोपैथी ने उनके परिजनों तक को यक्ष्मा का शिकार बना दिया है।

जहाँ शुद्ध अन्न और घृत का अभाव हो, जिस देश में प्रत्येक को १ औंस दूध भी नहीं नसीब नहीं होता हो, वहाँ के लोग कबतक बी० सी० जी० से रोग-क्षमता प्राप्त कर यक्ष्मा से मुकाबला लेते रहेंगे? परिश्रमशील भूखे निर्धनों की प्रवाहहीन शिराओं को बी० सी० जी० और 'स्ट्रेप्टोमायसीन' कबतक जीवन देते रहेंगे? आज इस समस्या का समाधान आवश्यक है।

आशा है आप का विशेषांक भारत के स्वास्थ्य मंत्रालय को यह बता देगा कि आज पानी तरह करोड़ों का व्यय करके भी एलोपैथी यक्ष्मा पर विजय प्राप्त नहीं कर सकी, वहाँ आयुर्वेद के स्वास्थ्योपदेश और आहार-विहार ही पर्याप्त हैं।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का यह सत्प्रयास आयुर्वेद के ही नहीं, विश्व के कल्याण में सहायक सिद्ध हो, यही मेरी शुभकामना है।

**कविराज माधवप्रसाद शास्त्री।**

# धन्यवाद एवं कृतज्ञता-प्रकाश

'सचित्र आयुर्वेद' के नववर्षांक--'राजयक्ष्मा-विशेषांक' को आयुर्वेद-जगत् के सम्मुख उपस्थित करते हुए हमें अपार हर्ष एवं गर्व हो रहा है। इस अंक को सर्वांगसुन्दर और सभी आवश्यक विषयों से परिपूर्ण बनाने की हमने यथासाध्य चेष्टा की है। इसमें हमें कहां तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो हमारे पाठक ही कर सकते हैं।

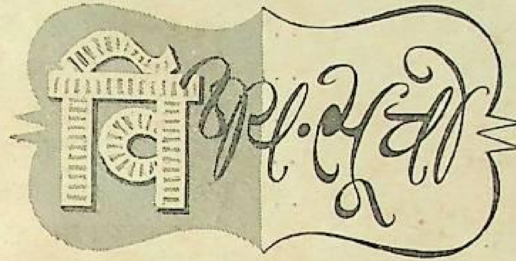
इस अवसर पर 'सचित्र आयुर्वेद' के सम्पादक-मण्डल की ओर से तथा इसके प्रकाशक 'श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड' की ओर से हम अपने उन असंख्य लेखकों, समर्थकों, संरक्षकों, सहानुभूतिशील व्यक्तियों तथा मित्रों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, जिनके सहयोग, सहानुभूति और प्रेरणा से इस विशेषांक के प्रकाशन में हमें सफलता मिली है। यदि इस विशेषांक से आयुर्वेद के प्रतिसंस्कार एवं भयावह यक्ष्मारोग के निरोध में कुछ भी सहायता मिल सकी तो हम अपने को कृतकार्य समझेंगे।

आयुर्वेद-विशेषज्ञों तथा आधुनिक चिकित्सा-विशेषज्ञों की 'सचित्र आयुर्वेद' के प्रति प्रारम्भ से ही हार्दिक सहानुभूति एवं सद्भावना रही है। प्रस्तुत विशेषांक के लिए हमें इतने अधिक लेख, विचार, योजनाएँ एव निबन्धादि प्राप्त हुए कि इन सामग्रियों से एक साथ चार विशेषांक आसानी से प्रकाशित किए जा सकते थे। अतएव, प्रबल इच्छा रखते हुए भी, स्थानाभाव के कारण, हमें अनेक उपयोगी लेखों और सारगर्भित विचारों के मनन से अपने प्रिय पाठकों को वंचित रखने के लिए वाध्य होना पड़ा। फिर भी 'सचित्र-आयुर्वेद' के आगामी अंकों में उक्त लेखों को हम क्रमश: प्रकाशित करने का प्रयास करेंगे। अपने सहृदय लेखकों से हम इसके लिए हार्दिक क्षमा-याचना करते हुए आशा रखते हैं कि 'सचित्र आयुर्वेद' के प्रति उनका कृपाभाव सदैव पूर्ववत् बना रहेगा।

'राजयक्ष्मा-अंक' के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण लेख, चित्र एवं अन्यान्य उपयोगी सामग्रियाँ देकर भारतीय यक्ष्मा-निरोध संघ (Tuberculosis Association of India) ने हमारी बहुमूल्य सहायता की है, एतदर्थ हम उसे हार्दिक धन्यवाद देते हैं। गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद विश्वविद्यालय, हरद्वार के प्राध्यापक डा० अनन्तानन्द जी, 'आयुर्वेद पत्रिका,' नासिक के सम्पादक वैद्य श्री विन्दुमाधव जी शास्त्री तथा आगरा के श्री लक्ष्मीनारायण जी चौरासिया हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्हों ने यक्ष्मा विषयक अनेक एक्स-रे चित्र भेजकर हमारी सहायता की है। अपने सहयोगी कार्यकर्त्ताओं को यहाँ धन्यवाद प्रदान कर हम 'धन्यवाद' शब्द की मर्यादा को छोटा करना नहीं चाहते। अन्यान्य सहयोगी महानुभावों को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं और ऐसी आशा रखते हैं कि भविष्य में भी उनका सहयोग पूर्णरूप से हमें उपलब्ध होता रहेगा।

--स० सम्पादक

वार्षिक मूल्य ४)




इस अंक का मूल्य २)
साधारण एक प्रति का ।=)

—०—



सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (विशेष विवरण १७५ पृष्ठ पर देखें)

।। श्री धन्वन्तरये नमः ।।

आयुर्वेद-जगत् में सर्वजन समादृत ओर सर्वाधिक बिक्री होनेवाला आयुर्वेद-विज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र




*आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥*

| वर्ष ७ | कलकत्ता, जुलाई-अगस्त, १९५४ | अंक १-२ |
|---|---|---|

# बलं ब्रह्म

बलं वाव विज्ञानाद् भूयोऽपीह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति विज्ञाता भवति । बलेन पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृण-वनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्ग-पिपीलके बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ।।

—छान्दोग्योपनिषद्

'बल ही ब्रह्म हैं'—विश्व की महत्तम शक्ति है—ब्रह्म की शोध में लीन ऋषि चिल्ला उठा । अपने पक्ष की पुष्टि में ज्ञान से भी बल की महत्ता बताता वह बोला—

निश्चित ही बल ज्ञान से बढ़कर है । देखते जो हैं, सौ ज्ञानी सभा में बैठे हों और एक बली पुरुष पास से निकल जाय तो सौ के सौ ज्ञानी काँप उठते हैं । और फिर यह ज्ञान भी तो बल से ही उपलब्ध हो सकता है तथाहि :—

पुरुष में बल हो तो उसमें खड़े होने का सामर्थ्य आता है । खड़ा हो सकता हो तो चलने का सामर्थ्य आता है । चल सकता हो तो गुरु के निकट जाना उसके लिए संभव होता है । गुरु के सान्निध्य में आने पर वह बली हो तब ही शास्त्र के दर्शन, श्रवण, मनन, और अनुशीलन के योग्य बनता है और अन्त में ज्ञानी होता है । (शेष दूसरे पृष्ठ पर देखें)

# विचित्रवीर्य तथा अग्निवर्ण की कथाएँ

आचार्य श्रीयुत पं० किशोरीदास बाजपेयी

पुराणों में राजा विचित्रवीर्य्य आदि को तपेदिक होने की बातें जो लिखी हैं, उनसे स्पष्ट है कि खाने-पीने या निवास आदि की ठीक व्यवस्था न होने से इस बीमारी का वैसा संबन्ध नहीं है, जैसा कि दुराचार से। महाकवि कालिदास ने "रघुवंश" में महा व्यभिचारी राजा 'अग्नि-वर्ण' को तपेदिक से घुल-घुल कर मरने का जो वर्णन किया है, उससे भी वही बात सिद्ध होती है। इस रोग का एक प्रसिद्ध नाम 'क्षय' भी इसी की पुष्टि करता है। 'क्षय' का मतलब 'धातुक्षय' से ही है।

इस समय इस देश में इस घृणित व्याधि के अधिका-धिक प्रसार का कारण भी अधिकांश में दुराचार ही है और वह भी अधिकतर मानसिक। इस वृद्धि का कारण गन्दी कहानियाँ, 'प्रेम' नाम से जोड़े—गाँठे गन्दे काव्य, 'रहस्यवाद' के नाम से रचे गए जघन्य काव्य, शिक्षा-जगत् का दूषित वातावरण, सहशिक्षा का प्रसार और सबसे प्रबल कारण है सिनेमा का प्रचार।

जब तक निदान पर ध्यान न दिया जाए, रोग की जड़ नहीं जा सकती। ऊपर लिखे सब कारण सरकार जड़-मूल से नष्ट कर सकती है, यदि चाहे। वह ऐसा न करना चाहे, तो बात दूसरी है। सरकार वैसा न चाहे और आप वैसा कराना चाहते हैं, तो कुछ न होगा। हाँ, आप तब सरकार बदल सकते हैं और ऐसा अवसर प्रति पाँचवें वर्ष आता रहेगा। जब चुनाव समीप आए, तो देश भर में फैले हुए वैद्य-समाज को नेतृत्व करना चाहिए और जनता को समझाना चाहिए कि उसे अपना 'मत' कभी भूल कर भी मत दो, जो कि देश के बच्चों को मुसीबत में डालता रहा है—गन्दगी का प्रचार करने वाले साधनों को बढ़ाता रहा है। उस समय वैद्य-समाज की ओर से एक प्रतिज्ञापत्र निर्धारित करना होगा कि जन-स्वास्थ्य के लिए हम अमुक-अमुक कार्य करेंगे। जो इस प्रतिज्ञा-पत्र को न भरें, उनका प्रबल विरोध होना चाहिए; भले ही फिर वे नेहरू हों, चाहे कोई हों। तभी काम चलेगा। तब ऐसी सरकार बनेगी, जो स्वतः वह सब करेगी, जो आप चाहते हैं। तब फिर आपको चिल्लाना न पड़ेगा। हाँ, वैसी सरकार बन जाने पर एक प्रस्ताव पास करके उससे यह निवेदन जरूर करना पड़ेगा कि इन दुराचारियों ने जो अपने कुकर्मों से मुसीबत अपने सिर ले ली है, जो यक्ष्मा के शिकार हो चुके हैं और जिन की संख्या लाखों पर है, उनका बोझ सम्पूर्ण जनता पर न डाला जाए, जनता के कर से प्राप्त करोड़ों रुपए इन कीड़ों पर न खर्च किए जाएँ, इन्हें समाप्त हो जाने दिया जाए और अधिक अच्छा तो यह हो कि इन सबको एक जगह इकट्ठा करके तोप के गोलों से इकट्ठे दाह-संस्कार इनका कर दिया जाए। समाज शुद्ध हो जाएगा। हाँ, जो निर्दोष हों और छुआछूत के कारण रोग-ग्रस्त हो गए हों, उनकी विधिवत् चिकित्सा का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए।

यही उत्तम उपाय है, इस रोग से देश को बचाने का। रोग का इलाज होता रहे और रोग बढ़ने के कारण भी जारी रहें, यह किस काम का? जिस घड़े में नीचे छेद है, उसमें ऊपर से पानी डालते रहना मूर्खता है। उस घड़े को फोड़ देना चाहिए। सिनेमा, गन्दे उपन्यास और कहानियाँ तथा दूषित कविताएँ भी जारी रहेंगे और यक्ष्मा की चिकित्सा भी बढ़ती रहे; यह गोरख धन्धा है।

—:०:—

(पहले पृष्ठ का शेषांश)

सृष्टि में भी बल की ही महिमा सर्वत्र देखते हैं। पृथ्वी बल से टिकी है, अन्तरिक्ष (वायुमण्डल) बल से टिका है, द्युलोक बल से टिका है, पर्वत बल से टिके हैं; देव, मनुष्य बल से ही टिके हैं। किं बहुना, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, यहाँ तक कि कीट, पतङ्ग और चिऊँटी आदि पर्यन्त समस्त लोक इस बल पर ही टिके हैं। सो—बल की उपासना करो : **बलमुपास्स्व : : बलं ब्रह्म** **—वैद्य रणजितराय**



# यह राजयक्ष्मा-विशेषांक

सचित्र आयुर्वेद का 'राजयक्ष्मा' विशेषाङ्क अपने प्रिय पाठकों के कर कमलों में भगवान् धन्वन्तरि की असीम कृपा से पहुँचाते हुए आज हमें अपार हार्दिक हर्ष हो रहा है। इस विशेषांक के लिए अच्छी सामग्री संग्रह करने में हम कहाँ तक सफल हुए हैं यह तो सहृदय पाठक ही बतलायेंगे, किन्तु हम यह निःसङ्कोच कहते हैं कि अपने कार्य को सम्पन्न करने में हमने कुछ भी प्रयास उठा नहीं रखा। किसी कार्य का कर्ता ही उसमें आनेवाली अड़चनों को जानता है। अच्छे लेखकों से लेख प्राप्त करने में जिन कठिनाइयों को पार करना पड़ता है, उन्हें भुक्त-भोगी ही समझता है। लोक कल्याणैकपरायण गम्भीर विद्वान त्यागी और तपस्वी लेखकों से लेख प्राप्त करना अब भी टेढ़ी-खीर है। यह हमारे एक विशेष सौभाग्य की बात है कि लोक कल्याणैकनिष्ठ विद्वान् प्रेम से 'सचित्र आयुर्वेद' को लेख भेज कर हमें कृतार्थ करते हैं। ऐसे लेखकों की कृपा से ही 'सचित्र आयुर्वेद' विद्वान् पाठकों का प्रिय बनकर आयुर्वेद-क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट पत्र माना जा रहा है।

'सचित्र आयुर्वेद' का पिछला **विशेषांक 'स्वास्थ्य अङ्क' इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।** अच्छी सामग्रियों से परिपूर्ण होने के कारण 'स्वास्थ्य-अङ्क' विद्वान् पाठकों को इतना प्रिय हुआ कि हमें उसके कई संस्करण निकालने पड़े। उत्तर प्रदेशीय सरकार के स्वास्थ्य विभाग ने स्वास्थ्य अङ्क' को इतना पसंद किया कि उसकी ५०० प्रतियाँ खरीद कर अपने औषधालयों को भिजवायीं। अन्य प्रदेशीय सरकारों के स्वास्थ्य विभागों ने भी 'सचित्र आयुर्वेद' के 'स्वास्थ्य अङ्क' को बहुत पसंद किया। उन्होंने उसकी बहुत-सी प्रतियाँ खरीदीं और अपने औषधालयों को भिजवायीं। आज भी 'स्वास्थ्य अङ्क' की बहुत मांग है। इसका कारण उस अङ्क की उपयोगी सामग्री ही है। अच्छे पाठक अच्छी अध्ययन सामग्री को ही पसंद करते हैं। पाठकों की प्रसन्नता के लिए अच्छी सामग्री प्राप्त करना ही हमारा मुख्य कर्तव्य रहता है। पत्र का प्रकाशन समय पर हो, इसका हम यथाशक्ति प्रयत्न करते और ठीक समय पर ही पत्र को प्रकाशित करते हैं।

## राजयक्ष्मांक की विशेषता

राजयक्ष्मा सब रोगों में अपनी पृथक् विशेषता रखता है। भयानकता में, इसका स्थान सबसे ऊंचा है। रोगी ने जहा यह सुना कि उसे 'राजयक्ष्मा' हो गया है, वह एकदम जीवन से निराश हो जाता है। वह समझ लेता है कि अब उसका कोई इलाज नहीं।

यह रोग बहुत पुराना है। इतना पुराना कि वेदों में इसका वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में आरम्भ से अन्त तक, बहुत तरह के यक्ष्मा रोगों का वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में क्रमिप्रधान यक्ष्मा का भी वर्णन है। कुछ लोगों का मत है कि यह 'राजयक्ष्मा का नहीं, यक्ष्मा नाम से भिन्न रोगों का वर्णन है।' यदि यही सत्य मान लें तब भी वेदों में 'राजयक्ष्मा' का जिक्र नहीं, यह नहीं कह सकते। वेद के मन्त्रों में 'अज्ञातयक्ष्मा' और 'राजयक्ष्मा' शब्दों को देखने से वह सन्देह विलीन हो जाता है।

चन्द्रमा को राजयक्ष्मा हुआ था, यह पौराणिक ऐति-हासिक आख्यान भी इस रोग के पुरानेपन का प्रमाण है। राजयक्ष्मा की चिकित्सा के आरम्भ में चरक-संहिता के चिकित्सा-स्थान में श्री चरकाचार्य ने भी पुराणों के उक्त आख्यान को उद्धृत किया है। सुश्रुत ने भी अति सूक्ष्म सूत्रों में उक्त बात का उल्लेख किया है। महाकवि कालिदास ने, रघुवंश के अन्तिम राजा अग्निवर्ण की मृत्यु राजयक्ष्मा से हुई, यह अपने रघुवंश महाकाव्य में लिखा है। यह सब राजयक्ष्मा की प्राचीनता के ही साधक हैं।

राजयक्ष्मा में कोई एक रोग नहीं होता। ज्वर, खाँसी, मन्दाग्नि, अरुचि, अतिसार, रक्तपित्त, उरःक्षत, आदि ग्यारह रोगों का समूह एक ही रोगी को घेर लेता है और इसमें तीनों दोषों का प्रकोप होता है। इसी




महत्ता के कारण यह रोग 'राजयक्ष्मा' या रोगों का राजा कहा जाता है। साधारण चिकित्सकों के वश में आने-वाला यह रोग नहीं है। उनके पास न इस रोग की दवा होती है और न इसकी चिकित्सा के योग्य बुद्धि ही। भारत में राजयक्ष्मा के बहुत से रोगी योग्य चिकित्सक और उचित औषधों की प्राप्ति के अभाव से ही मर जाते हैं।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर हमने 'राजयक्ष्मा' पर यह विशेषांक प्रकाशित किया है। इसमें संकलित सभी पाठ्य-सामग्री आयुर्वेद-शास्त्र के गम्भीर विद्वानों की लेखनी से निःसृत अमूल्य निधि है। इनके पढ़ने से चिकित्सक वर्ग की तो ज्ञानवृद्धि होगी ही, सर्वसाधारण जनता को भी राजयक्ष्मा के विषय में इससे उत्तम जान-कारी प्राप्त होगी। हमें दृढ़ विश्वास है कि हमारा यह प्रयास दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई राजयक्ष्मा की गति को अवरुद्ध करने में सफल सिद्ध होगा। हम अपने प्रिय पाठकों, प्रान्तीय राज्य सरकारों, आयुर्वेदीय संस्थाओं सर्वसाधारण पुस्तकालयों और वाचनालयों से आशा करते हैं कि वे इस अङ्क को अपनाकर हमारे प्रयास को कृतार्थ करेंगे।

## राजयक्ष्मा

राजयक्ष्मा का इतिहास पुराणों में और आयुर्वेद के प्राचीन संहिता ग्रन्थों में जो उल्लेख है, उससे यह ज्ञात होता है कि भारत में यह रोग बाहर से आया है। सबसे पहले यह रोग वृक्षों और ब्राह्मणों के राजा चन्द्रमा को हुआ था। यक्ष्मा का नाम और उसके बहुत से भेद अथर्ववेद में वर्णित हैं और उनकी चिकित्सा का वर्णन भी अथर्ववेद में है। मन्त्र-चिकित्सा, औषध-चिकित्सा और यज्ञ-चिकित्सा आदि प्रकार की यक्ष्मा की चिकित्सा अथर्व वेद में मिलती है। 'मृग' शब्द के समान 'यक्ष्मा' शब्द भी सामान्य और विशेष अर्थ का बोधक है। क्रोध, यक्ष्मा, रोग, ज्वर और आतङ्क यद्यपि पर्याय हैं तथापि 'यक्ष्मा' शब्द रोग विशेष अर्थात् राजयक्ष्मा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र भी इस अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ है।

## निदानान्वेषण

पुराणों में और चरक संहिता में यक्ष्मा की प्रागुत्पत्ति का जो इतिहास मिलता है, उससे स्पष्ट होता है कि यह रोग स्त्री सम्भोगों में अधिक प्रसक्त को प्रायः होता है। रघुवंश के राजा अग्निवर्ण का इतिहास भी उक्त बात का पोषक है। आयुर्वेद में भी स्त्री सम्भोग में अति आसक्ति को क्षय का हेतु कहा है।

व्यायाम (श्रम), अनशन, चिन्ता, रूक्ष भोजन आदि से शरीर के अतिसूक्ष्म मांसावयव विनष्ट होते हैं। प्रति-दिन की निद्रा, सुखासिका, सन्तर्पण, अचिन्तन, स्निग्ध-भोजन आदि से उनकी पुनः पूर्ति होती रहती है। इस कारण शरीर पर उसका दुष्प्रभाव नहीं होता। स्त्री संभोग से उत्पन्न क्षीणता के विषय में भी यही बात है। स्त्री संभोग से जो शुक्र क्षय होता है, दुग्ध, घृत आदि वृष्य पदार्थों के उचित मात्रा में सेवन करने से उसकी पूर्ति शीघ्र हो जाती है। इसलिये उसका शरीर पर दुष्प्रभाव नहीं होता। यदि काम, चिन्ता, अनशन, रूक्षाशन, अल्पाशन अथवा प्रमिताशन अति मात्रा में चलते रहें तो यह क्षय रोग के कारण होकर आयु को अकाल में ही समाप्त कर देते हैं। जिस देश में घी, दूध, मक्खन, मलाई आदि स्निग्ध भोजन की बहुतायत होती है और मनुष्यों की पाचन-शक्ति सम-अवस्था में रहती है, उस देश के मनुष्यों को क्षय रोग नहीं होता। वहां मनुष्यों का शरीर हृष्ट-पुष्ट और बलवान् होता है। अतएव किसी व्याधि का शीघ्र आक्रमण उनके शरीर पर नहीं हो पाता।

## यक्ष्मा-प्रसार का कारण

क्षय अथवा राजयक्ष्मा का प्रसार यह सिद्ध करता है कि देश में सम्पत्ति और सद्गुणों का अभाव है। चर-कोक्त क्षय के कारणों की सूची को देखने से यह तो प्रकट ही है कि यह रोग मनुष्यों को और उन्हीं देशों में फैलता है, जहां के मनुष्यों को श्रेष्ठ खाद्य पदार्थों की अत्यन्त कमी में कठिन काम करना पड़ता है। पेट भरने की चिन्ता में कड़कड़ाती धूप और लुओं में काम करने पर भी रूक्ष, अल्प और प्रमित ही भोजन मिले और बच्चों की उत्पत्ति का तांता बंधा रहे तो देश में राजयक्ष्मा का प्रसार स्वाभाविक ही है।

किन्तु, इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि सम्पन्न लोगों को यक्ष्मा रोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे लोग कठिन काम नहीं करते और श्रेष्ठ खाद्यों की भी उनके

पास कमी नहीं होती? यह ठीक है, कि सम्पन्न मनुष्यों में कठिन काम, रूक्ष भोजन, अल्प भोजन और भोजन की चिन्ता आदि कारणों से यक्ष्मा नहीं होता। उनमें यक्ष्मा होने के कारण भिन्न ही हैं। कामोपभोग में अति प्रवृत्ति ही सम्पन्न मनुष्यों में यक्ष्मा रोग होने का कारण है। उसके सहकारी कारण हैं कुसङ्गति, बहुत भड़कीला–चमकीला, चिकना-चुपड़ा, आकर्षक बनाव-ठनाव, उत्तेजक और नशीले पदार्थों का अधिक सेवन, सिनेमा, सहशिक्षा आदि। इन कारणों को यदि दूर कर दिया जाय और किसी को उचित श्रम से अधिक श्रम न करना पड़े, किसी को उचित भोजन से कम न मिले, किसी को चिन्ता में डूबा रहना न पड़े, कोई परस्त्रीगमन, अगम्या-गमन आदि व्यभिचारों में लिप्त न हो, सभी सदाचार से रहें तो देश राजयक्ष्मा जैसे भयानक रोगों से मुक्त हो सकता है। रोग के उत्पादक कारणों को दूर करने से रोग दूर हो सकता है, यही उसकी उचित चिकित्सा है। जब तक कारण दूर न होंगे, तबतक औषधों के बार-बार प्रयोग करने से भी रोग सर्वथा नष्ट नहीं होगा।

हमारे देश में राजयक्ष्मा का प्रसार प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। स्वास्थ्य विभाग की विज्ञप्तियों से यह सिद्ध होता है कि जो स्थान यक्ष्मा से अभी तक निर्मुक्त थे, वहां भी अब यह रोग फैलता जा रहा है। इसका कारण क्षय के प्रसार-क्षेत्र की अभिवृद्धि है। मनुष्यों के शरीर अच्छी खुराक न मिलने से सारहीन होते जा रहे हैं। सारहीन शरीर पर किसी भी बीमारी के जीवाणुओं का आक्रमण अतिशीघ्र होता है। शरीर में सभी बीमारियों के कारण सदा विद्यमान रहते हैं, किन्तु मनुष्य-शरीरों पर उनका प्रकोप तभी होता है, जब शरीर उचित पोषण न मिलने से सारशून्य हो जाता है। हृष्ट-पुष्ट और बलवान् शरीर पर कोई बीमारी शीघ्र आक्रमण नहीं करती।

आधुनिक डाक्टर कोई बीमारी होने पर यह तो जल्दी कह देते हैं कि बीमार का शरीर बीमारी के आक्रमणों को सहन करने की क्षमता नहीं रखता था, इसलिए इसको बीमारी हो गई। किन्तु, वह अक्षमता आती कहाँ से है, इसका अन्वेषण डाक्टरों ने नहीं किया। चरक ने इस प्रकार के कुछ कारण ढूंढ निकाले थे, जिन्हें आज के डाक्टर भी स्वीकार करते हैं।

व्याधि के प्रतिरोध की शक्ति जिन दोषों से नष्ट हो जाती है, उनमें शारीरिक-शक्ति का ह्रास ही प्रधान है। अति कार्श्य और दौर्बल्य, किसी बीमारी से अथवा उचित आहार की कमी से होते हैं। बलिष्ठ होने के लिए उचित व्यायाम के साथ घी-दूध आदि स्निग्ध पदार्थों का आहार आवश्यक है। इसके न होने से शरीर निर्बल रहता है और निर्बल शरीर व्याधि के आक्रमण को सहन नहीं कर सकता।

## हमारा कर्तव्य

ऐसी स्थिति में हमारा और सरकार का कर्तव्य क्या है, यह विचारणीय विषय है। चिकित्सा-शास्त्र का सिद्धान्त है कि निदान परिवर्जन सबसे पहली चिकित्सा है। हमारे भोजन में आजकल अन्न की कमी नहीं, घी-दूध की कमी है। वह दुधार पशुओं की रक्षा से पूरी हो सकती है। ऐसी दशा में हमारा सबसे पहला कर्तव्य यही है कि घरों में दुधार पशुओं का पालन करें। प्रत्येक घर में इतना दूध तो होना ही चाहिये कि एक सेर दूध छोटे बच्चों को और आध सेर बूढ़ों और जवानों को प्रति-दिन मिल जाया करे। पढ़ने-लिखने वाले विद्यार्थियों को और श्रमशील नौजवानों को पाचन-शक्ति ठीक होने पर एक छटाँक घी प्रतिदिन मिलना आवश्यक है। इतना दूध घी मिले बिना शरीर बलवान् नहीं बन सकता।

## सरकारी सहायता आवश्यक

सरकारी सहायता के बिना देशव्यापी सुधारों का होना असम्भव है। इस विषय में हमें अपनी स्वतन्त्र सरकार की गतिविधि की ओर अवश्य देखना है। लेकिन, हमारी सरकार का कदम सर्वथा विपरीत है। एक ओर तो सरकार ने सहशिक्षा और सिनेमाघरों की वृद्धि की है, जिससे इन्द्रिय संयम की जड़ पर कुठाराघात हुआ है। संयत जीवन का महत्त्व ही लोग भूल गये हैं। ठंडे देशों में इन्द्रिय संयम की भले ही आवश्यकता न हो, परन्तु भारत जैसे गरम देश में उसके बिना काम नहीं चल सकता। महात्मा गान्धी और विनोबाभावे जैसे अनुभवी सन्तों ने यह बात दृढ़ कर दी है कि शरीर को बलिष्ट और दीर्घ-

जीवी बनाने के लिए इन्द्रिय-संयम की परम आवश्यकता है। इन्द्रिय-संयम के बिना अच्छी खुराक खाने का कोई अच्छा प्रभाव शरीर पर नहीं हो सकता। व्यायाम और संयम की प्रवृत्ति बढ़ने से ही लोगों के शरीर बलिष्ठ होंगे और राजयक्ष्मा के रोगियों की संख्या में कमी होगी।

## दुधार पशुओं की हिंसा

इन्द्रिय-संयम के अभाव की तरह दुधार पशुओं की हिंसा भी दूध-घी की कमी और यक्ष्मा रोग का हेतु बन रहा है। इसे कानूनन बन्द करना चाहिए। जहाँ दुधार पशुओं की हिंसा नहीं होती, वहाँ के लोगों में राजयक्ष्मा का जोर नहीं होता। इस कारण दुधार पशुओं की हिंसा पर प्रतिबन्ध लगाना जरूरी है। परन्तु, हमारी स्वतन्त्र सरकार का कदम इसके विपरीत जा रहा है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि जहाँ म्युनिसिपैलिटियों ने कानून बनाकर अपनी हद में गो-हत्या बंद करा दी थी, हमारी केन्द्रीय सरकार ने वहाँ की म्युनिसपैलिटियों को यह कहकर कि इस प्रकार का कानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को ही है, म्युनिसिपैलेटियों को नहीं ; वहाँ पशु-हिंसा पूर्ववत् चालू करवा दी। सरकार के ऐसे कदम यक्ष्मा के प्रसार में सहयोगी सिद्ध होते हैं।

## निष्फल प्रतिरोध

सरकारी स्वास्थ्य विभाग देश में फैले हुए मलेरिया को रोकने के लिए और राजयक्ष्मा, प्लेग, हैजा तथा चेचक जैसे संक्रामक रोगों की रोकथाम के नाम पर करोड़ों रुपयों की दवा प्रतिवर्ष विदेशों से मंगाकर इस्तेमाल करता है। विदेशी दवाओं की अच्छी बिक्री का यह क्रम अंग्रेजों के समय से ही भारत में चल रहा है। लेकिन इससे रोगों का उन्मूलन होने के बदले रोग-प्रसार ही हुआ है। स्वास्थ्य विभाग की विगत वर्षों की रिपोर्ट देखने से यह प्रमाणित हो जाता है। राजयक्ष्मा की मृत्यु-संख्या में आज की-सी वृद्धि पहले नहीं थी। पहले इतने रोगियों की संख्या भी नहीं थी। विदेशी औषधियों के द्वारा मलेरिया और संक्रामक रोगों की रोकथाम का ऐसा विपरीत फल देखकर भी उस क्रम को पहले से भी अधिक अध्यवसाय से चालू रखना घोर मूर्खता का कार्य ही सिद्ध करता है।

## यक्ष्मा से बचने के उपाय

यक्ष्मा को नष्ट करने के लिए आयुर्वेद ने बहुत से अच्छे उपायों का वर्णन किया है। आहार-विहार में नियमित रहना, साहस-क्रियाओं का परिवर्जन करना, सदाचार का पालन करना और स्वस्थ-वृत्त में कहे हुए आदेशों का सावधानी से पालन करना, यह एक राजयक्ष्मा से ही नहीं, सभी रोगों से बचे रहने के उत्तम साधक हैं।

गन्दे-बन्द मकानों में रहना, पाट-रूई और कपड़े की–– मिलों में अधिक देर तक काम करना, अधिक चाय–काफी और शराब पीना, सिनेमा के गन्दे चित्रपट देखकर मन में काम वासना को उत्तेजित करना, नौजवान लड़के और लड़कियों को एक जगह पढ़ाना तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य राजयक्ष्मा की उत्पत्ति के कारण हैं। राजयक्ष्मा से बचने के लिए स्निग्ध भोजन, सादा और साफ सुथरा रहन–सहन, उचित व्यायाम, धूप और हवादार साफ मकान, ब्रह्मचर्य-पालन, ईश्वरोपासना और सदाचार का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। दुधार पशुओं की रक्षा किये बिना स्निग्ध भोजन प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है।

आज और कल के जीवन को मिला कर देखने से यक्ष्मा के कारण और उनसे बचने के ठीक उपायों का परिज्ञान होगा। अंग्रेजों और मुसलमानों के आने से पहले भारत में यक्ष्मा का प्रसार इतना क्यों नहीं था और वर्तमान में यह रोग अधिक क्यों पसरता जा रहा है, इस प्रश्न का ठीक-ठीक हल निकालने से राजयक्ष्मा के सही कारणों का पता लगेगा और प्रतिरोध भी आसान हो जायेगा। गोधन का नाश, जीवन-यापन में आवश्यक सामग्री के लिए चिन्ता, स्त्री-सम्भोग में मर्यादारहित प्रवृत्ति इन तीन बातों को ठीक करके ही देश से राजयक्ष्मा दूर किया जा सकता है।

बिना सरकारी सहायता के इनका सुधार नहीं हो सकता। सरकार चाहे तो इन दोषों का सुधार करके देश में सुख और शान्ति स्थापित कर सकती है।

——:०:——

# आयुर्वेदोऽमृतानाम्

वैद्य रणजितराय

अमृतों में––अमरत्व प्रदान करनेवाले पदार्थों में––दीर्घ और स्वस्थ-जीवन अर्पित करनेवाली वस्तुओं में––आयुर्वेद श्रेष्ठ है। यह चरक की घोषणा है––महर्षि आत्रेय, अग्निवेश, भरद्वाज, इन्द्र और ब्रह्मदेव की प्रतिज्ञा है। आयुर्वेद के कर्मनिष्ठ कार्यकर्त्ता सुन लें, सुनकर गाँठ बाँध लें। आज जबकि निराशा की घोर तमिस्रा-सी छायी है, आयुर्वेद के उपासकों के लिए विकट कसौटी का अवसर आ उपस्थित हुआ है। ऐसी स्थिति में यह वचन अरुणोदय के सदृश आशास्पद भावी का निदर्शक कदाचित् विद्युल्लता के सदृश मार्गदर्शक तो अवश्य ही सिद्ध हो सकता है।

जो आयुर्वेद मानव स्थावरादि प्राणियों को अमरत्व प्रदान करनेवाले पदार्थों में श्रेष्ठ है, वह अपने आपके लिए अमृत-रूप न हो, यह हो ही कैसे सकता है? मुझे सदा से शिकायत रही है और न जाने कबतक रहेगी––आयुर्वेद के हित के लिए कर्म करनेवाले सच्चे ज्ञानयोगियों और कर्मयोगियों की आज भारी कमी है। तथापि जो और जितने भी ज्ञानवीर और कर्मवीर आयुर्वेद के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, आयुर्वेद के ध्वज को समुन्नत बनाए रखने के लिए अहर्निश प्रयास कर रहे हैं, उन्हें आयुर्वेद के अमृतत्व का यह संदेश सुनाना मैं अपना पावन-कर्त्तव्य समझता हूँ; विशेषकर 'सचित्र आयुर्वेद' के नव वर्ष में पद-निक्षेप के आज के पुण्य पर्वपर।

आयुर्वेद के क्षेत्र में कार्य करनेवालों का स्मरण करने के साथ ही हमें हठात् स्मरण हो आता है आयुर्वेद के उन महारथियों का, जो गत वर्ष हमें छोड़कर चले गए––हमें छोड़कर ही नहीं, आयुर्वेद के क्षेत्र को सूना छोड़कर, ऐसा सूनापन जिसकी पूर्ति होना आज तो इतना सुगम प्रतीत नहीं होता। अभिनव वाग्भट्ट, इस उपपद से विभूषित **श्री पुरुषोत्तमशास्त्री हिर्लेकर,** आयुर्वेद के लिए जराजीर्ण शरीर होते हुए भी अखण्ड प्रयास करनेवाले तथा डॉक्टरों को भी सदा आह्वान देनेवाले **डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी,** गत वर्ष जिन्होंने अपने यहाँ महासम्मेलन के लिए निमन्त्रण दिया पर संमेलन होने के पूर्व ही जिनका अवसान हो गया, ऐसे दो महानुभाव, प्रथम राजा और प्रजा दोनों में अपने ज्ञान और कर्म के कारण प्रथितयश **रायसाहब तनसुखजी व्यास,** तथा द्वितीय कोट्टाकल के **श्री पी० एम० वारियार,** अष्टाङ्ग हृदय को नूतन पद्धति से संपादित कर, निर्णयसागर मुद्रणालय को देनेवाले **श्री हरिशास्त्री पराड़कर,** काश्यप-संहिता को संपादित कर मुद्रित करानेवाले विद्वच्छिरोमणि **राजगरु श्री हेमराज शर्मा,** पहले लाहौर में तथा पश्चात् देहली में अपने चिकित्सा-प्रावीण्य से लब्धकीर्ति **श्री ठाकुरदत्त जी मुलतानी** एवं वैद्यगुरु **आचार्य सुरेन्द्रमोहन,** राजस्थान, में आयुर्वेद के डायरेक्टर **राजवैद्य नन्दकिशोर जी शर्मा,** बडौदा के प्राचीन मल्ल विद्या आदि के अश्रान्त प्रचारक **प्रो० मणिकराव,** गुजरात फार्मेसी के अधिपति **श्री रविशंकर भाई**––अखिल भारतीय कीर्ति के धनी वैद्य महानुभाव गत वर्ष हम से विदा हो गए। दिवंगतों की यह हृदय विदारक सूची* और भी दीर्घ है। अपने-अपने प्रदेश में ज्ञान, चिकित्सा, कर्म, आदि के कारण प्रख्यात अन्य भी कितने ही महानुभावों को हृदय में ही स्मरण कर भगवान् धन्वन्तरि से उनके रिक्त स्थान की शीघ्र पूर्ति की हम प्रार्थना करते हैं।

'सचित्र आयुर्वेद' आज अपने जीवन का षष्ठ वर्ष समाप्त कर कर सप्तम वर्ष में पदार्पण कर रहा है। प्रतिवर्ष हम उसके व्यतीत वर्ष के कृत-अकृत का विचार कर उसकी भविष्य की योजनाओं का विवरण प्रस्तुत करते थे। आज उत्कर्ष सिद्धि करता 'सचित्र आयुर्वेद' आयुर्वेद-जगत् का एक अङ्ग-सा बन गया है। इस दशा में उसका अकेले का विचार न कर हम थोड़े में गतवर्ष आयुर्वेद-जगत् में घटित प्रधान घटनाओं का निर्देश करना उचित समझते हैं। इसके

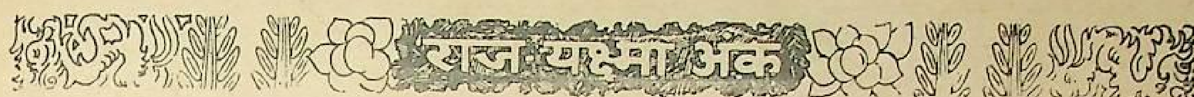
* सूची (नामावली)––रूप सूची (हृदय को विदीर्ण करनेवाली सुई––शल्य)।

पूर्व हम 'सचित्र आयुर्वेद' की ओर से उन समस्त विद्वानों का, समस्त अनुग्राहक-ग्राहकों तथा समाचार-प्रेषकों का एवं इसके समस्त हित-चिन्तकों का हृदय से कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं जिनकी अविरल कृपा-दृष्टि से 'सचित्र आयुर्वेद' इतना उत्कर्ष सिद्ध कर सका है। इन कृपालु महानुभावों की नामावली इतनी दीर्घ है कि सब का नामतः निर्देश शक्य नहीं है और यह 'सचित्र आयुर्वेद' की लोकप्रियता का एक प्रमाण है। तथापि उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य विभाग के उप-संचालक माननीय **श्री द० अ० कुलकर्णी जी** का विशेष स्मरण करना आवश्यक-कर्त्तव्य है। आपकी प्रेरणा से उत्तर प्रदेश के शासन ने 'सचित्र आयुर्वेद' को अपने पत्र के रूप में अपनाया तथा अपूर्व प्रोत्साहन का पात्र बनाया है। आशा है अन्य राज्य भी इसे अपना कृपा-भाजन बनाएँगे।

आयुर्वेद-जगत् में गत वर्ष घटित प्रमुख ध्यान खींचने-वाली घटना मुंबई राज्य द्वारा प्रवर्तित शुद्ध (केवल) आयुर्वेद का पाठ्यक्रम है। जून के प्रथम सप्ताह से राज्य में कई स्थलों पर यह अमल में भी आ गया है। यों वर्त-मान ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव व्यक्ति-मात्र पर पड़ा है, परन्तु मिश्र-चिकित्सा के शिक्षण पर यह प्रभाव दुष्प्रभाव की सीमातक जा पहुँचा है। आयुर्वेद के पक्षपाती वैद्य,डॉक्टर या साधारणजन एवं उसके विरोधी या तटस्थ सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मिश्र-शिक्षण-प्राप्त विद्यार्थी आयुर्वेद से दूर जा पड़ता है। कारणों की मीमांसा की अभी आवश्यकता नहीं। यह एक पृथक विषय है, जिसका विचार वैद्यों को, विशेषतया अध्यापकों को इस दृष्टि से करना चाहिए कि उनकी शिक्षण-पद्धति में कौन दोष है और एलोपेथी में अथवा उसकी अध्यापन-कला में क्या विशेषता है कि विद्यार्थी आयुर्वेद से दूर जा पड़ते हैं? जो हो, इस मिश्र-शिक्षण का यह परिणाम उन महानुभावों को बहुत अखरता था, जो आयुर्वेद की विशेषताओं से परिचित थे तथा जो यह देखने को उत्सुक थे कि न केवल जनता के आरोग्य की सिद्धि के लिए हमारा यह पुण्य वारस टिका रहे, प्रत्युत और भी अभ्युदित तथा समृद्ध बने। मुंबई राज्य के मुख्यमन्त्री **श्री मोरारजी देसाई**, जिन्हें आयुर्वेद की विशेषताओं पर विश्वास है और जिस विश्वास के कारण ही वैद्यों के समाज को वे आयुर्वेद से दूर जाता देख कर कई बार उपालम्भ दे चुके हैं, उनके आरोग्य मन्त्री **श्री शान्तिलाल शाह** तथा शेष मन्त्री-जन आयुर्वेद प्रेमियों के अभिनन्दन के पात्र हैं कि उन्हों ने आयुर्वेद के विकास के अवरोधक कारणों को दूर कर शुद्ध-आयुर्वेद के पाठ्यक्रम को प्रवर्तित कराया। हमें आशा रखनी चाहिए कि, वातावरण के प्रभाववश इस पाठ्यक्रम के अनु-सार शिक्षित विद्यार्थी यदा-कदा एलोपैथी की ओर आकृष्ट भले हो जाए परन्तु उसकी प्रेरणा का मुख्य स्रोत तो आयुर्वेदिक ही होगा। यह समाचार देते मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि, मुंबई राज्य में कई स्थानों पर इस पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षण प्रारम्भ भी हो गया है। अन्य स्थानों पर भी विद्यार्थी तय्यार हैं, पर उनके शिक्षण की व्यवस्था अभी नहीं हुई है।

इस पाठ्यक्रम के विषय में एक चिन्त्य वस्तु यह है कि इसमें विषय-विभाग वैसा ही रखा गया है जो एलोपैथी का संसर्ग होने के कारण मिश्र-शिक्षणालयों में प्रचलित है। अच्छा होता, शुद्ध आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में विषय आयुर्वेद के आठ अंगों के रूप में ही रखे जाते। इससे आयुर्वेद के शुद्ध स्वरूप की रक्षा अधिक होती, साथ ही आयुर्वेद के विभिन्न अङ्गों को पृथक् स्थान देने के कारण उनके संपर्क में अध्यापक और विद्यार्थी विशेष आते, जिससे उनको प्रयोग में लाने का अवसर स-विशेष मिलता। इस विषय में अन्य भी वक्तव्य हैं। विस्तरापेक्षी होने से उसका विचार कालान्तर में किया जाएगा। इतना निवेदन इस लिए किया कि, अन्य राज्य शुद्ध पाठ्यक्रम को अपने यहाँ प्रवर्तित करने लगें तो इस दिशा में भी योग्य विचार करें।

सौराष्ट्र (काठियावाड) सरकार ने भी यह शुद्ध पाठ्यक्रम अपनाया है। इसके अनुसार भावनगर में शिक्षण आरम्भ हो गया है। जामनगर का आयुर्वेद-विद्यालय में, जहाँ अब तक मुंबई की फेकल्टी के अनुसार डिप्लोमा तथा डिग्री कोर्स चल रहे थे, वहाँ ये दोनों कोर्स बन्दकर शुद्ध आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम चलाया जाएगा, यह समाचार प्राप्त हुआ है। सौराष्ट्र में इस पाठ्यक्रम में कुछ अंश एलोपैथी का भी रखा गया है। सौराष्ट्र के आयुर्पेद-प्रेमी मन्त्री तथा राष्ट्रवादी वैद्य इस पाठ्यक्रम के प्रवर्तन के कारण अभिनन्दन के पात्र हैं।




शुद्धायुर्वेद के प्रसंगवश एक बात की ओर पाठकों और अपने नायकों का चित्त आकृष्ट कर दूँ। प्रायः आयुर्वेद का पक्ष समर्थन करते समय यह युक्ति दी जाती है कि भारत निर्धन है, अतएव उसके लिए सस्ती होने से आयुर्वेद ही अपनाने योग्य है। यह युक्ति बड़ी लचर है। एक तो इस का अर्थ यह हुआ कि आयुर्वेद में गुणवत्ता उतनी नहीं है। केवल सस्ता होने से ही उसे अपनाना योग्य है। दूसरे, जनता की आर्थिक स्थिति जैसे-जैसे सुधरती जाए वैसे-वैसे आयुर्वेद से किनारा किया जा सकता है, यह इसका गर्भित अर्थ है। कहनेवालों का यह अभिप्राय भले न हो पर यह अर्थ निकलता है, इसमें संशय का लेश नहीं। आयुर्वेद को अपनाना हो तो उसकी गुणवत्ता के कारण अपनाना चाहिए। इसी युक्ति के आधार पर हम यह भी कह देना चाहते हैं कि सस्ता होने से हमारे आयुर्वेद के समर्थक जन-नेता इसे ग्रामों के स्वास्थ्य के लिए योग्य बताते हैं और इस प्रकार ग्रामीण जनता के आरोग्य की व्यवस्था करने की अपनी इतिकर्तव्यता को संपन्न हुआ मान लेते हैं। इस का अर्थ यह हुआ कि किसी प्रकार एलोपैथी को सस्ता बनाया जा सके तो ग्रामों में भी आयुर्वेद के लिए स्थान नहीं रहे। सत्य यह है कि गुणवत्ता के कारण ही आयुर्वेद का प्रवेश ग्रामों में होना चाहिए। वह भी केवल ग्रामों में ही नहीं, नगरों के स्वास्थ्य के अनुवर्तन के लिए उनमें भी आयुर्वेद का प्रचार-प्रसार होना चाहिए। हमारे राजपुरुष जिनके शिर पर जनता के आरोग्य की जिम्मेदारी है, आयुर्वेद के विषय में इस सत्यदृष्टि से ही विचार करें यह अभ्यर्थना है।

ऊपर मैंने आशंका व्यक्त की है कि यदि कथंचित् ग्रामों में जा सकें, ऐसे एलोपैथ तय्यार किए जा सकें तो आयुर्वेद का मूल्य ही कुछ न रह जायगा, ऐसी पदावलि आयुर्वेद के विषय में उसका हृदय से समर्थन करनेवाले महानुभाव उच्चारते हैं। और सचमुच ऐसे सस्ते एलोपैथ तय्यार करने की योजना भी बन गयी है। गतवर्ष ही राजकोट (सौराष्ट्र) में केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारों के आरोग्य-मन्त्रियों की एक परिषद् हुई थी। इसमें केन्द्रीय सरकार ने एलोपैथी का दो वर्ष का पाठ्यक्रम बनाने की योजना स्वीकृत करायी थी, जिसमें उत्तीर्ण हुए व्यक्तियों को ग्रामों में भेजा जा सकेगा। आयुर्वेद के विरुद्ध रचना करनेवालों की यह पैतराबाजी देखिए कि जिन महानुभावों ने एल० सी० पी० एस० के पाठ्यक्रम को यह कह कर बन्द करा दिया कि समय की अल्पता होने से इससे अधकचरे डॉक्टर तय्यार होते हैं, उन्हीं ने उससे भी सहस्रगुणित अपरिपक्व चिकित्सक तय्यार करने की इस योजना को जन्म दिया। आयुर्वेद के हितचिन्तक देख लें, आयुर्वेद के विरुद्ध कैसा षड्यन्त्र रचा जा रहा है, कैसी परिस्थिति में उन्हें आयुर्वेद के लिए कार्य करना है?

भारत के जिस कोने में यह आयुर्वेद-विघातक वृत्तान्त घटित हुआ वहीं (जामनगर में) स्वयं भारत-सरकार ने आयुर्वेद में संशोधन (अनुसंधान) के प्रयोजन से एक संस्था "सेण्ट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ रिसर्च इन इंडीजिनस सिस्टम्स ऑफ मेडिसिन" की स्थापना की है। इसके कर्णधार पद पर **डॉ० प्राणजीवन मेहता** जैसे कुशल और अध्यवसायी महाप्राण पुरुष की नियुक्ति की गयी है। संस्था ने पाण्डुरोग के विभिन्न स्वरूपों पर कार्य भी करना प्रारम्भ किया है। एक परामर्श-दात्री समिति के अतिरिक्त, इस में वैद्य **रामरक्ष पाठक**, वैद्य **गणेशदत्त सारस्वत** आदि माने हुए विद्वान् कार्यकर्त्ता नियुक्त हुए हैं। इसके पूर्व भारत-सरकार भारतीय औषधों के विश्लेषणादि के लिए लखनऊ में एक विशाल प्रयोगशाला की स्थापना कर चुकी है। इसके **डायरेक्टर डॉ० मुखर्जी का परिचय सचित्र आयुर्वेद में पाठकों को कराया जा चुका है।**

अन्य संस्थाएँ भी संशोधन के कार्य में प्रवृत्त हुई हैं। इनमें परिगणनीय ये हैं। नागपुर विश्वविद्यालय ने पृथक् संशोधन-विभाग चालू किया है। इसके अध्यक्ष-पद पर महाराष्ट्र के प्रख्यात विद्वान् और अनुभवी वैद्य **वेणीमाधव शास्त्री जी** को नियुक्त किया गया है। बडौदा युनिवर्सिटी ने भी ऐसा ही विभाग अपने यहाँ चालू किया है। इसके अध्यक्ष **वैद्य नागरदास पाठक** हैं। मुंबई राज्य ने एक पृथक् ही रिसर्च बोर्ड की स्थापना डॉ० **म्हस्कर** की अध्यक्षता में दो वर्ष पूर्व की थी। इस बोर्ड ने कार्य विभक्त कर प्रत्येक कार्य पृथक् विद्वानों को सौंपा था। सभी विभाग कार्य प्रशस्त रीति से कर रहे हैं। बोर्ड ने पाठ्यपुस्तकें अपना तय्यार करने का कार्य भी प्रारम्भ किया है। कुछ पुस्तकें

मुद्रित भी हो चुकी हैं। आन्ध्र राज्य ने अपनी ओर से एक आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना की है।

मुंबई राज्य से आयुर्वेद-सम्बन्धी अन्य उत्साहवर्धक समाचार भी प्राप्त हुए हैं। सरकार ने पूना, अहमदाबाद तथा बडौदा के सिविल हॉस्पिटलों में प्रत्येक में बीस-बीस शय्याएँ आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिए चालू करने का मनोरथ प्रकट किया है। चोपड़ा कमिटी की सिफारिश के अनुसार आयुर्वेद के लिए इस वर्ष एक स्वतन्त्र डायरेक्टर की नियुक्ति का भी निर्णय मुंबई राज्य ने किया है। पूना और गुजरात विश्वविद्यालयों ने अपने यहाँ आयुर्वेद की फेकल्टी बनाने का निर्णय किया है। इसके पूर्व से ही आरोग्य मन्त्रालय के अधीन एक फेकल्टी मुंबई राज्य में कार्य कर रही है। दो वर्ष पूर्व इस फेकल्टी ने डिप्लोमा कोर्स के स्थान पर डिग्री-कोर्स चालू किया था। इस कोर्स के विषय में प्रायः आवाज उठाई गई थी कि उसमें एलोपैथी का प्राधान्य है। अब जब कि विश्वविद्यालय अपनी-अपनी फेकल्टी बनाने जा रहे है, और सरकारी फेकल्टी का कार्य इन विश्वविद्यालयों द्वारा निर्मित फेकल्टी ही अपने हाथ में ले लेगी, यह आशा की जा रही है; ऐसी स्थिति में आयुर्वेद को प्राधान्य देने के पक्षपातियों का कर्तव्य है कि वे विषयों के विभाग को आयुर्वेदिक स्वरूप देने एवं पाठ्यक्रम में आयुर्वेद को प्राधान्य देने के लिए अन्तःकरण से प्रयास करें। इतना तो किया ही जा सकता है कि भविष्य में जो विषय एम० बी० बी० एस० डॉक्टरों के भी उपयोग में नहीं आते, कम-से-कम उन का भार तो आयुर्वेद के विद्यार्थियों के सिर से कम किया जाए। इस दिशा में अधिक विचार, जिन्हें पाठ्यक्रम-निर्माण का कार्य सौंपा जाए, वे महानुभाव कर ही सकते हैं। अतः यहाँ स्थल और समय का विशेष व्यय न करूँगा।

विशेषतया केन्द्रीय सरकार के आयोजन-मन्त्री **श्री नन्दा जी** तथा मुंबई के मुख्य मन्त्री **श्री मोरार जी देसाई** के आश्रय-दान से मुंबई नगर में युनिवर्सल हेल्थ इंस्टीच्यूट नामक संस्था चल रही है। इसके हॉस्पिटल का गत वर्ष उद्घाटन हुआ। **पं० शिवशर्मा जी** इस संस्था के प्रधान तन्त्रवाहक हैं। इस संस्था में यथेच्छ पद्धति के अनुसार चिकित्सा कराने की सुविधा रोगी को होती है। इस प्रकार आयुर्वेद की महत्ता का तुलनात्मक निरीक्षण करना यहाँ अत्यन्त सुलभ है।

आयुर्वेद के लिए किए गए अन्य प्रयत्नों में सब से अधिक उल्लेखनीय कार्य सुप्रसिद्ध दन्तवैद्य **श्री किशोरदास जी गुप्त** तथा उनके शिष्य चिकित्सकों द्वारा दिल्ली एवं अन्य स्थलों पर सम्पन्न दन्त-यज्ञ हैं। सहस्रों दन्त-रोगियों ने इन का लाभ लिया एवं प्रख्यात अधिकारी तथा सार्वजनिक पुरुषों ने इनका अवलोकन किया। कइयों ने स्वयं लाभ भी लिया तथा इन्हें प्रोत्साहन दिया। हमारा विश्वास है कि इस कला को सब दिशाओं से और भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए। आयुर्वेद के अन्य भी कई कर्म निगूढावस्था में पड़े हैं। उनका उद्धार धनी-मानी महानुभाव करावें और पुण्य एवं यश के भागी बनें।

'सचित्र-आयुर्वेद' के विगत वर्ष में घटित ये प्रमुख घटनाएँ हैं। आयुर्वेदोपजीवी तथा आयुर्वेद के पक्षपाती इनको दृष्टि में रख कर विचार कर सकते हैं कि देश में आज आयुर्वेद की क्या स्थिति है। सब मिलाकर हमें यह लगता है कि केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों और विश्वविद्यालयों ने आयुर्वेद को समुन्नत स्थान देने में विशेष कसर नहीं रखी है। हमारा कर्तव्य है कि हमें जो अवसर प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग कर आयुर्वेद के ज्ञान-पक्ष तथा कार्य-पक्ष दोनों को सुसमृद्ध करें, जनता को उसका लाभ पहुँचाएँ तथा सरकारों एवं अन्य संस्थाओं को सिद्ध करके दिखला दें कि उन्होंने डरते-डरते भी आयुर्वेद को जो हस्तावलम्ब दिया था, वह सर्वथा उचित था और वह वस्तुतः चरितार्थ हुआ है।

आयुर्वेद को सुप्रतिष्ठित करने में गतवर्ष **श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०** तथा **सचित्र-आयुर्वेद** ने जो कुछ किया उसका परिचय पाठकों को इन पृष्ठों में मिलता ही रहा है। संस्था के अधिपति अपने व्यवसाय के संवर्धन के साथ धन्वन्तरि पूजन तथा अन्य अवसरों के प्रसंग पर वैद्यों को तो संगठन तथा नवीन कार्यदर्शन के लिए समवेत करते ही हैं, वैद्येतर जननायकों को भी ऐसे प्रसंगों पर आमन्त्रित कर उन्हें आयुर्वेद के उत्कर्ष में योग देने के लिए विनति किया करते हैं। इन प्रसंगों पर हुए समारम्भों का विस्तृत

(शेषांश पृष्ठ १३ पर)

# यक्ष्मा का प्रसार एवं प्रतिकार

विश्व में आज राजयक्ष्मा रोग का अति व्यापक रूप में प्रसार हो रहा है और मानव-सभ्यता के आरंभिक काल से अबतक की सारी प्रचेष्टाओं के बावजूद यह रोग अपराजेय बना हुआ है। सारे संसार में प्रतिवर्ष २ करोड़ मानव इस रोग के कारण मृत्यु-मुख में पतित होते हैं और ऐसा अनुमान है कि भारत में यक्ष्मा से प्रतिवर्ष मरने वालों की संख्या करीब १० लाख है। विश्व के विभिन्न देशों में इस रोग के विरुद्ध सामूहिक अभियान आरम्भ हो गये हैं तथा कई देशों ने यक्ष्मा की भीषण बाढ़ को रोकने में भी काफी अंशों में सफलता प्राप्त कर ली है। स्वेडेन और डेनमार्क ने इस दिशा में सर्वाधिक उल्लेखनीय सफलता पायी है और वहाँ अब ऐसी स्थिति आ गयी है कि यक्ष्मा-चिकित्सालयों को रोगी ही नहीं मिलते। अमेरिका और ब्रिटेन में भी यक्ष्मा रोगियों की संख्या क्रमशः घट रही है।

किन्तु,भारत में पाश्चात्य सभ्यता के प्रादुर्भाव के साथ-साथ शहरी जीवन की ओर जनता की अभिरुचि में वृद्धि होने के कारण पिछले १०० वर्षों से यक्ष्मा रोग का प्रसार उद्वेगजनक परिमय में होता जा रहा है। अभी हाल तक यक्ष्मा की विभीषिका की ओर सरकार या चिकित्सक-समुदाय का ध्यान उचित रूप में आकृष्ट नहीं हुआ था। अब भारत के चिकित्सक वर्ग और सरकार ने इस समस्या की ओर ध्यान दिया है, लेकिन रोग के प्रसार को ध्यान में रखकर उनकी अबतक की प्रचेष्टाएँ नगण्य-सी ही हैं।

भारत में यक्ष्माजनित मृत्यु-संख्या का अबतक सही अन्दाजा नहीं लगाया जा सका है। बच्चों की शोष-रोग जनित मृत्यु की संख्या को इसमें शामिल नहीं किया जाता और फुफ्फुसीय तथा आन्त्रिक यक्ष्मा की मृत्यु के आंकड़े ही साधारणतः लिए जाते हैं। लेकिन, ऐसा विश्वास करने के पर्याप्त कारण उपस्थित हैं कि भारत की ३४ करोड़ आबादी में प्रतिवर्ष प्रायः १० लाख व्यक्ति सभी प्रकार के यक्ष्मा रोगों से मौत के शिकार होते हैं तथा करीब एक करोड़ व्यक्ति उनसे आक्रान्त रहते हैं। साधनों के अभाव के कारण अधिकांश रोगियों का यथोपयुक्त रोग-निदान नहीं हो पाता। इससे अनेकानेक व्यक्ति अकाल में ही काल के गाल में समा जाते और साथ ही अनेक अन्य व्यक्तियों को भी रोगाक्रान्त कर जाते हैं।

यक्ष्मा रोग से धनी या निर्धन कोई भी नहीं बच सकता। मनुष्य-शरीर में सभी रोगों के कीटाणु उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु; उनसे शरीर में रोग पैदा हो जाय, यह आवश्यक नहीं। शरीर में उपयुक्त स्थल मिलने पर ही रोग पैदा होते और पोषकतत्त्व मिलने से पनपते हैं। रोग उत्पन्न होने पर प्रकृति उससे संघर्ष करती तथा उसको मार-भगाने का प्रयास करती है। आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान, दोनों ही इस विषय पर एकमत हैं कि दुर्बल शरीर पर ही यक्ष्मा रोग का आक्रमण होता है। निवासस्थान की गन्दगी, पोषक-खाद्य की कमी, दरिद्रता एवं दुःख चिन्ताओं के कारण शरीर दुर्बल हो जाता है और आसानी से रोगों का आक्रमण हो सकता है। धनी वर्ग के लोगों में यक्ष्मा होने का कारण अत्यधिक शुक्रक्षय जनित दुर्बलता है।

यक्ष्मा के प्रसार को रोकने के लिए कई मोर्चों पर हमें संघर्ष करना होगा। आधुनिक-चिकित्सकों द्वारा अबतक चिकित्सा पर ही प्रधानतः जोर दिया जा रहा है। लेकिन नियन्त्रण की कोई योजना तबतक सफल नहीं हो सकती, जब तक रोगनिरोध और चिकित्सा को संयुक्त नहीं कर दिया जाय। भारत में यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति का मूल कारण जनता की चरम दरिद्रता तथा जीवन-यापन के मापदण्ड का निकृष्टतम स्तर है। अतएव, जनता के रहन-सहन में सुधार, स्वास्थ्यकर वातावरण और पर्याप्त पोषक खाद्य की व्यवस्था के साथ-साथ यक्ष्मा रोगी को स्वस्थ व्यक्तियों से दूर रखने का प्रबन्ध और जहाँ तहाँ थूकने की आदत का परित्याग इस रोग के प्रसार को रोकने के लिए प्रथमावश्यक है। यक्ष्मा रोगी के लिए स्वच्छ वायु, पर्याप्त प्रकाश, पूर्ण विश्राम और पोषक खाद्य आवश्यक होता है। भारत में यक्ष्मा रोगियों के लिए यद्यपि सेनेटोरियम खुले हुए हैं, किन्तु उनमें धनी वर्ग के रोगी ही प्रवेश पा सकते हैं। निर्धन-व्यक्तियों में इतनी सामर्थ्य

नहीं कि वे सेनेटोरियम के खर्च को वर्दाश्त कर सकें। भारत में यक्ष्मा रोगियों की देख-रेख और चिकित्सा की व्यवस्था भी अत्यन्त नगण्य है। यहाँ करीब एक करोड़ रोगियों के लिए अबतक कुल मिलाकर ११ हजार शय्याओं की व्यवस्था हुई है। रोगियों की संख्या की तुलना में रोगी-शय्याओं की यह संख्या कोई महत्त्व नहीं रखती।

राजयक्ष्मा रोग का आक्रमण मानव शरीर के किसी भी अंग पर हो सकता है, किन्तु भारत में प्रधानतः फुफ्फुसीय यक्ष्मा रोग ही होता है। शिशुओं को छः वर्ष तक यह रोग होने का भय रहता है। इसके बाद १८ वर्ष से ३५ वर्ष तक की आयु इस रोग के लिए खतरनाक समझी जाती है। भारत में अतिप्राचीन काल से इस रोग की चिकित्सा होती आ रही है। प्रथमावस्था के रोगी को उपयुक्त चिकित्सा द्वारा आसानी से अच्छा किया जा सकता है। द्वितीयवस्था के रोगी भी अच्छे होते हैं, पर तृतीयावस्था के रोगी को रोगमुक्त करना अबतक सम्भव नहीं हुआ है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान ने भी इस अवस्था के रोगी की रोग-मुक्ति के लिए अबतक कोई सफल ओषधि का अविष्कार करने में सफलता नहीं पायी है। किन्तु; प्रथम एवं द्वितीय अवस्थाओं के रोगी भी सिर्फ ओषधि की सहायता से कदापि चंगे नहीं किये जा सकते। चिकित्सा के साथ उपयुक्त खान-पान और परहेज की आवश्यकता होती है। वस्तुतः यक्ष्मा रोगी की चिकित्सा प्रकृति ही करती है। शरीर के क्षीण धातुओं में पुनः बल आने पर ही रोग दूर हो सकता है। इस रोग की चिकित्सा के लिए अबतक जितनी भी ओषधियाँ निकली हैं—वे चाहे प्राचीन हों या आधुनिक-सभी रोगी के क्षीण धातुओं को पुष्ट करने का ही प्रयास करती हैं और रोगी बलवान होकर ही रोग के विरुद्ध लड़ने में समर्थ होता है।

क्षय रोग के प्रसार का एक बड़ा कारण आधुनिक फैशन और सभ्यता है। आजकल लोग होटलों और चाय-खानों में खाते-पीते हैं, जहाँ अनेक व्यक्ति खान-पान किया करते हैं। उनमें कुछ व्यक्ति यक्ष्मा रोग-ग्रस्त भी हो सकते हैं और वे दूसरों में यक्ष्मा का प्रसार कर सकते हैं। युवतियां अपने सौन्दर्य-संवर्द्धन के लिए अनेक कृत्रिम उपायों का अवलम्बन करती हैं। शरीर को सुडौल और कृश बनाना भी आजकल की नारियों का फैशन हो गया है। इसके लिए युवतियाँ लगातार उपवास करती हैं, जिससे उनका धातुक्षय होता और अन्त में वे यक्ष्मा का शिकार हो जाती हैं। पर्दाप्रथा, अत्यधिक सन्तानोत्पत्ति, गर्भस्राव और विलासिता भी नारियों में इस रोग के प्रसार के कारण हैं। घनी आबादी वाले स्थानों में यक्ष्मा रोग अधिक होता है, यह आंकड़ों से प्रमाणित है। संतुलित और उपयुक्त भोजन, पर्याप्त विश्राम, संयमी जीवन, स्वास्थ्यकर वातावरण और खुली हवा यक्ष्मा रोग से बचने के लिये अपरिहार्य है।

यक्ष्मा रोगियों के लिए भारत में सेनेटोरियमों और अस्पतालों को खोलने की सर्वाधिक आवश्यकता है। यक्ष्मा की समस्या अब सर्वसाधारण की समस्या हो गयी है। इसका प्रतिकार भी सर्वसाधारण को ही करना होगा। जनता जबतक पूर्ण रूप से जागरुक नहीं होगी, इस समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा। भारत में यक्ष्मा रोग के उन्मूलन का प्रयास भारतीय जीवन के अनुकूल ही होना चाहिये। पाश्चात्य देशों की नकल करने से हमें सफलता नहीं मिल सकती। भारत की अधिकतर जनता को पूर्णमात्रा में पोषक खाद्य नहीं मिलता। यहाँ की अधिकतर जनता की साधारण आदतें ऐसी हैं, जिनसे यह रोग आसानी से फैल सकता है। अतः सर्वप्रथम जनता में यह प्रचार आवश्यक है कि वे अपने शरीर को किस प्रकार स्वस्थ रख सकते हैं। जनता की आर्थिक स्थिति में सुधार तथा जीवनक्रम एवं आदतों में परिवर्त्तन की भी अत्यधिक आवश्यकता है।

राजयक्ष्मा एक अत्यन्त व्यापक और संक्रामक रोग ही नहीं है, वरन् इसका मूलोच्छेद भी एक अत्यन्त कठिन समस्या है। यदि मानव जाति इस रोग पर विजय पा गयी तो वह अन्यान्य रोगों को आसानी से दूर करने मे समर्थ हो जायगी। अतएव ऐसा कहा जा सकता है कि यक्ष्मा के विरुद्ध अभियान में समाज-स्वास्थ्य की ही अग्नि-परीक्षा होगी। यक्ष्मा रोग के इतिहास पर यदि हम कुष्ठ रोग के इतिहास को ध्यान में रखकर विचार करें तो इस समस्या का समाधान निकालने में काफी सहायता मिलेगी। कुष्ठ भी कुछ काल पूर्वतक एक व्यापक एवं संक्रामक रोग




था। पाश्चात्य देशों में स्वास्थ्य के नियमों का सख्ती से पालन कर तथा रोगी को जनसमुदाय से दूर रखकर इस व्याधि का मूलोच्छेद कर दिया गया। यक्ष्मा व्याधि को भी हम इसी उपाय से दूर कर सकते हैं। ओषधियों पर निर्भर रहकर कोई रोगी चंगा नहीं हो सकता। रोग मुक्ति के लिए स्वास्थ्य के नियमों का पालन तथा परहेज प्रथमावश्यक है। इसके साथ अनुपान के रूप में ओषधि का सेवन होना चाहिए।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान ने यक्ष्मा रोग के सम्बन्ध में यद्यपि काफी खोज की है, पर वह अबतक उस उन्नत अवस्था को नहीं पहुँच सका, जहाँ सहस्त्रों वर्ष पूर्व आयुर्वेद-विज्ञान पहुँच चुका था। आयुर्वेद ने प्रथम एवं द्वितीयावस्था के रोगी की रोग-मुक्ति को सम्भव बताया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी इससे आगे नहीं बढ़ सका, यद्यपि कुछ एलोपैथिक ओषधियों की गुणकारिता के सम्बन्ध में काफी ढोल पीटा जा रहा है। पाश्चात्य चिकित्सा-विशेषज्ञों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि यक्ष्मा रोग को दूर करने की कोई प्रामाणिक ओषधि निकालने में वे सफल नहीं हो सके हैं। आयुर्वेद में इस रोग से मुक्त करने वाली अनेक सिद्धोषधियाँ हैं। इन ओषधियों के गुण और कार्यकारिता की अति प्राचीन काल से सफल परीक्षा होती आ रही है। अतएव, यह वांछनीय है कि पाश्चात्य ओषधियों का परीक्षण करते रहने के बदले हम परीक्षित आयुर्वेदीय ओषधियों का इस रोग को दूर करने के लिए उपयोग करें ; क्योंकि हमारा लक्ष्य रोग का उन्मूलन है, किसी ओषधि-विशेष का प्रचार नहीं। और यदि पाश्चात्य चिकित्सकों द्वारा किसी सिद्ध ओषधि का आविष्कार कर लिया जाय, जो वस्तुतः मानवों को यक्ष्मा से मुक्त करने में समर्थ हो तो हम उस ओषधि को अपनाने में भी किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं करें।

---:o:---

शेषांश ] आयुर्वेदोऽमृतानाम् [ पृष्ठ १० का

विवरण **सचित्र-आयुर्वेद** में समय-समय पर छपता ही रहता है।

गत वर्ष वैद्यों, आयुर्वेद के विज्ञाता डॉक्टरों और वैज्ञानिकों की एक संभाषा हरद्वार में **श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन** के प्रबन्ध और महासम्मेलन के आश्रय में हुई थी। संभाषाओं की परम्परा में यह द्वितीय थी। ऐसी ही प्रथम संभाषा पटना में हुई थी। इन संभाषाओं से शास्त्रज्ञान निर्मल और निर्विवाद होता है, यह अबतक के अनुभव से सिद्ध हुआ है। हरद्वार में हुई संभाषा में किए गए निर्णय के अनुसार शारीर संज्ञाओं का विचार करने के लिए भी **भवन** सचेष्ट है। एतदर्थ **भवन** की ओर से **वैद्य श्री चन्द्रभानु जी** ने विवेच्य शारीर संज्ञाओं का संग्रह किया है। इन का विचार करने के लिए शीघ्र ही समिति की बैठक बुलाने की आयोजना की जा रही है। **भवन** ने दिल्ली में जो आयुर्वेदीय संशोधनोपयुक्त आतुरालय चलाने का विचार किया था, वह भी मूर्तरूप पकड़ता जा रहा है और इस विषय में अचिरकाल में ही कोई शुभ समाचार सुनने की आशा की जा सकती है।

स्वयं **सचित्र आयुर्वेद** को भी वैद्यों, आयुर्वेद विद्यार्थियों का तथा विशेषतया आयुर्वेद के पथ का अनुसरण कर आरोग्य और दीर्घायु के अभिलाषुक पाठकों के लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए भी **भवन** तथा **सचित्र आयुर्वेद** के तन्त्रवाहक दत्तचित्त हैं। इसकी बढ़ती हुई माँग इस बात की द्योतक है कि उन्हें अपने प्रयासों में साफल्य लाभ हुआ है। **भवन** के अधिपति इसे **'लेन्सेट'** और **'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल'** के स्टेण्डर्ड पर पहुँचा देना चाहते हैं। लक्ष्य प्रशंसनीय है, परन्तु यह स्थिति तो तभी आएगी जब स्वयं आयुर्वेद परिपुष्ट होकर पुनः यथापूर्व समृद्धि प्राप्त करेगा तथा वैद्यों का भी ज्ञान उन्नततर होगा। इस अवधि में **सचित्र आयुर्वेद** को अन्य प्रान्तों के विद्वानों के ज्ञान और अनुभव का लाभ मिले, इस हेतु इसमें संस्कृत तथा अंग्रेजी लेख देने की भी नीति संपादक जी ने अपनायी है। **सचित्र आयुर्वेद** के विशाल कुटुम्ब के साथ उसके नववर्ष में पद-निक्षेप के इस पवित्र प्रसंग पर भगवान् धन्वन्तरि से प्रणतिपूर्वक हम प्रार्थना करते हैं कि वह **सचित्र आयुर्वेद** को और भी उन्नति प्रदान करें, जिससे वह आयुर्वेद की अधिकतर सेवा कर सके।

---o---

# राजयक्ष्मा की पहचान में उलझन

वैद्य श्री चन्द्रभानु शास्त्री

इस में सन्देह नहीं कि सभी रोगों का अपना-अपना पृथक स्वरूप निश्चित है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि एक रोग के लक्षण दूसरे से सर्वथा भिन्न रहते हैं। ऐसा ही होता तो व्याधि निश्चय करने में सन्देह को कहीं स्थान ही न होता। परन्तु इसके विपरीत देखने में आता है कि मन्थर ज्वर की अवधि बढ़ने पर जब रोगी को निरन्तर रहनेवाला ज्वर, खाँसी, मन्दाग्नि और सिर में भारीपन रहता है, रोगी को स्वयं उठ कर बैठने योग्य शक्ति नहीं रहती, तो बहुत से डाक्टर, वैद्य और हकीम बीमारी के विषय में एकमत नहीं होते। कोई मन्थरज्वर कहता है तो कोई राजयक्ष्मा। इसी प्रकार मन्दाग्नि बढ़ने से जब रोगी का बल-मांस क्षीण हो जाता है और साथ ही श्लेष्मा प्रबल होने से अरुचि, वमन, अतिसार और खाँसी भी हो जाती है तब ज्वर न होने पर भी बहुत से चिकित्सक रोग को राजयक्ष्मा कहने लगते हैं। ऐसी स्थिति में यदि रोगी को साधारण ज्वर हो और उस दशा में कोई वैद्य-डाक्टर देखे तब तो निश्चित ही वह राजयक्ष्मा के रोगियों में लिख दिया जाता है। पुराने श्वास और उपदंश के रोगियों में भी बहुधा यह भ्रम होता है।

इसके विपरीत जबतक रोगी का बल-मांस अतिक्षीण नहीं होता और रोगी निश्चित ही राजयक्ष्मा की आरम्भिक अवस्था में होता है तो कोई भी उसे राजयक्ष्मा नहीं कहता। कारण रोगी को अच्छी भूख लगती है, दोनों समय या एक समय अपनी आदत के अनुसार टट्टी जाता है, नींद में कोई गड़बड़ नहीं होती, केवल दिन में १२-१ बजे के बाद शरीर भारी मालूम होता है। कभी-कभी कुछ सूखी खाँसी हो तो कोई भी डाक्टर-वैद्य उसे राजयक्ष्मा नहीं बताता। कोई खाँसी की मामूली शिकायत कह कर साधारण सी खाँसी की दवा तदबीज कर देता है तो कोई कुछ हरारत देख कर या सिर में भारीपन सुनकर जुकाम की औषध दे देता है। इस प्रकार राजयक्ष्मा की आकस्मिक दशामें ही नहीं, शुद्ध राजयक्ष्मा और सम्पन्न राजयक्ष्मा को पहचानने में भी अच्छे डॉक्टर और वै कभी-कभी विचलित हो जाते हैं।

डाक्टरों को जब तक इस रोग के कीटाणुओं क पता नहीं लगा था और पता लगाने के बाद भी एक्सरे क आविष्कार नहीं हुआ था, शिक्षित लोगों में भी ऐसी धारण हृदयङ्गम हो गयी थी कि राजयक्ष्मा रोग का डॉक्टर को पता या तो लगता ही नहीं या उस दशा में लगत है जब रोगी मौत के करीब पहुँच जाता है।

ऐसा अपयश सुन कर और राजयक्ष्मा के मरीजों क विशेषतया वैद्यों के पास जाते देख कर डाक्टरों ने—जह किसी को कुछ लम्बा बुखार और साथ में खाँसी देखी कि घरवालों से राजयक्ष्मा बताया और रोगी को—आराम विस्तर पर लेटे रहने की सख्त हिदायत की। चौबी घंटा विस्तर पर आराम से लेटे रहने की आज्ञा सशक्त रोगी के लिए फांसी की सजा से कम कष्टदायक नहीं। पर जो भी हो, डाक्टर साहब की आज्ञा से रोगी और घरवा सभी ऐसे आतङ्कित रहते कि घूमना फिरना तो दरकिना मजाल है कि रोगी करवट भी स्वयं बदल ले—वह भी सहा देकर दूसरे लोग ही बदलवायंगे। दवा उस समय डॉक्टरों पास राजयक्ष्मा की कोई नहीं थी, मछली का तेल खाओ और दूध पीओ और अच्छी खुराक खाते पीते रहो। शोरबा, मक्खन, फल, दूध, दही जो रोगी को पसन्द हो वह उपचार उस समय डॉक्टरों के पास था। बहुत हुआ तो को पैसे वाला रोगी पहाड़ी स्थानों के किसी सेनेटोरियम भेज दिया गया। इससे गड़बड़ी यह होती कि ८० प्रतिश राजयक्ष्मा के स्पर्श से विहीन रोगी राजयक्ष्मा के रो करार दे दिये जाते और स्वयं की तथा घरवालों की चिन्त के लक्ष्य बन जाते।

राजयक्ष्मा की पहचान में उलझन का यह प्रश्न ज देशव्यापी डॉक्टरों के सामने जैसा था, वैसा ही विदे डॉक्टरों के सामने था। रोग की यह पहचान के सम्ब में एक क्षयविशेषज्ञ डॉक्टर श्री शंकर लाल गुप्त सिवि

सर्जन का मत उद्धृत करते हुए 'क्षयरोगकी यज्ञ चिकित्सा' में लिखा है—"रोग निरूपण में उतावलेपन से हानि ही होती है।"

इससे अनेकों व्यक्तियों को क्षय रोग न होने पर भी एक मारक चिन्ता का शिकार होना पड़ता है। क्षयरोगी को लोग बुरी दृष्टि से देखते हैं और वह अपने निकटतम सम्बन्धियों के स्वाभाविक आदर भाव से भी वञ्चित रह जाता है। इससे बड़ी हानि भी होती है। इसका उल्लेखनीय उदाहरण अमेरिका की एक स्त्री का है जो लगातार छब्बीस वर्षों तक क्षय रोगियों की विभिन्न संस्थाओं में रही थी। अन्त में जब उसकी परीक्षा की गयी तो क्षय रोग का कोई चिन्ह उसके शरीर में नहीं मिला। इस बात के अलावा कि वह स्त्री इतने दिनों तक बेकार बनी रही, उसके इलाज में लगभग तीस हजार रुपया बिल्कुल व्यर्थ खर्च हुआ और उसके कारण लगभग चालीस क्षय रोगियों को स्वास्थ्य-शालाओं में स्थान नहीं मिल सका, जिससे सम्भवतः उनको लाभ होता। इस घटना से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि जिस आधुनिक विज्ञान को ब्रह्मास्त्र समझ कर अपने देश का करोड़ों रुपया हम विदेश भेज देते हैं और अब देश के स्वतन्त्र होने पर भी सरकारी तौर पर उसी को मान्यता प्राप्त है, उसके विशेषज्ञ डाक्टर भी छब्बीस वर्ष तक किसी रोगी को अपने पास रख कर भी रोग की ठीक पहचान नहीं कर सके।

ऐसे सन्दिग्ध क्षय-रोगियों की संख्या उन देशों में आश्चर्यजनक वृद्धिङ्गत है, जिन देशों में आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा—जिसे ऐलोपैथी चिकित्सा पद्धति कहते हैं—हमारे देश की अपेक्षा कहीं अधिक प्रसृत है। गत युरोपीय महायुद्ध में सैनिकों की परीक्षा करने पर चिकित्सकों को क्षय के थोड़े भी चिह्न मिलते कि रोगी को क्षय रोगी के अस्पताल में भेज दिया जाता था। इसका फल यह हुआ कि फ्रांस में एक हजार ऐसे रोगियों में से केवल पन्द्रह को यथार्थ में क्षय रोग निकला। कर्नल नुशलेन का कहना है कि "रोग निरूपण में इस प्रकार की त्रुटि सर्वत्र पायी जाती है। जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस किसी भी देश की सेना इस बुराई से खाली नहीं।"

क्षय रोग को पहचानने में उतावलेपन से उतनी ही हानि होती है जितनी सक्रिय क्षय रोगी की चिकित्सा न करने से या सक्रिय प्रगतिशील क्षय रोग की पहचान में भूल करने से हो सकती है। किसी ऐसे रोगी को, जिसे यथार्थ में क्षय रोग नहीं है, किसी प्रसिद्ध चिकित्सक के 'क्षय रोगी' कह देने से रोगी और उसके परिवार की प्रायः बरबादी हो जाती है। उतावलेपन से इस रोग की पहचान में चूक करने वाले चिकित्सक शायद यह अनुभव नहीं करते कि 'राजयक्ष्मा' नाम ही इतना भयानक है कि किसी विज्ञ चिकित्सक के मुख से अपने लिए जब राजयक्ष्मा के परिणामों से परिचित कोई रोगी यह शब्द सुनता है तो उसकी जीवनाशा उसी क्षण विलीन हो जाती है और उसके परिवार के सामने एक महान् संकट आ खड़ा होता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह विदित होता है कि रोग की ठीक-ठीक परीक्षा करने में जो देरी होती है उससे रोगी को अधिक हानि नहीं होती। यह रोग 'हैजा' जैसा आशुमारक या मोचक नहीं है, और इसकी पहचान असम्भव भी नही है। इसकी परीक्षा में कुछ उलझनें अवश्य हैं जिन्हें अच्छा चिकित्सक अपनी तीव्र बुद्धि से रोगी के अन्दर घुसकर देखने से पहचान सकता है। पहचान में सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि इसका रूप सर्वत्र एक-सा नहीं मिलता।

यद्यपि वर्तमान विज्ञान ने इसकी परीक्षा के नये-नये यन्त्रों का आविष्कार किया है, 'अणुवीक्षण' और 'ऐक्स-रे' उनमें प्रधान है, किन्तु बहुत अवसरों में इन यन्त्रों से भी इसकी ठीक पहचान नहीं होती। इसका कारण यह है कि फेफड़े से ही यह रोग आरम्भ होता हो, यह नियम नहीं। सिर, हड्डी, हड्डियों के जोड़ों में विद्यमान स्नेह, स्वर-यन्त्र और त्वचा के नीचे रहनेवाली लसीका, इस प्रकार कितने ही स्थान ऐसे हैं, जिनसे सक्रिय राजयक्ष्मा आरम्भ होता है और प्रगतिशील होकर फेफड़ों और आँतों को आक्रान्त करता है। ऐसे राजयक्ष्मा का पता उन यन्त्रों से नहीं लगता। दूसरे कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें फेफड़ों के किनारों में रोग के चिन्ह मिलते हैं, परन्तु उपयुक्त क्षेत्र न मिलने के कारण सक्रिय प्रगति न होने से रोग आगे नहीं बढ़ता और कोई चिकित्सा न करने पर भी स्वयं




दूर हो जाता है। ऐसे अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों प्रकार के उदाहरणों की उपलब्धि रोग की परीक्षाओं और परीक्षकों को निष्फल बना देती है। इसलिए सर्वथा यन्त्रों पर निर्भर चिकित्सकों की अपेक्षा कुशाग्र बुद्धि से विचार करने वाले चिकित्सकों को इसकी पहचान में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिलती है।

आधुनिक एलोपैथी चिकित्सा के अनुसार, कफ में क्षय के कीट और फेफड़े में क्षत चिह्न मिलने के अतिरिक्त ऐसा कोई लक्षण नही है जो क्षय रोग का द्योतक हो। किन्तु एक ओर तो यह सम्भव है कि सक्रिय-क्षय-रोग होते हुए भी कुशल-विशेषज्ञ तक को कफ में क्षय-कीट न मिलें और ऐक्स-रे लेने पर भी विकार के स्थानों का पता न लगे और दूसरी ओर यह भी देखने में आया है कि अनेक स्वस्थ लोगों में फुफ्फुस शिखर में रोग के अनेक चिह्न मिलते हैं। किन्तु विना लक्षणों के क्षय रोग नहीं होता यह एक ऐसा सत्य है कि जिसको बार-बार दुहराना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसके लिए हम इस बात पर बार-बार जोर देकर कह रहे हैं कि कफ और फेफड़ों की यन्त्रों द्वारा परीक्षा करा कर राजयक्ष्मा की पहचान कराने की अपेक्षा क्षयरोग के लक्षणों को सावधानी से जांच और विवेचन करने पर रोग के आरम्भ, उसकी तीव्रता की प्रवृत्ति तथा साध्यासाध्यता के सम्बन्ध की नियमित सूचना मिलती है। हरेक चिकित्सक तीव्र वुद्धि-यन्त्र के द्वारा इनका पता लगा सकता है। उसके कुछ लक्षणों का वर्णन यहाँ करते हैं।

राजयक्ष्मा के लक्षणों में ज्वर, खाँसी, खून से मिश्रित कफ और रात में सोते समय पसीना आना, शरीर में कार्श्य, नब्ज की गति तीव्र, हाथ पैरों में जलन मालूम होना, कंधों और पासुवों की मांसपेशियों में खिचाव होना और आग का सिकताव जैसा प्रतीत होना यही लक्षण प्रधान माने जाते हैं। परन्तु कैसा ज्वर, कैसी खाँसी, कफ में कैसा खून, रात में सोते समय कैसा और कितना पसीना इत्यादि प्रश्नों के द्वारा उपर्युक्त लक्षणों की विशेषता जाने बिना ये लक्षण भी राजयक्ष्मा के साधक नहीं होते। इसलिए हम आयुर्वेद और अपने अनुभव के आधार पर कुछ ऐसे चिन्ह बतायेंगे, जिनके द्वारा रोग निर्णय करने में और भी सुगमता हो जायगी।

अपना अनुभव लिखने से पहले ज्वर नापने के यन्त्र के विषय में कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं, कारण इस समय ज्वर मापक यन्त्र के आधार पर ही ज्वर देखने की रीति सब जगह चल पड़ी है। नाड़ी के विशेषज्ञों की प्रतिदिन कमी होती जा रही है। किन्तु 'थर्मामीटर' ज्वर मापक यन्त्रों की विषमता का एक आश्चर्यजनक उदाहरण हम पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। भिन्न-भिन्न कम्पनियों के बने पन्द्रह-सोलह थर्मामीटर ले कर गरम पानी में छोड़। दीजिये उनमें भिन्न-भिन्न ताप क्रमाङ्क मिलेंगे, जिनमें ९८.२ से लेकर १०१.६ तक अन्तर होता देखा गया है। डा० ब्रे की रिपोर्ट है कि प्रमाण पत्र वाले ८३ थर्मामीटरों की परीक्षा की गई तो १७ में ३.० से ६.० तक का अन्तर मिला। लिखने का प्रयोजन यह है कि थर्मामीटर से ज्वर या ज्वर की शङ्का का निश्चय करना हो तो विश्वस्त कम्पनी का थर्मामीटर लेना चाहिये और कई थर्मामीटरों से कई बार देखने के बाद ठीक तापाङ्क निर्धारित करना चाहिए अथवा नाड़ी के विशेषज्ञ-चिकित्सक के द्वारा जांच करानी चाहिए। अन्यथा रोग की पहिचान में भारी भूल होने की सम्भावना रहेग है। उपरान्त राजयक्ष्मा में केवल ज्वर की हरारत रहती है तीव्र ज्वर नहीं होता, इसलिए ज्वर की नाप में एक डिग्री का अन्तर रहने से भी बड़ा भ्रम हो सकता है।

**मुँह का तापक्रम**—बगल में पसीना आया रहने से जैसे ताप की डिग्री का ठीक निश्चय नहीं होता वैसे भी बगल और मुंह के ताप में प्रायः १ से १।। डिग्री का अन्तर रहता है। इसलिए तापाङ्क ठीक-ठीक जानने के लिए मुँह का ताप लेना चाहिए और थर्मामीटर कम से कम २ मिनट लगाना ही चाहिए, भले ही उसके ऊपर आधा मिनट ही लिखा हो।

**दिन-रात में कितनी बार थर्मामीटर लगाना चाहिए**—क्षय-रोगी का तापाङ्क हर दो घंटा के बाद लेकर लिखना चाहिए। किसी-किसी क्षय-रोगी को एक-एक दो-दो घंटे के लिए ही ज्वर बढ़ता है। परन्तु रात में सोते समय तापाङ्क लेने के लिए रोगी को जगाना उचित नहीं है।

(शेषांश २३५ पृष्ठ पर)

[ प्रथम खंड ]

## राजयक्ष्मा--इतिहास, निदान और वैज्ञानिक विवेचन

इस खंड के अधिकारी लेखक

वैद्य श्री रणजित राय, वैद्य मंगलदास स्वामी, डॉ० डी० एन०
बनर्जी, कविराज हरदयाल वैद्य वाचस्पति, कविराज
प्रताप सिंह, आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी, हकीम
ठाकुर दलजीत सिंह, डॉ० अनन्तानन्द,
कविराज एस० एन० बोस, डॉ०
बी० राममूर्त्ति, श्री० एच०
वी० गुप्ता आदि-आदि



# राजयक्ष्मा का मूलोच्छेद

## प्राचीन भारतीयों का एतद्विषयक दर्शन

वैद्य रणजितराय

**वैद्यनाथ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित आयुर्वेदीय क्रिया शारीर, आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान, आयुर्वेदीय हितोपदेश (छप रहा है) के लेखक तथा 'सचित्र आयुर्वेद' के सुप्रसिद्ध लेखक वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालंकार, वाइस प्रिन्सिपल आयुर्वेद महाविद्यालय सूरत के सुलझे हुए विद्वत्तापूर्ण लेख से सम्पूर्ण आयुर्वेद-जगत् परिचित है। आपके लेख में यह विशेषता रहती है कि कठिन से कठिन विषय पाठकों के लिये सुबोधगम्य हो जाता है। राजयक्ष्मा जैसे भयंकर रोग का मूलोच्छेद आयुर्वेदीय पद्धति द्वारा ही हो सकता है, इसका प्रतिपादन प्रस्तुत लेख में बहुत सरल भाषा में और विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया गया है। आशा है, 'सचित्र आयुर्वेद' के पाठकों के लिए आपका यह विचार-पूर्ण लेख अवश्य ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा। —स० सम्पादक**

### क्षय का आदिबल प्रवृत्त

सूत्रस्थान के चौबीसवें अध्याय में भगवान् धन्वन्तरि ने रोगों के सात विभाग किए हैं। इनमें प्रथम आदिबल प्रवृत्त है। इसका अर्थ बताते हुए स्वयं तन्त्रकार ने कहा है :

आदिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः। तेऽपि द्विविधाः—मातृजाः पितृजाश्च।

—सु० सू० २४।५

सूत्र में आए 'प्रभृति' की व्याख्या करते हुए **डल्हन** कहता है—प्रभृतिग्रहणान्मेहक्षयादयः।

ग्रन्थकार तथा टीकाकार के वचनों का वक्तव्य यह है कि आदि का अर्थ है शुक्र और शोणित नाम पुंबीज और स्त्रीबीज का संमूर्च्छन (एकीभाव)। उसके बल का अर्थ है रोगजनक शक्ति। अर्थापत्ति से इसका अर्थ है—शुक्र और शोणितगत दोष, जो संतति में संक्रान्त होकर उसमें रोगोत्पत्ति करता है। ये रोग अधोलिखित हैं : कुष्ठ (त्वग्रोग), अर्श, प्रमेह, यक्ष्मा आदि। इन रोगों को आदिबल प्रवृत्त कहते हैं। वेद में ऐसे रोगों की **क्षेत्रिय** संज्ञा कही है। देखिए :

क्षेत्रे परक्षेत्रे पुत्रपौत्रादिशरीरे चिकित्स्यः क्षयकुष्ठादि-दोषदूषितपितृमात्रादिशरीरावयवेभ्य आगतः क्षयकुष्ठादिरोगः क्षेत्रिय उच्यते।

—अथर्ववेद २।२।८।१ पर सायण-भाष्य

क्षेत्रियाणां क्षेत्रात् परक्षेत्रात् मातापितृशरीरादागतानां कुष्ठापस्मारग्रहण्यादिरोगाणाम्॥

—अथर्व० २।४।५ पर सायण-भाष्य

इन वचनों का समुचित अर्थ यह है। क्षेत्र का अर्थ है पर-शरीर। सो 'माता-पिता के क्षेत्र (शरीर) से आए हुए' किंवा 'परक्षेत्र (संतान के शरीर) में गए हुए' इस व्युत्पत्ति के अनुसार तत्तद्रोग-ग्रस्त माता-पिता से प्राप्त हुए क्षय, कुष्ठ, अपस्मार, ग्रहणी आदि रोगों को **क्षेत्रिय** कहा जाता है।

अन्यत्र वेद में क्षय को **जायान्य** कहा है। टीकाकारों ने इसका विग्रह 'जाया नाम पत्नी से नेय अर्थात् संतति में संक्रान्त होनेवाला' यह किया है। वेद में इसे पुरुषों के साथ गाय-बैल में स्थित भी कहा है, जो इसके आधुनिकों द्वारा प्रत्यक्षीकृत 'बोवाइन' प्रकार की स्मृति कराता है। अन्यत्र इसे अस्थि में स्थित, पृष्ठवंश में स्थित तथा मांस में स्थित भी कहा है। यह भी यक्ष्मा-विषयक नवीनों के दर्शन से अविरुद्ध है। प्रसंग-भंग-भयात् इस विषय का विस्तर न कर पुनः प्रकृत विषय पर आता हूँ।

### आदिबल प्रवृत्त रोगों की असाध्यता

आदिबल प्रवृत्तादि सप्तविध रोग-विभाग में आदिबल प्रवृत्त की पृथक् गणना का कारण इसकी असाध्यता है।

मधुमेह चिकित्साधिकार में अत्रि-पुत्र ने कहा है :

जातःप्रमेही मधुमेहिनो वा
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् ।
ये चाऽपि केचित् कुलजा विकारा
भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् ।।

—च० चि० ६।५७

प्रमेह-पीड़ित माता-पिता की संतति को जो प्रमेह होता है, वह असाध्य कहा गया है। कारण वह प्रमेहा-रम्भक दोषदुष्ट बीज (पुंबीज-स्त्रीबीज) से उत्पन्न हुआ होता है। केवल प्रमेह ही नहीं, जो भी रोग इस प्रकार कुलज नाम पितृ-पितामहादि क्रमागत होता है, वह असाध्य होता है।

सुश्रुत ने जिन रोगों को आदिबल प्रवृत्त कहा है तथा वेद ने जिन के लिए क्षेत्रिय या जायान्य संज्ञा रखी है, उनका ही नाम यहाँ चरक ने **कुलज** दिया है। साथ ही ऐसे रोगों को असाध्य बताया है। और जैसा कि ऊपर कहा है, इस असाध्यता के कारण ही ऐसे रोगों का एक पृथक् वर्ग धन्वन्तरि ने बनाया है।

आधुनिकों ने यक्ष्मादि रोगों का कारण जीवाणु बताए हैं और यक्ष्मा तथा कुष्ठ से आक्रान्त माता-पिता से संतति में इन रोगों के संक्रमण का कारण चिरन्तन संसर्ग बताया है। साथ ही कहा है कि यदि यक्ष्मी या कुष्ठी माता-पिता के शिशु को उत्पत्ति-समकाल ही माता-पिता से दूर कर दिया जाय, तो उसे यह रोग नहीं होता। तथापि, वे यह भी स्वीकार करते हैं कि, यक्ष्मी या कुष्ठी माता-पिता के संतान में भी इन रोगों के प्रति प्रवृत्ति या झुकाव निश्चित होता है, जिससे इन रोगों से आक्रान्त माता-पिता तथा इन से अनाक्रान्त माता-पिता के बच्चे इन रोगों की उत्पादक परिस्थिति के संसर्ग में आएँ, तो रुग्ण माता-पिता के शिशुओं को ये रोग होने की शक्यता सविशेष होती है। अपस्मार आदि रोगों के विषय में भी इसी प्रकार नवीनों का दर्शन है, पर उसका यहाँ निर्देश करने का स्थल नहीं है। कुलज रोगों की संतान में संक्रान्ति में एक हेतु यह भी होता है कि माता-पिता जिस देश, काल, आहार, विहार का सेवन करते हैं, उन्ही का सेवन शिशु भी करता है। सो माता-पिता में इन आहार-विहारादि के कारण रोगोत्पत्ति सुलभ हो, तो प्रकृत्या शिशुओं म भी वह रोग होने की पूर्ण संभावना होती है। इस प्रकार आनाह (कब्ज) सदृश रोग भी माता-पिता और संतान दोनों में देखे जाते हैं।

### यक्ष्मा की कुलज प्रवृत्ति : नव्य मत से

प्रकृत रोग यक्ष्मा की कुल-प्रवृत्ति के विषय में नवीनों का मत जानने के लिए प्रमाणतया प्राइस की मेडिसिन से एक वचन सार्थ उद्धृत किया जाता है। अनुकूल परि-स्थिति का निर्देश करते हुए आनुवंशिकता (हेरेडिटी) के विषय में यह लेखक कहता है :

Heredity—Pulmonary tuberculosis certainly occurs with undue frequency in certain families. Since the direct transmission of the tubercle bacillus to the infant is extremely rare, two explanations seem possible—(1) Children born of tuberculous stock may inherit an increased susceptibility or diminished resistance, the tuberculous diathesis; or (2) they may contract tuberculosis on account of their exposure to massive infection in early life.

(P. 1249)

—कुल-प्रवृत्ति : राजयक्ष्मा निश्चित ही असाधारण प्रमाण में कतिपय वंशों में पाया जाता है। क्योंकि बीज के साथ राजयक्ष्मा के जीवाणु का शिशु-शरीर में संक्रमण असंभाव्यप्राय है। संक्रमण के दो कारणों की कल्पना की जा सकती है—(१) यक्ष्मी माता-पिता की संतति में यक्ष्मा के प्रति गम्यता (उसके आक्रमण के सफल होने की पात्रता) में वृद्धि, किंवा क्षमता (प्रतीकार-शक्ति) के ह्रास ही का संक्रमण होता हो; यद्वा (२) बाल-काल में वे यक्ष्मी माता-पिता के संसर्ग में रहते हुए प्रभूत (असह्य) प्रमाण में संक्रमण के पात्र होते हैं।

विद्वान् लेखक ने आगे साध्यासाध्यता के प्रकरण में भी आरम्भ में ही कुल-प्रवृत्ति का विषय लिया है और कहा है—

A marked family incidence generally suggests an unfavourable course, though this rule is not invariable. (P. 1267)

—वंश में यक्ष्मा सविशेष हो, तो प्रायः रोग असाध्य होता है। यद्यपि इसके अपवाद भी देखे जाते हैं।

ब्यूमॉण्ट ने भी लिखा है :

Heredity—The disease undoubtedly occurs in families, and in some rare instances infants may be born with tuberculosis. (P. 155)

—कुलजता : निश्चित ही रोग घरानों में पाया जाता है। कई विरल दृष्टान्तों में बच्चे जन्म से ही यक्ष्मी होते हैं।

जन्म से यक्ष्मा का कारण यक्ष्माक्रान्त अपरा द्वारा जीवाणुओं का संक्रमण माना जाता है।

इस विषय में प्राइस का यह मत भी द्रष्टव्य है कि : जिन रोगियों में, विशेषत: स्त्री-रोगियों में, रोग अटक गया हो, उनमें विवाह के कारण रोग पुन: उभड़ आता है एवं सजीव व्रणों का प्रसार तीव्र वेग से होने लगता है। देखिए :

Marriage often leads to a break-down in arrested cases, especially in women, and induces more rapid spread of active lesions. (P. 1267)

यक्ष्मा पर दाम्पत्य का प्रभाव दर्शाते हुए ब्यूमॉण्ट ने कहा है :

Conjugal infection is a very real danger, which has been under-estimated in the past. (P. 155)

—दाम्पत्य-जनित संक्रमण अत्यन्त सत्य खतरा है। अब तक इसका महत्त्व पूरा आँका नहीं गया था।

आयुर्वेद तथा इतर प्राचीन भारतीय वाङमय एवं नव्य मत के सूचक इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि : स्त्री या पुरुष यक्ष्माक्रान्त हों, तो स्वयं रुग्ण के शरीर में विवाह रोग को बढ़ा देता है, सहचर या सहचरी (स्वस्थ पति या स्त्री) को रोगाक्रान्त कर देता है। अथच, संतान को भी रुग्ण अथवा रोगानुकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर रोग के लिए अन्यों की अपेक्षया अधिक गम्य बना देता है, और पिता-माता या दोनों यक्ष्मी हों, तो बच्चे सदैव उनके संसर्ग में रहने से यक्ष्मा के संक्रमण के उपयुक्त परिस्थिति तो सर्वदा बनी ही रहती है।

## यक्ष्मा का प्रतिरोध : प्राचीन मत से

प्राचीन भारतीय व्यक्ति, कुटुम्ब और समाज के अन्य प्रश्नों के समान यक्ष्मा के प्रतिरोध का विचार करते हुए भी उसके मूल तक पहुँचे थे। आयुर्वेदाचार्यों ने मैथुन (विवाह) के अधिकार में अन्य नियमों के साथ सामान्यत: इतना ही कह दिया है कि पुरुष रोगी हो, तो उसे मैथुन न करना चाहिए। उधर स्त्री रोगिणी हो, तो उसके साथ मैथुन का भी प्रतिषेध किया है। धर्मशास्त्रों में इन रोगों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। भगवान् मनुने कहा है—

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यत: ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ।।
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
शय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ।।

—मनुस्मृति अ० ३

—कोई कुल बड़े एवं गाय-बैल, बकरी, भेड़, धन और धान्य से समृद्ध हों, परन्तु उनमें धर्मानुकूल क्रिया-कर्म न होता हो, उनमें पुरुष संतान न होती हो, उनमें स्वाध्याय न हो, उनमें शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों, अथवा उनमें अर्श, क्षय, आमय (ग्रहणी-विकार), अपस्मार, श्वित्र और कुष्ठ इन में कोई रोग हो, तो उनमें विवाह न करना चाहिए।

विवाह के अनुभव-सिद्ध इन तथा अन्य नियमों का पालन प्राचीन आर्य कितनी दृढ़ता से करते होंगे, इसका परिचय नीचे के पद्य से प्राप्त हो सकता है। कन्या के लिए मनु ने कहा है—

काममामरणात्तिष्ठेत् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।।
न त्वेवेनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ।।

—कन्या ऋतुमती होने के अनन्तर भले आमरण पितृगृह में रहे, परन्तु इसे गुणहीन को कभी देना न चाहिए।

एक ओर यह प्रतिज्ञा देखिए, दूसरी ओर विचार कीजिए, हिन्दुओं में प्रचलित वर्तमान प्रथा का। जाति, द्रव्य आदि को ही मुख्यतया दृष्टि में रख कैसे बेमेल विवाह आज रचे जाते हैं। कुछ ही समय पूर्व एक देवी ने अपने विवाह का वर्णन प्रकाशित किया था। पतिदेव दु:साध्य उन्माद-रोग (पागलपन) से ग्रस्त थे। किसी ने कहा, विवाह से इनका रोग दूर हो सकता है और रोग की बात छिपाकर उनके विवाह की व्यवस्था हो गयी। मण्डप में चालू विधि में पतिदेव को उन्माद का वेग हो गया और वे 'मैं मुर्गा हूँ'

की रट लगाते उछलने-कूदने लगे। चाहिए तो यह था कि विधि और सम्बन्ध वहीं समाप्त कर दिये जाते; पर उससे कुल की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचता, आकाश धरती पर आ पड़ता और धरती आकाश से जा लगती. . .और न जाने क्या से क्या हो जाता! सो, वरराजा को खींच-खाँच कर प्रदक्षिणा, सप्तपदी आदि पूर्ण कर दिये गए। इसके बाद पतिदेव तो सीधे पागलखाने वायु-सेवन के लिए भेज दिए गए तथा अब तक वहीं हैं, और कन्या अपने कर्मों को रोती पितृगृह में पड़ी है। वर-वधू के भावी का यथार्थ विचार न कर ऐसे-ऐसे विवाह रचनेवालों को तोपके मुख के आगे बाँधकर उड़ा दिया जाए या विष्ठा के कूपमें गाड़ दिया जाए, कुछ सूझता नहीं!

आशय यह है कि जिस कुल में एक भी व्यक्ति यक्ष्मी (अथवा उक्त अन्य रोगों से आक्रान्त) हो, उसमें विवाह-सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। रोग के मूलोच्छेद का यही उपाय है। इसीसे कोई पुरुष जीर्णप्रतिश्याय, जीर्णज्वर, दौर्बल्य, भार का घटना (रक्त-मांस-क्षय) आदि लक्षण लेकर आता है, तो उससे प्रश्न-परीक्षा में पूछा जाता है: उसके भाई, बहिन, माता, पिता, मामा, मौसी, काका, फूफी, जीवित हैं या नहीं? जीवित नहीं हैं, तो इनकी मृत्यु किस रोग से हुई? इत्यादि। प्रश्नों का उत्तर यदि क्षय से मृत्यु हुई, इस प्रकार साधक (पॉजीटिव) हो, तो यक्ष्मा का निदान करने में बड़ा साहाय्य होता है।

### दृढ़ता के आलम्बन की आवश्यकता

किसी को इस उपाय के अनुष्ठान में निर्दयता की गन्ध आ सकती है। पर एक ओर एक व्यक्ति का देखने मात्र में हित प्रतीत होनेवाला हित देखना है, दूसरी ओर सम्पूर्ण समाज से यक्ष्मा और अन्य कृच्छ्र रोगों के उन्मूलन की बात है। प्राचीन नीतिशास्त्रों ने इस तथा ऐसे ही अन्य विषयों में दृढ़ता से कह दिया है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

कुल की रक्षा के लिए एक (कुल के अंगभूत व्यक्ति) का विचार छोड़ दे। ग्राम की रक्षा के लिए कुल को छोड़ दे। देश के लिए ग्राम को छोड़ दे और अपना हित होता हो, तो देश को भी छोड़ दे।

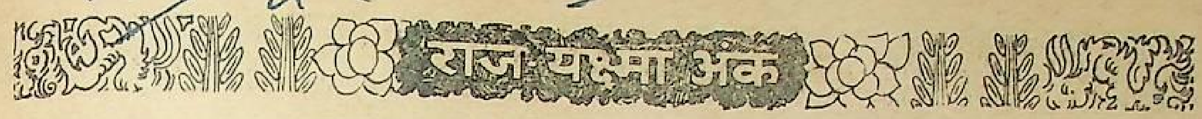
कठिनाई यह है कि यक्ष्मा में पूर्वरूपों के प्रादुर्भाव के काल से ही रिरंसा (समागमेच्छा) बढ़ जाती है और यह बड़ी बाधक सिद्ध होती है। पुरुष इसके आवेग से आकृष्ट हुआ रोग की दिशा में वेग से बढ़ता जाता है। रिरंसा का मूल यह बताया जाता है कि रोगी स्त्री या पुरुष तो इस लोक से चले, सो उनका स्थान लेनेवाला कोई होना चाहिए, अन्यथा सृष्टि का मूलोच्छेद हो जायगा। इस मूल प्राकृत इच्छा का ही भ्रष्ट रूपान्तर यह रिरंसा होती है। तथापि अपना, अपने कुटुम्ब का और समाज का भला चाहनेवाले पुरुष को तो अपना चित्त दृढ़ बनाकर इस इच्छा को अपने वश में रखना ही चाहिए।

### शुक्रक्षय का यक्ष्मोत्पत्ति में विचार

इस प्रसंग में यक्ष्मा के प्राचीनोक्त चार कारणों में एक शुक्रक्षय का स्मरण किया जा सकता है। शरीर में शुक्र और उसके उपधातु या मल ओज का प्रमाण तथा क्रिया आजीवन सम बनी रहे, इस हेतु प्राचीनों ने व्यवाय को नियमित बनाने के लिए कुछ विधि-निषेध रचे हैं। संक्षेप में ये विधि-निषेध अधोलिखित हैं—

कन्या सोलह वर्ष की तथा कुमार पच्चीस वर्ष का होने पर ही उनका विवाह; ऋतु-स्नान के पश्चात् केवल बारह रात्रियों में गमन; इन रात्रियों में भी कन्या या पुत्र जिसकी इच्छा हो, उसके अनुसार केवल ६-६ रात्रियों में समागम; इन रात्रियों में भी अमावस्या, अष्टमी, प्रतिपदा, पूर्णिमा और सूर्य की संक्रान्ति इन पर्व के दिनों में निषेध; ऋतुभेद से व्यवाय की न्यूनाधिकता और शुक्र तथा ओज के साम्य के लिए रसायन-वाजीकरणों का नित्य सेवन।

आयुर्वेद के संहिताकार तथा धर्मशास्त्रकार दोनों ने ही कहा है: गृहस्थ विहित (उपदिष्ट) रात्रियों में ही स्त्री-सहवास करता हो तो स्त्री-सहवास (ऋतुकालाभिगमन) करता हुआ भी वह ब्रह्मचारी ही कहाता है। आयुर्वेद में शरीर के तीन स्तम्भों में एक ब्रह्मचर्य बताया गया है। टीकाकार ने उसका अर्थ ऋतुकालाभिगमन ही किया है। संग्रह में तो 'अब्रह्मचर्य' ही तीन स्तम्भों में एक बताया है। उसका भी अर्थ टीकाकारों ने यही बताया है। चरक-संहिता निदानस्थान में यक्ष्मा के




निदान में क्षय (धातुक्षय) को यक्ष्मा के कारणों में एक कहकर भी उसका विवरण करते हुए केवल शुक्रक्षय से यक्ष्मा की उत्पत्ति होती (संप्राप्ति) दिखाई है। चक्रपाणि ने इसका हेतु यही कहा है कि सर्वधातुओं के क्षय में शुक्रधातु का क्षय राजयक्ष्मा का सविशेष कारण है, अतः दृष्टान्ततया उसी की संप्राप्ति संहिताकार ने बताई है।

### मांसक्षय की यक्ष्मा में कारणता

धातुक्षय से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति के विचार में शुक्र के अनन्तर मांस और रक्त धातुओं के क्षय का पद है। साध्यासाध्यता के विचार में भी इन धातुओं के प्रमाण की परीक्षा की जाती है। चिकित्सा में भी मांस के सेवन पर बहुत भार दिया गया है। तथाहि:

शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित्।
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः॥
—च० चि० ८।१४६

राजयक्ष्मियों के अन्नपान के प्रकरण में चरक-संहिता में पहला ही पद्य यह है। आगे १७२ वें श्लोक तक मांस के ही सेवन की बात की है। अन्तिम दो पद्यों में दो सिद्ध घृत बताए हैं। परन्तु उन्हें आहार की अपेक्षया औषध ही कहना योग्य है। या तो वे लिपिकार की भूल से यहाँ आ गए हैं, अथवा किसी पीछे के आचार्य को यह लगा हो कि सारे प्रकरण में मांस की ही बात आयी है, अतः उसने मूल ग्रन्थकार के समय के भोजन और रोग के स्वरूप का विचार न कर इन दो घृतों की भी योजना कर दी। परन्तु मेरे मत से वह अपने प्रयत्न में विफल ही रहा है। कम से कम यक्ष्मा के प्रकरण में तो प्रधानतया क्षीण हुए मांस धातु की पूर्ति के लिए उसकी पुष्टि पर ही चित्तारोपण करना चाहिए। उद्धृत पद्य का अर्थ यह है: पाक-शास्त्र-विशारद पुरुष को चाहिए कि वह क्षीण मांसवाले शुष्क हो रहे यक्ष्मी को विशेषतया बृंहणगुणयुक्त मांसभक्षी प्राणियों के ही मांस खिलावे।

आगे उपयोगी भक्ष्य प्राणियों का उल्लेख कर तन्त्रकार कहते हैं कि: इन प्राणियों के मांस को अन्य वस्तुओं का (ये वस्तु भी इतर प्राणियों के मांस ही हैं) नाम लेकर खाने को दे, जिससे रोगी को घृणा न हो। इस प्रकरण से पाठक जान सकते हैं, मांसभक्षण का कैसा प्रचार तन्त्रकार के काल में था। निरामिषाहारियों के लिए कोई भी भोजन इस सारे प्रकरण में दर्शाया नहीं है। किसी को भी यही निर्णय शुद्ध प्रतीत होगा कि एक भी व्यक्ति उस काल में निरामिषाहारी न होगा।

मांसभक्षियों के ही मांस का आग्रह क्यों रखा जाए, इसका उत्तर देते इसी अधिकार में तन्त्रकार कहते हैं:

मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम्॥

—मांसभक्षी प्राणियों का मांस मांस से पुष्ट होता है, अतः विशेष मांसपोषक होता है।

प्रकरण के उपसंहार में पुनः अत्रि-पुत्र कहते हैं:

मांसमेवाऽश्नतःशोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च।
नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति॥

—पुरुष (स्रोतोरोध के निवारणार्थ) मधूकारिष्ट का पान करता हो, केवल मांस का (मांसम् एव) भोजन करता हो, जितेन्द्रिय और उदाराशय हो, तो शोष उसके शरीर में अधिक काल नहीं रह पाता।

वैद्य बन्धुओं से करबद्ध विनती है कि वे इस दिशा में पूर्ण विचार कर समाज को योग्य मार्ग-दर्शन कराएँ। जैन और बौद्ध आगमों का आयुर्वेद पर प्रभाव पड़ने का भारी अनिष्ट परिणाम निरामिष भोजन के रूप में समाज पर पड़ा है। कम से कम रोगाक्रान्त व्यक्ति मांस-भोजन से घृणा न करे, ऐसा तो वातावरण खड़ा करना ही चाहिए। आज भी पाण्डु-रोगादि रोगों में जो वैद्य रूढ़ि का प्रत्यक्ष या परोक्ष विलोपन कर यकृत्-रस, मांस-रसादि का सेवन अपने रोगियों को कराते हैं, उन्हें परम यश प्राप्त होता है।

### यक्ष्मा के अन्य कारण

आजकल का चिन्ता-प्रधान जीवन, विषमाशन आदि अन्य कारणों का उल्लेख इसी अङ्क में वाचक विद्वानों के लेखों में पाएँगे। वाचक यह भी इस अङ्क से जानगे कि एक पुरुष से अन्य पुरुष में यक्ष्मा का संक्रमण होने की बात भी प्राचीनों ने प्रत्यक्ष की थी। यह भी उन्होंने नियम बनाया था कि खाँसते, छींकते, हँसते समय अपने मुख को ढाँप लेना चाहिए। एक बार मान लिया जाए कि प्राचीनों को जीवाणुओं का ज्ञान नहीं था, तो यह मान लेना चाहिए कि जीवाणु एक खुटती कड़ी (मिसिंग लिंक)

थी, जिसका ज्ञान अर्वाचीनों से हमें हुआ। यों प्राचीनों को जीवाणुओं का ज्ञान होने के भी प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं और वे विश्वसनीय भी प्रतीत होते हैं। परन्तु—

अधिक सत्य मत यही है कि प्राचीनों ने जीवाणुओं की वृद्धि के लिए अनुकूलतम कारणों पर ही विशेष ध्यान दिया था। ये अनुकूलतम कारण उनके मत में थे—दोष, धातु, उपधातु और मल; इनके प्रमाण और क्रिया में वैषम्य। इस विषय का भी अधिक विवरण पाठक अन्यत्र पाएँगे।

### यक्ष्मा में अग्निहोत्र

चिन्ता आदि मनोविकार शरीर में यक्ष्मादि रोगों की उत्पत्ति न कर सकें, एतदर्थ प्राचीनों ने मौन, संध्या, दान-दक्षिणा आदि चर्याओं का आदेश किया है। दुष्ट जल, वायु, भूतयोनि आदि बाह्य कारणों से रोगोत्पत्ति न हो, इस निमित्त अग्निहोत्रों तथा यज्ञों का विधान किया गया है। यज्ञों में एक ऋतुसंधियों में किए जानेवाले रोग थे। इनको उद्दिष्ट कर ब्राह्मण ने लिखा है—

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते॥

—गोपथ ब्राह्मण उ० प्र० १।१९

—ये यज्ञ भैषज्य-रूप (औषध-रूप) हैं। इसीसे इनका अनुष्ठान ऋतुओं की संधियों में किया जाता है। कारण, ऋतु-संधियों में रोग होते हैं।

इन यज्ञों को प्राचीनों के 'पबलिक हाईजीन' का अङ्ग समझना चाहिए। ये शासन (राजाओं) की ओर से होते थे। इस विषय के प्रमाणान्तर प्राचीन ग्रन्थों से एकत्र किए जा सकते हैं।

अग्निहोत्र में हवनीय द्रव्यों में एक **गुग्गुलु** है। इसे लक्ष्यकर ऋग्वेद में कहा है—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥
विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते॥

—गुग्गुलु का शोभन गन्ध जिसे प्राप्त होता है, उसे यक्ष्मा पीड़ित नहीं करता, उसे शपथ (शाप, भूतावेश आदि से होनेवाले रोग) आक्रान्त नहीं करते। गुग्गुलु से रोग ऐसे भागते हैं, जैसे त्रस्त मृग या वेगवान् अश्व।

प्राचीन ग्रन्थों से दोहन कर इस विषय को भी प्रमाण-समुच्चय बनाया जा सकता है। गुग्गुलु की उत्पत्ति की दिव्य कथा तथा इसके गुणों का तन्त्रकारों का किया वर्णन देखने से विदित होगा कि आचार्य इस पर मुग्ध थे। गुग्गुलु तथा इतर सुगन्धि-द्रव्यों के होम-गन्ध का प्रभाव आयुर्वेदीय संशोधन का एक उत्तम विषय है। धनिकों तथा वैज्ञानिकों के सहयोग से इस दिशा में कुछ प्रयास हो, तो यक्ष्मादि रोगों के प्रतिरोध का कार्य यत्किंचित् सरल भी हो सकता है।

बृंहण (पुष्टिकारक) अन्नपान की व्यवस्था भी उन्नत होनी चाहिए। अभिष्यन्दी, स्रोतोरोधकर, अग्निमांद्यकर, गौरवोत्पादक महिषी-दुग्ध का स्थान गो-दुग्ध ले, यह भी सर्वथा अभिलषणीय है।

### मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयः

पाठक इन पंक्तियों में देखेंगे—आयुर्वेद ने यक्ष्मा का मूलतः उच्छेद करने का मार्ग दिखाया है। असाध्य यक्ष्मा तथा अन्य रोगी त्याज्य (प्रत्याख्येय) ही कहे हैं। स्ट्रेप्टोमायसीन, पास, आयसोनेक्स आदि उपाय अच्छे हैं, पर इनसे कुछ मास या वर्ष मृतवत् जीना और अपने लिए तथा कुटुम्ब और समाज के लिए भारभूत होकर रहना यह भी कोई जीवन है? इस दृष्टि से विचार करते मुझे तो इन नयी शोधों का बहुत महत्त्व नहीं मालूम होता। (विशेष स्मरणीय यह है कि अब तो इन औषधों को भी न गिननेवाले जीवाणु उत्पन्न हो गए हैं।) ऐसे जीवन में तो हमारे शास्त्रकारों ने आत्मघात तक को धर्म गिना है। कारण, उन्होंने जीवन के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर लिया था—

मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।

—जलना अच्छा है, चाहे वह मुहूर्त्त-मात्र को हो; केवल धुआँ छोड़ना बुरा है—भले वह घण्टों रहे!



# वैदिक काल में राजयक्ष्मा

आचार्य शिवपूजन सिंह कुशवाहा 'पथिक', विद्यावाचस्पति

**आयुर्वेदशास्त्र वेद का उपांग हैं, यह सर्वविदित है। वैदिक काल में भी, राजयक्ष्मा के निदान, चिकित्सा आदि का उल्लेख मिलने से इस रोग की प्राचीनता और भयंकरता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। इस लेख के लेखक आचार्य शिवपूजन सिंह, विद्यावाचस्पति ने वैदिक काल में यक्ष्मा के विषय में कितनी जानकारी थी तथा आयुर्वेदीय संहिताओं में वर्णित लक्षणों से कितना साम्य है, संक्षिप्त में इसका उल्लेख कर 'सचित्र आयुर्वेद' के पाठकों का बड़ा उपकार किया है। आशा है, पाठक इसका अध्ययन कर अवश्य उपकृत होंगे। --स० सम्पादक**

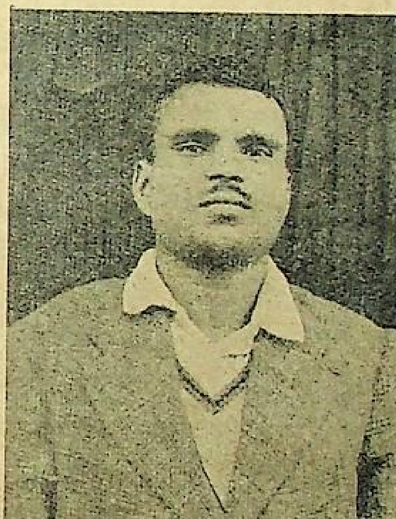
राजयक्ष्मा रोग को क्षय, तपेदिक, टी० बी० या कॉन्जम्पशॉन् (Consumption) कहा जाता है। यह एक महान् भयङ्कर मानव-जीवन को घुला-घुला कर नष्ट करनेवाला रोग है। यह रोग प्रायः तरुणावस्था में ही पकड़ता है। यह प्रधानतः हस्तमैथुन और अत्यधिक स्त्री-प्रसंग के कारण उत्पन्न होता है। वेदों में स्पष्ट लिखा है—

"यः कीकसाः प्रशृणाति
तलीद्यमवतिष्ठति।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं
यः कश्च ककुदिश्रितः॥"

—अथर्व० काण्ड ७, सूक्त ७६, मंत्र ३

अर्थ—जो रोग पसलियों को तोड़ डालता है और समीप के फेफड़ों में जाकर बैठता है और जो रोग गर्दन के नीचे कन्धों और पीठ के बीच में भी जम जाता है, उन सभी स्त्री द्वारा प्राप्त होनेवाले राजयक्ष्मा रोगों को शरीर से प्राण के बल से निकाल दो[1]।

इस मन्त्र में निर्देश है कि अति स्त्री-प्रसंग करने से उरःक्षत नामक राजयक्ष्मा रोग हो जाता है। वह हँसली के भागों, फेफड़ों और मेरुदण्ड मूल में स्थिर हो जाता है। उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।



लेखक

"पक्षी जायान्यः पतति
स आविशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषज-
मुभयोः सुक्षतस्य च॥"

—अथर्व० काण्ड ७, सुक्त ७६, मंत्र ४

अर्थ—स्त्रियों के अति भोग से प्राप्त होनेवाला क्षय, शोष आदि रोग पक्षी के समान एक शरीर से दूसरे शरीर में संचार कर जाता है। वही भोग के समय पुरुष के शरीर में पहले थोड़ी मात्रा में ही या शनैः-शनैः प्रवेश कर जाता है। उसका निम्नलिखित उपचार है। (१) जिस रोग ने चिरकाल से जड़ न पकड़ी हो और (२) जिस रोग ने चिरकाल से जड़ पकड़ ली हो, दोनों की उत्तम चिकित्सा है। अथवा अक्षत—जिसमें छाती का खून न आता हो, दूसरा जिसमें छाती से कट-कट कर खून आने लग गया हो, दोनों की वही चिकित्सा है अर्थात् शरीर में प्रवेश होनेवाले विषैले कीड़ों को दूर भगा देना ही इस रोग से बचने का उत्तम उपाय है[1]।

---

१—देखें पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालंकार' मीमांसातीर्थ कृत "अथर्ववेद-संहिता" भाषाभाष्य, द्वितीय खण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३६३

१—देखें पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालंकार' मीमांसातीर्थ

स्त्री के अति प्रसंग से राजयक्ष्मा और उरःक्षत—ये दो भयंकर रोग हो जाते हैं। परन्तु इन दोनों की चिकित्सा वेद में वर्णित है। यथा—

"विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥"
—अथर्व० काण्ड ७, सूक्त ७६, मन्त्र ५

अर्थ—हे क्षयरोग! तेरे उत्पन्न होने के विषय में हम निश्चय से जानते हैं कि क्षय कहाँ से उत्पन्न होता है। तू वहाँ किस प्रकार हानि कर सकता है। जिसके घर में हम विद्वान् लोग नाना ओषधियों से या रोगनाशक हवि या अन्न द्वारा इस क्षय रोग को निकाल देते हैं और तब सभी प्रकार से क्षय दूर हो जाते हैं[1]।

इस मन्त्र में निर्देश है कि उत्तम ओषधियों के होम से उरःक्षत और राजयक्ष्मा नष्ट हो जाते हैं।

मानस-चिकित्सक डॉ० दुर्गाशंकर नागर भी बताते हैं कि मण्डूकपर्णी, शतावरी, सालपर्णी, गुलाब के फूल, वंशलोचन, अगर, क्षीरकाकोली, गोखरू, बादाम, कायफल, पुनर्नवा, इन्द्रायन की जड़, असगन्ध, अड़ूसा, रास्ना, देवदार, तगर, जटामांसी, पिस्ता, मुनक्का, लौंग, बड़ी हरड़, और आँवला—इन सब दवाओं को समभाग लेकर इन सब के बराबर गुग्गुल, देशी कपूर और केशर जितनी हो सके, लेकर शक्कर और घी इतना मिलाएँ जिसमें सब सामग्री मिल जायँ। इससे होम करने से यक्ष्मा नष्ट हो जाता है[2]।

"वृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहायुर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि॥"
—अथर्व० काण्ड ७, सूक्त ७६, मंत्र ६ तथा ऋ० ६।४७।६

अर्थ—हे बलवान् जीव! तू अपने देह के कलश भाग अर्थात् ग्रीवा से लेकर नाभि तक के भाग में बाह्य रोगों के विनाशकारी बल से युक्त होकर देह में बसनेवाले प्राणों के संग्राम में जीवन के विघ्नभूत रोग के विनाशकारी स्वच्छ वायु-रूप अमृत का पान कर। और हे रोगनाशक जीव! तू दिन के मध्य काल के सवों में बलि-विश्वदेव, अतिथि, यज्ञ आदि के अवसर पर स्वयं भी सब प्रकार अन्न आदि खाकर पुष्ट हो। और शरीर के धन-स्वरूप प्राण में स्थित प्राण को प्राप्त करके हमलोगों के इन्द्रियगण में भी उस प्राण को प्रदान कर। इस से हम सब बलवान् और नीरोग रहेंगे[1]।

इस मन्त्र में निर्देश है कि उरःक्षत और राजयक्ष्मा को दूर करने के लिए आत्मिक-शक्ति और सोमरस या स्वच्छ वायु-रूप अमृत का पान आवश्यक है।

उरःक्षत और राजयक्ष्मा स्त्री के अतिप्रसंग से ही होता है। इसकी पुष्टि 'माधवनिदान' से भी होती है। यथा—

"व्यवायशोक वार्धक्य व्यायामाध्व प्रशोषितान्।
व्रणोरःक्षत संज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु॥
व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रुतः।
पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः॥
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः॥
उरो विभज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते।
प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते॥"
—'माधवनिदान' राजयक्ष्मा क्षतक्षीण निदान

'सुश्रुत' क्षय के ६ लक्षण मानते हैं—

"भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणित दर्शनम्।
स्वरभेदश्च जायेत् षट्रूपाः राजयक्ष्मणः॥"

अर्थात्—भोजन में अश्रद्धा, ज्वर, श्वास, खाँसी, खाँसने पर रुधिर का निकलना, स्वरभंग—ये यक्ष्मा के लक्षण हैं।

इस रोग की चिकित्सा के लिए वेदों में उपदेश है—

"अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्य मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामिते।"
—ऋ० १०।१६३।१ तथा अथर्व० २।३३।१

अर्थ—हे पुरुष! मैं आयुर्वेद का ज्ञाता भिषक्

---

कृत "अथर्ववेद-संहिता" भाषाभाष्य, द्वितीय खण्ड, द्वितीया-वृत्ति, पृष्ठ ३६४

१—देखें पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालंकार' मीमांसातीर्थ कृत "अथर्ववेद संहिता" भाषाभाष्य, द्वितीय खण्ड, द्वितीया-वृत्ति, पृष्ठ ३६५

२—बरेली निवासी डॉ० फुन्दनलाल एम० डी० डी० एस०, एल० एम० आर० ए० एस० लगभग ४५ वर्ष से होम द्वारा यक्ष्मा की चिकित्सा करते हैं।

१—देखें पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालंकार' मीमांसातीर्थ कृत "अथर्ववेद-संहिता" भाषाभाष्य, द्वितीय खण्ड, द्वितीया-वृत्ति, पृष्ठ ३६६

तेरी आँखों में से, दोनों नासिकाओं में से और चिवुक, मस्तिष्क, जीभ तथा शिर में स्थित यक्ष्मा रोग को दूर करता हूँ।'

"ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते॥"
—ऋ० १०।१६३।२ तथा अथर्व० २।३३।२

अर्थ—मैं तेरी गर्दन की नाड़ियों, स्नायु, अस्थि-सन्धि, स्कन्धों, बाहुओं और भुजाओं में होनेवाले यक्ष्मा रोग को दूर करता हूँ।

"हृदयात् ते परिक्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते विवृहामसि॥"
—ऋ० १०।१६३।३ तथा अथर्व० २।३३।३

अर्थ—मैं तेरे हृदय, फेफड़े, पित्तोत्पादक अंग, दोनों पासों पर लगे गुर्दों, पिल्ही और यकृत् से यक्ष्मा रोग को दूर करता हूँ।

"आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्यां विवृहामि ते॥"
—ऋ० १०।१६३।३ तथा अथर्व० २।३३।४

अर्थ—मैं तेरी आँतों, गुदाओं, स्थूल आँतों, आमाशय, कोशों, मलाशय और नाभि से यक्ष्मा रोग को दूर करता हूँ।

"ऊरुभ्यां ते अष्ठिवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो विवृहामि ते॥"
—ऋ० १०।१६३।४ तथा अथर्व० २।३३।५

अर्थ—मैं तेरी जंघाओं, गुल्फों, पैर के पञ्जों, दोनों नितम्बों, कटिदेश, मूत्रमार्ग और मलद्वार में उत्पन्न यक्ष्मा रोग को दूर करता हूँ।

"अस्थिभ्यस्ते मज्जेभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामंगुलिभ्यो नखेभ्यो विवृहामि ते।"
—ऋ० १०।१६३।५ तथा अथर्व० २।३३।६

अर्थ—मैं तेरी हड्डियों, मज्जा, स्नायु, रक्तवाहिनी नाड़ी, हाथ, अंगुली और नखों से यक्ष्मा रोग को दूर करता हूँ।

"अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि।
यक्ष्मं त्वचस्यंते वयं कश्यपस्य वीवर्हेण विष्वञ्चं विवृहामसि॥"
—ऋ० १०।१६३।६ तथा अथर्व० २।३३।७

अर्थ—मैं तेरे अंग-अंग, रोम-रोम, पोरु-पोरु में, त्वचा के भीतर तथा सब देह में बैठे रोग को, रोग के मूल कारण को दूर करने के सत् उपायों को देखनेवाले ज्ञानी पुरुष के उपदेशानुसार नाना प्रकार के रोग-विनाशक उपायों से यक्ष्मा रोग को दूर करता हूँ।

"मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय-
कमज्ञात यक्ष्मादुतराजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या
इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्।"
—ऋ० १०।१६१।१ तथा अथर्व० ३।११।१

अर्थ—(इस मन्त्र में बालकों और गृह में रोगाक्रान्त पुरुषों के आरोग्य रखने और दीर्घायु होने के उपायों का उपदेश है)—हे रोगाक्रान्त पुरुष! मैं गृहपति को सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए सुगन्धित और पुष्टिकारक हवि द्वारा अज्ञात स्वरूपवाले, संग-दोष से लगनेवाले रोग से और राजयक्ष्मा जैसे भयंकर शोषक रोग से भी बचाए रखता हूँ।

यदि इस पुरुष वा बालक को सब अंगों को पकड़ लेने वाला, मसाने का रोग या शीत-वात रोग भी पकड़ ले, तो भी होमाग्नि इस बालक को उस रोग से मुक्त कर सकती है। प्रभातकालीन वायु, उषाकालीन सूर्य-प्रभा का सेंक और होमाग्नि बालकों को सब रोगों से मुक्त करती है।

"न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते
विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते॥"
—अथर्व० का० १६, सूक्त ३८, मंत्र १

अर्थ—जिसके शरीर में रोगनाशक गूगल का उत्तम गन्ध लगता है, उसको राजयक्ष्मा रोग पीड़ा नहीं देते, और उसको दूसरे का निन्दनीय वचन भी अच्छा लगता है। क्योंकि सदैव स्वस्थ और प्रसन्न रहने से दूसरे के कहे हुए वचनों को भी वह बुरा नहीं मानता। उससे सब प्रकार के राजयक्ष्मा आदि रोग शीघ्रगामी हिरणों के सदृश काँपते और डरकर भागते हैं।

इस मन्त्र में 'गूगल' के उत्तम गन्ध से राजयक्ष्मा का नाश बतलाया गया है।

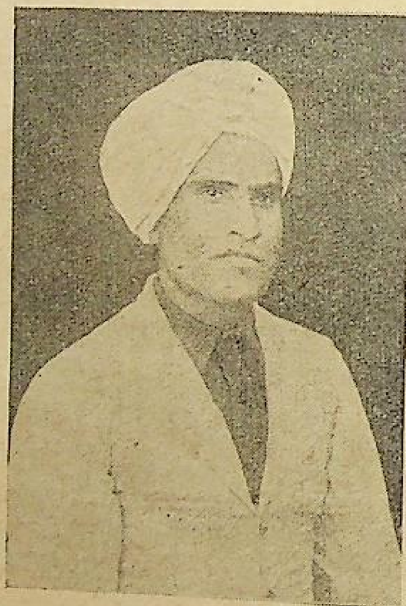
# क्षय रोग और आयुर्वेद

वद्य मंगलदास स्वामी, आयुर्वेदाचार्य

**श्रीयुत वैद्य मंगलदासजी स्वामी, आयुर्वेदाचार्य, जयपुर के लब्धप्रतिष्ठ वैद्य हैं। आप दादू आयुर्वेद महाविद्यालय-मोतीडूंगरी-जयपुर के प्राध्यापक हैं। 'सचित्र आयुर्वेद' पर आपकी कृपादृष्टि बराबर रहती है। आपके विद्वत्तापूर्ण लेख 'सचित्र आयुर्वेद' में समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। प्रस्तुत लेख में आपने क्षय रोग का आयुर्वेदीय दृष्टि से वर्णन करते हुए क्षय रोग का प्रधान कारण त्रिदोष है या कीटाणु; इस प्रश्न का सयुक्तिक उत्तर देते हुए कीटाणुवाद का अनेक प्रमाणों द्वारा खण्डन कर त्रिदोषवाद को प्रधान कारण माना है। यही कारण है कि लेख अति विस्तृत होने पर भी सर्वांशतः प्रकाशित करना पड़ा। आशा है, 'सचित्र आयुर्वेद' के पाठकों के लिए यह लेख बहुत उपयोगी होगा। --स० सम्पादक**

क्षय रोग का प्रादुर्भाव बहुत प्राचीन समय से है। आयुर्वेद के आर्षग्रन्थों और ऋग्वेद, अथर्ववेद के सूत्रों में इसका वर्णन है। आयुर्वेद के सिद्धान्त से क्षय को आठ महारोगों में स्थान दिया गया है। यह बीमारी आरम्भ से ही उलझन भरी होने के कारण कृच्छ्रसाध्य मानी गयी है।

सामान्यतः आज से ५० वर्ष पूर्व हमारे देश में यह रोग बहुत ही कम मात्रा में होता था। कारण, उस समय हमारा रहन-सहन तथा आहार-विहार अधिकांशतः प्राकृतिक दशा में था। रेलों की वृद्धि, कल-कारखानों की स्थापना, नगरों में अत्यधिक जन-समुदाय का निवास, ढाबे-होटलों में खाना, अनियमित ढंग से काम करना—ये सब ऐसे कारण हैं, जिनसे मनुष्य का जीवन और आहार-विहार अस्वाभाविक बन गया है। जैसे-जैसे इन कारणों की वृद्धि होती गयी, नवीन सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ कुछ ऐसी बातें प्रचलित होने लगीं, जिनका प्रचलित होना इस देश की जलवायु को देखते हुए कतई उपयुक्त नहीं था। पर दिखावट व अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से शिक्षित समुदाय इसमें अग्रणी हुआ। "गतानुगतिको लोकाः"—इस लोकोक्ति के अनुसार अन्य मनुष्यों ने भी यह अनावश्यक ढंग अपनाना शुरू किया।



लेखक

इन सब हेतुओं से जीवन में अस्वाभाविक कर्मों का आधिक्य होने लगा। जीवन में जितनी अस्वाभाविकता बढ़ती है, जीवनीय शक्ति पर उतना ही विपरीत प्रभाव पड़ता है। रेल की यात्रा, बड़े नगरों में रहने के स्थान, होटल-ढाबे, खोंमचेवाले, मिलकी नौकरी, खानों व कारखानों की नौकरी, सेठों की गद्दियाँ, राजकीय दफ्तर, सिनेमाघर, आधुनिक शिक्षा व उसके उपांगभूत छात्रावासादि—ये सब जीवन को अनियमित बनाने के प्रमुख हेतु हैं।

छोटी आयु में विवाह, भोजन की सामग्री—घी, दूध, दही, अन्न, शाक आदि—का शुद्ध न मिलना, संकीर्ण निवास, स्वास्थ्य-रक्षा का अज्ञान, अनियमित भोग-वासना की वृद्धि, भोग की प्रवृत्तियों को प्रबल करनेवाले साहित्य का अधिक प्रकाशन, अनुपादेय विज्ञापनों का प्राबल्य, मिथ्या वाजीकरण ओषधियों का प्रचार—ये सब कारण ऐसे हैं जिनसे मनुष्य-

शरीर की स्वाभाविक शक्ति की न्यूनता होती है। मेरी समझ में हमारे देश में क्षय-वृद्धि के ये ही मुख्य कारण हैं। हम जितने ही स्वाभाविक रहन-सहन से दूर हटते जायँगे, हमारा खान-पान और प्रवृत्तियाँ जसे-जसे जीवनीय शक्ति को न्यून करने की ओर अग्रसर होंगी, हम उतने ही क्षय के शिकार होते जायँगे।

हमने पचास वर्षों में क्या उन्नति की है, इसका अनुमान बच्चों के जीवन और हमारी औसत आयु व मृत्यु से किया जा सकता है। हम जब तक अपने जीवन को स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों के अनुसार संचालित नहीं करेंगे, तब तक हम अपने शरीर को ठीक स्थिति में स्वस्थ नहीं रख सकते।

## क्षय के हेतु

जिन कारणों का क्षय की वृद्धि या प्रसार के हेतुरूप में ऊपर उल्लेख किया गया है, वे ही क्षय के हेतु भी कहे जा सकते हैं। किन्तु आयुर्वेद ने इनका वर्गीकरण अन्य रूप से किया है। एक-एक हेतु को टटोलने से न मालूम हेतुओं की संख्या कहाँ तक पहुँचे? हेतु हजारों की संख्या में होते हुए भी शरीर पर जिस तरीके से जैसा प्रभाव डालते हैं, उनका उसी प्रकार से वर्गीकरण करना संगत है। आयुर्वेद ने क्षय के अशेष हेतुओं को चार वर्गों में विभक्त किया है, यथा—

**१. वेगरोध, २. क्षय, ३. साहस और ४. विषमाशन।**

## वेगरोध

वेगरोध का प्रधान अभिप्राय मल-मूत्र, अपानवायु के वेगों को अनवरत रोकते रहना है। वैसे शरीर में जृम्भा, छींक, अश्रु, भूख, प्यास, हर्ष, अवसाद, निद्रा, मथुन आदि और भी वेग हैं; पर उनका वैसा महत्त्व नहीं है, जैसा कि मल-मूत्र, अपानवायु के वेगों का है। ये वेग प्रतिदिन प्रति मनुष्यों में दिन-रात में कई बार होते हैं। शरीरस्थ वात-धातु इन कर्मों का उत्पादक है। वस्ति में मूत्र का इतना भाग एकत्रित हो जाय कि उसका निकलना आवश्यक हो। इसी तरह उण्डुक में इतना मल एकत्र हो जाय कि उसका बाहर निकलना आवश्यक हो जाय। इसी तरह अन्न की पक्वावस्था होने पर बृहदन्त्र व मलाशय के सम्बन्धित भागों में प्रसारित होनेवाले वायु का, जो मलीय भाग में गस के रूप में उत्पन्न होता है, बाहर निकलना आवश्यक है। ये सब मल-मूत्र व अपान के स्वाभाविक वेग हैं। मलादिकों की यह प्रवृत्ति उन अवयवों तथा तत्रस्थ वातादि दोषों की साम्यावस्था के कारण होती है। यदि हम इस प्रवृत्ति के होते ही मल-मूत्रादि का त्याग कर दें, तो उस अवयव का स्वाभाविक कर्म व तत्रस्थ दोषों की स्वाभाविक क्रिया उचित रूप में बनी रहेगी।

आप पशु-पक्षियों के जीवन की तरफ ध्यान दें। वे इन कर्मों को बड़ी सतर्कता से सम्पन्न करते हैं। उन्हें अपने इन स्वाभाविक कर्मों को रोकने की कभी आवश्यकता नहीं होती। पर मनुष्य ने अपनी स्थिति बहुत बदल ली है। कुछ ऐसी स्थितियाँ भी हैं, जिनमें विवश हो मनुष्य इनका अवरोध करता है। जैसे सभा-सोसाइटी का काम, सिनेमा, स्कूल-कालेज का समय, रेल की यात्रा आदि ऐसी स्थितियाँ हैं, जिनमें वेगरोध का अवसर प्रायः आता ही रहता है।

बहुत से नौकरी पेशेवाले व्यक्ति काम के बोझ के कारण यह देखते रहते हैं कि अब काम खत्म होता है, फिर तसल्ली से ही निवटेंगे। कोई ऐसा खयाल कर लेते हैं कि इतना-सा काम और कर लें, फिर मल-मूत्र त्याग करेंगे। वे इस तरह धीरे-धीरे अपनी आदत बदलते रहते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि उन अवयवों तथा वहाँ काम करनेवाले तत्त्वों में कितनी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। बिना नौकरी-वाले भी बहुत से व्यक्ति, जो अपने घरू काम के स्वामी होते हैं, काम के लालच के कारण वेगों की उपेक्षा करते रहते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि स्वाभाविक वेग-प्रवृत्ति में वेग का दबाव अत्यधिक नहीं होता। वह तो इशारामात्र है। स्वास्थ्य के सिद्धान्तों से अपरिचित व्यक्ति इस प्रकार की वेग-प्रवृत्ति को सामान्य शंका समझ उसको रोकने में कुछ भी बिचार नहीं करते। परिणाम यह होता है कि शरीर की शुद्धि करनेवाले वस्ति, मलाशय, मूत्र-प्रणाली के अवयव अपनी कार्य-प्रणाली धीरे-धीरे छोड़ते जाते हैं।

इन अवयवों को प्रेरणा देनेवाला अपान व समान वायु भी बार-बार अपनी गति का अवरोध होने से अनुलोम गति को छोड़कर प्रतिलोम गतिवाला बन जाता है। इससे मनुष्य के शरीर में से समय पर बाहर निकलने

वाले तत्त्व बाहर न निकलकर उन स्थानों में ही रुके रहते हैं। शरीर में न पहुँचने योग्य चीजें इस हेतु से शरीर में पहुँचती रहती हैं। विकृत गैसें रसवाही और उदकवाही स्रोतों से पहुँचे हुए नवीन बननेवाले शारीरिक परमाणुओं को निर्बल करती रहती हैं। इससे तुरन्त किसी प्रकार का रोग व्यक्ति को मालूम नहीं होता, किन्तु उसकी पाचन-प्रणाली की क्रिया में धीरे-धीरे अव्यवस्था बढ़ती रहती है। भोजन में से जितना सार भाग खींचना चाहिए, उतना नहीं खींचता। मल में स्नेह का भाग अधिक रहने के कारण आँतों में उपलेप होने लगता है। कोष्ठ की ठीक शुद्धि नहीं होती, इससे मानसिक उल्लास व शारीरिक स्फूर्ति जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं रहती। ओज का निर्माण कम हो जाता है। शरीर के प्रमुख अंगों की क्रियाशक्ति धीरे-धीरे मन्द होने लगती है। व्यक्ति असावधान रहता है।

वह इन सामान्य-से प्रतीत होनेवाले परिवर्तनों पर विशेष ध्यान नहीं देता। ध्यान देता भी है तो चूर्ण-चटनी के प्रयोगकर वेगों की अनुपादेय प्रवृत्ति को बढ़ाना प्रारम्भ कर देता है। शरीर की यह स्थिति रोगों के उत्पन्न होने में अत्यन्त सहायक हो जाती है। जिस प्रकार पर्याप्त खाद व कर्षण से खेत की बीज-ग्रहण-शक्ति प्रबल बनाई जाती है, उसी तरह वेगरोध का परिणाम शरीर को गन्दगी की खाद दे-देकर रोगरूपी बीज ग्रहण करने के लिये ऊर्वरा भूमि की तरह बना देता है। इस वेगरोधरूपी हेतु में उन सब सामान्य कारणों का समावेश हो जाता है, जो आज की सभ्यता में अनेक रूपों में दिन-दिन मानव-समाज में स्थान पाते जाते हैं। वेगरोध के अनुबन्ध से विकृत वातादि दोष ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् गति से शरीर के विभिन्न भागों में प्रसरित हो रोग उत्पन्न करते हैं। वेगरोधरूपी क्षयहेतु का यह प्रथम वर्गीकरण है।

**क्षय**

वेगरोध की तरह दूसरा वर्गीकरण क्षयरूप हेतु का है। क्षय से अभिप्राय सामान्यतः शारीरिक तत्त्वों की कमी से है। शरीर में किन्हीं कारणों से शरीर के आवश्यक अंशों का न्यून हो जाना या धीरे-धीरे न्यून होते जाना "क्षय" शब्द का वाच्यार्थ है।

आयुर्वेद ने क्षय को दो रूपों में विभाजित किया है– अनुलोम क्षय और प्रतिलोम क्षय। अनुलोम क्षय का अर्थ है रस की न्यूनता या विकृति के कारण उत्पन्न होनेवाला क्षय, क्योंकि रस की न्यूनता के कारण आगे की धातुओं (रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र) का पोषण रुक जाता है। रक्तादि धातुओं का सम्यक् पोषण न होने से मांसपेशियों में शैथिल्य, स्नायुओं में शैथिल्य तथा धातुगत ऊष्मा व स्नेह की कमी होती जाती है। क्रमशः इनकी कमी का जैसे-जसे आधिक्य होता जाता है, वैसे ही वैसे व्यक्ति क्षय रोग के समीप पहुँचता जाता है।

प्रतिलोम क्षय में शुक्र का अत्यधिक क्षय होने के कारण विवर्धित वायु शुक्र के समीपस्थ मज्जादि धातुओं की न्यूनता करती है। शुक्र ही ओज का निर्मापक है। शुक्र के क्षय से ओज का निर्माण रुक जाता है। ओज के निर्माण की कमी से ओजगत स्नेह व तेज का सम्पूर्ण शारीरिक धातुओं से सम्पर्क टूट जाता है। इससे रक्तादि धातुओं में स्नेह व ऊष्मा की कमी होने लगती है और अनुलोम क्षय की तरह ही धीरे-धीरे प्रतिलोम क्षय से भी धातुओं का शोषण व शैथिल्य उत्पन्न होता रहता है। इस प्रतिलोमक्षय को "शुक्रौजः स्नेहसंक्षयः" नाम से भी कहा जाता है। इस नामकरण में स्पष्ट ही शुक्र––ओज-स्नेह की न्यूनता का दिग्दर्शन किया गया है। शरीर का वजन व उपचय इन्हीं के अधीन हैं। रक्तादि धातुओं में स्नेह का सम्यक् भाग पहुँचने से ही मनुष्य-शरीर का गुरुत्व व उपचय स्थिर रहता है।

आप ध्यान दें, तो ज्ञात हो जायगा कि बाहरी दुनिया में भी अन्नादि व फलादि में जो उचित गुरुत्व है, वह स्नेह के ही आश्रित है। जिन द्रव्यों में स्नेह कम पहुँचता है, वे अपने परिमाण में उचित होते हुए भी वजन में हलके रह जाते हैं। कितने लम्बे मनुष्य में कितना वजन होना चाहिये, इस का निष्कर्ष यही है कि उतने लम्बे शरीर में (रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा आदि) धातु अमक परिमाण में स्नेह-सहित होने चाहिए, अन्यथा परीक्षण उचित होते हुए भी वजन उतना नहीं होगा। मतलब, आयुर्वेद ने क्षय का सामान्य ही अध्ययन किया हो, सो बात नहीं। आयुर्वेद ने क्षय के उचित हेतुओं की तह तक पहुँचने की सफल शोध भी की थी, यह जोर देकर कहा जा सकता है।



यह जो उभयात्मक क्षय का निर्देश आयुर्वेद ने किया है, इसमें हम उन सब हेतुओं को समाविष्ट कर सकते हैं, जिन-जिन से शारीरिक धातुओं में कमी होती है। फिर भी आयुर्वेद का दृष्टिकोण इस हेतु में यही है कि जिन हेतुओं से प्रधानतया स्नेह, शुक्र व ओज का विनाश हो, वे हेतु ही क्षयात्मक हेतु माने जाने चाहिए।

शुक्र और ओज तथा स्नेह का क्या सम्बन्ध है, इसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता ; पर क्षयहेतु को ठीक समझने के लिये ओज की जानकारी आवश्यक है। ओज का विवरण चरक सूत्रस्थान 'कियन्तः शिरसीय' अध्याय में व सुश्रुत में 'धातु-मलक्षय-वृद्धि विज्ञानीय' प्रकरण में अवश्य देखना चाहिए।

स्वस्थ तथा वयस्क व्यक्तियों का आप, ओज को आधार मान कर, परीक्षण करें, तो आपको ज्ञात होगा कि आज के भारतीय मानववर्ग का कितना अधिक भाग ओजहीन या ओजःक्षय से युक्त है। सुश्रुत का यह निर्देश विशेष ध्यान देने योग्य है—

"अभिघातात् क्षयात् कोपात् शोकात् ध्यानात् श्रमात् क्षुधः।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातु ग्रहण निःसृतम् ॥
तेजः समीरितं तस्मात् विस्रंसयति देहिनः।"

यहाँ ओजःक्षय के प्रमुख हेतु व उसके क्षय होने का क्रम बतलाया गया है। ओजःक्षय की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। उनका (१) बलविस्रंसन, (२) बलव्यापद् और (३) बलक्षय नामों से उल्लेख किया गया है। वैद्य-समुदाय यह तो सम्यक् जानता ही है कि आयुर्वेद में "बल" शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है और वह प्रकरण-विशेष में ओज के लिए प्रयुक्त होता है ; जैसा कि महर्षि सुश्रुत निर्देश करते हैं—

"बललक्षणं, बलक्षयलक्षणं चात ऊर्ध्वमुपदेक्ष्यामः। तत्र रसादीनां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खलु ओजस्तदेव बलमुच्यते स्वशास्त्रसिद्धान्तात्।"

—सु० सू० स्था० अ० १५

इसी का आगे समर्थन करते हुए वे पुनः कहते हैं—

"त्रयोदोषा बलस्योक्ता व्यापद् विस्रंसनक्षयाः।"

वैसे बल का सामान्य अर्थ शक्त्युत्कर्ष है। शरीर के सम्पूर्ण यान्त्रिक अवयवों के समुचित कार्य का ही नाम "बल" है। पर यहाँ बल शब्द का "ओज" के विशेष अर्थ में प्रयोग किया है। इस प्रयोग का कारण यह है कि रसादि धातुओं के तेज को यथावत् बनाए रखने में ओज ही परम सहायक है। सम्पूर्ण धातुओं में उचित तेजोंऽश रहने से ही शरीर के हृदय, मस्तिष्क, वृक्क, फुफ्फुस, स्नायु-प्रणाली, मांसपेशी, रसस्रोत, धमनी, शिरा, यकृत्, प्लीहा, लसीका-स्रोत, आमाशय, मलाशय आदि सब यन्त्र अपने-अपने कार्य को यथोचित रूप से करते हैं, जिससे उपचय तथा बल की उत्पत्ति होती है। जैसा कि संग्रहकार कहते हैं—

"जीवनीयौषधक्षीर रसाद्यास्तत्र भेषजम्।
ओजोवृद्धो हि देहस्य तुष्टि पुष्टि बलोदयः ॥"

जिस तरह ओज के लिए बल शब्द का प्रयोग है, उसी तरह अन्य तन्त्रकारों ने ओज के लिये तेज, रस, जीवित शोणित, प्राकृत श्लेष्मा आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसा कि इस वाक्य में कहा गया है—

"धातूनां तेजसि रसे तथा जीवित शोणिते।
श्लेष्मणि प्राकृते वैद्यैरोजः शब्दः प्रकीर्तितः ॥"

जीवित शोणित शब्द का प्रयोग ओज के लिए महर्षि आत्रेय ने किया है।

"हृदि तिष्ठति यत् शुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्याति तन्नाशान्नाविनश्यति ॥"

चरक ने ओज के अपर व पर भेद से दो विभाग किये हैं। उपर्युक्त लक्षण परओज का है। अपर अंजलि परिमाण में और पर अल्प परिमाण में माना गया है। अपरओज का सम्बन्ध सम्पूर्ण धातुओं से है। परओज का सम्बन्ध हृदय से विशेष है। प्राकृत श्लेष्मा के लिए ओज शब्द का प्रयोग भी चरक ने किया है। जैसा कि इस श्लोक से व्यक्त होता है—

"प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते
सचैवोजः स्मृतः काये।" (सु. स्था. अ. १७)

इस कथन से प्रतीत होता है कि आचार्यों ने स्नेह और तेजो भाग का आधार ओज को माना है। इसी से "क्षयाच्चैव" के स्थान पर 'अष्टाङ्गहृदयकार' ने "शुक्रौजः स्नेह संक्षयः" इस तरह विशेषार्थक क्षय शब्द का प्रयोग किया है।

इसी अनुलोम-प्रतिलोमक्षय व शुक्रौजः स्नेह क्षय रूप हेतु में चरक में निर्दिष्ट अष्टादश क्षयों का समावेश भी हो जाता है। वातादि तीन दोष, रसादि सप्त धातु, मलमूत्र, ओज, पंच ज्ञानेन्द्रिय व मल-क्षय के नाम से कहे गए हैं। जैसा कि जतूकर्ण कहते हैं—

"दोषाणां धातूनामोजो मूत्रशकृदिन्द्रियमलानाम्।
अष्टादशक्षयास्ते लक्ष्याः स्वगुणक्रियानाशात्।"

"स्वगुणक्रियानाशात्" पद पर विशेष ध्यान दीजिए। यह पद निर्देश कर रहा है कि दोष, धातु, मल व ज्ञानेन्द्रियों के स्वाभाविक गुण व इनकी क्रिया (व्यापार) की कमी ही इनका क्षय है। उपर्युक्त क्षयहेतु में समादृत होने वाले ये सब प्रकार के क्षय किन कारणों से होते हैं, इसका भी चरक कितने विशद रूप में निर्देश करते हैं—

"व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम्।
वातातपोभयंशोका रूक्षपानं प्रजागरः।
कफशोणित शुक्राणां मलानां चातिवर्धनम्।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्या क्षय हेतवः।।

इसकी विशद व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आज की शोध का अधिकांश भाग इसमें समाहित हो जाते हैं। "भूतोपघात" के अर्थ में भूतोपसर्ग व कीटाणु आदि सम्पूर्ण आगन्तुक हेतुओं का समावेश हो जाता है। भूत शब्द भौतिक उत्पात का बोधक है। कीटाणु भी भौतिक उत्पात में ही सम्मिलित है, जैसा कि ऋग्वेद व अथर्ववेद में विविध कीटाणुओं के लिए विविध प्रकार के भौतिक नाम विशेषों का व्यवहार किया गया है। इस तरह आयुर्वेद "क्षय" रोग का क्षयरूप यह दूसरा हेतु निर्देश करता है।

## साहस

क्षय का तीसरा हेतु है साहस। साहस का अभिप्राय स्वकीय शारीरिक व मानसिक शक्ति से अधिक श्रम करना है। पूर्वकाल में शस्त्रविद्या के अध्ययन तथा उपयोग के कारण शारीरिक साहस का अधिक अवसर आता था। इसीलिये "युद्धाध्ययनभाराध्व" आदि साहस के हेतुओं का चरक ने उल्लेख किया है। आज के समय में युद्धकला का अभ्यास हमारे देश में सर्वथा बन्द है। उसकी जगह अन्य प्रकार के दुःसाहस के रूप दिखाई पड़ते हैं। जैसे पैसे के लोभ से मिलों में, कारखानों में तथा खानों में दिन-रात की दो-दो पालियों में काम करना, साधारण दैनिक काम करने के समय में या काम के अतिरिक्त समय में भी काम करना, रोगी होने के बाद पूर्ण बल प्राप्त किये बिना पुनः श्रमासाध्य कामों में लग जाना इत्यादि शरीर तथा मन के साथ न देते हुए भी परिस्थिति की विवशता से शारीरिक व मानसिक श्रम करने का आजकल अनेक रूप सामने आते हैं। नौकरी, मजदूरी तथा नियत ड्यूटी के काम सभी इसी रूप के हैं।

शारीरिक श्रम की तरह मानसिक श्रम के भी ऐसे बहुत उदाहरण मिलते हैं, जिनमें शक्ति से अधिक श्रम किया जाता है। इसके दो मुख्यक्षेत्र हैं--(१) परीक्षा तथा (२) क्लर्की। छात्र व आफिसियल कर्मचारी बहुत ऐसे मिल सकते हैं, जो मानसिक शक्ति का उल्लंघन कर परीक्षा के लोभ तथा नौकरी की विवशता से श्रम करने को बाध्य होते हैं। शक्ति से अधिक भार उठाना, शक्ति से अधिक चलना, शक्ति से अधिक बोलना—ये भी अयथाबल आरम्भ हैं। न्यून शक्तिवाले शरीर व मन से अधिक काम करने की जितनी भी स्थितियाँ हैं, वे सब साहसरूप हेतु के अन्तर्गत हो जाती हैं।

आरम्भ में कुछ दिनों तक किसी प्रकार के खास रोग के चिह्न नहीं प्रतीत होते, पर शरीर व मन क्लिन्न और थके हुए रहते हैं। श्रम की अधिकता के कारण शारीरिकशक्ति का दैनिक निर्माण जितना होता है, उसकी अपेक्षा खर्च अधिक हो जाता है। व्यय की यह प्रतिदिन की अधिकता शरीर की संचित शक्ति को न्यून से न्यूनतर करती जाती है। इस पर भी मनुष्य सचेष्ट न हो, तो आगे जाकर उसको क्षय का शिकार होना ही पड़ता है। यदि आज क्षय रोग से मरनेवालों के आँकड़े इकठ्ठे किये जाएँ, तो इस साहसरूप हेतु से क्षयग्रस्त होनेवाले व्यक्तियों की पर्याप्त संख्या अनुपात में सामने आ जायगी। आयुर्वेदिक पद्धति के अनुसार क्षय के हेतुओं का यह साहसरूप तीसरा वर्गीकरण है।

## विषमाशन

क्षय के हेतुओं का चौथा वर्गीकरण है विषमाशन। विषमाशन का अभिप्राय खान-पान की अव्यवस्था है। आयुर्वेद ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। ऋतु-भेद, अवस्थाभेद तथा प्रकृतिभेद से भोजन-सामग्री का




बड़ी उत्तम रीति से विश्लेषण किया है। सात्म्य द्रव्य, ओक सात्म्य द्रव्य, असात्म्य द्रव्यों का विभाजन कर तथा भोजन करने की आवश्यकता का काल, भोजन के पदार्थों का वर्गीकरण, प्रथम कैसा भोजन हो और मध्य में कैसा, किस प्रकृतिवाले को कैसा भोजन उपादेय है और कैसा अनुपादेय, भोजन के पात्र, भोजन के निर्माण, भोजन की स्वकीय पाचन-शक्ति की मात्रा, भोजन के सम्यक् पाचन के सहायक हेतु, भोजन के असम्यक् पाक के कारण, किस प्रकार के भोजन पर किस प्रकार का पेय, जल के भेद, जलके शुद्धाशुद्ध का विवेचन, मद्य, सुरा, सीधु, राग, खण्ड, फाण्ट, अम्ल रस, यूष, पय आदि विविध पेयों का विवेचन सब खान-पान के विचार में समाविष्ट है।

आज भोजन में जिन विविध विटामिनों का विश्लेषण किया गया है तथा किया जा रहा है, वे विटामिन जिन-जिन द्रव्यों में अधिक मात्रा में मिलते हैं, उन द्रव्यों में से अधिकांश का भोजन-द्रव्यों में समावेश आज से सहस्रों वर्ष पूर्व आयुर्वेद ने कर दिया था। आयुर्वेद वैज्ञानिक है या नहीं, इस प्रकार का उत्तर चाहनेवाले आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के द्वारा प्रसूत विटामिन द्रव्य-संग्रह को चरक व सुश्रुत में निर्दिष्ट आजन्म सात्म्य द्रव्य, जीवनीय, वृंहणीय, दीपनीय, बल्य, वयःस्थापनीय द्रव्यों के साथ मिलान कर निश्चय करें कि उनका यह अनुसन्धान (रिसर्च) आयुर्वेद से कितना आगे बढ़ सका है?

अन्न-पान के विषय में अधिक न लिख इतना ही लिखना पर्याप्त समझता हूँ कि चरक के मात्राशितीय, यज्जः पुरुषीय, आत्रेय भद्रकापीय, विविधाशितीय आदि अन्न-पान विधायक अध्याय में जितना विवेचन है, उससे अधिक विवेचन अन्यत्र शायद ही हो। इन अध्यायों में निर्दिष्ट किये हुए नियमों का उल्लंघन कर जो खान-पान किया जाय, वह सब विषमाशन के अन्तर्गत हैं। विरुद्ध भोजन, विदग्ध भोजन आदि विभिन्न अवस्थाएँ हैं। विरुद्ध भोजन में भी संयोग-विरुद्ध, मात्रा-विरुद्ध, देश-विरुद्ध, काल-विरुद्ध, प्रकृति-विरुद्ध--ये अनेक स्थितियाँ हैं। विदग्ध भोजन का अभिप्राय विदग्धावस्था को प्राप्त हो जाना है। विदग्ध-परिपाक रस-विकृति का निमित्त है। इससे रस विदग्ध होकर रक्तादि धातुओं में अम्लता को उत्पन्न करता है--जिससे उन धातुओं की विकृति के साथ-साथ तज्जन्य रोगों की उत्पत्ति होती है।

समय से पूर्व भोजन करना अकाल भोजन है और समय को उल्लंघन कर भोजन करना अतिकाल भोजन है। पूर्व भोजन का सम्यक् परिपाक बिना हुए ही पुनः भोजन कर लेना अजीर्ण भोजन है। अभी भोजन किया है और वह पच्यमान अवस्था में है, उसी स्थिति में पुनः भोजन कर लेना भोजन पर भोजन है। खान-पान की इन अव्यवस्थाओं का परिणाम पाचन-प्रणाली के काम को अव्यस्थित करना है। अतः खान-पान की सब भूलें विषमाशन में सम्मिलित कर ली गई हैं। चरक ने विमानस्थान के प्रथम अध्याय में भोजन के आठ आयतन बताये हैं। उनकी निम्न संज्ञाएँ हैं--

(१) प्रकृति (पदार्थ का स्वाभाविक गुण-धर्म)।

(२) करण (स्वाभाविक गुण-धर्म-संपन्न द्रव्यों का संस्कार)।

(३) संयोग (दो या बहुत से सजातीय, विजातीय, समगुण, विपरीतगुण द्रव्यों का एकीकरण)।

(४) राशि (आहार में जितने विभिन्न द्रव्य हैं, उन सब का मिलाकर परिमाण)।

(५) देश (जो पदार्थ जिस प्रदेश में होते हैं या जहाँ जिनका उपयोग होता है, उन दोनों स्थानों को अर्थात् उत्पत्ति-स्थान व उपयोग-स्थान दोनों को देश नाम से व्यक्त किया गया है)।

(६) काल नियत (ऋतु अनुसार), आवस्थिक (बाल्यादि अवस्था तथा रोग-विशेष में पूर्वरूप, रूप, उपद्रव, साध्य, कष्टसाध्य, असाध्य अवस्थाएँ)।

(७) उपयोग-संस्था (आहारोपयोगी नियम--क्या खाना, कैसे खाना, कब खाना, कब नहीं खाना, क्या नहीं खाना, कैसे नहीं खाना, इन सब विधियों का निर्देश उपयोग-संस्था नाम से किया गया है)।

(८) उपभोक्ता (भोजन करनेवाला)।

इन आठों आयतनों के समुचित समन्वय से भोजन की उचित अवस्था मानी गयी है। इन आयतनों की जो अव्यवस्था हो, वही 'विषमाशन' है। संक्षेप में ऊपर निर्दिष्ट भोजन की सब विषमताओं का इन आयतनों की अव्यवस्था

में समावेश हो जाता है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति देश की वर्तमान भोजन-प्रणाली पर ध्यान से दृष्टिपात करे, तो तुरन्त ज्ञात हो जाय कि आज का हमारा भोजन वास्तविक भोजन है या विषम भोजन।

देश के मानववर्ग को सामान्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। ये विभाग इस प्रकार होंगे—(१) सम्पन्न, (२) साधारण, (३) गरीब। सम्पन्न वर्ग जरूरत से अधिक पदार्थों की प्राप्ति के कारण विषमाशन करता है। साधारण व गरीब श्रेणी के लोग अपनी परिस्थिति के कारण भोजन की समुचित व्यवस्था नहीं कर पाने के कारण विषमाशन के चक्कर में पड़ते हैं। कुछ मनचले बाबू पाश्चात्य प्रणाली के अन्धानुकरण के कारण विषमाशन के जाल में उलझते हैं। इस तरह देश का अधिकांश मानव-समुदाय अज्ञान तथा दरिद्रता के कारण भोजन की समुचित व्यवस्था से वञ्चित हो विषमाशन द्वारा क्षय को निमन्त्रण देता है।

आयुर्वेद-शास्त्र उपर्युक्त इन चतुर्विध हेतुओं से ही क्षय की उत्पत्ति मानता है और उसका यह मानना सर्वथा उचित भी है।

## कीटाणु और त्रिदोष

क्या उपर्युक्त हेतु चतुष्टय ही क्षय के उत्पन्न करने में वास्तविक कारण हैं? यदि हाँ, तो फिर आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली की शोध क्या मिथ्या है, जो प्रतिदिन क्षयग्रस्त रोगियों के कीटाणुओं का परीक्षण करती है! वैज्ञानिक प्रणाली ने तो टी० बी० (ट्यूबर्किल बेसेलाई) कीटाणुओं को क्षय का प्रमुख कारण माना है। रोगी की श्लेष्मा में, मलमें, रसवाहक ग्रन्थियों में इन कीटाणुओं के झुण्ड के झुण्ड उपलब्ध होते हैं। जब प्रत्यक्ष परीक्षा द्वारा क्षयके कीटाणुओं का निश्चय हो चुका, तब क्षय को एकान्ततः कीटाणुजन्य ही क्यों न माना जाय?

आयुर्वेद-पद्धति से जिन चार हेतुओं का उल्लेख ऊपर किया गया है, उन हेतुओं में कीटाणुओं का स्पष्ट निर्देश कहीं नहीं है। केवल क्षयसंग्राहक चरक-निर्दिष्ट हेतुओं में भूतोपघात का निर्देश है। फिर आयुर्वेद के ये हेतु चतुष्टय सीधे क्षय के उत्पादक भी नहीं हैं। अपितु इन से प्रकुपित वातादि दोष ही क्षय के वास्तविक उत्पादक हैं। वातादि दोषों का कीटाणुओं की तरह प्रत्यक्ष भी नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में उभय पक्ष में से किस को ठीक माना जाय, यह विचारणीय प्रश्न प्रत्येक बुद्धिवादी व्यक्ति के सामने आये बिना नहीं रह सकता। इसका उत्तर देने की अपेक्षा कि अमुक हेतु क्षय का उचित कारण माना जाना चाहिए, दोनों हेतुओं का उचित विश्लेषण करना अधिक संगत रहेगा।

क्षय में कीटाणु होते हैं, यह ठीक है; पर कीटाणु होने से ही कीटाणुओं से क्षय उत्पन्न होता है, यह कहना संगत नहीं। क्योंकि कीटाणुओं की शोध करनेवाले जब यह भी कहते हैं कि केवल क्षय के कीटाणु पहुँचने मात्र से ही क्षय हो जायगा, यह निश्चित नहीं। क्योंकि परीक्षण द्वारा बहुत से ऐसे मनुष्यों में क्षयके कीटाणु पाये गये हैं जो क्षय से आक्रान्त नहीं थे। सामान्यतः बहुत से स्वस्थ मनुष्यों में भी क्षय के कीटाणु मिलते रहते हैं। जब क्षयके कीटाणु शरीर में पहुँचे हुए हैं, पर वह व्यक्ति क्षय रोग से ग्रस्त नहीं होता, तो कीटाणु ही क्षय के उत्पादक हैं, इसका व्यभिचार स्पष्ट ही सामने आ जाता है। व्यभिचारी हेतु को एकान्ततः हेतु नहीं कह सकते।

जब यह प्रश्न कीटाणुओं को क्षयोत्पादक माननेवालों से किया जाय कि महानुभाव, जब क्षय के कीटाणु शरीर में पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, फिर भी वह मनुष्य क्षय से मुक्त रहता है, तब आपके कीटाणु-हेतु की क्या सार्थकता हुई? उत्तर मिलता है कि अभी इस व्यक्ति के शरीर में रोग-निवारक शक्ति प्रबल है। धीरे-धीरे जब यह शक्ति न्यून हो जायगी, तब इन कीटाणुओं का प्रभाव अवश्य होकर रहेगा। इस उत्तर से एक बात और सामने आती है कि कीटाणु तबतक रोग-उत्पन्न करने में समर्थ नहीं, जबतक कि शरीर की रोगनिवारक शक्ति न्यून न हो जाय। इससे कीटाणुओं की अपेक्षा रोगनिवारक शक्ति प्राधान्य हुआ। शरीर में पर्याप्त रोगनिवारक शक्ति है, तो क्षय-कीटाणुओं की कोई शक्ति शरीर पर असर नहीं कर सकती। शरीर की रोगनिवारक शक्ति ही यदि क्षीण हो जाय, तो कीटाणु अपनी करामात दिखाने में विलम्ब नहीं करेंगे। इससे एक नया प्रश्न फिर सामने आता है कि रोगनिवारक शक्ति किस से या किन कारणों से कम होती है?




क्या क्षय के कीटाणु शरीर में रह कर रोग निवारक-शक्ति को कम करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर भी यही मिलेगा कि कीटाणु ही एक मात्र रोग-निवारक शक्ति को न्यून करें, ऐसी बात नहीं क्योंकि परीक्षणों से सिद्ध है कि एक पूर्ण शारीरिक-शक्ति सम्पन्न व्यक्ति में कीटाणु मिलते हैं पर उसकी रोगनिवारक-शक्ति में कोई न्यूनता नहीं दिखायी देती। इससे सिद्ध है कि बिना अन्य कारणों के अकेले कीटाणु रोगनिवारक शक्ति पर कुछ असर नहीं डाल सकते। रोग निवारक-शक्ति को कम करनेवाले हेतुओं का विवेचन होने पर वे ही कारण सामने आवेंगे जिनका चरक ने "व्यायामोऽनशनं चिन्ता" इत्यादि वाक्यों द्वारा किया है। अपौष्टिक भोजन मलेरिया, न्यूमोनिया आदि व्याधियों के प्रबल आक्रमण तथा व्याधिग्रस्त अवस्था में उचित उपचार की कमी, पाण्डु, कास, रक्तपित्त, अग्निमान्द्य आदि रोग विशेष का दीर्घकालीन अनुबन्ध, गन्दी हवा, गन्दे स्थान में निवास, शक्ति से अधिक श्रम, अति मैथुन, भय, चिन्ता, शोक का अनुबन्ध , विविध प्रकार की नशीली उत्तेजक वस्तुओं का अतिमात्रा में या अनवरत उपयोग आदि जितने भी हेतु आधुनिक प्रणाली में रोगनाशक-शक्ति को न्यून करने के लिए निर्देश किए गए हैं क्या वे चरक निर्दिष्ट हेतुओं से तथा वेगरोधादि वर्गीकृत हेतु चतुष्टय से भिन्न हैं?

क्या आधुनिक प्रणाली के इस हेतुसमुदाय का उपर्युक्त चार हेतुओं में समावेश नहीं हो जाता? इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न हेतुओं से पहले शरीर की स्वाभाविक रोग-निरोधक-शक्ति का पर्याप्त ह्रास हो जाने पर क्षय-कीटाणुओं को क्षय उत्पन्न करने का भी अवसर मिलता है। इस का अर्थ यह करना असंगत नहीं है कि क्षय के कीटाणु रोगोत्पत्ति करने में प्रधान हेतु न होकर केवल सहायक कारण है। जब तक अन्य हेतुओं से शरीर में क्षय के कीटाणुओं को काम करने योग्य क्षेत्र पैदा नहीं कर दिया जाता तब तक अकेले कीटाणुओं की कोई महत्ता नहीं है। अभिप्राय यह हुआ कि क्षय रोग कीटाणु मात्र से उत्पन्न नहीं होता। हाँ क्षय की अवस्था बदलने पर कीटाणु भी हो जाते हैं। कीटाणुओं का अनुबन्ध और भी कई व्याधियों में होता है। जैसे—हृद्रोग, नासा-रोग, शिरोरोग, उपदंश, शुक्रदोष, कुष्ठ आदि में। आयुर्वेद इन रोगों की अवस्था विशेष में कीटाणुओं की उत्पत्ति व अनुबन्ध स्वीकार करता है। इसी तरह क्षय में भी अवस्थान्तर से कीटाणुओं का अनुबन्ध होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि क्षय की कोई कीटाणु विहीन अवस्था नहीं। क्षय की अवस्था कीटाणुविहीन भी होती है। आरम्भ में अर्थात् पूर्वावस्था में प्रत्येक क्षय रोगी के कीटाणु मिलें, यह नियम नहीं है।

पाश्चात्य चिकित्सकों ने विविध प्रकार से रोगियों की परीक्षा की हैं, उनमें सभी प्रकार की स्थितियाँ सामने आती हैं। जैसे कीटाणु मिलते हैं पर क्षय नहीं, क्षय है पर कीटाणु नहीं, कीटाणु है तथा क्षय भी है। अतः अब तक का परीक्षित परिणाम यह है कि क्षयरोग की प्राथमिक अवस्था के पश्चात् प्रायः क्षयरोगी में टी० बी० मिलते हैं। आरम्भिक अवस्था कीटाणुविहीन ही होते हैं। क्षय का आरम्भ है और कीटाणु नहीं तब स्वतः सिद्ध होता है कि क्षय के उत्पन्न करने का वास्तविक हेतु कीटाणुओं से भिन्न है। यदि कीटाणुओं को रोगोत्पादक माना जाय तो एक और भी विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि कीटाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोगों की एक ही-सी अवस्था क्यों नहीं रहती। कारण, जब कीटाणु शरीर में पहुँच गए और उन्होंने अपना कार्य आरम्भ कर रोग उत्पन्न कर दिया तो वह रोग अधिकांशतः एक ही अवस्था का होना चाहिए। क्योंकि कीटाणुओं की क्रिया, जिससे रोगोपत्ति होती है, एक-सी है। अतः उसका परिणाम भी एक-सा ही होना व रहना चाहिए। पर बात ऐसी नहीं है। टाइफाइड, चेचक, इन्फ्लुएन्जा, मलेरिया, न्यूमोनिया, प्रसूत, हैजा, आमातिसार, फिरंग रोग, सुजाक, कुष्ठ आदि रोग, जिन को वैज्ञानिक-प्रणाली कीटाणुजन्य रोग मानती है, सब व्यक्तियों में एक स्थिति नहीं होनी। विभिन्न मनुष्यों में उनका भिन्न-भिन्न रूप व भिन्न-भिन्न अवस्था सामने आती है। जब एक मात्र इन रोगों के हेतु कीटाणु ही हैं तो इन से उत्पन्न होनेवाले रोगों में विविधता नहीं होनी चाहिए। क्योंकि एक कीटाणुओं में कोई विभिन्नता नहीं होती। कीटाणुओं का शरीर से कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। उनका जन्म और मरण-पोषण बाहक होता है। शरीर म पहुँचने पर

वे अपनी विषाक्तता से रोगोत्पत्ति करने का कार्य करते हैं। इस दशा में तज्जन्य रोगों की विविधता युक्ति-संगत नहीं है।

विषमज्वर (मलेरिया) के दश रोगी लीजिए। उनकी ज्वरोष्मा (टेम्परेचर) भिन्न-भिन्न होगी। किसी को भयङ्कर शिरोर्ति है, तो किसी को पीठ की भयङ्कर वेदना है। किसी को मलावरोध है, तो किसी को अतिसार। किसी को वमन का दौरा है, तो किसी को अनवरत उत्क्लेश। किसी को तालुशोष है, तो किसी को भयङ्कर तृष्णा। किसी को अत्यन्त स्वेद है, तो किसी को स्वेद का नाम भी नहीं। किसी को अत्यन्त शीत लगता है, तो किसी को सामान्य कँपकँपी। किसी को ज्वर चार घंटे रहता है, तो किसी को सोलह घंटे। जब मलेरिया अणुयुक्त एनोफेलिस मच्छरी के काटने तथा उसके द्वारा पहुँचे विष के कारण ही होता है, तो ये सब विषमताएँ किन कारणों से होती हैं?

एनोफेलिस मच्छरी किसी को कम काटे, किसी को अधिक ऐसा भी नहीं होता। इस मच्छरी में—किसी में विष कम हो किसी में अधिक यह भी नहीं। मलेरिया पैदा करनेवाले ये मच्छर जहाँ होते हैं, वहाँ प्रायः एक-से ही होते हैं। और इन के काटने में भिन्नता नहीं होती। पर रोग की उत्पत्ति तथा स्थिति में भिन्नता रहती है। मलेरिया के ये कीटाणु जो मनुष्य को काटते हैं उनमें से साठ को मलेरिया होता है और ४० को नहीं होता। उप-र्युक्त विभिन्न लक्षण तथा रोग के होने न होने की विषमता जब इस हेतु के साथ है, तब मानना पड़ेगा कि रोग की उत्पत्ति तथा उसकी अवस्था के भेद इस हेतु से भिन्न और भी कोई हेतु हैं। वे हेतु कौन से हैं, उनको निश्चयात्मक रूप से जान लेने तथा मान लेने पर संभव है, कीटाणुवाद के पोषक भी इस भ्रान्ति से छुटकारा पा जाएँ कि अमुक-अमुक रोग कीटाणुजन्य ही होते हैं।

रोग की चिकित्सा हेत्वनुबन्धी होती है। जैसा कारण हो तदनुरूप उसका प्रतीकार होता है। आधुनिक क्षय की चिकित्सा से भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि क्षय की चिकित्सा मलेरिया की तरह टी० बी० को नष्ट करने के लिये न की जाकर शरीर की प्राकृतिक शक्ति को विवर्धित करने को ही की जाती है। यदि शरीर की स्वाभाविक शक्ति चिकित्सा से विवर्धित हो जाय तो रोगी क्षय से छुटकारा पा जाता है। टी० बी० शरीर में उसी तरह मौजूद रहते हैं। इस चिकित्सा क्रम का साफ परिणाम भी यही है कि क्षय की निवृत्ति, कीटाणु सापेक्ष न हो कर शारीरिक रोग-निवारक शक्ति की अपेक्षा रखती है। अतः क्षय रोग एकमात्र कीटाणु से ही उत्पन्न होता है, यह न तो उचित रूप में सिद्ध ही होता है और न निश्चित ही है।

अब आयुर्वेद के क्षय-हेतु का परीक्षण करिए। आयुर्वेद सब रोगों की उत्पत्ति धातुवैषम्य से मानता है। धातुवैषम्य का मुख्य अभिप्राय वात, पित्त और कफ का वैषम्य है। आयुर्वेद के ये त्रिदोष स्थिति व कर्म के भेद से स्थूण, धातु, मल और दोष शब्दों से कहे जाते हैं। इनकी साम्य (स्वाभाविक) और वैषम्य (क्षय, वृद्धि, आवरण अस्वाभाविक) दो अवस्थाएँ हैं। साम्यावस्था स्वास्थ्य का कारण है और वैषम्य-अवस्था रोगों का कारण है।

वातादि त्रिदोष शरीर के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त हैं। शरीर का अशेष क्रिया-कलाप इनसे सम्बन्धित हैं। खान-पान, रहन-सहन के अनौचित्य तथा देश, काल की विपरीत स्थिति से वातादि दोषों का स्वास्थ्य-रक्षक स्वाभाविक सन्तुलन बिगड़ जाता है। स्वाभाविक अवस्था में जिन गुण-धर्मों व क्रियाकलापों के द्वारा ये शरीर का निर्माण करते हैं; उनमें अनवस्था होने से इनका यह कार्य रुक जाता है। इसी का नाम "वैषम्य-अवस्था" है। दोषों की यह वैषम्यावस्था ही अशेष रोगों के उत्पादन का एकान्ततः हेतु है। दोषों के विषम बनाने के अनन्त हेतु हैं। पर आयुर्वेद ने इनको निज और आगन्तुक भेद से दो भागों में विभक्त कर दिया है। जिन कारणों से वातादि दोष चय, प्रकोप, प्रसरण, स्थानसंश्रय, अभिव्यक्ति व अवस्था-न्तर इन षड्विध अवस्थाओं में होते हुए रोग उत्पन्न करते हैं, वे सब हेतु निज नाम से व्यवहृत हैं। चयादि अवस्थाओं के बिना सहसा अभिघात, विषयुक्तवात, कीटाणु आदि जिन हेतुओं से वातादि दोषों में विषमता हो कर रोग उत्पन्न होता है, उनका नाम आगन्तुक हेतु है। इस तरह ये निज और आगन्तुक हेतु दोषवैषम्य के जनक हैं।

दोषों का स्वरूप, उनकी साम्यावस्था के गुण, धर्म, व्यापार, शरीर में दोषों की स्थिति, उनके विकृत करने के

हेतु—इन सब का विशद विवेचन यहाँ किया जाना शक्य नहीं। सामान्यतः संक्षेप में इतना ही कहना संगत है कि आयुर्वेद उपर्युक्त रूप से वातादि दोषों की विषमता को ही रोगोत्पादक हेतु मानता है और यह सर्वथा संगत भी है कारण ; आयुर्वेद ने धातुसाम्य (त्रिदोष की समावस्था) को स्वास्थ्य का प्रमुख कारण माना है। और यह कारण इसलिए माना है कि शरीर में प्रतिदिन होनेवाली कमी की पूर्ति, नवीन शरीर का निर्माण, अन्नादि विविध आहार को रक्तादि धातुओं की शकल में बदलना, मल, मूत्र, स्वेद आदि अनुपादेय पदार्थों का शरीर से बाहर निकालना, रस, रक्त, उदक, लसीका, श्वास, शुक्र आदि के वहन करनेवाले स्रोतों को निरावरण रखना, मस्तिष्क, हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, यकृत्, प्लीहा, क्लोम, उण्डुक, आमाशय, पाकाशय, मलाशय, वस्ति, शिरा, धमनी, स्नायु, पेशी आदि यन्त्रों को स्व-स्व क्रिया सम्पन्न रखना आदि शरीर की अशेष आवश्यकताओं की पूर्ति दोषों की साम्यावस्था के आश्रित हैं।

आज का विज्ञान जिसको "शरीर की रोगनिवारक शक्ति" के नाम से व्यवहृत करता है उसी शक्ति का उत्पादन व स्थैर्य दोषों की साम्यावस्था के आश्रित है। शरीर की स्वाभाविक दशा का नाम ही रोगनिवारक शक्तिसंपन्न अवस्था है। दोष वैषम्य से शरीर का स्वाभाविक सन्तुलन नहीं रहता। इसका सर्वप्रथम प्रभाव यह होता है कि शारीरिक रोगनिवारक-शक्ति में कमी होने लगती है। कारण—दोषवैषम्य से स्रोतों का तथा अन्य शारीरिक यन्त्रों का काम गड़बड़ा जाता है। चाहे जो रोग उत्पन्न हो, चाहे जिस हेतु से हो, उसका सर्वप्रथम सीधा प्रभाव शरीर की निर्माण-क्रिया पर होगा। दैनिक निर्माण का कार्य, जो दैनिक क्षय की पूर्ति कर शरीर की स्वाभाविक शक्ति को स्थिर रखने में काम आता है, दोषवैषम्य होते ही यह निर्माण-कार्य शिथिल हो जाता है। हेतु विशेष के कारण दोषों का जिस प्रकार का वैषम्य विशेष होता है तदनुरूप ही शरीर की स्वाभाविक स्थिति में तथा शरीरस्थ निर्माणकारी यन्त्रों के कार्यों में कमी-वेशी होती है। जिस प्रकार की यह कमी-वेशी होगी तदनुसार ही शरीर-निर्माण या शरीर की रोगनिवारणक्षमताओं में न्यूनाधिकता होगी।

आयुर्वेद के वर्गीकृत हेतुचतुष्टय वेगरोधादिक हैं। वे धातुवैषम्य का उत्पादन करते हैं। धातुवैषम्य से शरीर का स्वाभाविक व्यापार न्यून हो जाता है। स्रोत निरावरण नहीं रहते। शरीर की दैनिक शुद्धि में अनवस्था हो जाती है। पाचनयन्त्र अपना कार्य यथावत् नहीं करता। इससे शरीर का दैनिक निर्माण कम हो जाता है और ओज की कमी होने लगती है। शरीर का स्वाभाविक तेज, स्फूर्ति और स्नेह घटते जाते हैं और शरीर रोग का क्षेत्र बन जाता है।

जबतक पुनः धातुसाम्य नहीं होता तबतक शरीर का रोग से छुटकारा नहीं हो सकता। आयुर्वेद की चिकित्सा का यही मूल मन्त्र है। वह सीधा रोग को ही (कीटाणुओं को ही) नष्ट करने का उपाय नहीं करता। वह तो घोषणा करता है कि—

"धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्यप्रयोजनम् ।"

अर्थात् धातुओं को साम्यावस्था में लाना ही आयुर्वेद-शास्त्र का क्रिया-कर्म (चिकित्सा) है। रोगोत्पत्ति दोष-वैषम्य से है तो रोगनिवृत्ति दोषसाम्य से होगा। जब शरीर की उत्पत्ति वातादि प्रधान शुक्रशोणित से है और शरीर की विकृति या रोग धातुवैषम्य से है, तो शरीर का पुनः स्वस्थ होना धातुसाम्य पर निर्भर है। जन्म से मृत्युपर्यन्त जब दोषों का शरीर से सम्बन्ध है, तो त्रिदोष की रोगकारणता में क्या शंका रह जाती है? अतः आयुर्वेद का युक्तियुक्त त्रिदोषवाद ही रोग का प्रमुख कारण है, यह कहना असंगत नहीं।

कीटाणुवाद की तरह आयुर्वेद के त्रिदोषवाद में व्यभिचारदोष नहीं आ सकता। क्योंकि त्रिदोष शरीर में नित्य रहनेवाले पदार्थ हैं। उनका शरीर के साथ नित्य सम्बन्ध है। शरीर के समस्त क्रियाकलाप के वे आश्रय हैं। खान-पान आदि से शरीर पर जो असर होता है सब से प्रथम उसका सम्बन्ध इन त्रिदोषों से होता है। अतः त्रिदोषों को प्रकुपित करने के कारणों की विचित्रता और रोगी की प्रकृति, आयु, बल, शरीर सम्पत्, कोष्ठाग्नि की स्थिति, देश, काल आदि के कारण दोष-प्रकोप की विभिन्नता उचित है। आश्रयभेद, दोषों का गतिभेद, उपचार के औचित्य-अनौचित्य से पुनः रोगों में परिवर्तन होते रहना

भी संगत है। कीटाणुओं की न तो यह स्थिति है और न उनका इस रूप का शरीर के साथ सम्बन्ध ही है। इस तरह कीटाणु तथा त्रिदोष में से कौन-सा रोगोत्पादक हेतु ठीक है, यह निर्णय प्रत्येक विचारशील व्यक्ति कर सकता है।

## क्षय की पहिचान तथा भेद

ज्वर, अतिसार, प्रतिश्याय, पाण्डु, अर्श, ग्रहणी, रक्त-पित्त आदि और रोगों की तरह क्षय की तुरन्त अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः उत्पन्न होते ही क्षय की पहिचान करना अत्यन्त दुरूह है। ऊपर के विवेचन से यह बात तो ध्यान में आ ही गयी होगी कि क्षय का रूप बहुत दिनों में धीरे-धीरे बनता है। दोषों की चयात्मक विषमता व उनकी बहुत मन्द गति से होनेवाली क्षीणावस्था का न तो रोगी को ही आरम्भ से पता लगता है और न ही डॉ०, वैद्य तथा हकीम को। क्षय की शुरूआत बहुत विभिन्नताओं के साथ होती है। रोगग्रस्त होनेवाला व्यक्ति पर्याप्त समय तक उपेक्षा में रहकर यह समझ ही नहीं पाता कि वह किसी रोग से ग्रस्त है वा नहीं। कारण, क्षय का आरम्भ विभिन्न-हेतु भेदों से भिन्न-भिन्न रूप का होता है। और उन विभिन्नताओं के कारण किसी को प्रतिश्याय रहता है तो किसी को मन्द कास। किसी को पाचन का काम मन्द होता है, तो किसी को कुछ-कुछ ऊष्मा थोड़े समय के लिये बढ़ती-सी ज्ञात होती है। किसी में आलस्य, किसी में थकान, किसी में क्लान्ति, किसी में उपचय का अवरोध आदि अनेक नाना भावों से इसका आरम्भ होता है। रोगी रोग की प्रथमावस्था तक अपने को किसी खास बीमारी का शिकार न समझता हुआ समय गँवा देता है।

जहाँ तक मेरा सामान्य ज्ञान है, प्राथमिक अवस्था में बहुत ही कम रोगी चिकित्सक के पास पहुँचते हैं। यदि पहुँचते हैं तो उच्चश्रेणी के या समझदार माध्यमिक श्रेणी के बहुत थोड़े व्यक्ति। उन पहुँचनेवालों को अपने शरीर के काम में कुछ गड़बड़ी का ही अनुभव होता है। वे उस गड़बड़ी को या उसी स्थिति को चिकित्सक के सामने रखते हैं। उस स्थिति में बहुत ही कम चिकित्सकों का ध्यान इस बात पर पहुँचता है कि इसको क्षय रोग आरम्भ हो गया है। कारण, उस समय तक ज्वर या कास का अनुबन्ध नहीं बनता है। क्षय की इस पूर्वावस्था में क्षय को पहचान लेना बिना विशेष अनुभव के नहीं हो सकता। आयुर्वेद में इस पूर्वावस्था के लक्षण विशेषों का निरूपण अवश्य किया है, जैसा कि संग्रहकार निर्देश करते हैं :—

"रूपं भविष्यतस्तस्य प्रतिश्यायो भृशं क्षयः।
प्रसेको मुखमाधुर्यं सदनं वह्निदेहयोः॥
स्थाल्यमत्रान्नपानादौ शुचावप्यशुची क्षणम्।
हृल्लासच्छर्द्यरुचिरश्नतोऽपि बलक्षयः॥
पाण्योरवेक्षा पादस्य शोफोऽक्ष्णोरतिशुक्लता।
बाह्वो प्रमाण जिज्ञासा काये बैभत्स्य दर्शनम्॥
स्त्रीमद्यमांस प्रियता...............
नखकेशातिवृद्धिश्च...............

दोषों का वैषम्य उपर्युक्त लक्षणों द्वारा रोगी व चिकित्सक को सचेष्ट करता है कि क्षय की बीमारी होने का उपक्रम हो गया है। ये सब के सब लक्षण किसी रोग में उत्पन्न हों, यह बात नहीं। यह विभिन्न स्थितियों में आरम्भ होनेवाले विभिन्न लक्षणों का संग्रह है। सामान्यतः प्रतिश्याय का अनुबन्ध, मुँह में पानी आना या मुँह में उपलेप, कोष्ठाग्नि व धात्वाग्नि की कमी, ये क्षय की पूर्वावस्था के प्रथम लक्षण हैं। आँखों की सफेदी यह क्षय के आरम्भ का विशेष लक्षण है। क्षय का आरम्भ होने पर मानसिक क्षेत्र में भी परिवर्तन होता है। वह व्यक्ति भोजनार्थ परोसे हुए ठीक दशा के भोज्य द्रव्यों को भी अपवित्र, अनुपादेय समझता है। उस को इस प्रकार की भ्रान्ति होने लगती है। अपने शरीर की उचित अवस्था में भी अनुचित अवस्था की-सी प्रतीति होने लगती है। मतलब, मन में भ्रम और शरीर में प्रतिश्याय, मुँह की स्वाभाविक स्थिति में परिवर्तन, शरीरस्थ कोष्ठ-धातु-मलाग्नियों की न्यूनता, आँखों की सफेदी—ये होनेवाले क्षय के प्रमुख लक्षण हैं। इन लक्षणों के प्रतीत होते ही वैद्य को सावधानी से रोगी को संभाल लेना चाहिए। ये लक्षण सामने आने के बाद वैद्य को यह जानने की जरूरत नहीं कि इसके शरीर में टी० बी० है या नहीं। अधिकांशतः इस अवस्था में टी० बी० नहीं मिला करते हैं। तो भी क्षय का क्षेत्र बनना आरम्भ हो गया, इसमें सन्देह करने की जरूरत नहीं।

इन लक्षणों में ज्वर, कास, स्वर-भेद आदि कोई भी लक्षण संमिलित नहीं है। कारण, क्षय की आरम्भिक




अवस्था में इन का नाम-निशान भी नहीं रहता। यही कारण है कि रोगी और चिकित्सक दोनों इस पूर्वरूपावस्था में असावधान रह जाते हैं। इस अवस्था के बाद जब क्षय का रूप बन जाता है, शरीर में क्षय की स्थिति स्थिर हो जाती है, तब पीनस, श्वास-कास, अंसताप, ज्वर आदि की अभिव्यक्ति होती है। इस दूसरी अवस्था के प्रमुख लक्षण तीन हैं :—अंसपार्श्वाभिताप, हाथ-पैरों में दाह और ज्वर। यथा :—

अंसपार्श्वाभितापश्च संतापःकरपादयोः।
ज्वरःसर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः॥

भोज ने तीन लक्षण इस रूप में निर्देश किया है।

"कासोज्वरो रक्तपित्तं त्रिरूपं राजयक्ष्मणि।"

अंसपार्श्वादि द्वितीयावस्था के प्रारम्भिक लक्षण हैं। कास, ज्वर, रक्तपित्त—ये द्वितीयावस्था के अन्तिम लक्षण हैं। भोज के निर्दिष्ट लक्षणों की अभिव्यक्ति के पश्चात् व्याधि तृतीयावस्था में परिणत होने लगती है। इस अवस्था के आरम्भ होने के पश्चात् क्षय की चिकित्सा होना असम्भव है। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार हम क्षय की पहिचान उपर्युक्त लक्षणों से अच्छी तरह कर सकते हैं और इस पहिचान में किसी प्रकार की भूल होना बहुत ही कम संभव है।

## क्षय के अन्य भेद

आधुनिक वैज्ञानिक क्षय के आश्रयभेद से कई भेद मानते हैं। जैसे फुफ्फुस का क्षय, अन्त्रक्षय, अस्थिक्षय, गण्डमालाक्षय, शुक्रप्रणाली क्षय, क्षतज क्षय आदि। आयुर्वेद ने भी क्षय की इन सब स्थितियों को सम्यक् जान लिया था। आयुर्वेद ने इनकी संज्ञाएँ भिन्न-भिन्न रूप में की है। उनके सिद्धान्त से दोषों के प्रसरण की शरीर में तीन गतियाँ हैं :—ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक्। कोई रोग एक गतिजन्य होता है; जैसे अतिसार, छर्दि आदि। कोई रोग उभय गतिजन्य होता है; जैसे रक्तपित्त, विसूचिका आदि। कोई रोग त्रिविध गतिजन्य होता है; जैसे क्षय। जैसा कि संग्रहकार कहते हैं :—

"पीनसश्वासकासांसमर्धास्वरज्वरोऽरुचिरूर्ध्वम्।
विट्स्रंससंशोषौ अधः।
छर्दिस्तु कोष्ठगे,
तिर्यक्स्थे पार्श्वरुग्दोषे सन्धिगे भवति ज्वरः।"

दोष ऊर्ध्वाङ्गों का आश्रय लेकर क्षयोत्पत्ति करेंगे तो उस क्षय में पीनस, श्वास, कास, स्कन्ध, मस्तिष्क, स्वर-प्रणाली में दर्द और अरुचि इन लक्षणों की प्रधानता रहेगी। यह फुफ्फुस और गण्डमालाक्षय है। अधः अङ्गों का आश्रय लेकर क्षय उत्पन्न करेंगे तो उसमें मल का पतला पड़ जाना या गाढ़विट्कतारूप लक्षण की प्रधानता होगी। ज्वर आदि और लक्षण भी रहेंगे। यह अन्त्रक्षय है। सन्धियों में आश्रय लेकर दोष क्षयोत्पत्ति करेंगे तो उसमें ज्वर की प्रधानता होगी। शेष लक्षणों का अनुबन्ध भी रहेगा। यह सन्धिप्रदाह तथा अस्थिक्षयजन्य क्षय है। तिर्यक् स्रोतों में आश्रय ले क्षयोत्पत्ति होगी, तो उसमें पार्श्व-तापरूप लक्षण की प्रधानता होगी। यह शुक्रप्रणाली का क्षय है। दोषों के आश्रय भेद से क्षय की ये विभिन्न अवस्थायें बनती हैं। इन अवस्थाओं का ज्ञान इनके विशेष लक्षणों द्वारा सहज ही किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त हेतुभेद से और भी विभिन्न भेद शोषानुबन्धी क्षय के आयुर्वेद ने निर्देश किये हैं।

"व्यवायशोकस्थाविर्य व्यायामाध्वोपवासतः।
व्रणोरःक्षतपीड़ाभ्यां शोषानन्ये वदन्ति हि॥"

सुश्रुत अध्याय ४१-३

व्यवाय (अधिक स्त्री-सहवास), शोक, बुढ़ापा, शक्ति से अधिक अनवरत श्रम, अधिक चलना, गुस्से से या अन्य हेतुओं से भोजन न करना, व्रण और उरःक्षत के कारण उपचय विनष्ट होकर शोष अर्थात् क्षय होता है।

इन सब की पहिचान के लिए भी इनके विभिन्न लक्षण निर्देश किये गए हैं। उनके द्वारा इनके भेद-ज्ञान होने में आशंका नहीं रहती। उपर्युक्त क्षय की सब स्थितियों को समझने के लिए चिकित्सक को सम्यक् शास्त्रीय ज्ञान व विभिन्न अवस्थाओं के रोगियों का अनुभव होना आवश्यक है।

# राजयक्ष्मा तथा यूनानी वैद्यक

वैद्यराज हकीम दलजीत सिंह, आयुर्वेदीय विश्वकोषकार

**नाम**—(अ०) हुम्मा (हुम्माए) दिक्क ; (फा०) तपेदिक्क ; (उ०) दिक्कबुखार ; (सं०) राजयक्ष्मा ; यक्ष्मा, शोष ; (अं०) थायसिस, ट्यूवरक्यूलॉसिस, कन्ज-म्प्शन ।

**वक्तव्य**—दिक्कका अर्थ 'क्षीण' वा कृश होना है। इस ज्वर में ऊष्मा मूलभूत अवयव में चिमटकर शारीर-द्रव (रसादि धातुओं) को नष्ट करती है, जिस से शरीर कृश एवं शुष्क हो जाता है। अतएव इस ज्वर को तपेदिक (हुम्मा दिक्क) संज्ञा से अभिहित करते हैं। यह एक अत्यन्त भयङ्कर और कष्टसाध्य रोग है, जो रोगी का प्राण लेकर ही छोड़ता है। फिर भी प्रारम्भ में उपयुक्त उपाय करने से क्वचित् एवं कोई-कोई रोगी रोग-मुक्त भी हो जाते हैं।

**परिचय**—हुम्मा दिक्क (दिक का बुखार) वह अप्रकृत शरीरोष्मा (हरारत गरीबा) है, जो मूलभूत अवयव और विशेषकर हृदय के साथ अनुवद्ध होती है (शरह अस्बाव)। यह ज्ञात हो चुका है कि सकल अंग-प्रत्यङ्ग में महत्त्व का अंग (उत्तमांग) हृदय ही है और इसकी दुष्टि से समस्त अंग-प्रत्यंगों में दोष उत्पन्न हो जाता है। किंतु अन्यान्य अंग-प्रत्यंगों के दोष से हृदय में दोष उत्पन्न होना अनिवार्य नहीं है। इसके विपरीत यदि यकृत् जैसे अवयवगत ऊष्मा संपूर्ण शरीर में प्रसारित हो सकती और दिक (क्षय) उत्पन्न कर सकती है तो इसका स्वरूप यही होता है कि उसकी ऊष्मा का प्रभाव प्रथम हृदय में होता है। यकृद्गत ऊष्मा सम्पूर्ण शरीर में सीधे नहीं फैल सकती, जिससे शरीरगत द्रव विलीनभूत होकर नष्ट होने लगते हैं। (शरह अस्बाव)।

**वैद्यनाथ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित "यूनानी सिद्धयोग-संग्रह," "यूनानी चिकित्सासार" अनेक तथा यू० पुस्तकों के रचयिता वैद्यराज-हकीम ठा० दलजीत सिंहजी आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हैं। 'सचित्र आयुर्वेद' में बराबर आपका लेख प्रकाशित होता रहता है। इस लेख में ठाकुर साहब ने राजयक्ष्मा के निदान-चिकित्सा का उल्लेख यूनानी वैद्य-शास्त्र में कितना खोजपूर्ण है, इस पर पूरा प्रकाश डाला है। आशा है 'सचित्र आयुर्वेद' के पाठकवृन्द को यह लेख अवश्य ज्ञानवर्द्धक होगा।**

**—स० सम्पादक**

**हेतु**—तपेदिक (यक्ष्मा) की उत्पत्ति कभी सहायक वा सामान्य हेतुओं (अस्बाब साबिका) से होती है; उदाहरणतः तपेमोहरिकां (आन्त्रज्वर) जब कि इसकी अवधि बढ़ जाती है (शरह अस्बाब) और इससे हृदय तथा मूलभूत अवयव उष्ण हो जाते हैं जिसका हेतु यह हो सकता है कि इस प्रकार के ज्वर में आहार कम दिया गया हो अथवा यह कि रोगी को शीतल जल देने से रोका गया हो अथवा यह कि हृदय का ध्यान न रखा गया और उसपर शीतालेप न लगाए गए हों अथवा यह कि बार-बार मूर्च्छा आने के कारण चिकित्सक उसे मद्य एवं दबाउल्मिस्क (जो उष्ण द्रव्य हैं) सेवन कराने के लिए विवश हुआ हो अथवा यह कि रोग के दीर्घकालीन होने के कारण अंग-प्रत्यङ्गगत सारभाग (जौहर) दूषित एवं क्षीण हो गए हों। बलक्षय के कारण आहार भी दूषित हो गया हो और वह पौष्टिकता-विरहित हो गया हो (पोषणयोग्य न रहा हो), प्रत्युत अंग-प्रत्यङ्ग उक्त आहार को ग्रहण करने के स्थान में उससे घृणा करते हों। इन दशाओं में अंग-प्रत्यङ्ग उष्ण हो जाते हैं और उनकी उष्णता दृढीभूत (टिकाऊ) होकर ऐसी स्थिर हो जाती हैं कि दोषस्थ उष्मा दूर हो जाने के अनन्तर भी अंग-प्रत्यंगगत की ऊष्मा का नाश होना असम्भव हो जाता है और हृदय एवं मूलभूत अवयवगत द्रवों में ऊष्मा अपना प्रभाव करके उसको नष्ट कर देती है अथवा उदाहरणतः उरोगत उष्ण शोथ तथा उसकी उष्णता-सान्निध्य के कारण हृदयपर्यंत, पुनः हृदय से अन्यान्य मूलभूत अवयवों तक पहुँचे। यह उष्णता हृदय एवं धमनीगत द्रवों का शोषण कर उन्हें शुष्क कर देती है, जिससे




मूलभूत अवयव भी शुष्क हो जाते हैं (शरह अस्वाव) और जितना ये अधिक शुष्क होते जाते हैं, उतना ही उनमें उष्णता का प्रागल्भ्य होता चला जाता है।

**आपत्ति**—यहाँ लेखक के कथन में यह आपत्ति होती है कि आन्त्रिकज्वर (तपेमोहरिका) और उष्णशोथ (वरमे गर्म) यक्ष्मा के सहायक वा सामान्य हेतुओं (अस्वावे साबिका) के अन्तर्भूत नहीं, अपितु उत्पादक वा उत्प्रेरक हेतुओं (अस्वाबे वासिला) के अन्तर्भूत हैं।

और कभी राजयक्ष्मा (तपेदिक) बाह्य हेतुओं (अस्वाव बादिया) से उत्पन्न होता है; उदाहरणतः शोक, चिन्ता, क्रोध, अति जागरण, क्लान्ति एवं निराहार रहना और अन्यान्य उपाय जो शरीर में उष्णता के साथ असाधारण रूक्षता उत्पन्न करनेवाले हों। विशेषकर इन हेतुओं का प्रभाव उस समय अधिक होता है, जब कि इन हेतुओं की उपस्थिति यौवनकाल में हो; क्योंकि युवावस्था में प्रकृति अति उष्ण होती है और रसादिधातु (रतूबत) अल्प होता है। इसके अतिरिक्त यदि ऋतु उष्ण (ग्रीष्म ऋतु) हो, रोगी की मूलभूत प्रकृति भी उष्ण हो और अन्यान्य उपाय भी उष्ण ग्रहण किये जायँ तो ये हृदय एवं मूलभूत अंग-प्रत्यंगों के उष्णीकरण और तत्स्थ द्रवों (रसादि धातुओं) का नाश करने में उपर्युक्त हेतुओं के लिए सहायक हो जाते हैं, जिससे सर्दी और तरी पहुँचानेवाली चीजें (विषय) पराभूत हो जाती हैं और रोग का प्राबल्य हो जाता है।

**कक्षाएँ**—राजयक्ष्मा की ये तीन कक्षाएँ (दर्जे) यूनानी वैद्यों ने लिखी हैं।

**प्रथम कक्षा (दर्जा)** वह है जिस में बाह्य ऊष्मा (आरजी हरारत) उन द्रवों का नाश करने लगी हो जो सूक्ष्म स्रोतों (केशिकाओं) के सिरों के भीतर होते हैं और उन्हें निमज्जित (सेराब) करते रहते हैं। उक्त स्रोत वा वाहिनीगत द्रव द्वितीयक द्रव (रतूबात सानिया) की कोटि के होते हैं अर्थात् ये द्रव दोष (खिल्त) की श्रेणी को अतिक्रमण किये होते हैं और उन द्रवों का नाश करने लगते हैं जो अवयवगत स्रोतों और उनके अवकाशों में होते हैं। अवयव गत स्रोतों (सब्नों) से वे क्षुद्र अवकाश एवं सूक्ष्म कोष अभिप्रेत हैं, जो माँस जैसे मृदु अवयवों में इसलिए प्रगट नहीं होते हैं कि उनके अंशांश (अज्ज़ाड) परस्पर एक दूसरे पर पड़े होते हैं। किंतु अस्थि जैसे कठोर अवयव में ये कोष (खाने) प्रगट होते हैं। इन द्रवों से वे ही द्रव अभिप्रेत हैं जो अवश्यायाक्लेद (ओस की तरी) के समान अवयव के भीतर फैले हुए हैं [और जिनको **रतूबत तल्लियः** (तल्ल=अवश्याय, ओस) कहा जाता है]। ये द्रव और प्रथम द्रव (जो केशिकाओं के भीतर होते हैं) इस प्रयोजन के लिये होते हैं कि जब चेष्टा प्रभृति जैसे किसी कारणवश अवयव में रूक्षता उत्पन्न हो जाय तो ये द्रव उन्हें आक्लिन्न (तर) कर देवें और जब शरीर में आहार का अभाव हो तब ये आहार बन जाएँ। क्योंकि सम्पूर्ण आहार शरीरपोषण में व्यय नहीं हो जाता है, प्रत्युत इसका एक भाग भाण्डार वा संग्रहालय (जखीरा) की भाँति संचित भी रहता है। यह कोष शरीर का भाग बनने के लिए प्रकृतिजन्य कुछ परिवर्तन (पाक, परिणाम) की अपेक्षा रखता है। इसका कारण यह है कि आहार की प्रकृति अवयव की प्रकृति से भिन्न होती है और आहार को शरीर का भाग (अवयव) बनने के लिए अनेकानेक परिणाम वा परिवर्तन की आवश्यकता होती है।

**द्वितीय कक्षा**—वह है कि यह द्रव वा रतूवत (अर्थात् रतूबत तल्लियः) नष्ट हो जाती है और सन्ताप का अनुबन्ध उस द्रव के साथ हो जाता है जो सान्द्रीभवन के आसन्नभूत एवं अवयव के साथ संश्लिष्ट होनेवाला होता है। यह द्रव प्रकृति के विचार से अवयव के सारभाग (जौहर) के तद्वत् होता है और भौतिक स्थिति के विचार से जमनेवाला होता है। परन्तु अद्यावधि कठोर नहीं, अपितु तर एवं मृदु होता है। यदि यह भौतिक स्थित्यनुसार भी अवयव के तद्वत् हो गया हो तो इसकी गणना द्रवभेदों में नहीं की जा सकती। यक्ष्मा की इस कक्षा का नाम **जोबूल** (पिघलना—क्षय) है। प्रथम कक्षा को केवल **दिक्क** संज्ञा से स्मरण करनेका कारण यह है कि जबतक यह द्रव अवयव के भीतर शेष होता है, उस समय तक अवयव के भीतर जोबूल अर्थात् कृशता प्रकाश में नहीं आती है और जब यह नष्ट होने लगता है तब अवयव घुलने लगते हैं।

**तृतीय कक्षा**—वह है कि ये द्रव भी नष्टप्राय हो चुके हों और ऊष्मा का सम्बन्ध उन द्रवों से हो चुका हो, जो जन्म के

समय मूलभूत तत्त्वों (अनासिर) याने जल एवं वायु से शरीर में प्राप्त होते हैं। इसको **रतूबत उस्तोकिस्सियः** (भूतद्रव) और **रतूबत मन्विय्यः** (शुक्रद्रव) भी कहते हैं (उस्तोकुस=भूत; तत्त्व, मन्विय्यः=शुक्रसम्बन्धी), जिन के कारण अमिश्रावयव के अंग-प्रत्यंग आदि सृष्टि से परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं, जिन के नष्ट होने से अवयव के अंग-प्रत्यंग विश्लिष्ट एवं कणों में वियोजित हो जाते हैं। यक्ष्मा की इस कक्षा का नाम **मुफत्तित** (खंड-खंड करनेवाला) और **मुहश्शिफ** (सड़ानेवाला) हैं; क्योंकि अवयव के अंशांश इस कक्षा में पृथकीभूत होने लगते हैं।

यह मत शैख एवं प्रायः पूर्व एवं परवर्ती हकीमों का है जो यथार्थ है।

यक्ष्मा जब प्रथम कक्षा (दर्जा) में रहता है, तब इसका निदान करना कठिन होता है, पर इसकी चिकित्सा सरल होती है। किन्तु जब यह द्वितीय कक्षा में आता है तब इसका निदान सरल , पर चिकित्सा सर्वथा असम्भव होती है। ऐसा यूनानी वैद्यों का मत है।

**लक्षण**––इसमें ज्वर हर समय निरंतर एक प्रकार से चढ़ा रहता है। इसका संताप (ज्वरोष्मा) अति तीव्र एवं भड़कता हुआ नहीं होता। इस ज्वर में अन्यान्य ज्वरों की भाँति तीव्र लक्षण एवं उपद्रव भी नहीं होते। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि यदि कोई स्वस्थ व्यक्ति यक्ष्मा के रोगी के शरीर का स्पर्श करे तो उसे पैत्तिक ज्वर रोगी के स्पर्श से जितना संताप प्रतीत होता है उससे अधिक यक्ष्मा रोगी में अनुभूत होगा; क्योंकि स्पर्शकर्त्ता की प्रकृति तो प्रकृतिस्थ (दुरुस्त) है, रोगी की भाँति उसके शरीर में उष्णता तो नहीं स्थिर हो गई है कि उसे अनुभव न हो। यद्यपि भूयोदर्शन उसके विपरीत है, चाहे स्पर्शकर्त्ता कितनी ही देर तक उसके शरीर पर हाथ रखे रहे किंतु संताप अधिक प्रतीत नहीं होता।

यक्ष्मा के लक्षणों में से एक यह भी है कि नाड़ी (मुतवातिर) दुर्बल होती है। दोषिक ज्वरों में स्पर्श करने से शरीर के भीतर जितना संताप प्रतीत होता है, उतना यक्ष्मा में नहीं होता है। यक्ष्मा के प्रधान लक्षणों में एक लक्षण यह भी है कि भोजन के एक-दो घंटे बाद शरीर के भीतर संताप अधिक हो जाता है।

ये लक्षण उस समय पाए जाते हैं जब यक्ष्मा प्रारम्भिक कक्षा में हो। जब यह प्रारम्भिक (प्रथम) कक्षा से आगे बढ़ जाता है तब शरीर कृश एवं शुष्क हो जाता है ; त्वचा शुष्क (रूक्ष) एवं आभाहीन हो जाती है। जिसका यक्ष्मा जोबूल दूसरी कक्षा तक पहुँच जाता है, जो माध्यमिक एवं द्वितीय कक्षा है, तो रोगी की कनपुटियाँ (शंखक) बैठ जाती हैं। क्योंकि इस कक्षा में उन स्थानों को तृप्त करनेवाली रसादि धातुएँ (रतूबतें) नष्ट हो जाती हैं और पोषण कम हो जाता है। यह हेतु यद्यपि समस्त अंग-प्रत्यंगों में सामान्यतया विद्यमान होता है, किन्तु कनपुटियों में यह अधिक व्यक्त होता है। कारण कि द्रवातिरेक (रसादि धातुओं की अधिकता) के हेतु यह स्थान अधिक विलयनशील हो जाता है। नासिका पतली हो जाती है, नासिका में और नासिका जैसे अन्यान्य मांसहीन अवयवों में सर्वप्रथम कार्श्य की अभिव्यक्ति होती है। रोगी का चेहरा क्षीण तथा कान छोटे एवं पतले हो जाते हैं। ग्रीवा पतली हो जाती है। हंजरा अर्थात् नरखटा (स्वरयन्त्र) उभर आता है। उरोऽस्थियाँ अलग-अलग प्रगट हो जाती हैं और तद्गत स्रोतस् एवं वाहिनियाँ व्यक्त हो जाती हैं। इन सब का हेतु यह है कि मांस (आदि धातु) घुल-घुल कर नष्ट हो जाता है। इनके साथ वाहिनियाँ रक्त से शून्य भी हो जाती है और उनकी प्रणालियां कुछ अधिक वस्तु भरी हुई नहीं होती हैं। क्योंकि रक्त की राशि ही कम होती है जिसका कारण यह है कि आमाशय की रचना ढीली हो जाती है तथा अन्यान्य आहारावयवों के धातु एवं प्राकृतिक देहोष्मा भी क्षीण हो जाती है जिससे पाचन कमजोर हो जाता है। सुतरां वाहिनियों के भीतर रक्त के अल्प होने का एक हेतु यह भी है कि समस्त अंग-प्रत्यंग दुर्बल हो जाते हैं, अतएव वे रक्त को वाहिनियों की ओर आकृष्ट नहीं कर सकते हैं।

## चिकित्सोपचार

यक्ष्मी के शरीर में इस प्रकार शीत एवं तरी (आक्लेद) पहुँचावें कि रोगी को मीठे एवं कुनकुने पानी में केवल थोड़ी देर तक कटिस्नान (आबजन) करावें (अधिक कालतक उसके भीतर रहने देने वरन् बलक्षय की आशंका होती है)। तदुपरान्त रोगन बनफ़्शा का शरीर में अभ्यंग

करावें, जिस से अधिक तरी पहुँचे। क्योंकि रोगन बनफ्शा प्रथम तो सीधे तरावट पहुँचाता है, द्वितीय यह स्रोतों को अवरुद्ध कर देता है। अतएव कटिस्नान द्वारा प्राप्त जल एवं द्रव भीतर ही अवरुद्ध (बंद) हो जाते और प्रविष्ट हो जाते हैं। तरी (आक्लेद) पहुँचाने के अतिरिक्त कटिस्नान (आबजन) अपनी कृत्रिम (आरजी) ऊष्मा के कारण त्वचा को मृदु एवं शिथिल और स्रोतों को विस्फारित कर देता है, जिससे रोगन (स्नेह) स्रोतों के भीतर प्रवेश करने योग्य हो जाता है। यवमण्ड (माउश्शईर) अर्थात् जौ का पानी पिलावें, ऐसे आहार देवें जो शीत एवं स्निग्ध शाकों से युक्त हों, यथा--कुलफा, खुब्बाजी और काहू का शाक एवं कद्दू, खीरा, ककड़ी तथा जिनमें मृदु एवं ढीले मांस हों, यथा--मछलियाँ एवं मुर्गी के बच्चे। इस प्रकार के मांस स्निग्ध, पिच्छिल (लेसदार) एवं मृदु होने के कारण शीघ्र पचकर अंग-प्रत्यंग तक प्राप्त हो जाते हैं और अपने पैच्छिल्य के कारण अंग-प्रत्यंग के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त इनसे जो रक्त उत्पन्न होता है, वह कम उष्ण एवं अत्यन्त स्निग्ध (तर) होता है, अतएव यह उष्णताधिक्य को भी नष्ट करता है। वक्ष (सीने) के ऊपर शीतल पतले लेप (तिला) लगावें जिससे हृदय में शीत पहुँचे, यथा--चन्दन, अर्क गुलाब, कुलफा और हरे धनिये का रस; औषधरूपेण चूके का शर्बत (शर्बत हुम्माज) पिलावें और कुर्स काफूर पिलावें। जालीनूस के कथनानुसार "दिक (यक्ष्मा) में ऐसी ओषधियों की अपेक्षा होती है जो अत्यन्त शीतल हों और अधिक संग्राही न हों; क्योंकि शीत-संग्राही द्रव्य शीत को शरीर के अन्तराल तक प्रवेश नहीं करने देते। अतएव अधिक उत्तम यह है कि उनमें शीत के साथ तारल्य (लताफत) भी हो। परन्तु ऐसी कोई ओषधि नहीं पाई जाती। क्योंकि इस प्रकार का शीत वीर्य (जौहर) जो अत्यन्त तरल (लतीफ) भी हो, सिरका के अतिरिक्त और कहीं पाया ही नहीं जाता। सिरका के भीतर कुछ न कुछ उष्णता अवश्य मिली होती है।"

**राजी** के कथनानुसार "**जालीनूस** को कदाचित् कपूर का ज्ञान न था या कदाचित् उसने कपूर का उल्लेख इस कारण नहीं किया कि यह अत्यन्त रूक्ष होता है। अतएव शीत एवं स्निग्धता पहुँचाने के अभिप्राय से अकेला कपूर का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए, प्रत्युत् इसके साथ शीतल जल के सदृश किसी न किसी शीतल पदार्थ का योग अवश्य कर देना चाहिए तथा इसबगोल का लबाब आदि देना चाहिए और रोगी के आवास को शीत एवं स्निग्ध (तर) रखना चाहिए। उदाहरणतः उसके शयनगृह के भीतर वेतस-पत्र, अंगूर की शाखाएँ और हरे काहू जैसे हरे शाक, गुलाब, नीलूफर और बनफ्शा जैसी सुरुचिपूर्ण बूटियाँ, सेव, बिही, नासपाती और कचरी जैसे सुगन्धित फलों की कलिकाएँ तथा सुगन्धित फल रख दिया करें; शीतल जल एवं अर्क गुलाब का सिंचन करें और उक्त गृह में बर्फ रख दिया करें तथा चन्दन से सुवासित क्षौम (कत्तान) वस्त्र (जैसा शीतल वस्त्र) बिछाया करें।

### राजयक्ष्मा या शोष ज्वर (हुम्मा दिक्कियः)

जब शरीर के किसी आन्तरिक भाग में पूय (पीब) पड़ जाता है तथा उक्त पूयकी विषमयता धीरे-धीरे रक्त में शोषित होती रहती है अथवा जब उरःक्षतीय दोष (माद्द्येसिल्ल) शरीर में व्यापमान हो जाता है, तब उससे विशेष प्रकार का ज्वर प्रगट हो जाता है, जिसको हुम्मा **दिक्कय्यः** (बारीक बुखार, सूक्ष्म ज्वर) कहा जाता है।

उरःक्षतीय दोष (**माद्द्ये सिल्लिय्यः**) कभी फुफ्फुसों में, कभी अन्त्र तथा अस्थि एवं संधियों में और कभी अन्यान्य प्रधान और अप्रधान अवयवों में होता है।

**लक्षण**--प्रारम्भ में सन्ध्याकाल में शीतपूर्वक अथवा शीत के बिना किसी भाँति शरीरोष्मा अधिक हो जाती है। अन्ततोगत्वा यहाँ तक नौबत पहुँचती है कि सूक्ष्म संताप प्रतिक्षण रहने लगता है (कभी-कभी यह सन्ताप इतना सूक्ष्म हो जाता है कि रोगी को उसका अनुभव भी नहीं होता) जो अपराह्न में तीव्र हो जाता है। प्रातः काल प्रचुर स्वेद, आकर यह कम हो जाता है।

जब किसी आन्तरिक अवयव में पूय पड़ जाता है तब हलका कंप प्रतीत होता है और ज्वर चढ़ जाता है और कुछ काल के बाद स्वेद आकर उतर जाता है। इस प्रकार दिन में दो बार, एक बार मध्याह्न काल में (दोपहर को) और द्वितीय बार अपराह्न काल में (तीसरे पहर) कंपपूर्वक तीव्र ज्वर हो जाता है तथा रात्रि में स्वेद आकर उतर जाता है।

यह ज्वर कभी बारी से आता है और कभी अविसर्गी (संतत—लाजमी) होता है। परन्तु उभय दशाओं में ज्वर की बारी या आवेगकाल (तीव्रता का समय) एक ही होता है। उदाहरणतः यदि ज्वर बारी का है और एक बजे आवेग आरम्भ होता है, तो प्रतिदिन एक ही बजे आवेग होगा, इससे पूर्व वा पश्चात् न होगा। इसी प्रकार जब ज्वर अविसर्गी होगा, तब उसमें भी प्रतिदिन एक ही काल में तीव्रता हुआ करेगी।

इस रोग के रोगियों के कपोलो पर प्रायः रक्तवर्ण का मण्डल पड़ जाता है, जिसको **हुमरते दिक्किय्यः** कहते हैं। हस्त-पाद के तलवे जलते हैं। अन्ततोगत्वा ज्वर की तीव्रता की अवधि अधिक और हलका होने (खिफ्फत) की अवधि कम होने लगती है। पहले की अपेक्षा अधिक स्वेद आने लगता है। कभी विरेक आने लगता है। पादशोथ हो जाता है। रोगी अत्यधिक कृश एवं दुर्बल होकर स्वर्ग सिधार जाता है।

**वक्तव्य**—बहुशः व्याधियों में जिनकी संप्राप्ति एवं कार्यकारणभाव मानवी-बुद्धि में नहीं आ सका है अथवा यदि रोग की संप्राप्ति ज्ञात हो चुकी है, किंतु उसके लिये अद्यावधि कोई रामवाण औषधि हाथ नहीं आई है, तो संपूर्णतया हमारी चिकित्सा उसी प्रकार के साधनों पर आधारित होती है, जो केवल उपद्रवों वा लक्षणों की चिकित्सा एवं प्रकृति की सहायता के साधन हुआ करते हैं। सुतरां **दिक्क** (यक्ष्मा) उसी प्रकार के रोगों के अन्तर्भूत है। यक्ष्मा रोग में हम जिन उपायों का आश्रय लेते हैं, अधिकतया उनसे दृष्टिगत शारीरिक बल एवं पोषण में वृद्धि हुआ करती है। क्योंकि हमें इसके लिए कोई अचूक औषधि ज्ञात नहीं है। जब उक्त साधनों से बल शक्तिसम्पन्न हो जाता है, तब कभी-कभी वह रोग को पराभूत कर लेता है और रोग दूर हो जाता है।

**चिकित्सा**—मूल हेतु का पता लगाने का यत्न करें। यदि सम्भव हो, तो पूयोत्सर्ग का प्रवन्ध करें, जो प्रत्येक दशामें सरल एवं सम्भव नहीं। शरीर-पोषण को अग्रसर करने के हेतु प्रातः काल निम्न औषध का प्रयोग करें :—

**दवाए दिक्क**—शुद्ध भिलावाँ, गुडूची सत्त्व, वंशलोचन, छोटी इलायची और कालीमिर्च प्रत्येक १ तोला—सबको खरल में महीन पीसकर रख लेवें। इसमें से ४ रत्ती औषधि छागी दुग्ध के साथ देवें।

सायंकाल एक टिकिया कुर्स तवाशीर प्रथम खिला कर ऊपर से हरा गिलोय ३ माशा, छिली हुई मुलेठी ३ माशा, खीरा-ककड़ी के बीज ३ माशा—इनका ६–६ तोला अर्क हराभरा और अर्क शीर में शीरा निकाल कर २ तोला शर्वत नीलूफर मिलाकर पिलावें।

शारीरिक कार्श्य एवं रौक्ष्य निवारणार्थ गदही और बकरी का दूध, कद्दू या तरबूज का रस उपयुक्त औषधियों के शीरा के साथ अथवा उनके बिना देवें। इनके सेवन की एक मान्य विधि यह है कि प्रथम तीन दिन तक सात तोला पिलाएँ। तदुपरान्त १-१ तोला प्रतिदिन बढ़ाते रहें, यहाँ तक कि इक्कीस तोला तक पहुँच जाय। तत्पश्चात् १-१ तोला घटाकर सात तोले तक पहुँचायें। अथवा दवाए दिक को गदही या छागी दुग्ध के साथ इसी प्रकार देवें। यदि दौर्बल्य अधिक हो, तो बलवर्धन एवं पोषण के लिए लोह (फौलाद) या सुवर्ण अथवा ताम्र के योगादि भोजनोपरान्त दिये जाएँ।

**योग**—जो यक्ष्मा के लिए लाभकारी है और शरीर में तरावट पहुँचाता है—३ माशा विहीदाने का लबाब, ३ माशा कद्दू के गूदे का शीरा, ३ माशा तरबूज के बीज की गिरी का शीरा, ३ माशा कुलफा के बीजों का शीरा जलमें निकाल कर २ तोला शर्वत नीलूफर मिलाकर पिलाएँ। कभी ७ माशा कुर्स तवाशीर या ७ माशा कुर्स काफूर प्रथम खिलाकर ऊपर से उक्त औषधि पिलाते हैं।

**कुर्स तवाशीर**—केसर १ माशा, कपूर ३ माशा, सत मुलेठी ६ माशा, सफेद चन्दन ६ माशा, कतीरा ६ माशा, बबूल का गोंद ६ माशा, कासनी बीज ९ माशा, कुलफा के बीज ९ माशा, गिल अरमनी ९ माशा, काहू के बीज ९ माशा, मीठे कद्दू के बीज की गिरी १५ माशा, खीरे के बीज की गिरी १५ माशा, गर्द सुमाक १५ माशा, जरिष्क वेदाना ४। तोला, वंशलोचन ४। तोला, यवासशर्करा (तरंजबीन) २॥ तोला—इनसे यथाविधि कुर्स (टिकिया) कल्पना करें। **मात्रा**—५ माशा से ७ माशा तक। हृदय एवं उरोगत दाह (सोजिश), यक्ष्मजातिसार और शोष ज्वर (तपेदिक) के लिये लाभकारी है।

**कुर्स काफूर**—जरिष्क ७ माशा, गुलाब-पुष्प ७ माशा, वंशलोचन ७ माशा, काहू के बीज ३ माशा, कुलफा के बीज ३ माशा, कासनी के बीज ३ माशा, कतीरा ३ माशा, खरबूजे के बीज की गिरी ५ माशा, कद्दू के बीज की गिरी ५ माशा, सफेद चंदन ३ माशा, सत मुलेठी २ माशा, कपूर १ माशा—सबको कूट-छानकर इसबगोल के लबाव में गूँधकर टिकिया बनावें। **मात्रा**—७ माशा तक। सिकंजबीन (मधुयुक्त) अथवा अन्य उपयुक्त औषध के साथ। **गुणधर्म तथा उपयोग**—तपेदिक और यक्ष्मा-तिसार के लिये गुणकारी है।

यदि खाँसी हो, तो बबूल का गोंद १ माशा, कतीरा १ माशा, सत मुलेठी १ माशा—सब द्रव्यों को पीसकर १ तोला खमीरा खशखाश मिलाकर प्रथम खिलावें और ऊपर से १२ तोले अर्क गावजबान में १ नग पोस्ते की डोडी का शीरा और ५ माशा गावजबान का लबाब निकाल कर २ तोला शर्बत एजाज या २ तोला शर्बत खशखाश मिलाकर पिलावें।

यदि अतिसार हो, तो खशखाश के योग, कुर्स काफूर और कुर्स तबाशीर आदि से रोकने का यत्न करे।

**नुसखा आब कद्दू**—भर्ता बनाकर निकाला हुआ मीठे कद्दू का ४ तोला रस सप्ताह पर्यंत पिलावें। तदुपरांत १-१ तोला बढ़ाकर इक्कीस तोला तक पहुँचावें। तत्पश्चात् १-१ तोला घटाकर प्रथम मात्रा तक पहुंचावें और तीन दिन पिलाकर छोड़ देवें।

**गो-दुग्ध पिलाने की विधि**—गाय का २० तोला दूध लेकर देगची में डालें और जिस स्थान तक दूध पहुँचे, उस स्थान तक चाकू से चिह्न बना देवें। तदुपरांत उतना ही पानी मिलाकर अग्नि पर पकावें। उबाल आने पर ३ माशा गावजबान, ३ माशा गुलगावजबान, ३ माशा छिली हुई मुलेठी, सौंफ ३ माशा, मिश्री २ तोला अलग-अलग पोटली में बाँधकर डालें और पकावें। जब जलभाग जल जावे और दूध चिह्नित स्थान तक पहुँचे, तब नीचे उतार लेवें और छानकर पिलावें। तीन दिनतक इसी प्रकार पिलावें। तदुपरांत १ तोला दूध और थोड़ी-थोड़ी मिश्री बढ़ाकर इकतालीस तोलां तक पहुँचावें। इसके बाद इसी प्रकार घटाकर प्रथम मात्रा तक पहुँचा देवें और तीन दिन पीने के बाद त्याग देवें। इसमें कभी ३ माशा चोबचीनी और कभी ३ माशा मसीकृत केंकड़ा बढ़ाते हैं।

**गुणकर्म तथा उपयोग**—उरःक्षत, राजयक्ष्मा और जीर्ण शुष्क कास के लिये लाभकारी है।

**बकूर (हिम वा फाण्ट)**—३ माशा नाई, ३ माशा गूमा रात्रि में उष्ण जल में भिगो रखें। प्रातःकाल उसके ऊपर निथरा हुआ पानी लेकर २ तोला शर्बत बनफशा या शर्बत बजूरी मिलाकर पिला देवें। हृदय एवं मस्तिष्क के बलवर्द्धनार्थ इसमें ३ माशा दवाउल्मिष्क मोतदिल जवाहरवाली का योग कर देवें।

**गुणकर्म तथा उपयोग**—तपेदिक और संतत कफ ज्वर (हुम्मा लसिका) के लिये लाभकारी है। यक्ष्मा (दिक) में उरःक्षत (सिल्ल) की औषधियाँ, जैसे—कुर्स तबाशीर ७ माशा और कुर्स सर्तान ७ माशा भी लाभदायक एवं प्रयोगकृत हैं।

**अदविया कल्सिया** (चूर्ण वा सुधा—कैल्सियम् घटित द्रव्य)—मसीकृत और अमसीकृत कर्कट (केंकड़ा), जहर-मोहरा, वंशलोचन, गिलअरमनी, शकरतीगाल (त्रिसुनरी का छत्ता) ये समस्त द्रव्य राजयक्ष्मा एवं उरःक्षत में प्रयोग-कृत एवं लाभकारी हैं। इन समस्त द्रव्यों में एक पार्थिव उपादान (कलसी—Calcium) पाया जाता है।

केंकड़ा (सर्तान) को कभी मसीकृत (मुहरक) करके प्रयुक्त किया जाता है और कभी इसका मांसरस (शूरबा) आहार की भाँति पिलाया जाता है।

## राजयक्ष्मा तथा उरःक्षतोपयोगी सिद्ध योग

राजयक्ष्मा और उरःक्षत रोग में निम्नलिखित योग बहुत ही गुणकारी हैं तथा यूनानी वैद्यक में इसके लिये इनका पुष्कल उपयोग होता है। यथा—अर्क तपेदिक खासुल्खास, अर्क बेदसादा (जदीद), अर्क हराहरा, कुर्स सरतान, कुर्स सिल, कुश्ता अकीक, कुर्स तबाशीर काफूरी लूलुवी मुरक्कब, दवाए मस्लूल, दवाए हाबिसुद्दम, दिया-कूजा मुरक्कब, माजून दिक व सिल, लऊक तुर्बुज (लऊक नजली आब तुर्बुजवाला), लऊक बीहदाना, सरतानी प्रभृति। इन योगों के उपादान एवं निर्माण-विधि आदि के लिये इसके लेख के लेखक द्वारा लिखित एवं श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा प्रकाशित 'यूनानी सिद्धयोग संग्रह'

एवं 'यूनानी चिकित्सासार' ग्रंथ का अवलोकन करें। विस्तारभय से उन्हें यहाँ नहीं दिया गया।

**पथ्यापथ्य**—दूध, अंडा, मक्खन, यखनी, मांसरस, यवमंड, मुद्गयूष, ताजी मछली आदि आहार में दिये जायँ। यदि आंत्रक्षय हो, जिसमें अन्त्र की ग्रन्थियाँ (रसग्रन्थियाँ) विकारग्रस्त होती हैं, तो स्नेहमय आहार अधिक उपयुक्त नहीं होता हैं।

बलाबल का विचार कर सायं-प्रातःकाल इतना वायु-सेवन और हलका व्यायाम कराया जाय, जिसमें व्यायाम के उपरांत क्लान्ति एवं दौर्बल्य न हो। उरःक्षत रोग में जिन बातों की सावधानी और जिन उपायों का अवलंबन आवश्यक है, उनका आश्रय इस रोग में लेना चाहिये।

## आन्त्रक्षय ( दिक़ मिअवी )

इस रोग में उरःक्षतोत्पादक विशिष्ट दोष आन्त्रस्थ ग्रन्थि-विशेष (Mesentric Glands गुद्द मासारीकी) में प्रविष्ट हो जाता है जिससे प्रथम अन्त्र में सूजन हो जाती है और ग्रन्थियाँ शोथयुक्त एवं कठिन हो जाती हैं। तदुपरांत उनमें पूय उत्पन्न हो जाता है और वे व्रण का रूप धारण कर लेती हैं, जिससे विरेक आने लगते हैं, ज्वर रहता है और रोगी दिनानुदिन दुर्बल होता जाता है। इस रोग में क्षुद्रान्त्र, अन्त्र-विशेष (अग्र्वर—Caecum) और वृहदन्त्र (कोलून) अधिकतया रोगाक्रान्त हुआ करते हैं।

यदि यह रोग शिशुओं को हो, तो उसे **दिक्कुल्अतफाल, सूखा (शोष)** और मसान कहते हैं।

**हेतु**—इसका प्रधान हेतु अधिकतया उरःक्षतग्रस्ता गो का कच्चा दूध उपयोग करना है। फुफ्फुसीय उरःक्षत-ग्रस्त रोगी जब अपना कफ निगल जाता है, तब उसमें उरःक्षतोत्पादक दोष के होने से वह अन्त्र में प्राप्त होकर इस रोग को उत्पन्न कर देता है। यही कारण है कि इस रोग से प्रायः ऐसे शिशु पीड़ित होते हैं, जो पोषणार्थ दूध पर निर्भर करते हैं, अर्थात् जिनका एक मात्र आहार दूध होता है।

**लक्षण**—इस रोग के लक्षण सदैव व्यक्त एवं एक समान नहीं हुआ करते हैं। यही कारण है कि अधिकांश रोगियों में किसी प्रकार के लक्षण विद्यमान नहीं होते।

प्रारंभिक रोग में गुरु वा दीर्घपाकी आहार सेवनोपरांत रोगी उदर में शूल होने की शिकायत करता है। क्षुधा एवं पाचन खराब होता है। दुग्ध सेवन से प्रायः आध्मान हो जाता है। पाचन-दोष के कारण रोगी दुर्बल एवं कृश हो जाता है। कभी-कभी सायंकाल वा रात्रि में ज्वरांश हो जाता है। जब रोग तीव्र रूप धारण कर लेता है, तब विरेक आते हैं, उदर में पीड़ा होती है। हर समय हलका ज्वर रहता है, नाभि और अन्त्र-विशेष (Caecum—अग्र्वर) के स्थान पर दबाने से दर्द होता है। शिशुओं में उनके अन्त्र में न्यूनाधिक हर समय पीड़ा रहती है। विशेषकर जब उदर को पीड़न किया जाय। तीव्र पीड़ा होने पर शिशु पैर को सिकोड़े पड़ा रहता है, उदर स्फीत एवं कठोर प्रतीत होता है, संपूर्ण शरीर सूख जाता है। त्वचा के ऊपर वलियाँ पड़ जाती हैं, मुख-मण्डल आभाहीन (निस्तेज), ओष्ठ लाल फटे हुए और मुखकोण में क्षुद्र व्रण हो जाते हैं। पतले, दुर्गन्धित और मटियाले कभी हरियाली लिये विरेक आते हैं। रात्रि में सूक्ष्म ज्वर भी हो जाता है। उदर को पीड़न करने से कभी सशोफ ग्रन्थियाँ प्रतीत होती हैं। पाचन-दोष होता है।

**साध्यासाध्यता**—इसका परिणाम सदैव खराब होता है।

**चिकित्सा-सूत्र**—यक्ष्मा के प्रागुक्त चिकित्सा-सूत्र के अनुसार।

**चिकित्सा**—एक टिकिया कुर्स तबाशीर काफूरी, २ तोला शर्बत अंजबार या २ तोला शर्बत हब्बुल्आस के साथ दोनों समय देवें और दोनों समय भोजनोत्तर १ माशा निम्नलिखित चूर्ण देवें।

**योग**—पोस्त संगदाना मुर्ग ३ माशा, वंशलोचन ३ माशा, पिस्ता वाह्यत्वक् ३ माशा, बेलगिरी ३ माशा।

शिशुओं को निम्नलिखित वटी योगों में से कोई एक योग प्रस्तुत करके प्रातःकाल एक वटी माता के दूध में घोलकर या पकाये हुए गोदुग्ध में घोलकर देवें।

**योग**—गिल अरमनी ३ माशा, जलाया हुआ केंकड़ा ७ माशा, गुडूची सत्व ३ माशा, वंशलोचन ७ माशा, कहरुवा शमई ७ माशा, निशास्ता ३ माशा, बबूल का गोंद ३ माशा, कतीरा और कपूर ३-३ माशा, अफीम १ माशा,

केसर १ माशा, जलाया हुआ प्रवाल ३ माशा, सरेशम माही ६ माशा—सबको बारीक पीसकर बिहीदाने के लबाब में मुद्ग प्रमाण की गोलियाँ बनावें।

**अन्य योग**—मुर्गी के अंडे में छेद करके कालीमिर्च के कुछ दाने उसके भीतर प्रविष्ट करें और अंडे को सुरक्षित रखें। कुछ सप्ताहोपरांत छिलके आदि सहित अंडे को पीसकर मुद्ग प्रमाण की गोलियाँ बनावें।

**अन्य योग**—सहदेवी की जड़ और चिचिड़ी की जड़ प्रत्येक १ तोला, काली मिर्च २० दाने—सबको महीन पीसकर मुद्ग प्रमाण की गोलियाँ बनावें।

निम्नलिखित चूर्णयोगों में से कोई एक योग तैयार करके और २ रत्ती की मात्रा में लेकर सायंकाल माता या गाय के दूध में घोलकर पिलायें।

**चूर्ण योग**—वंशलोचन ३ माशा, बेलगिरी ३ माशा, पोस्त संगदाना मुर्ग ३ माशा, पिस्ता बाह्यत्वक् ३ माशा।

**अन्य योग**—जलाई हुई मानव-कपालास्थि।

**अन्य योग**—खाकसी को ३ या ७ बार बकरी के दूध में भिगोयें और सुखायें (छाया में सुखाना चाहिये)। तदुपरांत महीन पीसकर १ माशा की मात्रा में सेवन करें।

यदि शिशु अधिक दुर्बल हो, तो आधी गोली हब्ब जवाहर माता के दूध में घिसकर देवें।

**पथ्यापथ्य**—रोगी को आराम से शय्या पर शयन करावें। भोजन में छाछ, अंडा, यवमंड, मांसरस और अन्य प्रवाही द्रव्य देवें। शिशुओं को दूध में सुधाजल (चूने का पानी) मिलाकर देवें या अंडे की सफेदी को जल में घोलकर पिलावें।

## दिक्कुश्शैखूखत (बुढ़ापे का क्षय)

यूनानी वैद्यों की यह रीति चली आ रही है कि पारस्परिक साम्य के कारण वे यक्ष्मा (दिक) के उपरांत बुढ़ापे के क्षय (दिक्कुश्शैखूखत) का वर्णन किया करते हैं, यद्यपि यह ज्वर-भेदों के अंतर्भूत नहीं है।

**दिक्कुश्शैखूखत या दिक्कुल्हरम**—वह व्याधि है, जिसमें रसादि धातुओं (द्रवों) के नाश वा क्षय के कारण प्रकृति के भीतर रूक्षता अभिभूत (गालिब) हो जाती है, जिससे अवयव सूख जाते हैं और प्रकृत देहोष्मा शांत हो जाती है। किन्तु ज्वर बिल्कुल नहीं होता।

**नामकरण हेतु**—इस रोग से शरीर की दशा वार्द्धक्य से पूर्व ही वृद्धावस्था जैसी हो जाती है, प्रकृत देहोष्मा बुझ जाती है, रौक्ष्य अभिभूत हो जाता है और अवयव घुलने लगते हैं। इसीलिये इसको **दिक्कुश्शैखूखत** और **दिक्कुल्हरम** (बुढ़ापे का दिक) संज्ञा से अभिधानित करते हैं।

**हेतु**—इस रोग का हेतु कभी शीत की अधिकता होती है जो प्रकृत देहोष्मा को शांत कर शीतल कर देती है और आहारपथों अर्थात् स्रोतों को संकुचित करके उसे प्रवेश नहीं करने देती, जैसा कि शीत की दशा में उद्भिज्जों को हो जाया करता है। इसके साथ ही शरीर में भी दुर्बलता होती है; दुर्बल एवं अल्पबल शरीर में सबल शरीर की अपेक्षया शीत एवं उष्णता का प्रभाव अधिक होता है। अतएव पोषणी शक्ति की क्रिया पूर्णतया नहीं हो पाती और शरीर-धातुओं का जितने प्रमाण में क्षय या नाश होता है, उस क्षति की पूर्ति करने में प्रकृति विवश होती है। कारण, समस्त शरीर-क्रियाएँ उष्णता ही के द्वारा निष्पन्न हुआ करती हैं, जैसा कि वृद्धावस्था में शीत के प्राबल्य एवं पोषणी शक्ति के दौर्बल्य के कारण शरीर के भीतर रूक्षता एवं कृशता उत्पन्न हो जाती है।

**लक्षण**—यक्ष्मा की द्वितीय कक्षा में क्षय (जोबूल) के लक्षण पाये जाते हैं (जिनका उल्लेख हो चुका है), किन्तु शरीर में दाह एवं गर्मी नहीं होती और मूत्र श्वेत होता है। क्योंकि पाचन दौर्बल्य के कारण मूत्र में प्रकृति की अधिक क्रिया होती ही नहीं।

**चिकित्सा**—ऐसे उपायों का आश्रय लेवें, जिससे शरीर के भीतर गर्मी और तरी पहुँचे। उदाहरणतः आहार-पचनोत्तर स्नान करावें और आबजन (कटिस्नान) में बैठावें और भोजनोत्तर रोगी को शयन करावें। प्रातः-कालीन कलेवा में अर्धभृष्ट अंडा, भेड़ का मांस और कबूतर के बच्चे के मांस का सादा मांसरस (शूरबा) और थोड़ी-सी रोटी देवें। शरीर में नरगिस के तेल और मोम का अभ्यंग करावें। किन्तु उचित यह है कि प्रथमतः एकाएक अधिक उष्ण पदार्थ नहीं देवें, प्रत्युत क्रमशः एवं धीरे-धीरे गर्मी बढ़ावें; अन्यथा प्रकृति में एकदम परिवर्तन उपस्थित होकर रोगी के प्राणनाश का हेतु हो जायगा।

# राजयक्ष्मा के पर्याय और उसका इतिहास

वैद्य रघुनन्दन प्रसाद 'उपमन्यु'

शास्त्रकारों ने यक्ष्मा को रोगराट् (रोगों का राजा) कहा है और इस व्याधि का वर्णन भी अति विस्तार-पूर्वक किया है। पाश्चात्यों द्वारा भी इस रोग का विवेचन स्वतन्त्र एवं विस्तार के साथ किया गया है। ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस रोग के बारे में पाश्चात्य चिकित्सक कुछ ही समय पूर्व जानकारी कर पाये हैं, जब कि भगवान धन्वन्तरि ने अति प्राचीनकाल में ही इस रोग की कृच्छ्र साध्यता एवं चिकित्सा का विशद विवेचन कर दिया था। यथा —

अनेकरोगानुगतो बहुरोग पुरोगमः।
दुर्विज्ञेयो दुर्निवारः शोषोव्याधिर्महाबलः ।।

यह रोग स्वरभंग, उरःक्षत, रक्तनिष्ठीवन, ज्वर, अतिसार आदि अनेक उपद्रवकारी व्याधियों द्वारा होता है। इसी हेतु इसे अनेक 'रोगानुगत' कहा है। यह रोग कुछ काल तक गुप्त रूप में बढ़कर ही स्पष्ट होता है। अतः 'बहु रोग पुरोगमः' कहा गया है। इस रोग में बाहर ज्वर-कास रोगी में लक्षित होते हैं और भीतर शनैः-शनैः यह रोग बढ़ता जाता है तथा धातुएँ क्षीण होती रहती हैं। जब यह रोग बढ़कर दृढ़ हो जाता है, तो इसका ज्ञान होता है। बहुधा प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस रोग का ज्ञान नहीं होता। इसी हेतु आचार्यों ने इसे दुर्विज्ञेय (कठिनता से जानने योग्य) रोग कहा है।

कुछ रोगी कासज्वर मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं, किन्तु भीतर ही भीतर रोग के कीटाणु बढ़ते रहते हैं तथा फुफ्फुसों में विकृति कर बिवर बना लेते हैं। इस रोग की यह अवस्था अतीव दुःसाध्य होती है। इसी हेतु इसे दुर्निवार कहा है। यह रोग कभी-कभी क्रमशः धातुओं का नाश करता है और कभी-कभी विपरीत में क्रम धातुओं का नाश करता है। अतः इसे शोष संज्ञा दी गई है। यह रोग सब इन्द्रियों की क्रिया-शक्ति को नष्ट करता हुआ शरीर को क्षीण करता है। अतः इसे क्षय कहा गया है। यह रोग बढ़ जाने पर अति प्रबल एवं दुःखदायी हो जाता है तथा अनेकानेक उपायों से भी नहीं हटता। अतः इसे आचार्य ने महाबल (विशेष बलशाली) लक्षित किया। यह रोग प्रथमतः चन्द्रमा को हुआ तथा अन्य सभी रोगों से कष्टदायक, राजा सदृश बलवान होने से ही इसे राजयक्ष्मा या रोगराट् संज्ञा दी गई।

आज इस रोग के विषय में जो मान्यता है कि यह रोग संक्रामक तथा जीवाणुजन्य है, उसी प्रकार की धारणा इस रोग के विषय में हमारे आचार्य भी रखते थे। किन्तु अपने आयुर्वेद में आचार्यों ने किसी रोग के सम्बन्ध में बीज की प्रधानता को नहीं माना; अपितु सदैव रोगों के सम्बन्ध में क्षेत्र की प्रधानता मानकर ही चिकित्सा शौकर्य्य किया है। जैसे कि कुष्ठ के सम्बन्ध में यह ज्ञान होते हुए भी कि "रक्तजा जन्तवोऽणवः षट्तेकुष्ठैक कर्मणः"—कुष्ठ कृमिजन्य होता है, कुष्ठ के कारणों में कृमियों का उल्लेख नहीं किया; अपितु "विरोधीन्यन्नपानानि द्रव स्निग्ध गुरूणि च" इत्यादि रोगानुगत कारणों का उल्लेख किया है। यह रोग संक्रामक है, इसका भी उन्हें स्पष्ट ज्ञान था। उसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य धन्वन्तरि का यह श्लोक है—

प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहसय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ।।
कुष्ठं ज्वरश्चशोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ।।

उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है कि ज्वरश्च—आन्त्रिक ज्वर (Typhoid Fever) शोषश्च (Phthisis) आदि ये औपसर्गिक रोग हैं तथा इनका संक्रमण एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में हो जाता है।

इसी प्रकार अथर्ववेद के सप्तम काण्ड में निम्न श्लोक से यक्ष्मा रोग का परिचय मिलता है—

यः कीकसा प्रसृणाति तलीयमवतिष्ठति।
निर्हास्तं सर्वजायान्यं यः कश्च ककुदिश्रितः ।।

इस श्लोक का अर्थ श्री सायणाचार्यजी ने लिखा है

कि जो राजयक्ष्मा नामक रोग कीककसा––हड्डियों में व्याप्त होता है, जो रोग तलीधम् (भीतर रहे हुए मांस आदि) में प्रवेश कर उसे आकर्षित कर लेता (सुखा देता) है तथा जो दुःसाध्य राजयक्ष्मा संज्ञावाला रोग ककुदि (ग्रीवा आदि मुख्य अंगों में) आश्रित हो, उन्हें शुष्क बना देता है और जो रोग सम्पूर्ण शरीरस्थ धातुओं का शोषण कर लेता है, उसे राजयक्ष्मा कहते हैं।

वह किसे होता है ? उत्तर में कहते हैं कि जो मनुष्य सदैव स्त्री-संभोग करता रहता है, उसे इस क्षय रोग की सम्प्राप्ति होती है।

ऋग्वेद में रोगी की चिकित्सा करते हुए चिकित्सक कहता है––

अक्षिभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादपि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्का जिह्वया विवृतामसि ॥

––हे यक्ष्मा-पीड़ित रोगी ! मैं तेरे पास आया हुआ वैद्य, यक्ष्मा रोग को जो तेरी आँखों में, तेरी नासिका में, कानों में, हन्वस्थि में तथा मस्तिष्क, शिर और जिह्वा में प्रविष्ट हुआ है, दूर करता हूँ।' इसी प्रकार पुराणों में एक कथा आती है, और उसीको हमारे आर्ष ग्रन्थ चरक-सुश्रुत ने भी राजयक्ष्मा के विषय में लिखा है कि यह रोग सर्वप्रथम नक्षत्रराज चन्द्रमा को हुआ था और बाद में मनुष्यों में हुआ। यह निम्न श्लोक से और भी स्पष्ट होता है––

राज्ञश्चन्द्रमसो यक्ष्मादभूदेष किलामयः।
तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुः मनीषिणः ॥
(सु० सू० अध्याय ४१)

इसी प्रकार महर्षि चरक ने भी लिखा है––

क्रोधो यक्ष्माज्वरोरोगः एकोर्थो दुःख संज्ञितः।
यस्मात्स राजा प्रागासीद्राजयक्ष्माततो मतः ॥

इसी को वाग्भट्ट चि० अ० ५ में लिखते हैं––

नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा।
यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः ॥

उपर्युक्त श्लोकत्रयी का भावार्थ यह है कि राजयक्ष्मा नामक व्याधि को क्रोध ज्वर आदि अनेक नामों से कहा जा सकता है। यह रोग सर्वप्रथम नक्षत्रराज चन्द्रमा को हुआ था। इसी हेतु "राजा च यक्ष्मा" राजयक्ष्मा––यह विशेष नाम लोक में प्रसिद्ध हुआ।

पाश्चात्य देशवासी इस रोग के सम्बन्ध में स्पष्टतः अन्वेषण १६०१ में कर पाये हैं। इससे पूर्व यूरोप इस रोग की चिकित्सा के बारे में बिलकुल ही अनभिज्ञ था और वहाँ के चिकित्सक इस व्याधि का ज्ञान न रखकर अनेक रोगियों को चिकित्सा में विरेचन आदि देकर अविलम्ब यम-सदन का अतिथि बनाते रहे। इस कथन को स्पष्ट करने के लिये यहाँ इस रोग के लिये किये गये प्रयत्नों पर भी दृष्टि डालनी होगी।

राजयक्ष्मा के पाश्चात्य देशों के इतिहास के पृष्ठ पलटने से विदित होता है कि ग्रीस के प्राचीन शिलालेखों में, जो "बेबिलियन" नामक स्थान पर उपलब्ध हुए हैं, इस व्याधि की घातकता के सम्बन्ध में कुछ वर्णन मिलता है। इससे मालूम होता है कि वहाँ पर इसी समय पहली बार इस व्याधि के बारे में ज्ञान हुआ था। इस शिलालेख के सम्बन्ध में 'Tuberculosis International' नामक पत्रिका में विस्तारपूर्वक छपा है।

ईसा से ३०० वर्ष पूर्व ईजिप्ट के राजघराने के वंशज ममीज के शरीर को चीरने से इस रोग के घातक कीटाणु पाये गये। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व हिपोक्रेटिस ने जो अपने समय में इस रोग के विशेषज्ञ माने जाते थे, इस रोग की चिकित्सा के सम्बन्ध में बहुत-सी सदोष बातें लिखीं और बतलाया कि यह व्याधि संक्रामक है तथा यह १८ से ४० वर्ष की आयुवाले मनुष्यों में होता है और इसमें ज्वर भी होता है। फिर ई० १३० से २०० तक प्रो० गेलन तथा सेल्सस ने भी इस रोग के बारे में बहुत कुछ विचार किया। उन्होंने भी इसे संसर्गज रोग (Epidemic) माना। उनकी मान्यता के अनुसार फुफ्फुसों में व्रण होने पर राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है एवं यह रोग संसर्ग द्वारा दूसरों को हो जाता है। इसकी चिकित्सा के बारे में उन्होंने बतलाया कि इस व्याधि में बकरी का दूध, शहद और उष्ण स्थानों में निवास श्रेयस्कर है।

ऐतिहासिक क्रमानुसार मालूम होता है कि १८ वीं शताब्दि में पश्चिमी देशों में इस रोग को भयानक मानकर यह नियम लागू किया गया कि यक्ष्मा रोग-पीड़ित रोगी यदि किसी चिकित्सक के पास चिकित्सा कराने के लिये आये, तो चिकित्सक को राज्य के नियमानुसार उस रोगी की सूचना राज्य तक पहुँचानी पड़ेगी।

यह नियम सर्वप्रथम इटली में १७५४ में बनाया गया। पश्चात् १७८२ में नेपल्स के बादशाह फरडीनेण्ड ने, १८०० में स्पेन के बादशाह फिलिप पञ्चम ने, १८०६ में नेपोलियन ने, १८३४ में डॉ० पेरिस ने, १८६० में डॉ० स्पारोजी ने और १८६३ में डॉ० रेज्मी ने इस घातक व्याधि के विषय में अनेकानेक नियम लागू किये। किन्तु तबतक इस रोग के बारे में स्पष्टतः निर्णय नहीं हो सका था।

इसके पश्चात् १८३३ में ब्रिटिश मेडिकल एसोसियेशन लन्दन में इस रोग के बारे में एक प्रश्नावली तैयार की गई और वह एसोसियेशन के सभी सदस्यों के पास भेजी गई, जिसमें ७७८ सदस्यों ने इस रोग को असंक्रामक बतलाया तथा २६१ सदस्यों ने इसे संक्रामक सिद्ध किया। कुछ सदस्य इस विषय में अपना कुछ भी निर्णय न दे सके। इस रोग के बारे में इस प्रकार १८८१ तक अनेक वाद-विवाद चलते रहे। तत्पश्चात् १८८२ में जर्मनी के प्रसिद्ध डॉ० रॉबर्ट कौक्स ने यक्ष्मा के कीटाणु (Basillus tuberculosis वैसीलस ट्युबरक्युलोसिस) का पता लगाया और बर्लिन शहर में डॉक्टरों की कान्फ्रेन्स में इसे सिद्ध किया। डॉ० कौक्स ने यह भी बतलाया कि यह एक शलाकाकार जीवाणु होता है। इसकी लम्बाई २ से ४ म्यू० तक होती है। इस जीवाणु के ऊपर मैदस (Fatty) आवरण चढ़ा रहता है, जिससे इसकी प्रतिरोधक शक्ति अधिक होती है। थूक के शुष्क कणों में यह काफी देर तक जीवित रहता है। आमाशयिक रस की इस पर कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं होती तथा इस रोग द्वारा मृत व्यक्ति के शरीर के सड़ने पर भी इनका नाश नहीं होता। किन्तु सूर्य-रश्मियों के प्रभाव से यह जीवाणु शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इस रोग के सम्बन्ध में अन्य शोध भी हुए। १६०१ में इस रोग के बारे में यह निर्णय हुआ कि इस रोग के जीवाणु के कई भेद हैं। पर मानवीय एवं गव्य (Bovine) जीवाणु ही मनुष्य के लिये घातक परिणामवाले होते हैं।

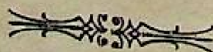
इसके अतिरिक्त श्री रॉबर्ट कौक्स ने ४ सिद्धान्त और निश्चित किए, जिनसे इन जीवाणुओं की सत्ता सिद्ध होती है—(१) यक्ष्मा के जीवाणु रुग्ण व्यक्तियों में उनके प्रभावित अंशों में प्राप्त होते हैं। (२) इन जीवाणुओं को कृत्रिम रूप में Culture (पाला) किया जा सकता है। (३) यह कृमि (जीवाणु) स्वस्थ मनुष्य पर भी अपना अस्तित्व पैदा कर सकते हैं। (४) यदि रुग्ण व्यक्ति के जीवाणु स्वस्थ मनुष्य में प्रविष्ट किये जावें, तो ये उस स्वस्थ मनुष्य में अपना प्रभाव उत्पन्न कर रोगी बना देते हैं और वर्द्धित रूप में ये जीवाणु उसमें पाये जा सकते हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या राजयक्ष्मा के कीटाणु मात्र से ही व्याधि होना संभव है या उसके कार्य के लिए क्षेत्र-रूपी शरीर का भी दूषित होना आवश्यक है?

इस विषय में यह मानना पड़ेगा कि हमारे आयुर्वेद में क्षेत्र की प्रधानता मानकर ही रोगों की उत्पत्ति लिखी है, बीज को प्रधान नहीं माना है। उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन डॉ० मोथू ने अपने वैज्ञानिक आधार पर प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं—

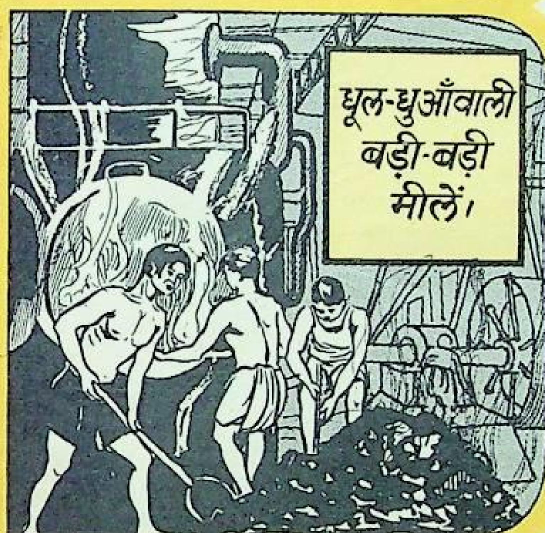
परिवर्तनशील परिस्थितियों के परिवर्तनों तथा उन्नत करते हुए सांसारिक वातावरणों के कारण संसार में बड़े-बड़े कृषि-विभागों तथा औद्योगिक कारखानों के आविष्कार हुए और उनसे पैदा चिन्ताओं, सावधानियों तथा उत्तरदायित्वों के विशाल प्रभावों को विलासी जगत् का व्यापारिक चिन्ताओं से युक्त, अतएव दुर्बल, असमर्थ तथा असावधान मानव-शरीर सहने में असमर्थ हुआ और परिणामतः उसका खराब स्वास्थ्य पर और भी बुरा प्रभाव पड़ा। इसी से राजयक्ष्मा नामक व्याधि ने उसके शरीर पर अपना अधिकार किया। इसके पश्चात् व्यापारिक आधारों पर मानव का मानव से तथा देशों का देशों से ज्यों-ज्यों सम्पर्क बढ़ा, त्यों-त्यों इस व्याधि का भी प्रसार बढ़ता गया और संसार की उन जातियों में जो कि इस व्याधि की कोई आशा न रखती थीं और न इसके लिये तैयार ही थीं, इस व्याधि का प्रसार शीघ्रता से हुआ। मनुष्य का यह स्वाभाविक आलस्य, लापरवाही तथा असहिष्णुता का संचय, उसकी अगली सन्तति को भी प्रभावित करता है।

इस रोग के बारे में यह सिद्धान्त दोनों ही चिकित्सा-पद्धतियों के विशेषज्ञों के समान दृष्टिकोण का प्रतीक है।



# ५ ये हैं प्रमुख कारण जिनसे राजयक्ष्मा का प्रसार होता है:-












# परिवार को क्षय-रोग से कैसे बचायें?

यदि आपके घर में कोई क्षयग्रस्त हो तो उससे डरें नहीं। केवल इन नियमों का पालन करें जो रोग को फैलने से रोकेंगे।




















# प्राकृतिक चिकित्सा और क्षय

डा० गुलाबचन्द जैन

क्या आपने कभी इस बात पर भी विचार किया है, कि आपके स्वस्थ, खेलते-कूदते बच्चे को भी क्षय हो सकता है? क्या उसे कई दिनों से थोड़ी-थोड़ी खाँसी आ रही है? क्या बहुत भूखे की तरह भोजन करने बैठने पर भी वह बहुत थोड़ा खा पाता है? शायद आपने इन सब बातों पर कभी विचार भी नहीं किया होगा; और अगर कोई संदेह आपके मन में उठा भी हो, तो आप यह जानकर कि आपके कुटुम्ब में, या आपके अड़ोस-पड़ोस में किसी को यह रोग नहीं है, निश्चिन्त होंगे। यदि सारे कुटुम्ब इसी तरह संतुष्ट होते, तो शायद मानव-जाति-नाशक इस भीषण रोग की इतनी वृद्धि न हुई होती। क्षय रोग से सबसे अधिक संख्या में बच्चों तथा युवकों की ही मृत्यु होती है। अधिकतर दस से तीस वर्ष तक की अवस्था के ही लोग इसके शिकार होते हैं।

क्षय एक सभ्यता का रोग है। घनी आबादी, प्रकाश एवं स्वच्छतारहित मकान, आहार-विहार की अस्वास्थ्यप्रद दशाएँ, भोजन-तत्त्वों के ज्ञान की कमी और अर्थोपार्जन आदि के कारण उत्पन्न विविध मानसिक चिंताएँ अच्छे से अच्छे स्वस्थमनुष्य के स्वास्थ्य को भी नष्ट कर देती हैं; और स्वास्थ्य-नाश के साथ ही साथ क्षय भी आक्रमण कर बैठता है।

**क्षय के दो भेद किये जा सकते हैं**––एक तो प्रारंभिक क्षय, जो बहुधा बच्चों में पाया जाता है; और दूसरा जीर्ण-क्षय अथवा क्षय का पुनराक्रमण, जो प्रायः तीस वर्ष की वय से ऊपर वाले व्यक्तियों को होता है।

## रोग के विशेष लक्षण

धीरे-धीरे वजन घटना, प्रातःकाल और भोजनोपरांत खाँसी आना तथा छाती में दर्द होना; संध्या को हलका ज्वर हो जाना, खाँसी के साथ कभी-कभी रक्त-मिश्रित बदबूदार कफ निकलना, क्षुधानाश, अपच, रात्रि में सोते समय पसीना आना; शरीर का पीला हो जाना तथा जीवन-शक्ति की क्षीणता आदि इस रोग के विशेष लक्षण है। फुफ्फुसों से रक्त-स्राव, जुकाम, खाँसी, छाती में दर्द, सभी साथ-साथ चलते हैं। बदबूदार पीला कफ निकलता है और मुख की कान्ति नष्ट होकर शरीर कमजोर और पीला पड़ जाता है। कभी-कभी उरस्तोय (प्लूरिसी) भी इसके साथ हो जाता है, यद्यपि क्षय के साथ इसका कोई संबंध अभी तक के वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध नहीं हो सका है। इन्हीं बढ़े हुए लक्षणों के साथ मनुष्य को अपने रोग का ज्ञान होने पर वह किसी चिकित्सक या स्वास्थ्यप्रद स्थान की ओर दौड़ता है।

प्रारंभिक क्षय की अवस्था कुछ दूसरी ही होती है। रोगी स्वस्थ दिखाई देता है, खाँसी भी अधिक नहीं आती, भूख भी लगती है तथा शरीर में विशेष पीलापन भी दृष्टि-गोचर नहीं होता। इस दशा में रोगी यदि बच्चा है तो वह खूब खेलता और हँसता है। फिर हम कैसे अनुमान कर सकते हैं कि वह क्षय का भी शिकार हो सकता है? किन्तु मूल यहीं से जम कर भविष्य में क्षय का रूप ले लेता है।

## मुख्य कारण

**क्षय रोग के मुख्य दो कारण हैं**––क्षय के जीवाणु तथा साधारण स्वास्थ्य एवं शरीर की रोगों से रक्षा करने की शक्ति की कमी। इन कारणों में कीटाणुओं को यदि बीज माना जाये, तो साधारण स्वास्थ्यनाश तथा शरीर की रोग-प्रतिरोधक शक्ति की कमी को भूमि मानना आवश्यक होगा। हम इससे यह प्रकट करना चाहते हैं कि उपर्युक्त दोनों कारणों में, जिस तरह बीज अच्छा होते हुए भी बिना उचित और अच्छी भूमि के ठीक उपज नहीं होती, उसी तरह बिना साधारण स्वास्थ्य नष्ट हुए एवं रोग प्रतिरोधक-शक्ति के क्षीण हुए कीटाणु रोग उत्पन्न न कर सकेंगे। स्वास्थ्य और रोग प्रतिरोधक-शक्ति के क्षीण होने पर ही रोगों का आक्रमण होता है।

प्रारंभिक एवं अज्ञात अवस्था में रोग लसीका-ग्रंथियों में निष्क्रिय पड़ा रहता है तथा अन्य सजीव तंतुओं को उससे

कोई हानि नहीं पहुँचती। कीटाणु, फेफड़ों तथा श्वास-मार्ग की झिल्लियों में भी, जो रक्त तथा वायु के कारण संक्रमण के मुख्य स्थान हैं, रह सकते हैं। उनका वहाँ से निकलना उनकी शक्ति तथा प्रबलता पर नहीं, किन्तु शरीर की जीवन-शक्ति तथा रोग निवारक-शक्ति पर निर्भर है।

लगभग हर प्रकार के कीटाणु मानव-शरीर में हर समय उपस्थित रहते हैं, किन्तु, जबतक व्यक्ति स्वस्थ रहता है और उसकी शारीरिक रोग निवारक-शक्ति क्षीण नहीं होती, जीवाणु निष्क्रिय पड़े रहते हैं और उनसे रोग उत्पन्न नहीं होता। वे ही जीवाणु दुर्बल, अस्वस्थ, अस्वच्छ और अपौष्टिक भोजन करने वालों के शरीर में शीघ्र ही रोग उत्पन्न कर देते हैं। क्षय से मरने वालों की शव-परीक्षा करने पर ज्ञात होता है, कि उनमें से अस्सी प्रतिशत अपने जीवन में कई बार क्षय जनक कीटाणुओं के संसर्ग में आकर भी अपने सुस्वास्थ्य और शारीरिक रोग प्रतिरोधक-शक्ति के कारण ही क्षय रोग के शिकार न हो पाये। क्षय रोग के जीवाणुओं के साथ शरीर सफलता पूर्वक युद्ध करता और विजय प्राप्त करता रहा, किन्तु शारीरिक स्वास्थ्य एवं रोगनिवारक-शक्ति के नष्ट होने के कारण ही उसे हार खानी पड़ी और वह रोग के चंगुल में फँस गया।

## आक्रमण की स्थिति

इससे स्पष्ट है कि अन्य विशेष लक्षण चाहे न भी प्रकट हों, किन्तु स्वास्थ्य और रोगप्रतिरोधक-शक्ति के नाश के साथ ही रोग का आक्रमण हो जाता है और जीवाणु शरीर में अपने पैर जमाकर विभिन्न तंतुओं, संधियों, अस्थियों, ग्रंथियों, आँतों अथवा फेफड़ों को अपना निवास स्थान बना लेते हैं। सारे प्रारंभिक लक्षण तथा शारीरिक परिवर्तन जीवाणुओं के स्थान का निर्देश करते हैं। अतः यह जान लेना आसान हो जाता है कि रोग कहाँ स्थित है। श्रम, तापक्रम का बढ़ना, वजन कम होना आदि लक्षण बताते हैं कि शरीर जीवाणुओं की वृद्धि रोकने तथा उन्हें नष्ट करने के लिए डटकर प्रयत्न कर रहा है। रोगप्रतिरोधक-शक्ति के असफल हो जाने के बाद ये लक्षण साधारण अवस्था में ही रोगी को नष्ट कर देने में समर्थ हो जाते हैं।

शारीरिक विरोध को नष्ट कर जीवाणुओं के प्रविष्ट हो जाने पर भी शरीर उनसे मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता रहता है और यह कहना ठीक ही होगा कि वह अधिकतर सफल ही होता है। अस्वस्थ व्यक्ति अनजाने ही प्रकृति द्वारा स्वस्थ कर दिया जाता है, क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्य को बनाए रखना शरीर की प्रकृति है। विज्ञान कहता है कि जीवाणु के शरीर में प्रवेश पा जाने पर शरीर उसे नष्ट करने के लिये एक संघटित उपाय काम में लाता है। जीवाणु के चारों तरफ एक दीवार खड़ी कर दी जाती है और यदि वह इसमें सफल हो गया तो (जैसा कि बहुधा होता है) रोग का मार्ग बन्द हो जाता है। किन्तु इसके विपरीत यदि शरीर अपनी रक्षा करने में असमर्थ रहा, तो जीवाणु सारे शरीर में फैल जाते हैं और ज्यों-ज्यों शारीरिक प्रतिरोधक-शक्ति घटती जाती है, रोग बढ़ता जाता है।

## निदान

क्षय रोग का ठीक-ठीक निदान एक्स-रे द्वारा चित्र खिचवाने से हो जाता है। चित्र द्वारा यह भी ज्ञात हो जाता है कि रोग का आक्रमण किस स्थान पर हुआ है और रोग कहाँ तक बढ़ पाया है।

निदान की दूसरी उत्तम विधि टयुबर्‌-कुलिन नाम का एक इंजेक्शन है। इसका त्वचागत इंजेक्शन दिया जाता है। यदि व्यक्ति में यक्ष्मा के जीवाणु उपस्थित होते हैं तो २४ से २८ घंटे के भीतर वह स्थान रक्तवर्ण का हो जाता है। यह बहुत ही साधारण परीक्षा है तथा उत्तम एवं भयरहित समझी जाती है।

क्षय पैत्रिक रोग नहीं हैं; फिर भी यह पीढ़ियों में चलता है। ६ सौ कुटुम्बों में, जिनमें क्षय रोग से एक-एक की मृत्यु हो चुकी थी, खोज करने पर वैज्ञानिकों ने देखा कि केवल दस प्रतिशत संतानों में ही यह रोग उपस्थित हैं। रोगी से संबंध रखने वाले मित्रों तथा भृत्यों में यह साधारण से चौदह गुना अधिक पाया जाता है। साधारणतः ३४५ व्यक्तियों में एक व्यक्ति इस रोग से पीड़ित है।

## जीवाणुओं की कोई विशेषता नहीं

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से क्षय रोग की चिकित्सा में जीवाणुओं को किसी भी तरह की प्रधानता देने की

आवश्यकता नहीं है। ओषधियों तथा अन्य साधनों से सिर्फ जीवाणुओं को ही नष्ट करने के पीछे पड़ जाना एक मूर्खतापूर्ण पद्धति है। यह असली चीज को छोड़कर नकली को पकड़ना है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में पूर्ण निश्चयात्मक शब्दों में लिखा है—"लाक्षणिक चिकित्सा क्षय रोग में कुछ शान्ति भले ही दे, पूर्ण लाभ नहीं पहुँचा सकती। विशिष्ट चिकित्साएँ भी, जो रोगों को रोकने तथा नष्ट करने में अद्वितीय होने का दम भरती हैं, कुछ रोगों एवं उनकी अवस्थाओं में सहायक होने पर भी, निराशाजनक ही सिद्ध हुई हैं। रोगनिवारण-शक्ति मानव-शरीर-यंत्र की महान् स्वाभाविक शक्ति है तथा बहुत से रोगों में रोगी को केवल जीवनानुकूल परिस्थितियों में ही छोड़ देने पर वे स्वयं स्वस्थ हो जाते हैं"। डा० टिल्डन ने रोगों की तीव्रावस्था और उनकी चिकित्सा के संबंध में भाषण करते हुए एक बार कहा था कि "यदि मुझे क्षय हो जाय तो मैं अपने आपको एक क्षुद्र बनवासी के रूप में परिवर्तित कर लूँगा, जो दवाओं से दूर रहते हैं तथा खुली हवा और प्राकृतिक भोजन का सेवन करते हैं।"

## चिकित्सा

रोग के दो कारणों की तरह, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, इस रोग से बचने के भी दो ही प्रधान मार्ग हैं—(१) शारीरिक स्वास्थ्य का सुधार; जिससे शरीर की रोग प्रतिरोधक-शक्ति बढ़कर रोग के कीटाणुओं को नष्ट करने में समर्थ हो सके; (२) पूर्ण स्वच्छता, जिससे कि रोग का संक्रमण न हो और वह फैलने न पाये।

शरीर की रोग-प्रतिरोधक और रोगनाशक-शक्ति विशेषकर शरीर के पोषण पर निर्भर है और क्षय की चिकित्सा में पोषण पर पूर्ण ध्यान देना आवश्यक है। यह तो हम जान ही चुके हैं कि यह एक शहरी जीवन का रोग है और दुर्भाग्यवश यह भी सत्य है कि सार्वजनिक उन्नति के साथ दिनोंदिन हमारा भोजन संबंधी ज्ञान कम होता जा रहा है। वैज्ञानिक उन्नति के साथ मशीन से पिसे आटे, कणरहित चावल, डिब्बों में बन्द निर्जीव फल और दूध तथा मशीन से साफ की हुई सफेद चीनी का बढ़ा हुआ उपयोग जनता के रोगोत्पादन में विशेष सहायक हो रहा है। ये पदार्थ स्वास्थ्य के शत्रु हैं, मित्र नहीं।

तीक्ष्ण खादों द्वारा उत्पन्न किये गये अनाज, फल, शाक आदि अपनी रोगनिवारक-शक्ति खो बैठते हैं। दुर्भाग्य से अभीतक हमने भोजन की पोषण संबंधी दिशा की ओर कदम नहीं उठाया है। जो भी व्यक्ति स्वस्थ रहना और अपनी शारीरिक रोग प्रतिरोधक-शक्ति जीवित रखना चाहता है, उसे अपने भोजन और उससे प्राप्त होने वाले पोषण पर विशेष ध्यान देना चाहिये। कुछ वर्ष पहिले लोगों का विश्वास था कि प्रोटीन, स्टार्च तथा वसामय अन्न ही सब कुछ है। उन्हों ने स्वास्थ्यप्रद ताजे फल, हरी तरकारियाँ, गाय का ताजा दूध आदि की महत्ता बिलकुल नहीं समझी, जिसका दुखद परिणाम आज हमारे सामने है।

प्राकृतिक खाद्य अपनी स्वाभाविक अवस्था में शारीरिक रोगप्रतिरोधक-शक्ति के निर्माण के लिये आवश्यक तो है ही, पर्याप्त भी हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रोटीन, स्टार्च और वसा आदि अनावश्यक हैं, किन्तु फल, तरकारी और ताजे दूध में अच्छी मात्रा में पाए जाने वाले विटामिन तथा खनिज क्षारों के बिना पोषण के कार्य में वे अधूरे ही रह जाते हैं। क्षय रोगी के लिए यह आवश्यक है कि उसे ताजे फल, तरकारियाँ तथा दूध अच्छी मात्रा में प्राप्त हों जिनसे प्रकृति शक्ति प्राप्तकर, शरीर में रोगों के विरुद्ध किलेबंदी करने में सफल हो सके।

केवल उचित भोजन ही क्षय रोग निवारण के लिए पर्याप्त नहीं है। हमें भोजन के पाचन, सात्मीकरण और विसर्जन की क्रियाओं पर भी पूर्ण ध्यान देना चाहिए। इन क्रियाओं से संबद्ध अंग-प्रत्यंगों का अच्छे कार्यकर एवं स्वस्थ अवस्था में होना जरूरी है; क्योंकि क्षीण पाचन तथा आंशिक सात्मीकरण ही शारीरिक रोग-प्रतिरोधक शक्ति की क्षीणता का कारण है। अच्छा प्राकृतिक भोजन का भी ठीक-ठीक पाचन और सात्मीकरण न होने पर वह कोई लाभ नहीं पहुँचाता वरन हानि ही करता है।

## महान् सत्य

शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं के पीछे पाया जाने वाला महान् सत्य स्नायविक-शक्ति है। अतएव क्षय रोगी को

अपनी स्नायविक-शक्ति नाशक सभी कुटेवों का पूर्ण परित्याग कर देना चाहिए। यही कारण है कि इस रोग में अधिक से अधिक आराम करने पर जोर दिया जाता है और वह भी केवल शारीरिक ही नहीं, मानसिक भी। दोनों प्रकार के आराम प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन योग की शिथिलीकरण नामक क्रिया है। यह सर्व विदित ही है कि तीव्र रोगों में रोगी को असमर्थ होकर आराम करना पड़ता है और इसी आराम के सहारे प्रकृति अपनी रोग नाशक स्नायविक-शक्ति की वृद्धि कर रोग नष्ट करने में सफल होती है। पाचन व सात्मीकरण की कमजोरियों में भी आराम की उतनी ही जरूरत महसूस होती है और अगर शरीर एवं उसके अंग-प्रत्यंगों को ऐसी अवस्था में बुद्धिमानी पूर्वक शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक आराम प्राप्त हो सके तो प्रकृति शरीर को साधारण कार्यकर अवस्था में अवश्य ही लौटा लायगी।

स्वच्छ वायु और खुले स्थान में रहने का क्षय-चिकित्सा से इतना घनिष्ठ संबंध है कि उसके बारे में लिखने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। क्षय रोगियों के लिए बहुजन संयुत-शहर और कस्बों का जीवन तो मृत्यु का द्वार ही है और रोग की हर दशा में यह सत्य है। उन व्यक्तियों को, जिनके कौटुम्बिक इतिहास में क्षय हो, हमेशा ऐसे व्यापार या उद्योग करना चाहिए जिनमें उन्हें अधिक से अधिक खुले वातावरण में रहना पड़े। उन्हें शहरी धूल-धक्कों से हटकर समीपवर्ती खुले उद्यानों, वनों, पर्वतों आदि स्वास्थ्यप्रद स्थानों में अपना जीवन विताना चाहिए।

क्षय रोग की चिकित्सा करना साधारण काम नहीं है। एक्स-रे आदि साधनों द्वारा रोग के निदान आदि के झगड़ों में पड़कर व्यर्थ समय नष्ट न कर, शारीरिक रोग निवारक शक्ति की क्षीणता का (जिसके लक्षण पहले से ही प्रकट होने लगते हैं) आभास मिलते ही चिकित्सा और स्वास्थ्य-वर्धक साधनों का उपयोग प्रारंभ कर देना चाहिए। यदि पूर्ण निदान की ही इच्छा हो तो वह चिकित्सा काल में भी किया जा सकता है।

## कोई विशेष चिकित्सा नहीं

क्षय रोग की कोई विशेष चिकित्सा नहीं है, यह जानकर रोगी को प्राकृतिक चिकित्सा-सिद्धांतों पर और भी दृढ़ हो जाना चाहिए। चिकित्सा कराते समय इस बात का निश्चित रूप से ध्यान रखना चाहिए कि प्रकृति निरंतर क्षय को अच्छा करने में लगी हुई है और नित्य-प्रति असंख्यों का जीवन चला रही है। प्रकृति तन्तु-प्रतिक्रिया, शारीरिक-रोगनिवारक क्षमता की वृद्धि तथा नष्ट अवयवों की पूर्णता द्वारा यह कार्य करने में समर्थ है। विवेकपूर्ण सहयोग द्वारा हम प्रकृति को उसके रोगनाशन के कार्य में प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा मदद पहुँचा सकते हैं। इस तरह रोगी प्रकृति की स्वास्थ्य लौटा लाने वाली शक्तियों के ज्ञान के साथ अपने खोए हुए स्वास्थ्य को भी पुनः प्राप्त कर सकेगा।

इस बात पर पुनः जोर देना आवश्यक जान पड़ता है कि इस रोग की चिकित्साकाल में रोगी के समीपवर्ती सम्पूर्ण वातावरण में परिवर्तन करना बहुत ही आवश्यक है। यह एक पौधे को उस भूमि से जहाँ कि वह अच्छी तरह बढ़ नहीं रहा हो, उखाड़कर अन्य स्थान में जहाँ कि वह नवीन आहार और जीवन प्राप्त कर सके, लगा देने की तरह है। रोगी की खान-पान सम्बन्धी आदतों में धीरे-धीरे परिवर्तन करना चाहिए। प्रतिदिन की जीवन-शक्ति को क्षीण करनेवाली आदतों का भी परित्याग आवश्यक है जिससे स्नायविक-शक्ति और अधिक क्षीण न होने पाए।

छाती के दर्द, जुकाम, खाँसी आदि को दूर करने में छाती की गीली पट्टी विशेषरूप से सहायक होती है। इसके लिए एक आठ फुट लम्बी छः इञ्च चौड़ी सूती कपड़े की पट्टी लेकर ठंढे पानी में भिगो कर हल्की निचोड़ लें और उसे छाती के चारों तरफ इस प्रकार लपेटें कि छाती, दोनों कन्धों का ऊपरी भाग तथा छाती के पीछे का पीठ का हिस्सा पूरी तरह ढक जाय। सूती पट्टी के ऊपर उसी के नाप की एक ऊनी पट्टी लपेटना चाहिए। यह पट्टी आध घंटे से दो घंटे तक बाँधी जा सकती है और रात को सोते समय इसे बांध कर रात भर बँधा रखा जा सकता है।



# अनुलोम और प्रतिलोम क्षय

कविराज हरदयाल वैद्यवाचस्पति

श्रीयुत कविराज हरदयालजी वैद्यवाचस्पति अमृतसर (पू० पंजाब) के सुप्रसिद्ध विद्वान्-चिकित्सक हैं। आप दयानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय लाहौर के अनेक वर्षों तक प्रिन्सिपल पदपर कार्य करने के बाद अब बोर्ड ऑफ आयुर्वेद एण्ड यूनानी सिस्टम ऑफ मेडिसन पू० पंजाब के प्रधान पदपर कार्य कर रहें हैं। आपकी विद्वत्ता एवं चिकित्सानुभव से आयुर्वेद-जगत् पूर्ण परिचित हैं। "सचित्र आयुर्वेद" में आपके विद्वत्तापूर्ण लेख समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। प्रस्तुत लेख में अनुलोम क्षय और प्रतिलोम क्षय का आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से तात्त्विक विवेचन करते हुए आपने अपने अनुभवपूर्ण चिकित्सा का भी उल्लेख किया हैं, जिससे पाठकों का काफी उपकार होगा।

—स० संपादक



लेखक

राजयक्ष्मा, क्षय, शोष, आंत्रक्षय, अस्थिशोष, राज-रोग, रोगराड्, संधिक्षय, फुफ्फुसक्षय, तपेदिक, सिल, थाई-सिस, कन्जम्पशन, पल्मोनरी, ट्यूबरक्युलोसिस आदि अनेक नाम इसके हैं। अवयव और स्थान-भेद से इसके और भी अनेक नाम बढ़ जाते हैं। परंतु मूल कारण सूक्ष्म या स्थूल रूपेण अवस्थांतर-भेद से एक ही होता है।

**शोष, क्षय और राजयक्ष्मा** ये तीन ही प्रधान नाम इसके उत्तरोत्तर भयावह हैं। आयुर्वेद के द्वारा स्थिर की गई ये संज्ञाएँ अपने अर्थों में विशेषताएँ रखती हैं।

(१) **शोष**—उस प्राथमिक अवस्था का परिचायक है, जो इस रोग के आयुर्वेदीय कारण चतुष्टय में से किसी एक से सूक्ष्म रूप से आरंभ होकर उत्तरोत्तर धातु-वृद्धि-क्रम में अत्यल्प ह्रास उत्पन्न करता है। इसकी उत्पत्ति सहसा बोधगम्य नहीं होती अथवा उपेक्षित रहती है। कुमारावस्था में इसका शीघ्र परिज्ञान प्राप्त करने के लिए गोद के बच्चों और विद्यालयों के बच्चों को यथासमय तौलते रहना चाहिए। साधारणतया धातु-वृद्धि-क्रम नियमित रूपेण चलता रहता है और वह यथाक्रम शरीर की वृद्धि में तन्मय रहता है। अतः शोष का सीधा अर्थ होगा "वृद्धि-क्रम में ह्रास"। जब वृद्धि-क्रम के ह्रास की स्थिति परिपक्व हो जाती है, तब 'क्षय' की अवस्था उत्पन्न होती है।

अनुलोम क्षय के इस प्रथम द्वार से ही भावी परिस्थिति गूढ़मूला होकर आरम्भ से ही रसधातु की रक्त में परिणति हो जाती है, जिससे उत्तरोत्तर धातु-वृद्धि-क्रम में व्याघात उत्पन्न होकर आयु के प्रमाणानुसार देह की वृद्धि और पुष्टि में स्पष्ट अंतर दीखने लगता है। इसी परिणाम को "शोष" कहते हैं। "संशोषणाद्रसादीनां शोष-इत्यभिधीयते" ऐसा क्यों होता है? यह महाबल व्याधि त्रिदोषोद्भूत होने के कारण प्राकृतिक कायिक व्यापार में आमूल चूल परिवर्तन उपस्थित करती है। भुक्त आहार को पचाने के लिए भिन्न-भिन्न पाचक-यंत्रों से परि-स्रुत होनेवाले पाचक रस व्याधि-प्रभाव से आविर्भूत होकर इतने निर्बल हो जाते हैं, कि उनके प्रसाद रूपेण अग्रिम धातु

में परिणत होने की क्षमता ही नष्टप्राय हो जाती है। शरीर को पुष्ट और वृंहण करने का समस्त भार आहार के उन घटकों पर आश्रित है, जिन्हें पाचक रसों के विशिष्ट तत्त्वों की सहायता और रासायनिक परिवर्तनों के पश्चात् यथाकाल उन परमाणुओं में परिवर्तित होता है, जो सहसा उत्तरोत्तर धातु-वृद्धि करने की क्षमता रखते हैं। यहाँ चरक का यह सिद्धांत स्मरणीय है—"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्"।

(२) **क्षय**—इस रोग की यह व्यक्त अवस्था है और यह संज्ञा भी बहुत सार्थक है। 'क्षि क्षये' धातु से अच् प्रत्यय होकर क्षय शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ होगा शनैः-शनैः क्रमपूर्वक शरीर को नाश करनेवाला रोग। प्लेग और विसूचिका सदृश यह आशुघातक नहीं, प्रत्युत् धीरे-धीरे रोगी के शरीर की समस्त धातुओं को शोषण करके सुदीर्घ काल के पश्चात् प्राणों का संहार करता है।

"क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यतेबुधैः।"

शोषावस्था की अपेक्षा क्षयावस्था में रसादि धातुओं का क्षयीकरण वा ह्रासीकरण त्वरित गति से होता है। स्वस्थावस्था में नैसर्गिक रूपेण प्रत्येक धातु अपने प्रसादात्मक भाग के द्वारा अग्रिम धातु की वृद्धि करती है और उसके सात्म्यी भवन से ही शरीर, क्षय से सुरक्षित रहता है। मानसिक और कायिक व्यापारों द्वारा शरीर के जितने परमाणु नष्ट होते हैं, उन्हें प्रकृति रसादि धातुओं की इस नैसर्गिक प्रवृत्ति के द्वारा पूर्ण करके शरीर को क्षय (ह्रास) से बचाती है। परंतु इस रोग के जन्म लेते ही प्रकृति अपने कार्य से उदासीन हो जाती है और शनैः-शनैः 'क्रियाक्षय' अर्थात् एक धातु का अपने से अगली धातु में परिणत होने की क्षमता का प्रायः सर्वांश नाश उपस्थित होने पर इसे क्षय के नाम से कहा जाता है।

(३) **राजयक्ष्मा**—यह संज्ञा ऐतिहासिक सम्पर्क रखती है। इसका पूर्ण वृत्त चरक में उपलब्ध हो सकता है। यदि राजयक्ष्मा अपने सबल एकादश लक्षणों से युक्त उपस्थित हो, तो यह अपने नाम के भीतर रखने वाली भीतिका प्रत्यक्ष रूप होता है।

शोष और क्षय इसकी दोनों अवस्थाएँ यदि अपूर्ण और निर्बल लक्षणयुक्त हों एवं चिकित्सा के पादचतुष्टय की सम्यक् प्राप्ति हो, तो रोगी के स्वास्थ्य-लाभ की पूर्ण आशा रहती है।

## कारण

आयुर्वेदिक पद्धति के अनुसार क्षयरोग के चार कारण—वेगरोध, क्षय (रसादि धातुओं का क्रमिक ह्रास एवं विपरीत क्रम से ओज, शुक्र, मज्जा आदि का ह्रास उभयात्मक होना), साहस और विषमाशन हैं। यद्यपि उपर्युक्त कारण चतुष्टय "रोगस्तु दोषवैषम्यम्" के सिद्धान्तानुसार सोलह आने ठीक हैं, परन्तु जीवाणु-विज्ञान के आविष्कर्त्ताओं को सम्भवतः यह मान्य न हो। एक्स-रे द्वारा परीक्षा के पश्चात् यदि फुफ्फुसों में कोटर और ष्ठीवन परीक्षा द्वारा कीटाणुओं की उपस्थिति प्रतीत हो, तभी क्षयरोग माना जाता है। किन्तु परीक्षा-परिणाम व्यक्त होने से पूर्व ही रोगी क्षयरोग की अन्तिम अवस्था में पहुँचा होता है। परन्तु यह तो मानी हुई बात है कि प्रत्येक रोग के सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट दोनों ही हेतु होते हैं। केवल सन्निकृष्ट कारणों को मानना और विप्रकृष्ट हेतु की उपेक्षा करना चिकित्सा-शास्त्र का मान्य सिद्धान्त नहीं है।

इसके विपरीत त्यक्ष कर्मियों के ऐसे उदाहरण भी हमें उपलब्ध हैं, जिन्होंने किसी भी रोग के सन्निकृष्ट कारण (जीवाणुओं द्वारा ही रोग उत्पन्न होता है) की एकान्तता देखने के लिए—प्लेग, हैजा, क्षय तथा शीतला के जीवाणुओं को सहस्रों की संख्या में पान किया, परन्तु उन्हें जीवाणुजन्य रोग उत्पन्न नहीं हुआ। ऐसे भद्र पुरुष सभी स्थानों पर होते हैं और सभी ने देखे होंगे, जो किसी भी संक्रामक रोग की बाढ़ आने पर संक्रामक रोगों से मृत शवों को अपने नग्न कन्धों पर उठाकर श्मशान पहुँचाते हैं। ऐसे व्यक्ति भी आक्रान्त होते नहीं देखे गए। ऐसे उदाहरण भी हैं, जब इनकी उपस्थिति में भी रोगाक्रमण नहीं होता।

जीवाणुवादियों के पास इस अकाट्य सत्यका इससे भिन्न कोई उत्तर नहीं कि ऐसे व्यक्तियों के शरीर जीवाणुओं के लिए अनुकूल क्षेत्र नहीं अथवा उनके शरीर में विरोधी पदार्थों को नष्ट करने की प्रबल शक्ति प्रकृति प्रदत्त है।

जीवाणुवादियों का यही उत्तर एक कदम और ऊपर उठकर यह देखने का सन्देश देता है कि वह कौन-से कारण हैं, जब शरीर आगन्तुक जीवाणुओं के लिए अनुकूल क्षेत्र बनता है।

आयुर्वेद के प्रकाण्ड वैज्ञानिकों ने अपने अनन्त अनुभवों के आधार पर ही उपर्युक्त कारण चतुष्टय को क्षय रोग का मूल कारण माना है। आणविक गौण हेतु को मुख्य कारण नहीं माना जा सकता। ईश्वर-प्रदत्त शरीर की सुदृढ़ और सुन्दर मशीन, न्यूनाधिक कारण चतुष्टय के उत्पन्न होने पर भी अनेक वर्षों में इस योग्य बनती है कि उसमें कोई भी सन्निकृष्ट कारण अंकुरित हो सकता है। इस स्पष्टीकरण से आयुर्वेद का यह सिद्धान्त--'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः' बहुत सारगर्भित है। दोषों की अत्यल्प विकृति भी रोगोत्पादन में कुण्ठित ही रहती है।

## सम्प्राप्ति

आयुर्वेदीय सरणी के अनुसार अपने कारणों से प्रकुपित दोष सम्मिलित वा पृथक् रूप से स्रोतों और सन्धिमार्गों द्वारा प्रसरण करते हुए शरीर के किसी भी प्रदेश वा अवयव में संस्थित होकर भावी रोग की रचना करते हैं; यह स्थिति सम्प्राप्ति से ही बोधगम्य होती है। आयुर्वेदाचार्यों द्वारा स्थिर की गयी क्षय रोग की सम्प्राप्ति क्षय रोग के नानाविधत्व और प्रसरण पर बुद्धिग्राह्य प्रकाश डालती है।

"कफप्रधानैर्दोषै र्हि रुद्धेपुरसवर्त्मसु।" --सु०

एक योग्य चिकित्सक के लिए 'अनुलोम क्षय' की गति-विधि जानने और चिकित्सा-साफल्य के हेतु पर्याप्त निर्देश ऊपर के सूत्र में दिया गया है। वेगरोध, क्षय, साहस और विषमाशन, इनमें से एक वा एकाधिक जब इस योग्य होता है कि वह रोग को जन्म दे सके, तब सर्वप्रथम उसका प्रभाव आमाशय एवं उससे अगले पाचक यन्त्रों पर होता है। परिणामस्वरूप मन्दाग्नि और मन्दाग्नि से कफवृद्धि अवश्यम्भावी है। मंदाग्नि और कफवृद्धि के कारण रोगी का आहार पूर्वापेक्षा कम हो जाता है और निरंतर कफवृद्धि के कारण पाचक रस छोड़नेवाले स्रोतों के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं एवं रस चूषण करनेवाले प्ररोह कफ की मंद, स्निग्ध एवं पिच्छिलादि विशेषताओं के कारण आचूषण कार्य की अधिकांश क्षमता खो बैठते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भुक्त आहार अधिकांश मल में परिणत हो जाता है। अवशिष्ट अल्पमात्रा का रस भी इस योग्य नहीं होता कि वह यथामार्ग चलता हुआ अपने समस्त भाग को रुधिर में परिणत कर सके। इस प्रकार शरीर के उत्तरोत्तर धातुक्षय के साथ अनुलोम क्षय का श्रीगणेश यहीं से प्रारम्भ हो जाता है।

## प्रतिलोम क्षय

"अतिव्यवायिनो वापि क्षीणेरेतस्यनन्तरा
क्षीयंते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः।" --सु०

अनुलोम क्षय रसक्षय से आरम्भ होता है और प्रतिलोम क्षय इससे सर्वथा विपरीत शुक्र-धातु के क्षय से आरम्भ होता है। इसका कारण अतिमैथुन वा आधुनिकतम शुक्र-क्षय से आरम्भ होता है। इसका कारण अतिमैथुन वा आधुनिकतम शुक्र-विनाश के नए साधनों द्वारा शुक्र का विनाश करना है। शुक्र-विनाश से मज्जा की क्षीणता, मज्जा से अस्थि, इस प्रकार ऊपर से नीचे की धातु क्षीण होकर शरीर सूखने लगता है। इसी विपरीत क्रम से आरंभ होने के कारण इसे **प्रतिलोम क्षय** कहा जाता है।

## अनुलोम क्षय का पूर्वरूप

ज्वर, अतिसार, ग्रहणी और हिक्का आदि रोगों के पूर्वरूप क्षणिक वा अत्यल्प कालानुबन्धि होते हैं, परन्तु राजयक्ष्मा, कुष्ठ, वातरक्तादि रोगों के पूर्वरूप चिरकालानुबन्धि होते हैं। अनुभवी चिकित्सक यदि पूर्ण ध्यान से काम लें, तब पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता।

अनुलोम क्षय के पूर्वरूप का रोगी जब चिकित्सक के सामने आता है, तब--श्वास, अवसाद आदि लक्षणों को क्षय रोग का भावी पूर्वरूप हो रहा है, यह ध्यान में ही नहीं लाया जाता। रोगी जिस कष्ट का वर्णन करता है, उसी की औषधि देकर विदा कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि शनैः-शनैः रोग बढ़कर पूर्णावस्था में परिणत हो जाता है। आयुर्वेद ने क्षयके पूर्वरूपों को बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है। इनको भली प्रकार समझ लेने से चिकित्सा-साफल्य हस्तामलकवत् हो जाता है।

"श्वासाङ्गसाद कफसंस्रव तालुशोष-
वम्यग्निसादमदपीनसकास निद्राः।

शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः।"—सु०

(१) **श्वास**—इस प्रथम लक्षण से जीवनाधार हृदय की निर्बलता सूचित होती है। यक्ष्मारोगियों को श्वासरोगियों के सदृश श्वासवक्रता वा श्वासाधिक्य नहीं होता, परन्तु सहसा वा अत्यल्प परिश्रम से भी श्वास की गतियों में वृद्धि होती है। श्वासवैषम्य का यह लक्षण अतिरिक्त रोगों में भी हो सकता है। अतः परीक्षा-काल में चिकित्सक को पूर्ण सावधान रहने की आवश्यकता है। परन्तु क्षयरोग में यह लक्षण स्वाभाविक स्थिति रखता है। फुफ्फुस, उसके वायवीय कोष और श्वासवाहिनियाँ इनकी अस्वस्थता ही श्वासवैषम्य को निमन्त्रण देती हैं। पूर्वरूपावस्था में श्वासवैषम्य के वास्तविक कारण को सम्भवतः एक्स-रे द्वारा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु कार्यकारणानुबन्धत्वेन यह मानना ही पड़ेगा कि फुफ्फुसादि में अदृश्य विकृति ने जन्म ले लिया है, जिसके फलस्वरूप श्वासवैषम्य की उत्पत्ति हुई है।

(२) **अंगसाद**—प्रत्येक अंग में स्फूर्ति के अभाव का परिचायक अंगों का ढीलापन उत्पत्ति होता है। धातुओं के उत्तरोत्तर वृद्धिक्रम में व्याघात होने से किसी भी अंग में स्वच्छ और पूर्णमात्रा में रक्ताभिसरण न होने से मांस-पेशियों में हलकी-सी टूटन, आलस्य और आंगिक अस्वस्थता प्रतीत होती है। रोगी अपने अंगों की क्षीणता को देखता हुआ अनुभव करता रहता है।

(३) **कफसंस्रव**—यह लक्षण रसशोषावस्था का परिचायक है और भावी क्षयरोग में ऐसा होना स्वाभाविक है। मुखगह्वर की समस्त लाला-ग्रन्थियों से मात्राधिक्य कफस्राव ही इसका कारण है। कफ-प्रधानत्व और रस-मार्गनिरोध की पूर्ण शृंखला भासित हो रही है।

(४) **तालुशोष**—यह भी व्याधि-प्रभाव का महत्त्व है। जिह्वा की लाला-ग्रन्थियों से अत्यधिक तरल प्रस्रवण से तालु और कण्ठप्रदेश सूखे-से प्रतीत होते हैं। कभी-कभी जब वातानुबन्ध हो, तब स्वरयन्त्र सूखकर शुष्क कास की प्रवृत्ति बढ़ जाया करती है।

(५) **वमन**—कभी-कभी अकारण ही वमन का होना अथवा भुक्ताहारीय द्रव्यों पर जब आमाशयिक रसों का उचित प्रभाव न होता हो, तब वमनाभिमुख प्रवृत्ति का होना। व्याधि की पूर्ण बलावस्था में यह लक्षण प्रायः रोगियों में देखा जाता है।

(६) **अग्निसाद**—पाचक रसों की निर्बलता से भुक्ताहार का सम्यक् पाक न होना, खाने में अरुचि और अच्छे सुस्वादु भोजनों में भी रसास्वादन का अभाव अग्निसाद से होता है।

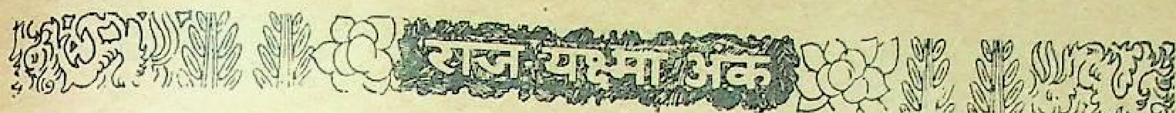
(७) **मद**—अत्यल्प वीर्य मादक वस्तु सेवनोपरान्त जिस कमजोरी का अनुभव होता है, क्षय के पूर्वरूप में भी रोगी न्यूनाधिक रूपमें इस दशा का अनुभव करता है। परन्तु रोगी इस दशा को अपनी भाषा में सिर के भारीपन के द्वारा व्यक्त करता है। श्लेष्म-प्राबल्य में ऐसा होना अनिवार्य है। रस की रक्त में सम्यक् परिणति न होने से रसशोषावस्था में शिरोगुरु, आबद्ध और भारयुक्त होने से मदके से चिह्नों का अनुभव होता ही रहता है।

(८) **पीनस**—बार-बार प्रतिश्याय का होना, नासा का अवरुद्ध रहना वा शीत, स्वच्छ वा पिच्छिल तनुस्राव नासिका से चलते रहना, श्लेष्मसंचय का ही द्योतक है।

(९) **कास**—यक्ष्मारोगियों की सम्यक् स्थिति को प्रदर्शित करनेवाला कास भयंकर लक्षण है और यह कास एक विशिष्ट प्रकार और ध्वनि रखता है। साधारण कास उद्वेग आने के पश्चात् थोड़ा कफ क्षरण होने के साथ ही शान्त हो जाता है। परन्तु क्षयरोगोत्पादक कास बार-बार उठता है, गले में हरदम अप्राकृतिक अनुभूति होती रहती है। कास-वेग में थोड़ा-थोड़ा कफ क्षरण होता है, जिससे अन्न-प्रणालियों में संलिप्त कफ पूर्णतः एकबारगी न निकलकर शनैः-शनैः निकलता है। कफ तरलता लिए झागदार और अपक्व होता है। प्रायः कास-वेग का समय प्रातःकाल और सायंकाल होता है। कास के कारण ही श्वास की विषमता अनुभव में आती है।

(१०) **निद्रा**—कफ और तमोगुण की वृद्धि से निद्राधिक्य एवं आलस्य और तन्द्रा प्रतीत होती है।

(११) **शुक्लेक्षण**—रक्ताल्पतासूचक यह लक्षण यक्ष्मारोगियों में सर्वत्र उपलब्ध होता है। कफ की अधिकता से चक्षुबुद्बुद का श्वेत भाग अधिक श्वेत प्रतीत होता है। साथ में यदि नेत्र के श्वेत भाग से संश्लिष्ट नीचे के




भाग को आँख के चर्म के निचले चर्म भाग को हटाकर देखा जाए, तब उस स्थान पर भी श्वेत वर्ण दृष्टिगोचर होगा। उचित मात्रा में रक्तोत्पादन के ह्रास का यह प्रथम चिह्न है।

(१२) **मांसपर** :—कहीं-कहीं प्रकृति के संदेश भी रोग-निदान में सहायक होते हैं। इस रोग में मांसधातु की वृद्धि रुक जाती है। अतः मांस से मांस बढ़ता है, एतदर्थ रोगी की इच्छा मांस खाने में अधिक होती है। यह आहारात्मक औषध इसके लिए अत्यन्त उपयोगी भी है। चिकित्सा में भी ऐसे रोगियों को अनेक प्रकार के मांसरस देने की व्यवस्था विद्यमान है।

(१३) **रिरंसु** :—रोगी की वृत्ति विषय-वासना-प्रधान होने का कारण ही यही प्रतीत होता है, कि जब प्रकृति अनिष्ट परक हो जाए, तब वह अपने लक्षित कार्य को पूर्ण करने के लिए घातक उमंगें उत्पन्न करती है। इन्द्रियों के निर्बल हो जाने के कारण धैर्य और संयम की शक्ति नष्ट हो जाती है, वीर्य शरीर की पुष्टि करने के बजाय उसकी प्रवृत्ति अण्डकोषों की तरफ अधिक हो जाती है। ऐसी दशा में स्त्री-रमण की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है।

**नोट**—अनुलोम क्षय के उपर्युक्त पूर्वरूपों के लक्षण प्रायः अन्य रोगों में भी मिलेंगे। अतः चिकित्सक को पूर्वापर पूर्ण संगति मिलाते हुए, भली प्रकार तुलना करते हुए अन्तिम निर्णय करना चाहिए।

## प्रतिलोम क्षय का पूर्वरूप

जिस प्रकार—

"अतिव्यवायिनोवापिक्षीणे रेतस्यतराः।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः॥"

इसके द्वारा प्रतिलोम क्षय का कारण अनुलोम क्षय से पृथक् माना है, वैसे ही अनुलोम क्षय से भिन्न प्रकार का पूर्वरूप प्रतिलोमक्षय में माना गया है यथा—

"स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठा
गृध्रास्तथैवकपयः कृकलासकाश्च।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्ये–
च्छुष्कांस्तरूत्पनधूमदवार्दितांश्च॥"

अनुलोम क्षयोत्पादक दोषों की विकृति कफ-प्रधान होने से उसके पूर्वरूपों में प्रायः कफज लक्षणों का प्राबल्य है और प्रतिलोम क्षयारम्भक दोष वात-प्रधान होने के कारण इस के पूर्वरूप को वातिक लक्षणों से पूर्ण होना अवश्यम्भावी है। सम्भव है, यह विभाजन रुचिकर प्रतीत न हो, परन्तु यह मेरा अपना विचार है। विचार करने पर भी यदि यह स्थिति सारहीन प्रतीत हो, तो, वैद्यबन्धु अपने पुराने विचारों को स्थिर रखने में साधिकार हैं।

## अनुलोम क्षय की चिकित्सा

"रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्"।

ऐसे अनुभवी चिकित्सक जो इस महारोग के पूर्वरूप में ही इसे जान लेते हैं, उनके रोगी रूपावस्था के लक्षणों में परिणत नहीं होते।

पूर्वरूपावस्था में—रोगी के लक्षणों की पृथक्-पृथक् लाक्षणिक चिकित्सा न करके आरंभ में ही—

**प्रातः**—क्षयकेशरीरस २ रत्ती, मधु से (रसेन्द्रसार)
**सायं**—रास्नादि लौह २ रत्ती ,, ,, ,, ,,
**रात्रि**—ताप्यादि लौह २ रत्ती ,, ,, ,, ,,

रात्रि को इसके ऊपर २ पिप्पली का फाण्ट विधि से साधित क्वाथ गोदुग्ध में मिलाकर पिलाना चाहिए। स्थिरता-पूर्वक दो-तीन मास उक्त औषधों के प्रयोग से अनुलोम क्षय के पूर्वरूपोद्भव लक्षणों में शनैः-शनैः ह्रास उत्पन्न होता है। बाद में स्वतः ही सब लक्षण शान्त होकर शरीर में एक अभूतपूर्व स्फूर्ति पैदा हो जाती है। औषध-सेवन से उपयुक्त लाभ हो रहा है या नहीं, इसके प्रत्यक्षीकरणार्थ औषध आरम्भ करने से पूर्व रोगी का तुलामान (भार) नोट कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् प्रति दो सप्ताह के बाद निरंतर तुलामान-ज्ञान से शरीर-वृद्धि का प्रत्यक्ष प्रत्यय प्राप्त होता है। जब शरीर के भार में वृद्धि क्रमशः बढ़े, तब अनुलोम क्षय का भय कोसों दूर चला जाता है। अनुलोम क्षय को समूल नष्ट करने का यही उपयुक्त काल है। रोगी को स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त के पालन का उपदेश देना और आहार-विहार की प्रवृत्तियों में संयमित रहने का आदेश देना चिकित्सक को न भूलना चाहिए।

कण्ठशोधन और बलवर्द्धनार्थ द्राक्षासव, पिप्पल्यासव उचित मात्रा से भोजनोत्तर देना चाहिए। पाचन-शक्ति की वृद्धि के लिए यूनानी चिकित्सा में व्यवहृत होनेवाली 'जवारिस जालीनूस' दो-तीन माशा की मात्रा में देना भी

अतिशय लाभदायक है। योगरत्नाकरोक्त 'खर्जूरासव' एतदर्थ उत्तम औषध है। च्यवनप्राश भी दिया जा सकता है।

रूपावस्था

त्रिरूप वा प्रथमावस्था—इसमें दोषों की न्यूनता वा अधिकता के अनुसार दोषों के लक्षण व्यक्त होते हैं। ज्वर, कास और क्वचित् शोणित-दर्शन प्रत्यक्ष होते हैं। रोगी को विशेषतः ज्वर और कास से पीड़ित होना पड़ता है।

**ज्वर**—प्रारम्भ में ज्वर विसर्गी होता है। यह लक्षण सुखसाध्यता का सूचक है। पश्चात् ज्वरांश निरंतर बना रहता है। इसमें—

अभ्रकभस्म १०० पुटी, आधी रत्ती,
शृंगभस्म अर्कदुग्धपुटित १ रत्ती,
मुक्ताभस्म (पिष्टी) १ रत्ती,
वसन्तमालती आधी रत्ती,
सितोपलादिचूर्ण १ माशा—

ऐसी ४ मात्रा २४ घंटे में दें। **अनुपानार्थ**—तुलसी, गुडूची, द्रोणपुष्पी—इनमें से किसी एक के रस से दें अथवा निदिग्धिकादि क्वाथ से दें। प्रत्येक अनुपान में मधु का प्रयोग साथ होना चाहिए।

**कास**—यदि कास से विशेष कष्ट हो, तो निम्नलिखित औषधों में से कोई एक या दो देनी चाहिए। मृगांकचूर्ण, तालीसादिचूर्ण, लवंगादिचूर्ण, जातीफलाद्यचूर्ण, श्वास कुठार, शृंगाराभ्र, लक्ष्मीविलासरस, मरिच्यादिवटी, वासावलेह वा कंटकार्य्यवलेह उचितमात्रा और अनुपान से देना चाहिए।

निम्नलिखित योग क्षय की खाँसी में विशेष लाभप्रद होता है—

**योग**—वासापत्र १ सेर, गोजिह्वा १० तोला, छोटी कंटकारी की जड़ की छाल ५ तोला, गुलबनफ़्शा १० तोला, सौंफ ५ तोला, कालीपीपल २ तोला, फूलगुलाबपिशौरी ५ तोला। सब को कूटकर ५ सेर जल में क्वाथ करें, चतुर्थांशावशिष्ट होने पर खूब मसलकर वस्त्रपूत करें। तदनु स्वच्छ-कलईदार बर्तन में पकाकर रसक्रिया करें। घनीभूत होने पर—गव्यघृत १० तोला और खाँड आधा सेर मिलाकर पाक करें और अवलेह बनने पर उतार लें। **मात्रा**—आधा से २ तोला। इससे कफ निर्गम सुगमता से होता है और कास-वेग नष्ट होकर खाँसी मिट जाती है।

क्षयरोगियों के कास के प्रति यह सिद्धान्त स्मरणीय है कि उन्हें अति गरम व रूक्ष वा तीक्ष्ण औषधें कदापि न देनी चाहिए। इससे कफ शुष्क हो जाता है और कभी रक्त भी आने लगता है। पोदीनापत्र ३ माशा, तुलसीपत्र ६ माशा, काली पीपल १ माशा, गुलबनफशा ३ माशा, इन्हें फाण्ट विधि से पकाकर १ माशा सौवर्चल लवण मिलाकर रात्रि को पिलाने से तीव्र कास का कष्ट शान्त हो जाता है। कास के साथ यदि ज्वरांश अधिक प्रतीत हो, तो वृ० कांचनाराभ्र. क्षयकेशरी रस वा कुमुदेश्वर रस एवं रसरत्नागिरि रस, वासा, कंटकारी, मुनक्का, मुलेठी और धनिया के क्वाथ के अनुपान से दें।

**रक्तदर्शन**—क्षयरोगियों के कफ के साथ कभी-कभी रक्त मिला हुआ दिखता है। यदि यह अल्प मात्रा में हो, तब तो भय की बात नहीं; परन्तु यदि अधिक मात्रा में आवे, तब तुरन्त सावधान हो जाना चाहिए।

**अधिकरक्त-प्रवृत्ति में**—(१) रक्तपित्तान्तक लौह २ रत्ती वा शतावरीमण्डूर २ रत्ती, अनार और आमला के स्वरस से सिद्ध शर्बत के साथ देने से शीघ्र रक्तनिःसृति बन्द हो जाती है।

(२) मुक्ताभस्म, संगजराहत भस्म एक-एक रत्ती, वासापत्ररस और आमले के रस के साथ देने से भी तुरन्त रुधिरागमन बन्द हो जाता है।

(३) बेरी या पीपल वृक्ष की लाक्षा का चूर्ण ६ माशा बकरी के दूध से देना भी लाभ करता है।

(४) स्वर्णमाक्षिक भस्म २ रत्ती को कूष्माण्डस्वरस २ तोला मिश्री, ६ माशा मिलाकर देने से भी प्रवृद्ध रक्तपात रुक जाता है।

(५) कमलपुष्प, श्वेतचन्दन, खस, धनियाँ, मुलेठी और अर्जुनत्वक्। इनसे यथाविधि सिद्धि गोदुग्ध देने से रक्त का आना बन्द हो जाता है। कास और वक्षःस्थल की वेदना भी नष्ट हो जाती है।

(७) मुक्ताभस्म (पिष्टी) १ रत्ती, विजयसार (खून-साऊसां वा दम्मुल अखवायन) २ रत्ती। चणकतुष २ तोला रात्रि को ५ तोला जल में भिगो दें, प्रातः मसलकर स्वच्छ वस्त्र में जल छान लें और हरित दूर्वा १ तोला—स्वच्छ जल से धोकर उक्त जल में शिला पर पेषण करके छान लें

तथा मिशरी मिलाकर ऊपर से पिला दें। इससे रक्तनिःसृति, कास, ज्वर, पार्श्ववेदना और फुफ्फुसीय पिटिकाओं के दाह और सड़न में भी लाभ होता है।

**निशास्वेद**––यक्ष्मारोगियों को रात्रि के पश्चाद्भाग में प्रचुर स्वेद आता है। यह इसका विशेष लक्षण भी है और रोगी को शीघ्र निर्बल कर देता है। एतदर्थ–– मुक्ताभस्म १ रत्ती, चन्द्रपुटी प्रवाल भस्म २ रत्ती, सहस्रपुटी अभ्रक भस्म १ रत्ती, स्वर्ण भस्म चौथाई रत्ती, ऐसी २–३ मात्रा दिन में पीपल वृक्ष की त्वचा के क्वाथ के साथ देने से २–३ दिन के प्रयोग से ही निशा-स्वेद बन्द हो जाता है। वासचन्दनादि तैल का अभ्यंग भी करना लाभप्रद होता है।

## षड्रूप यक्ष्मा या द्वितीयावस्था

क्षयरोगियों की आयु का अन्तिम निर्धारण इसी अवस्था पर अवलम्बित है। यदि यह अवस्था आरम्भ से ही सबल और सर्वसम्पूर्ण लक्षणयुक्त हो, तो आयु के दिन अंगुलियों पर सरलता से गिने जा सकते हैं।

द्वितीयावस्था प्रथमावस्था का वृद्धिंगत स्वरूप है। इसमें प्रथमावस्था के लक्षणों के साथ-साथ अतिरिक्त लक्षण भी बढ़ जाते हैं। अतः स्वभावतः प्रथमावस्था की चिकित्सा इस अवस्था में प्रायः असफल रहती है। इस अवस्था की लक्षणानुसार चिकित्सा नीचे लिखी जाती है।

"भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणित दर्शनम्।
स्वरभेदश्च जायंते षड्रूपे राजयक्ष्मणि॥"

**भक्तद्वेष**––इसमें भोजनेच्छा नष्ट हो जाती है। अन्नमय प्राण होने के कारण क्षयरोगियों के लिए यह भयंकर लक्षण है। व्याधि-स्वभाव के कारण प्रथम ही उत्तरोत्तर धातु-परिणति की व्यवस्था शिथिल हुई होती है। इस पर भी यदि भक्तद्वेष उत्पन्न हो, तो भगवान् ही इसके रक्षक समझने चाहिए। पाचक-ग्रन्थियों से परिस्रुत होनेवाले रसों का सर्वथा निरोध इसका कारण होता है। यह दशा भी उत्पन्न होता है, जब विकृत कफ रसवाहि स्रोतों का पूर्णतया निरोध कर देता है। एतदर्थ––भक्ष्य, लेह्य, चोष्य और पेय––पदार्थों को बहुविधि व्यञ्जनों में परिणत करके देना चाहिए। यदि रोगी आमिषभोजी हो, तब बहुविधि मांसरसों का प्रयोग अति लाभदायक होता है। साधारणतया क्रव्यादरस, महाशंखवटी का एतदर्थ प्रयोग अच्छा गुण दिखाता है।

**औषधार्थ**––वज्ररस (रसरत्नसमुच्चय, राजयक्ष्माधिकारोक्त तत्रोक्त विधि, मात्रा और अनुपान से) दिया जाना चाहिए। यह अतिशय लाभदायक योग है और हम इस का निरंतर व्यवहार करते हैं। इससे यक्ष्मा की दूसरी अवस्था में प्रचुर लाभ होता है।

रसरत्नसमुच्चयोक्त 'भैरवनाथीय पञ्चामृत पर्पटी" भी इस अवस्था में हस्तामलकवत् प्रभाव दिखानेवाला योग है। प्रायः ये दोनों योग समकक्ष हैं। यक्ष्मा रोग के बहुत ख्यातिप्राप्त चिकित्सक इन दोनों का अधिकतया व्यवहार करते हैं। यक्ष्मा के चिकित्सकों को इन्हें प्रयोग करके प्राचीन वैज्ञानिकों के परिश्रम और अनुसन्धान से अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

(२) **ज्वर**––द्वितीयावस्था में वृद्धिंगत ज्वर-ताप शमनार्थ––

(१) वसन्तमालती रस १ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण १ माशा, पञ्चभद्र क्वाथ से दिन में दो-तीन बार देना चाहिए। अथवा––

(२) राजमृगांक रस आधा से १ रत्ती, पिप्पलीचूर्ण और मधुके साथ दें। अथवा––

(३) शंखेश्वर रस २ रत्ती (रसरत्न०), गुडूची स्वरस में मधु मिलाकर देना चाहिए।

(४) ज्वरघ्नी वटी २–४ रत्ती (शार्ङ्गधर) कोष्ठबद्धता हो तब गुडूची रस और मधु से दें।

(५) अभ्रवटिका १-२ रत्ती (रसेन्द्र) मधु से दें।

(३) **श्वास**––श्वासवैषम्यता वा अधिक श्वासशान्त्यर्थ निम्न योग लाभप्रद होते हैं––

(१) श्वासचिन्तामणि रस १ रत्ती (भैषज्य०) द्राक्षावलेह से दें।

(२) कनकासव और कर्पूरासव मिलाकर अल्पमात्रा में देने से भी श्वास वेग कम हो जाता है।

(३) कासश्वासविधून रस २ रत्ती (योगरत्ना०) तुलसी के रस के साथ देने से तुरन्त लाभ होता है।

(४) सोमलता का चूर्ण वा क्वाथ रससिंदूर मिलाकर देने से शीघ्र ही कष्ट दूर होता है।

(४) **कास**––प्रथमावस्था की अपेक्षा इस अवस्था में

कास निरन्तर और कष्टकर होता है। अधिक और बार-बार खाँसी आने से फुफ्फुस और उसके व्रणीभावानापन्न स्थानों पर अधिक हानि होती है। कभी-कभी तीव्र कास के कारण रक्त अधिक आता है।

(१) सर्वांगसुन्दर रस १ रत्ती (रसेन्द्र० यक्ष्मा०) तुलसीपत्र रस, विल्वपत्र रस वा निम्वपत्र रस से देना चाहिए।

(२) मृगांक चूर्ण २ रत्ती (भैष० यक्ष्मा०) पिप्पली मधु के साथ दें।

(३) शशिप्रभावटी २ रत्ती (रसेन्द्र०) तुलसी और वासा-पत्र रस किंचित् कर्पूर मिलाकर देनी चाहिए।

(४) सिंहास्यादि वटी २ रत्ती नं० ३ के अनुपान से दें।

नोट—३ और ४ नं० की औषध में अहिफेन है, अतः तीव्रकास में निश्चित और आशुफलप्रद होती है।

(५) **शोणितदर्शन**—अधिकरक्त-प्रवृत्ति वा रक्तवांति दोनों ही भयावह लक्षण हैं। फुफ्फुसीय व्रणों के मुखों का अधिक विस्तृत होना वा सम्बन्धित किसी धमनी का सिरा कट जाने से ऐसा होता है।

(१) चन्द्रकला रस ४ रत्ती (योगरत्ना०) वासा-पत्र रस और मिश्री मिलाकर दें।

(२) मौक्तिक पिष्टी १ रत्ती, संगजराहत भस्म १ रत्ती—वटजटा के शीत कषाय में मधु मिलाकर दें।

(३) वसिष्ठ चूर्ण १ माशा (वंगसेनोक्त) मधु से देना चाहिए।

(४) वासापत्र, पिस्ता के फलों का छिलका और मोर-पंख। इनकी अन्तर्धूमपुटित कृष्णभस्म १-१ तोला। वचा, रूमीमस्तगी, पोदीनापत्र, सूक्ष्मैलाबीज, श्वेतजीरक, कलौंजी प्रत्येक का चूर्ण ९ माशा, लवंग, मीठीकूठ, सन्तरे के फल का छिलका प्रत्येक का चूर्ण ६-६ माशा। सब को मिलाकर चूर्ण बनावें। **मात्रा**—२-४ रत्ती। **अनुपान**—गव्यनवनीत और मिश्री। इसके प्रयोग से भी रक्तवांति में उत्तम लाभ होता है। खाँसी, श्वास-कष्ट एवं वमन वा वमनेच्छा नष्ट होती है।

(६) **स्वरभेद**—यह वातिक उपद्रव है। अत्यधिक कास से उद्भूत कण्ठोध्वंस से इसका सीधा सम्बन्ध होता है।

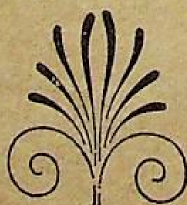
(१) अमृतप्राशघृत, अश्वगन्धादिघृत इसके उत्कृष्ट औषध हैं।

(२) खदिरादिवटी, (चक्र द०), गोरक्षवटी (योगर०) चूसने के लिए इसका प्रयोग भी प्रशस्त है।

**अन्य लक्षण**—द्वितीयावस्था के उत्तरार्ध में क्षय-रोगियों को कभी-कभी **उदरशूल, अतिसार, आध्मान, वमन** और **पार्श्वशूल** आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी उचित चिकित्सा करनी चाहिए।

**एकादशरूप यक्ष्मा या तृतीयावस्था**—यह एक ऐसी दशा है, जहाँ विश्व-भर का समस्त चिकित्सा-विज्ञान मूक है। आशामय जीवन के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए लक्षणानुसार द्वितीयावस्था की चिकित्सा से ही आशाएं रखनी चाहिए। कोई भी चिकित्सा-प्रणाली जब किसी रोगी को असाध्य घोषित करती है, तब इसका सीधा अर्थ अधिकारशून्यता है। पाश्चात्य शल्य-विज्ञान में आधुनिकतम अन्वेषणों के आधार पर (१) फ्रेनिक ऑपरेशन, (२) कृत्रिम वायुपूरण और (३) प्लास्टिक सर्जरी की सहायता भी ली जाती है। परन्तु यह उपाय भी सफलता प्राप्त नहीं कर सके।

स्ट्रेप्टोमाईसीन और बी० सी० जी० जैसी सफल औषधों को भी इस महाव्याधि ने असफल सिद्ध कर दिया है। पूर्ण लक्षणोपेत राजयक्ष्मा की चिकित्सा के लिए यह कहना कि अमुक औषध या उपाय इसके लिए रामवाण अचूक है, केवल वंचनामात्र है। सफल चिकित्सासूत्र यही है कि प्रारम्भ से ही क्षयग्रसित धातुओं के पुनर्निर्माण और उपस्थित लक्षणों को दूर करने की चिकित्सा की जाए।



# यक्ष्मा

वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह, रसायनाचार्य

**'सचित्र आयुर्वेद' के सुप्रसिद्ध लेखक तथा आयुर्वेद-जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत कविराज प्रताप सिंहजी को कौन नहीं जानता। आयुर्वेद के लिए आपके द्वारा की गयी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। आप कई वर्षों तक हिन्दू-विश्वविद्यालय, बनारस के आयुर्वेद कालेज में सुपरिण्टेण्डेण्ट के पद पर कार्य करते रहे। बाद में राजस्थान-सरकार ने आप को आयुर्वेद-विभाग का डायरेक्टर नियुक्त किया। सम्प्रति आप राजकुमारसिंह आयुर्वेदीय कालेज, इन्दौर के प्रिन्सिपल हैं। आपके लेख शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञानयुक्त होते हैं। इस लेख में भी उसी पद्धति का अनुसरणकर आपने उसे पाठकों के लिए उपयोगी बना दिया है। --स० सम्पादक**

आज संसार में इस रोग का ऐसा भयङ्कर रूप चित्रित किया जा रहा है कि यह सर्वत्र व्यापक है और भाग्य से ही कोई प्राणी इससे त्राण पा सकता है। यह संक्रामक रोग है। इसलिए जिस किसी को दैवदुर्विपाक से यह रोग हो जाता है, तो वह समाज में रहने लायक नहीं रहता। वह जनसम्पर्कशून्य, धनशून्य, बलशून्य, शक्तिशून्य एवं शुक्र-शून्य हो जाता है। इसलिए प्राचीनों ने प्रतिलोम होने-वाले यक्ष्मा को राजयक्ष्मा कहा है, क्योंकि विलासियों को शरीर के राजा वीर्य के क्षय होने से यह रोग होता है और उनका धन भी विलासिता में प्रायः क्षय हो जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से चन्द्रमा को यह रोग हुआ, ऐसा कुछ लोगों का मत है। किन्तु, महाभारत की कथा से यह स्पष्ट है कि महाराजा शान्तनु के पुत्रों को विलासिता के कारण यह रोग हुआ था और वे निःसन्तान अत्यल्पवयस्क ही दिवंगत हो गये थे।

आज संसार में विलासिता बहुत बढ़ गई है। इसका कारण विशेषतः सिनेमा-संसार है और पाश्चात्य जगत् की शिक्षा, नास्तिकता, भौतिकवाद की प्रधानता, युद्धजन्य भोज्य सामग्री की अल्पता आदि इसकी वृद्धि में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कारण बने हैं। प्राचीनों ने इन कारणों को भी महत्त्व दिया है, क्योंकि वे लिखते हैं--

"संशोषणात् रसादीनां शोष इत्यभिधीयते,
क्रिया क्षय करत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः॥"

खाद्य पदार्थों के अल्पमात्रा में मिलने से शरीर में रसादि धातुओं का पूर्ण पोषण नहीं होता, धीरे-धीरे शोषण होने लगता है और शरीर सूख जाता है। अतः इसे शोष कहते हैं। शरीर का शोषण होने से शरीर की क्रियाएँ क्षीण हो जाती हैं। क्रिया क्षीण होने से इसे क्षय कहते हैं।

क्षय की जो आज व्यापकता है, इसकी उत्पत्ति के विषय में प्राचीनों ने जो निर्णय किया है, वह अत्यन्त गम्भीरता से विचार करने योग्य है।

"अयथावलमारम्भं वेगसंधारणं क्षयम्।
यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम्॥"

आज इस यान्त्रिक युग में आदमी को अपने भरण-पोषण के लिए अपनी शक्ति से अधिक काम करना पड़ता है। काम ऐसे स्थानों में करना पड़ता है, जहाँ मल-मूत्र विसर्जन की पर्याप्त सुविधा नहीं होती। इसलिये वेग धारण करना अवश्यम्भावी हो जाता है। एक बार का हमारा अपना अनुभव है कि सिनेमा में जाने पर मूत्र का वेग हुआ। इन्टरवल (मध्यान्तर) में मूत्रालय में गया, तो वहाँ शतशः आदमी खड़े थे। कतार लगाकर १-१ व्यक्ति गया, तो १५ मिनट उसमें लगे। आप विचारिये कि जब आमोद-प्रमोद के स्थानों में वेग-रोधन की यह दशा है, तो कल-कारखानों में, जहाँ हजारों आदमी काम करते हैं, कितने आदमियों को कितने घण्टे वेग धारण करना पड़ता होगा, यह वहाँ जाकर किसी कल-कारखाने के मूत्रालय की परीक्षा करने से स्पष्ट हो सकता है। हमें तो ऐसा ही अनुभव कचहरी के मत्रालय को देखने से भी

हुआ है। वहाँ इतनी दुर्गन्ध थी कि मनुष्य का अन्दर प्रवेश करना कठिन था। बाहर मूत्र विसर्जन करने से दण्ड का भय और अन्दर जाना असम्भव ! ऐसी दशा में अनेक व्यक्ति वेग धारण करते हुए मीलों जाकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। आप देखेंगे कि अनेक ग्रामीण-जन व नागरिक कचहरी जाकर प्रायः बीमार हो जाते हैं। इसका अधिकांश में वेगावरोध ही कारण होता है। यही दशा रेल, मोटर, बस, एरोप्लेन के यात्रियों की होती है।

आजकल स्त्रियों की प्रसव-व्यवस्था प्रायः अस्पतालों में कराई जाती है। वहाँ प्रसव के उपरान्त पथ्य का कोई विचार नहीं होता और प्रसव-वेदना से एवं प्रसव-स्रावों के कारण स्त्रियों में जो दुर्बलता आती है, उस दुर्बलता को दूर करने का अस्पतालों में कोई विशेष प्रबन्ध नहीं होता। प्राचीन काल में अनेक प्रकार के सौभाग्य शुंठी पाक, आदि खिलाकर यह दुर्बलता दूर की जाती थी। परन्तु उसका आज सर्वथा अभाव है। इसीलिए प्रसवान्तर अनेक स्त्रियों में क्षय रोग हो जाता है। खासकर युवती स्त्रियों में तो यह रोग अत्यधिक बढ़ता जा रहा है।

विषमाशन आज के युग का एक फैशन हो गया है। चार मित्र मिले और काफी हाउस में जाकर बैठ गए तथा विविध प्रकार के अखाद्य पदार्थों को खाना शुरू कर दिया। फिर असमय में घर जाकर भोजन किया। परिणामतः अग्निमान्द्य, अजीर्ण, अतिसार एवं प्रवाहिका का वे शिकार बन जाते हैं। अनेक लोगों की तो यह हालत है कि वे मित्रों के साथ ५ बजे शाम से रात के १२ बजे तक ताश के खेलों में रमण करते हैं। ऐसे रमणप्रियों को क्षय न हो, तो क्या हो ? आज के युग को यदि आप समीक्षा की दृष्टि से देखें, तो प्राचीनों ने यक्ष्मा के जो ४ कारण प्रदर्शित किये हैं (१. बलमारम्भ, २. वेग-संधारण, ३.क्षय और ४ विषमाशन) वे ज्वलन्त रूप से हमारी दृष्टि के सामने खड़े हो जाते हैं।

आयुर्वेद ने चिकित्सा के लिए जो "निदान परिवर्जनम्" पहला उपदेश दिया है, वह अत्यन्त श्रेष्ठ है। जिस कारण से रोग उत्पन्न हो, उसी को दूर न किया जाय, तो रोग की रोक-थाम कैसे की जा सकती है.? आज के समाज में तो रोग को रोकने के नाम पर विविध प्रकार की व्यापारिक योजनाएँ बनाई जाती हैं, जिससे विदेशी तो धन से पूर्ण होते हैं और भारतीयों के पल्ले बी० सी० जी० का टीका पड़ता है। भोजन व निवास का अभाव, और बालकों के पढ़ने के लिए समय की कुव्यवस्था जब तक दूर न की जाएगी, तब तक क्षय रोग का प्रसार नहीं बन्द हो सकता है। एक बालक १० बजे बासी रोटी खाकर पाठशाला जाता है और ४ बजे तक क्लास में बन्द रहता है। बीच में आधे घण्टे का जो अवकाश मिलता है, उसमें २-४ पैसे की चाट खाकर अपने बढ़ते हुए शरीर की बढ़ती हुई जठराग्नि को किसी प्रकार शान्त कर लेता है। उससे शरीर का पोषण तो नहीं होता, जठराग्नि विकृत अवश्य हो जाती है। फिर उसको पी० टी० (फिजिकल ट्रेनिंग) कराई जाती है। बालक का शरीर थककर निस्तेज हो जाता है। घर आकर वह उदर को किसी प्रकार बासी रोटी से भरता है और पाठ याद करने बैठ जाता है। माता-पिता गरम भोजन के लिए आग्रह करते हैं और बालक अरुचि होने पर भी अध्यशन कर लेता है। इससे पाचन विकृत होकर रस-शोष का रोग प्रारम्भ से ही लग जाता है और उसका परिणाम यह होता है कि बालक की रस-ग्रन्थियाँ विकृत होकर गण्डमाला आदि रोग पैदा कर देती हैं। उसे देखते ही पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा के निपुण चिकित्सक ट्यूबरक्युलोसिस घोषित कर देते और बड़ी मूल्यवान् ओषधियों की व्यवस्था कर देते हैं। प्राण और धन का अपहरण कर वे खुला व्यापार करते हैं तथा राज्य-व्यवस्था को सम्मति देते हैं कि बड़े-बड़े सेनेटोरियम खोले जाएँ एवं क्षय-रोगियों के लिए विशेष चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाय। आज की सरकार करोड़ों रुपये इसकी रोक-थाम करने के लिए व्यय करने को सन्नद्ध है। आज जितना रुपया व्यय किया जाता है, देश में रोग उतना ही व्यापक होता जा रहा है। "कारण नाशे कार्य नाशः" इस सिद्धान्त को बिना समझे जो व्यवस्था होगी, वह सब निष्फल ही होगी। जब तक उपर्युक्त चारों कारणों को मिटाने की व्यवस्था सरकार नहीं करेगी, तब तक यक्ष्मा इस देश से निर्मूल नहीं हो सकता। मनुष्य का जीवन आचार एवं विचार पर निर्भर है। जब तक हमारे आचार शुद्ध न होंगे, हम कभी स्वस्थ नहीं रह सकते। आचार्यों ने कहा है कि "आचारवान् ब्रह्म-




विदां वरिष्ठः"। आचारवान् पुरुष ही ब्रह्म विचारवालों से श्रेष्ठ माना जाता है। जब तक हमारे देशवासियों के आचरण ठीक न होंगे, संसार के मुकाबिले में हम अपने स्वास्थ्य को ठीक नहीं कर सकेंगे। "आचारः प्रथमो धर्मः"। जिस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखकर आप अपना सुधार करना चाहते हैं, उसके जीवन की नियमितता, भोजन की पूर्णता, व्यवहार की सत्यता, व्यायाम आदि की नियमितता एवं आमोद-प्रमोद की सफलता तो अपने जीवन में अपनाइये ; तभी उनकी समता को प्राप्त करने में क्षम हो सकेंगे।

यहाँ के जन-साधारण का अवलोकन कीजिए एवं देखिए कि शताब्दियों से गुलाम देश जीवन की प्रत्येक कला में कितना पिछड़ा हुआ है। उसको पूर्ण करने के लिए कितना समय अपेक्षित है। मनुष्य की शिक्षा उसके गर्भकाल से प्रारम्भ होती है। रशियन कहते हैं कि हम एरेक्सन टू रिसरेक्शन तक अपने देशवासी की रक्षा करते हैं अर्थात् जब मनुष्य की काम-वासना सन्तानोत्पत्ति के लिए होती है, उस समय से लेकर ईसाई धर्म के अनुसार अन्तिम फैसले तक अपनी रक्षा करते हैं। अंग्रेज कहते हैं कि गर्भाशय से लेकर मरणपर्यन्त हम अपनी रक्षा करते हैं। पर खेद है कि हमारे देश के बालकों और समाज का कोई रक्षक नहीं है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि हम "इतोभ्रष्टस्ततोभ्रष्टः" की कहावत को चरितार्थ करते हैं।

मैंने सरकारी भोर-कमेटी को यह परामर्श दिया था कि देश में यदि चिकित्सा की सुव्यवस्था चाहते हैं, तो प्रत्येक हजार घरों की आबादी में एक सुचिकित्सक नियुक्त करने का विधान बनाएँ और उस चिकित्सक के ऊपर यह कार्य-भार दिया जाए कि वह वहाँ की जनता के स्वास्थ्य और चिकित्सा की पूर्ण व्यवस्था करें। प्रत्येक मोहल्ले में बच्चों की नर्सरी खोली जाए। वहाँ छोटे-छोटे बच्चों को प्रारम्भ से ही आचार-विचार की शिक्षा देने की व्यवस्था की जाए, ताकि बालक प्रारम्भिक जीवन से ही अनुशासनशील एवं सदाचारी बने। बच्चे को उसकी मानसिक व शारीरिक-शक्ति के अनुसार उचित शिक्षा दी जाय, जिससे वह सच्चा नागरिक बन सके। महाभारत के जमाने में सन्तानोत्पत्ति के विषय में निम्न पद्य के अनुसार राज-व्यवस्था की जाती थी--

"निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यचारिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचित् जनयेत् पुत्रमीदृशम् ।।"

जब तक सन्तानों का सुधार नहीं होगा, देश का सुधार भी नहीं होगा और न होगा क्षय का निराकरण। मैं अपने ४० वर्ष के चिकित्सा-अनुभव से यह कह सकता हूँ कि आज यक्ष्मा की चिकित्सा का दिखावा बहुत हो गया है, वास्तविकता बहुत कम। अन्यथा यह रोग हमारे देश में से निर्मूल किया जा सकता है। यक्ष्मा के विषय में जो मेरा चिकित्सा का अनुभव है, वह प्रकाशित करना सम्भतः पाठकों के विचारार्थ लाभकर सिद्ध होगा।

जब मैं बनारस-यूनिवर्सिटी में था, तब राजा सर मोतीचन्द के भाई के नाम पर स्थापित श्री मंगलाप्रसाद सेनेटोरियम का अध्यक्ष भी था। वहाँ एलोपैथिक विभाग के साथ-साथ आयुर्वेद विभाग में क्षय-रोगियों की चिकित्सा करने का अवसर मिला। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों सिद्धान्त को मिलाकर मैंने निम्न पद्य के अनुसार आयुर्वेद के सिद्धान्तों से चिकित्सा की व्यवस्था की--

"श्लेष्माधिक्याद्व्यवायाद्यैः पीड़ितो यः प्रशुष्यति ।
कासश्वासार्दितो रक्तं वमेच्छुक्लेक्षणो ज्वरी ।।
अग्निमान्द्य तृषायुक्तो रिरंसुर्मांसलोलुपः ।
विस्वरश्छर्दिमान् दीनः स ज्ञेयः क्षय पीड़ितः।।"

प्रारम्भ में जब रोगी को बार-बार प्रतिश्याय होता है, कुछ ज्वरांश रहता है और वह क्षीणता का अनुभव करने लगता है, उसी समय क्षय की चिकित्सा प्रारम्भ करता रहा हूँ। इस अवस्था में मांस खानेवालों को निम्नलिखित क्वाथ का प्रयोग करने से अत्यन्त शीघ्र लाभ प्रतीत होने लगता है--

"सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम् ।
दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिवेत् ।
तेन षड् विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः ।
द्रव्यतो द्विगुणंमांसं सर्वतोऽष्टगुणं जलम् ।
पादस्थं संस्कृतं चाज्ये षडंगो यूष उच्यते ।"

जो रोगी मांस नहीं खाते, उनको खुम्मा (मशरुम्स) या गुच्छी का क्वाथ मांस के स्थान पर मिला दिया। ये क्वाथ अत्यन्त लाभप्रद हैं।

यदि रोगी रक्तष्ठीवीका आया हो और ज्वर तीव्र हो, उस अवस्था में मुक्तापञ्चामृत २ रत्ती, दूर्वास्वरस १ छ० के साथ देने से ज्वर का वेग कम हो जाता है और रक्त भी प्रायः बन्द हो जाता है। दूर्वास्वरस बनाने की विधि यह है—

१ छटाँक खूब हरे-हरे दूर्वा के अंकुरों को लेकर आधा पाव पानी देकर भाँग की तरह पीसें और मल-मल कर कपड़े में निचोड़ दें। इसमें १ से २ तोला कालपी मिश्री देकर पिला दें। किसी-किसी को यदि इसके लेने पर शीत अधिक प्रतीत हो, तो १० काली मिर्च, ५ छोटी इलायची साथ में घोट दें। यदि श्लेष्मा का प्रकोप प्रतीत हो और रक्त बन्द न हो, तो इसी प्रकार वासा के पत्रों का स्वरस बनाकर पिलायें। वासा वस्तुतः क्षय रोग के लिए बहुत ही उत्तम चीज है। इसका परीक्षण आज की विधि के अनुसार होना परमावश्यक है। यह सत्य है—

"वासायां विद्यमानायां आशायां जीवितस्य च।
रक्तपित्ति क्षयी कासी किमर्थंव्यवसीदति ॥"

प्रकृति ने वासा सर्वत्र उत्पन्न किया है और पहाड़ों में सेनेटोरियम बनाने योग्य स्थानों में भी उत्यधिक अत्पन्न किया है। इसके पुष्प में एक विशेष तरह का मधु रहता है। उसको क्षयी केवल चूसता रहे तो उसका शीघ्र ही उपकार होता है। अनेक रोगियों को वासा लेने से रौक्ष्य का अनुभव होने लगता है। उनके लिये निम्न पद्य के अनुसार व्यवस्था करने से लाभ होता है—

"द्विपंचमूली जलसिद्धमाज्यं,
वासाघृतं वाप्यथ षट्पलं वा।
हितं पयश्छागलमव्यवाये,
प्रयुज्यते नागवलाभिधानम् ॥"

रोगी अत्यन्त रक्ताल्पता से पीड़ित हो, तो चतुर्दशांग लौह देने से लाभ करता है। ताप्यादि लौह भी यही काम करता है, किन्तु मेरे अनुभव में चतुर्दशांग लौह अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

"रास्नाकर्पूरतालीस भेकपर्णीशिलाजतु,
त्रिकटु त्रिफला मुस्त विडंग दहनाः समाः।
चतुर्दशायसो भागास्तच्चूर्णं मधुसर्पिषा,
लीढ़ कासं ज्वरं श्वासं राजयक्ष्माणमेव च ॥
वलवर्णाग्नि पुष्टीनां वर्धनं दोष नाशनम् ॥"

कई रोगी श्वास-कास एवं अग्निमान्द्य की उग्रता से पीड़ित होते हैं। उनको मैं श्वासकासचिन्तामणि २ रत्ती, २० रत्ती विभीतक की मज्जा के चूर्ण के साथ मधु से दिन में तीन बार देता हूँ और भोजन में केवल मांस लेनेवालों को गौर तीतर का मांस-रस ही देता हूँ। इससे बहुत शीघ्र कास-श्वास की अभिवृद्धि रुक कर रोगी में बल का संचार होता है। श्वास-पीड़ित क्षयी को कई बार विबन्ध भी होता है और उसे किसी रेचक ओषधि से दूर करने का प्रयत्न करने पर यक्ष्मी को विशेष हानि होती है। ऐसी विषम दशा में अगस्त्यहरीतकी का उचित मात्रा में रात्रि में सेवन कराना चाहिए अथवा पिप्पल्याद्यरिष्ट (योगतरंगिणी का) पथ्य देने के बाद समान जल मिलाकर दो घण्टे के बाद देने से उपकार होता है। मात्रा २ से २॥ तोले दिन में २ बार।

अनेक बार क्षयी रोगियों को स्वप्नदोष अधिक होता है और वीर्यक्षय के लक्षण उग्रता से बढ़ने लगते हैं। कुमुदेश्वर रस (रसार्णव का) जिसमें शतावरी के रस की १४ भावना दी गई हैं, २ से ४ रत्ती शर्करा और मरिचचूर्ण के साथ देने से अच्छा उपकार करता है। इसका पाठ इस प्रकार है—

"पारदं शोधितं गन्धमभ्रकं च समं मतम्।
तदर्धं दरदं दद्यात्तदर्धा च मनःशिला ॥
सर्वार्द्धं मृतलोहं च खल्वमध्ये विनिक्षिपेत्।
द्विसप्त भावना देयाः शतावर्यारसेन च ॥
ततः शुष्को भवत्येष कुमुदेश्वर संज्ञकः।
सितया मरिचेनाथ गुंजा द्वित्रि प्रमाणतः ॥
भक्षयत् प्रातरुत्थाय पूजयित्वेष्ट देवताम्।
यक्ष्माणमुग्रं हंत्येव वातपित्तकफामयान्
ज्वरादीनखिलान्रोगान् यथा दैत्याञ्जनार्दनः
सतताभ्यास योगेन बलीपलितनाशनः ॥"

(रसार्णव)

आजकल सेनेटोरियम में जो स्त्री-परिचारिका रखने का प्रचार है, वह क्षय-रोगियों के लिए हमारी दृष्टि में अत्यन्त हानिकारक है। मुझे अनेक बार ऐसा अनुभव हुआ है कि रोगी तेजी के साथ स्वास्थ्य लाभ कर रहा है और अच्छे होने के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐसे




रोगी को स्वप्नदोष होने से अथवा स्त्री-प्रसंग करने से अत्यन्त विकृत होते अथवा दिवंगत होते देखा गया है। आयुर्वेद में जो उपदेश दिया जाता है कि मल और शुक्र की रक्षा यक्ष्मी को बड़े प्रयत्न से करना चाहिये, उस उपदेश का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। निम्न श्लोक स्मरणीय है—

"मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तं तु जीवनम् ।
तस्माद्यत्नेन संरक्षेत् यक्ष्मिणो मलरेतसी ॥

मैंने अनेक रोगियों में यह देखा कि यक्ष्मा के प्रारम्भिक लक्षण देख कर के ही राजमृगांक, मृगांक, सर्वेश्वर रस आदि अनेक मूल्यवान् औषधियों को प्रयुक्त कर देते हैं। इससे कई बार क्षणिक लाभ होकर फिर क्षति होती है। अतः इन का बड़ी सावधानी से अत्यन्त क्षीणता की दशा में प्रयोग करना चाहिए। मैंने रसयोगसागर का कांचनाभ्ररस, रत्नगर्भ पोट्टली रस यक्ष्मा-निवृत्ति होने के बाद बलाधान के लिए प्रयोग करके देखा है और इसके द्वारा प्राप्त बल स्थाई होता है। छागलाद्य घृत, च्यवनप्राश, खण्डपिप्पली, एलादि गुटिका, मृद्विकारिष्ट, सितोपलादि चूर्ण आदि इस प्रकार की अनेक औषधियाँ क्षय की पूर्ति करने के लिये खाद्य समझ कर प्रयोग करना चाहिए। ये आजकल के विटामिन बी० काम्प्लेक्स की तरह क्षतिपूर्त्ति करने के लिए खाद्य औषधियाँ हैं। इनका प्रयोग अग्निबल को देखकर करना चाहिए।

मैं यक्ष्मी को भोजन बन्द करके केवल दुग्धरसायन पर रखता हूँ। इस रसायन के बनाने का विधान इस प्रकार है—

दूध १ पाव (उष्ण), शर्करा १ तोला, छोटी पीपल चूर्ण ४ रत्ती, मधु १ तोला, गोघृत ६ माशा—इन सब द्रव्यों को इसी क्रम से दूध में मिलाकर दो गिलासों में खूब उलट-फेर करके झाग उठवाता हुआ उस फेनिल दूध रोगी को पीने के लिए देता हूँ। ऐसा दिन में ३-३ घण्टे बाद रोगी के अग्निबल के अनुसार द्रव्यों की मात्रा में न्यूनाधिक करके प्रकृति के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह अनुकूल पड़ जाय, तो शीघ्र ही रोगी का नष्ट-बल पुनः संचित कर क्षयमुक्त कर देता है। इसके साथ-साथ लक्षणानुसार उपयुक्त औषधि देना भी अच्छा है। कई रोगियों को पिप्पली अनुकूल नहीं आती। उनके लिए २ रत्ती कृष्णमरिच चूर्ण मिलाकर काम चलाया जा सकता है। इसका पाठ इस प्रकार है—

"शृतं पयः शर्करा च पिप्पल्यौ मधुसर्पिषि
पंचसारमिदं प्रोक्तं रसायनमनुत्तमम् ।"

इस योग में पिप्पली के अतिरिक्त द्रव्यों की मात्रा का निर्देश नहीं किया गया है, अतः वैद्य अपनी बुद्धि से रोगी के अग्निबल और सात्म्यासात्म्य को देख कर मात्रा का निर्णय करें।

यक्ष्मी के पथ्य में छाग का मांस, दूध, घृत आदि का बड़ा महत्त्व है। मैंने इसका भी अनुभव किया है और छाग के बाड़े में रोगियों को रख कर भी उनका उपकार होते देखा है। यह व्यवस्था ग्रामीण वास में ही हो सकती है। आजकल के नागरिक जीवन में तो छाग-मांस व दुग्ध के अतिरिक्त अन्य व्यवस्था होना सम्भव नहीं है। इसलिये जहाँ तक हो सके, छाग-मांस व दुग्ध का प्रयोग कराना चाहिए। मैंने सुविधा को देखकर छाग-रक्त को समान भाग ब्राण्डी में मिलाकर प्रयोग किया है और इसके सेवन से रोगी को बड़ा उपकार हुआ है। इसी प्रकार मैंने शश-रक्त, लंगूर (कृष्णमुख बानर) एवं हारीत पक्षी के रक्त का भी प्रयोग किया है और अच्छा लाभ होते देखा है। लंगूर को पालकर यक्ष्मी के पास रखने से रोगी को शीघ्र लाभ होता है। यह एक परीक्षणीय विषय है। यक्ष्मी के लिये मांस-प्रयोग का वर्णन आयुर्वेद में जो प्राचीनों ने दिया है, उसको सदा ध्यान में रखकर प्रयोग करके लाभ उठाना चाहिए। आजकल मांस के अनेक प्रकार पाश्चात्य देशों से बन कर आते हैं और खाने में भी रुचिकर होते हैं। जो रोगी मांस न खायें उनको ऐसे टिन-मांस देना चाहिए। किन्तु यदि किसी कारण रोगी मांस खाना अस्वीकार करे, तो चना, उड़द, मूंग, मसूर, द्राक्षा, कर्पूर, दाडिम आदि मिलाकर यूष बनाकर दें।

मैं वाकेरी चूर्ण का भी आजकल प्रयोग कर रहा हूँ। इसकी १ से ३ माशा ३ मात्रा दिन में ३ बार देने से रक्त रस की अभिवृद्धि शीघ्र होती है और रोगी का वजन बढ़ने भी लगता है। इस वनस्पति का विशेष परीक्षण आवश्यक है।



# एक्स-रे द्वारा फुफ्फुस-क्षय का निदान

डा० अनन्तानन्द

'सचित्र आयुर्वेद' के पाठकों के सामने डा० अनन्तानन्दजी एक नूतन लेखक के रूप में आये हैं, अतः आपका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है। डॉक्टर साहब आयुर्वेद और एलोपैथी के प्रकाण्ड विद्वान् तथा अनुभवी चिकित्सक हैं। सम्प्रति आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में शारीरशास्त्र के उपाध्यक्ष हैं। वहाँ आप एक्स-रे विभाग के अध्यक्ष भी हैं, एक्स-रे के विषय में आपका कितना गहरा अध्ययन है यह इस लेख से ही स्पष्ट है। इस लेख में आपने एक्स-रे के सम्बन्ध में कई नवीन बातों का उल्लेख किया है। एक्स-रे चित्र देखने के विषय में आपने लिखा है कि--"बीमारों को जो एक्स-रे चित्र दिये जाते हैं वे निगेटिव होते हैं और पुस्तकों में जो चित्र छापे जाते हैं, वे प्रायः पॉजिटिव होते हैं। पॉजिटिव चित्र निगेटिव चित्र से ठीक उलटे होते हैं, जैसे--निगेटिव में पसलियाँ सफेद होती हैं, तो पॉजिटिव में काली।" पाठकों को इस विशेषांक में लगे एक्स-रे प्लेट देखते समय उक्त बातों का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। --स० सम्पादक

**एक्स-रे की उपयोगिता**--'किसी भी रोग की चिकित्सा के लिए उसका उचित निदान परमावश्यक है। नवीन युग में विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ रोग-परीक्षा की भी नई-नई विधियाँ ज्ञात होती गईं, जिससे हम अधिक कुशलता से रोगों की रोक-थाम करने में समर्थ हो सके। सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र (Microscope) तथा एक्स-रे (X-Ray) ने जहाँ और रोगों के निदान में प्रमुख भाग लिया, वहाँ वक्षस् के रोगों को जानने में इससे बहुत ही उपयोगी सहायता मिली। पसलियों और मांस-पेशियों से ढँकी हुई छाती के अन्दर विद्यमान हृदय तथा फुफ्फुस किस तरह से अपना कार्य करते हैं और बाहर से इनके कार्य के विषय में कैसे जाना जा सकता है, इसकी उत्सुकता प्रत्येक चिकित्सक को प्रारम्भ से ही रही है।

१८१६में फ्रेंच डाक्टर लीनेक (Laennec) ने अपने एक स्थूलकाय रोगी की परीक्षा करते हुए यह अनुभव किया कि छाती पर कान लगाकर सुनने की अपेक्षा यदि कागज को मोड़कर उसकी एक खोखली नली-सी बना ली जाए, तो उससे सुविधापूर्वक सुना जा सकता है। अपने इस अनुभव के आधार पर उन्होंने १ फुट लम्बी और १।। इंच व्यास की लकड़ी की एक खोखली नली बनाई, जिसे वे रोगी की उरः-परीक्षा के लिए अपने पास रखा करते थे। १८५५ में अमरीका के डाक्टर जार्ज फिलिफ कैमन ने इसे वर्तमान उरः-परीक्षा यंत्र का रूप दिया, जिससे छाती की परीक्षा और भी सुगम हो गई। यह यंत्र (Stethescope) आज तक भी वक्षस् की परीक्षा का एकमात्र सर्वप्रिय उपाय है।

१८९६ में जर्मन वैज्ञानिक रॉन्जन (Rongten) ने एक्स-रेज (X-Rays) का आविष्कार किया, जिससे रोग-परीक्षा का एक नूतन मार्ग खुल गया। इससे हम न केवल हृदय, फुफ्फुस आदि की स्वस्थ तथा रुग्णावस्था का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सके, अपितु रोग की विभिन्नावस्थाओं का स्थायी आलेख (Record) रखने में भी हमें बहुत बड़ी सहायता मिली।

कुछ दिनों तक इस विषय पर काफी वाद-विवाद रहा कि फेफड़ों की ऐक्स-रे द्वारा परीक्षा की कुछ विशेष उपयोगिता है या नहीं? क्योंकि कई बार क्षय होते हुए भी ऐक्स-रे से उसका कुछ पता नहीं चलता और कई ऐसे रोग भी हैं, जिनकी छायाएँ फुफ्फुस-क्षय का भ्रम पैदा करती हैं और अन्त में ठीक निदान के लिए और विधियों का सहारा लेना पड़ता है। जिन वैज्ञानिकों ने इस दिशा में अनुसन्धान किया, वे कुछ दिनों तक तो अवश्य भ्रम में रहे; पर अन्त में सबको इस विषय में एकमत होना

पड़ा कि एक्स-रे से अधिक विश्वस्त विधि फुफ्फुस-क्षय के निदान के लिए दूसरी नहीं है। उदाहरण के लिए सैम्सन और ब्राउन ने अति सूक्ष्म फुफ्फुस-क्षय के २८० केस इकट्ठे किए। इनमें से २७ प्रतिशत के फेफड़ों में विशेष बुद-बुद-ध्वनि (Rales) सुनाई पड़ती थी, २७ प्रतिशत के मुँह से रक्त आता था, ३५ प्रतिशत की बलगम में क्षय-कीटाणु थे और ११ प्रतिशत में फुफ्फुसावरण शोथ के लक्षण थे। इनकी जब ऐक्स-रे द्वारा परीक्षा की गई, तो लगभग ९९ प्रतिशत रोगियों में फुफ्फुस-क्षय के स्पष्ट चिन्ह पाए गए। कई बार तो ऊपर से क्षय का कोई चिह्न न रहने पर भी जब ऐक्स-रे से परीक्षा की जाती है, तो रोग का पता चल जाता है। क्षय का सन्देह दूर करने के लिए भी एक्स-रे उपयोगी है।

बहुत-से देशों में इस रोग की रोक-थाम के लिए गाँवों तथा शहरों में सर्वसाधारण के फेफड़ों के ऐक्स-रे चित्र लिए जाते हैं। इंगलैण्ड में ४० लाख व्यक्तियों की इस प्रकार से परीक्षा करने पर यह ज्ञात हुआ कि प्रति सहस्र व्यक्तियों के पीछे ४ व्यक्ति क्षय से पीड़ित थे। स्वीडन, अमरीका आदि देशों में भी लगभग ऐसा ही परिणाम रहा, पर डेनमार्क में यह संख्या अपेक्षाकृत कम रही। हमारे देश में भी कुछ स्थानों पर सीमित पैमाने पर इस प्रकार का कार्य हुआ है, पर धनाभाव में आगे नहीं बढ़ सका। जिस देश में प्रति ५ मिनट बाद एक व्यक्ति क्षय का शिकार होकर चल बसता हो, उसके कितने प्रतिशत व्यक्तियों में क्षय होगा, यह सोच कर भी भय लगता है।

**एक्स-रे चित्रों के विषय में कुछ सामान्य बातें**—बिजली के विशेष यन्त्रों द्वारा, जिन्हें ऐक्स-रे मशीन कहते हैं, एक्स-रेज उत्पन्न की जाती हैं। ऐक्स-रेज क्या हैं और कैसे पैदा होती हैं? इस विषय में यहाँ केवल इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि इन किरणों की भेदक-शक्ति अत्यन्त तीव्र होती है और जिन वस्तुओं में से सूर्य की किरणें नहीं गुज़र सकतीं, उनमें से भी ये पार हो जातीं हैं। यंत्र में विद्युत्-शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ हम अधिक शक्तिशाली ऐक्स-रेज उत्पन्न कर सकते हैं, जो शरीर के किसी भी भाग को भेदकर बाहर निकल सकती हैं। शरीर को पार करते समय अपेक्षाकृत ठोस रचनाओं में से तो ये कठिनाई से गुजरती हैं, किन्तु हल्की-फुल्की रचनाओं को ये सुगमता से पार कर जाती हैं। ऐक्स-रे प्लेट्स, जिन पर ऐक्स-रे चित्र उतारा जाता है, इनकी तीव्रता और हलकेपन के अनुसार ही प्रभावित होती हैं। प्लेट्स के सामने शरीर की किसी भी रचना को रख कर हम उसका फोटो प्राप्त कर सकते हैं। जिन रचनाओं में से ये किरणें आसानी से निकल जाती हैं, उनकी निगेटिव प्लेट्स पर अपेक्षाकृत काली पड़ती हैं और जिनमें से ये कठिनाई से निकलती हैं, उनकी छाया अपेक्षाकृत कम काली या अधिक सफ़ेद होती है। जैसे, हड्डियों की छाया गहरी सफेद आएगी और मांस-पेशियों की छाया उसकी अपेक्षा काली होगी।

यदि हम एक्स-रे द्वारा लिए गये एक स्वस्थ व्यक्ति की छाती के निगेटिव फोटो का निरीक्षण करें, तो देखेंगे कि इसके बीच का एक-चौथाई भाग एक चौड़ी पट्टी की आकृति में लगभग सफेद होता है। इसमें बाईं ओर को झुकाव लिए हुए सबसे नीचे हृदय की छाया होती है और इसके ऊपर हृदय की रक्तवाहिनियों, श्वास-प्रणाली और पृष्ठवंश की कशेरुकाओं की मिली-जुली छाया। इस पट्टी के दोनों ओर फीका-सा जाल लिए काले रंग की फुफ्फुसों की छाया होती है, जिन पर से श्वेत रंग की पर्शुकाओं की छाया आर-पार जाती हुई दिखाई देती हैं। फुफ्फुस-मूल, जहाँसे श्वास-प्रणाली और रक्त-वाहिनियाँ फेफड़ों में आती-जाती हैं, की छाया हृदय की छाया के ऊपर की ओर फेफड़ों की भीतरी सीमा के बीचोबीच दिखाई पड़ती हैं। हृदय के तल-प्रदेश के साथ दोनों ओर धनुषाकार वक्षोदर मध्य पेशी (Diaphragm) की छाया होती है, जो कि वक्षस् की निचली सीमा बनाती है। चित्र में सबसे ऊपर दोनों ओर अक्षकास्थियों ( Clavicles ) की आर-पार जाती हुई छाया चित्र की ऊपर की सीमा बनाती है। इनके अन्दर के भाग के ऊपर की ओर गोल-गोल प्रथम पर्शुकाओं से घिरी फुफ्फुस के शिखर की छाया दृष्टिगोचर होती है।

एक्स-रे चित्र हम दो प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं—(१) एक्स-रे प्लेट्स द्वारा और (२) स्फुरित यवनिका या Screening द्वारा।

(१) **एक्स-रे प्लेट्स**—साधारण फोटो प्लेट्स की

तरह ही होती हैं, जिन्हें हम विशेष चौखटों में रखकर फोटो लेने के लिए बाहर निकालते हैं। ये चौखटे कैसेट्स कहलाते हैं और १५×१२, १०×१२, ८×१० इंच आकार के होते हैं। ये वैसे तो लोहे के बने होते हैं, पर इनका सामने का भाग एल्यूमीनियम या अन्य किसी वस्तु का बना होता है, जिनमें से सूर्य या विद्युत् का प्रकाश अन्दर नहीं जा सकता, पर ऐक्स-रेज गुजर सकती हैं। हृदय तथा फेफड़ों का फोटो लेते समय हम जब छाती को इसके सामने रखकर ऐक्स-रेज डालते हैं, तो ये किरणें छाती के बीच में से गुजरती हुई अन्त में फोटो प्लेट पर पड़ती हैं और हृदय, फुफ्फुस आदि का चित्र उसपर अंकित कर देती हैं।

(२) **स्फुरित यवनिका** (Screening) में ऐक्स-रेज़ को जिस अंग में से गुजारना हो, उसमें से गुज़ार कर एक विशेष पर्दे पर फेंका जाता है, जिससे उस अंग का फोटो पर्दे पर दिखने लगता है। इस क्रिया के समय कमरे की खिड़कियाँ, दरवाजे आदि बन्द कर उसे अँधेरा बना लिया जाता है, जिससे चित्र पर्दे पर स्पष्ट दिख सके। पर्दा वास्तव में एक प्रकार का गत्ता होता है, जिसपर बेरियम प्लैटिनो साइनाइड और कैलशियम टंगस्टेट नामक पदार्थ मले हुए होते हैं। ऐक्स-रेज़ वैसे तो आँखों से नहीं दिखतीं, पर ये पदार्थ उन्हें दृश्य बना देते हैं, क्योंकि उन पर पड़कर ये हरी या नीली चमक से चमकने लगती हैं। स्क्रीनिंग का विशेष लाभ यह है कि इसके द्वारा हम हृदय, फुफ्फुस आदि को कार्य करता हुआ देख सकते हैं, जिससे रोग विनिश्चय में बड़ी सहायता मिलती है।

**फेफड़ों में रोगजन्य परिवर्तन**—फुफ्फुस में रोग होने पर उसमें विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं, जिससे स्वभावतः ही इनके ऐक्स-रे चित्रों में भी अनेक प्रकार की रोगसूचक छायाएँ अंकित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए फुफ्फुस के किसी स्थान पर शोथ होने पर वह स्थान ठोस हो जाता है, जिससे फोटो लेते समय ऐक्स-रेज़ इस स्थान से स्वस्थ फुफ्फुस की अपेक्षा कम गुजरेंगी और वह स्थान फोटो में कुछ धुंधला अंकित होगा। इस प्रकार का ठोसपना क्षय, निमोनिया आदि में फेफड़े के विभिन्न भागों का देखा जाता है। क्षयारम्भ में फुफ्फुस-शिखर तथा निमोनिया में पूरे का पूरा फुफ्फुस-खण्ड इस प्रकार से ठोस हो जाता है। ब्रौंको निमोनिया में यह ठोसपना छोटे-छोटे धब्बों के रूप में सारे फेफड़ों में फैला दिखाई पड़ता है। ठोसपने की धुँधली छाया फेफड़ों में कोई अर्बुद (Tumour) होने पर भी दिखती है और फुफ्फुस-मूल की लसिका-ग्रन्थियों के बढ़ने पर भी इस प्रकार की छाया पड़ सकती है।

सूजन होने के बाद कई बार वह स्थान गल जाता है और वहाँ खोड़ या गुहा-सी (Cavity) बन जाती है। इसकी छाया गहरी काली-सी अंकित होती है और गुहा के अनुसार विभिन्न आकार की होती है। फेफड़े के खाये जाने की यह प्रक्रिया आगे भी बढ़ सकती है और उचित व्यवस्था होने पर रुक भी सकती है और गुहा बिलकुल ठीक होकर भर सकती है। गुहा क्योंकि सौत्रिक तन्तुओं से ठीक होकर भरती है, अतः वह भरा हुआ स्थान श्वेत-सा दिखाई पड़ता है।

श्वास-प्रणालियों की छायाएँ फुफ्फुस के साथ साधारणतः नहीं दिखाई देतीं, पर कई अवस्थाओं में इन प्रणालियों के चारों ओर सौत्रिक तन्तुओं की वृद्धि हो जाती है, जिससे ये दृष्टिगोचर होने लगती हैं। प्रायः पुरानी खाँसी में यह अवस्था दृष्टिगोचर होती है। इसके अतिरिक्त मिट्टी, लोहा, सोना, कोयला, टिन आदि के कणों के श्वास द्वारा अन्दर जाने से, इनकी निरन्तर उत्तेजना से, श्वास-प्रणाली के साथ-साथ फेफड़ों में छोटे-छोटे सौत्रिक तन्तुओं के क्षेत्र बन जाने से भी ऐसी अवस्था दिखाई पड़ती है। इस अवस्था को न्यूमोकौनिओसिस (Pneumokoniosis) कहते हैं।

क्षय आदि के कीटाणुओं का प्रसार रोकने के लिए शरीर उनके चारों ओर कैल्शियम की दीवार खड़ी करके उन्हें घेरने की कोशिश करता है। यह कैल्शियम के निक्षेपीकरण की प्रक्रिया (Calcification) चित्रों में गहरी सफेद छाया अंकित करती है। किसी गुहा के चारों ओर इस प्रकार की छाया के अंकित होने पर उसके सीमित होने की कल्पना करनी चाहिए। पुराने क्षय में स्थान-स्थान पर इस प्रकार की कैलसिफिकेशन की छायाएँ फेफड़ों में दिखाई पड़ती हैं। लसिका-ग्रन्थियों में यह प्रक्रिया बहुधा देखी जाती है।

कई बार वक्षोगुहा (Pleural Cavity) के अन्दर कृत्रिम विधि से वायु प्रविष्ट करने से अथवा भाले आदि की चोट लगने पर बाह्य वायुमण्डल से अन्दर की गुहा का सम्बन्ध हो जाने पर फेफड़े छाती की दीवार से हटकर सिकुड़ जाते हैं। ऐसी अवस्था में फुफ्फुस-मूल के साथ सिकुड़े हुए फुफ्फुस की गहरी छाया दिखाई पड़ती है। शेष वक्षोगुहा, जहाँ से फेफड़ा हट गया है, अपेक्षाकृत काली दिखाई पड़ती है। कई बार फुफ्फुसावरण शोथ की अवस्था में वक्षोगुहा में पानी इकट्ठा हो जाता है, जिसकी सम पृष्ठ बनाती हुई या अर्धचन्द्राकार छाया नीचे से ऊपर की ओर पानी की मात्रा को सूचित करती हुई अंकित होती है। जीर्ण फुफ्फुसावरण शोथ में फुफ्फुसावरण के मोटा हो जाने से उसकी धुँधली-सफेद-सी छाया आती है और कई बार सौत्रिक तन्तुओं का निर्माण होकर उसके चिपक जाने से गहरी सफेद छाया चिपके स्थान को सूचित करती है। सौत्रिकतन्तुओं के बड़े-बड़े समूह (Bands) कई बार फुफ्फुस-खण्डों के बीच में आर-पार जाते हुए दिखाई देते हैं।

एक्स-रे चित्रों को देखते हुए यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि चित्रों में पाई जानेवाली बातों की रोगी के दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, टकोर आदि से जब तक पुष्टि न हो जाए, तब तक पूरी तरह से रोग के विषय में कोई सम्मति न बनाएँ। उदाहरण के लिए कई बार मोटी पड़ी हुई प्लूरा (फुफ्फुसावरण) की छाया फुफ्फुसावरण गुहा में पानी की उपस्थिति का सन्देह पैदा करती है। उस स्थल को टकोरने से यदि भारी आवाज आए, उस स्थान के अन्त:पर्शुक स्थल (Intercostal spaces) उभरे हुए हों और सुनने से वहाँ श्वास की आवाज सुनाई पड़े, तो पानी की उपस्थिति समझें, नहीं तो मोटा हुआ फुफ्फुसावरण। इसी प्रकार न्यूमोकौनिओसिस की छाया और तीव्र संक्रामक क्षय की छायाएँ बिल्कुल मिली-जुली होती हैं, जिनकी परीक्षा रोगी के थूक की जाँच किए बिना असंभव है।

**यहाँ यह ध्यान दिला देना आवश्यक है कि बीमारों को जो ऐक्स-रे चित्र दिये जाते हैं, वे निगेटिव होते हैं और पुस्तकों में जो चित्र छापे जाते हैं, वे प्रायः पॉजिटिव होते हैं। पॉजिटिव चित्र निगेटिव चित्रों से ठीक उल्ट होते हैं। जैसे निगेटिव में पसलियाँ सफेद होती हैं तो पॉजिटिव में काली। चित्रों के सम्बन्ध में उपरिलिखित तथा आगे लिखी जानेवाली सम्पूर्ण बातें निगेटिव चित्रों के सम्बन्ध में होंगी। पॉजिटिव चित्रों के लिए ठीक इससे उल्टा समझें।**

**फेफड़ों में क्षय संक्रमण और तज्जन्य परिवर्तन**—शरीर को निर्बल पाकर क्षय के कीटाणु शरीर में प्रविष्ट हो जाते है और रोग उत्पन्न करते हैं। बाहर से ये कीटाणु कई प्रकार से संक्रमण करते हैं, जैसे सूखी बलगम के धूलिकणों में मिल कर श्वास द्वारा अन्दर जाने से, रोगी के खाँसने से सीधा वायु द्वारा, दूषित भोजन से, कपड़ों से, रोगी के प्रयोग में आई हुई अन्यान्य वस्तुओं से तथा उसके निवास के लिए प्रयुक्त मकान में रहने से। फेफड़ों में इस रोग का कृमि तीन मार्गों से प्रविष्ट होता है—(१) श्वास-प्रणालियों, (२) रक्तवाहिनियों और (३) लसिकावाहिनियों द्वारा।

९० प्रतिशत फुफ्फुस-क्षय सीधे श्वास-वायु द्वारा प्रविष्ट होनेवाले कृमियों से होता है। लसिकावाहिनियों द्वारा पहुँचनेवाला क्षय-कीटाणु टौंसिल्स, श्वास-प्रणाली या भोजन-प्रणाली की श्लैष्मिक कला के अन्दर प्रविष्ट होकर समीपस्थ लसिका-ग्रन्थियों में स्थिर हो जाता है और वहाँसे लसिकावाहिनियों द्वारा शरीर के अन्यान्य भागों में पहुँचता है। उदाहरण के लिये टौंसिल्स द्वारा गृहीत कीटाणु पहिले ग्रीवा की लसिका-ग्रन्थियों में पहुँचता है और वहाँ से फेफड़ों में। इसी प्रकार दूषित भोजन द्वारा आनेवाला कीटाणु आन्त्र की श्लैष्मिक कला से अन्दर प्रविष्ट होकर लसिकावाहिनियों द्वारा रसकुल्या (Thoracic duct) में पहुँच कर अन्त में रक्त में चला जाता है या यकृत् महाधमनी (Portal Vein) द्वारा रक्त में पहुँचता है।

जो स्थान सब से पूर्व क्षय कीटाणु को लेकर अपने अन्दर रोक रखता है, उसे संक्रमण का प्रारम्भिक स्थान (Primary focus) कहते हैं, जहाँ स्थिर होकर यह कीटाणु शरीर के अन्य भागों पर हमला करता रहता है। ऐसे केन्द्र लसिका-ग्रन्थियों, टौंसिल्स और कभी-कभी फेफड़े के स्वयं किसी स्थान में बनते हैं।

क्षय कीटाणु के किसी भी रचना में स्थित होने पर वहाँ के Cells उसके चारों ओर दाना-सा बना देते हैं।

यदि एक पूर्ण दाने को काट कर देखें, तो यह विभिन्न प्रकार की Cells की कई तहों से बना दिखाई देगा, जिसके बीच में रचना का खाया हुआ अंश स्थित होता है।

फेफड़ों में क्षय संक्रमण से कई प्रकार के परिवर्तन होते हैं। उन्हें हम निम्न प्रकार समझ सकते हैं—

(१) **स्रावयुक्त संक्रमण केन्द्र** (Exudative focal lesion)—क्षय-कीटाणुओं से युक्त स्राव फेफड़ों के किसी एक या अनेक वायुकोष्ठों में इकट्ठा हो जाता है, जहाँसे यह आगे बढ़ने की कोशिश करता है। प्रायः यह तेजी से बढ़ता है और फेफड़े के एक बड़े खण्ड को घेर लेता है। जहाँ यह स्राव भरा होता है, वह स्थान ऐक्सरे-चित्र में धुँधला सफेद-सा आता है, पर इसके तेजी से बढ़ने के कारण स्राव भरे व्रण के किनारों को हम स्पष्टता से नहीं देख सकते। व्रण के चारों ओर वायु से भरे स्वस्थ फुफ्फुसकोष्ठ तथा स्राव भरे कोष्ठ, दोनों ही स्थित होते हैं, जिससे उस स्थान की छाया काले-सफेद धब्बों से युक्त दिखाई पड़ती है।

ये स्रावयुक्त केन्द्र उचित चिकित्सा से कई बार आप से आप लुप्त भी हो जाते हैं अथवा इनके चारों ओर कैलशियम इकट्ठा होकर इन्हें सीमित कर देता है। पर यदि चिकित्सा का सुयोग न मिले और शरीर भी निर्बल हो, तो वह स्थान क्षतिग्रस्त होकर लुप्त हो जाता है और वहाँ एक गुहा या Cavity बन जाती है। कई बार फुफ्फुस का एक बड़ा भाग इस तरह से नष्ट हो जाता है।

(२) **वृद्धियुक्त संक्रामक केन्द्र** (The productive Focal lesion)—इसमें क्षययुक्त एक प्रकार के दानेदार रचना फुफ्फुस के किसी वायुकोष्ठ में बढ़ने लगती है और धीरे-धीरे समीपस्थ वायु कोष्ठों को भी आक्रान्त करती जाती है। देखने से यह वृद्धियुक्त संक्रामक केन्द्र एक गुलाब के फूल की तरह दिखाई पड़ता है, जिसमें केन्द्र से चारों ओर ४ से ६ तक पंखुड़ियाँ फैली दिखाई पड़ती हैं। इस फूल का व्यास आधा से १ सेंटीमीटर तक होता है। इस प्रकार के संक्रामक केन्द्र और स्रावयुक्त संक्रामक केन्द्र में भेद यह है कि इसकी सीमाएँ स्पष्ट होती हैं, जब कि उसकी अस्पष्ट। यह उसकी अपेक्षा प्रायः बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है और प्रायः साध्य होता है। वैसे, हमेशा ही ऐसा होता हो, यह बात नहीं। कई बार यह बहुत जल्दी ही रोगी का प्राणान्त कर देता है, जब कि वह आसानी से ठीक हो जाता है।

इस प्रकार का वृद्धियुक्त संक्रामक केन्द्र बनने पर उसका भविष्य निम्न प्रकार रहता है—

(१) बढ़े नहीं, सीमित रहे (Encapsulation)।

(२) आक्रान्त स्थल खाया जाकर गल जाए (Caseation)। इसके स्थान पर या तो एक गुहा-सी बन जाए (Cavitation) या खट लवणों का निक्षेपीकरण होकर वह स्थान भर जाए (Calcification) अथवा सौत्रिक तन्तुओं से वह रिक्त स्थल भर कर व्रण ठीक हो जाए (Fibrosis)।

(३) कई बार यह संक्रामक केन्द्र आप से आप लुप्त हो जाता है।

(३) **काठिन्यकर क्षय** (Indurative or fibrotic Tuberculosis)—जिस समय क्षय के व्रण भरते हैं, उस समय उनके स्थान पर (फुफ्फुस के नष्ट हुए जीवकोषों के) सौत्रिक तन्तुओं की उत्पत्ति होकर वे भर जाते हैं। आग आदि से शरीर के किसी भाग के गहरा जल जाने पर इस प्रकार के सौत्रिक तन्तुओं से व्रणों का भरना बाहर हम प्रत्यक्ष देखते हैं, जिसके कारण वह अंग सिकुड़कर छोटा-सा रह जाता है। यही प्रक्रिया फेफड़ों में भी होती है और इनकी क्षयजन्य बड़ी-से-बड़ी गुहा इनके कारण सिकुड़ कर बन्द हो जाती है। सौत्रिक तन्तु अपेक्षाकृत कठोर होते हैं, अतः इनकी छाया सफेद रंग की अंकित होती है। किसी उत्तेजक वस्तु के फुफ्फुसों में प्रविष्ट होकर उसे लगातार उत्तेजित करते रहने से भी इस प्रकार के सौत्रिक तन्तु उत्तेजना के स्थान पर उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे सोना, कोयला आदि की खानों में काम करनेवालों के फेफड़ों में होता है। श्वास-प्रणालियों, रक्तवाहिनियों और लसिका-वाहिनियों के साथ - साथ इस तन्तु की वृद्धि होने पर शाखाओं के रूप में ये दिखाई देने लगती हैं। बड़ी मात्रा में इसका निर्माण होने पर व्रण भरने के साथ-साथ समीपस्थ रचनाओं को भी यह अपनी ओर खींच लेती है, जिससे डायाफ्राम, श्वास-प्रणाली, हृदय आदि अपने स्थान से हट जाते हैं। यहाँ तक की छाती की दीवार भी नीचे बैठ जाती है।

(४) गह्वरीकरण (Cavitation)—फुफ्फुस के क्षय-ग्रस्त होने के बाद क्षययुक्त स्थान खाया जाकर वहाँ एक गुहा-सी बन जाती है। यह गुहा छोटी भी हो सकती है और बड़ी भी। कई बार छोटी-छोटी गुहाएँ मिलकर एक बड़ी-सी गुहा बना लेती हैं। गुहा नवीन है या पुरानी, इसके विषय में नियम यह है कि पुरानी गुहा के चारों ओर की दीवार अपेक्षाकृत कठोर होती है, जिससे गुहा स्पष्ट अलग दिखाई पड़ती है, जब कि नवीन गुहा के चारों ओर की दीवारें फीकी सफेद-सी दृष्टिगोचर होती है। गुहा का सम्बन्ध प्रायः किसी-न-किसी श्वास-प्रणाली से हो जाता है, जिससे फेफड़े का खाया हुआ अंश बलगम के साथ इसके द्वारा बाहर निकलता रहता है। गुहा के चारों ओर का फेफड़ा यदि क्षयाक्रान्त न हो, तो यह ठीक हो जाती है; नहीं तो बार-बार इसके चारों ओर की दीवार टूट कर यह बढ़ती जाती है।

कई बार यह गुहा फुफ्फुसावरण गुहा (Pleural Cavity) में खुल जाती है। ऐसी दशा में श्वास-प्रणाली के फुफ्फुसावरण गुहा से सम्बन्धित हो जाने पर Pneumothorax होकर फेफड़े सिकुड़ जाते हैं। गुहा बनते समय यदि कभी कोई रक्तवाहिनी इसमें फट जाए, तो मुँह से रक्त आने लगता है और कई बार यह दशा घातक बन जाती है। Cavity की छाया से ऐक्स-रे में सफेद छल्ले से घिरी काली अण्डाकृति या गोल आती है। यदि वायु के स्थान पर इसमें स्राव भरा हो या पूय हो, तो छाया काली न रह कर फीकी-सफेद आती है। कई बार द्रव का धरातल भी इसमें दीख पड़ता है।

**लक्षणों की दृष्टि से क्षय के भेद और उनके एक्स-रे चिह्न**—लक्षणों की दृष्टि से हम क्षय के दो भेद कर सकते हैं। **(१) मन्द क्षय और (२) तीव्र क्षय।**

(१) **मन्द क्षय** में क्षय के चिह्न बहुत हलके होते हैं और इससे ग्रस्त व्यक्ति स्वस्थ व्यक्तियों की तरह ही अपना सब कार्य करता रहता है। अधिक परिश्रम करने पर तापमान का थोड़ा-सा बन्द हो जाना, शरीर का वजन कभी घट जाना, कभी बढ़ जाना, हलका-सा पाण्डु आदि लक्षण होते हैं। एक्स-रे लक्षणों के अनुसार हम इसके भेद कर सकते हैं।

**(१) नवीन साधारण क्षय और (२) जीर्ण क्षय**

**(क) नवीन क्षय**—में रोग प्रायः फुफ्फुस-शिखर तक सीमित रहता है। दोनों फेफड़ों के शिखर अथवा एक फेफड़े का दूसरी पर्शुका तक का भाग ही यदि क्षयाक्रान्त हो, तो रोग की प्रथमावस्था ही समझनी चाहिए। ऐक्स-रे में क्षयाक्रान्त स्थान, उस स्थान के ठोस हो जाने से, सफेद धुंधला-सा दिखाई पड़ता है।

**(ख) जीर्ण क्षय**—में क्षयाक्रान्त स्थानों पर रोग के प्रसार और कैलसिफिकेशन तथा फाइब्रोसिस द्वारा उसके अवरोध के चिह्न साथ-साथ दृष्टिगोचर होते हैं। नया फैलता हुआ क्षय धुनी रूई की-सी छाया (Mottling) देता है, जब कि कैलसिफिकेशन की छाया गहरी सफेद तथा फाइब्रोसिस की छाया सफेद सूत्रों या कागज जैसी आती है। जीर्ण क्षय के मुख्यतः ४ भेद हैं—

**(१) साधारण जीर्ण क्षय, (२) जीर्ण संक्रामक क्षय** (Chronic miliary Tuberculosis), **(३) सौत्रिक तन्तुमय क्षय** (Fibroid Tuberculosis), **(४) जीर्ण फुफ्फुस मूल क्षय** (Hilum Tuberculosis)

(क) साधारण जीर्ण क्षय में फुफ्फुस में ठोसपना, गड्ढा बनना, कुछ भाग का खाया जाना और सौत्रिक तन्तुओं का निर्माण आदि सभी प्रक्रियाएँ समय-समय पर दृष्टिगोचर होती हैं, पर रोग नियन्त्रण में रहता है। (क) जीर्ण संक्रामक क्षय में छोटी-छोटी गाँठदार छायाएँ प्रायः एक फेफड़े में फैली हुई दिखाई देती हैं। (ग) सौत्रिक तन्तुमय क्षय में सौत्रिक तन्तु के छोटे-छोटे स्थल दोनों फेफड़ों में बिखरे हुए दिखाई पड़ते हैं। कई बार एक ही स्थान पर अधिक फाइब्रोसिस होने पर छाती वहाँ दब जाती है, जैसा कि बड़ी गुहा (Cavity) के ऊपर होता है। (घ) जीर्ण फुफ्फुस-मूल-क्षय में क्षय केवल फुफ्फुस मूल, शिखर या निचले खण्ड तक ही सीमित रहता है।

(२) **तीव्र क्षय**—इसके मुख्यतः तीन भेद हैं—(क) तीव्र श्लेष्मज्वर सदृश (Acute Influenzal Type)—इस में श्लेष्मज्वर जैसे लक्षण होते हैं, प्रतिश्याय, कास, छींक आदि के लक्षण होकर तीव्र ज्वर चढ़ जाता है। एक्स-रे से परीक्षा करने पर अक्षकास्थि के नीचे क्षय-संक्रमण (Infiltration) के निशान मिलते हैं। इसमें रूई धुनने

की-सी छाया बनी रहती है। यह संक्रमण कभी-कभी फुफ्फुस के बीच में और कभी नीचे भी दिखाई पड़ता है।

(२) तीव्र फुफ्फुस सन्निपात सदृश (Acute Pneumonic)—इसके तीन भेद हैं। (क) फेफड़े का एक बड़ा भाग ठोस होकर अन्त में गल जाता है। (ख) गलित होने की प्रक्रिया दोनों फेफड़ों में साथ-साथ विस्तृत प्रदेश में दिखाई देती है। इसे गलित फुफ्फुस सन्निपात क्षय (Caseous Pneumonic T. B.) कहते हैं। यह शीघ्र ही प्राण हर लेता है। (ग) ससूत्र गलित (Fibro Caseous) में नाश और पुर्ननिर्माण की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं। फुफ्फुसावरण भी प्रायः आक्रान्त होकर मोटा हो जाता है और समीपस्थ रचनाओं से चिपक जाता है।

**तीव्र फुफ्फुस सन्निपात क्षय**--क्षय से गलित अंश (Caseous matter) स्वस्थ श्वास-प्रणाली में प्रविष्ट होकर उसके चारों ओर फेफड़े में फैल जाने से होता है। गलित अंश प्रायः किसी बड़ी लसिकाग्रन्थि या अन्य किसी रचना के क्षय से ग्रस्त होकर गल जाने से बन जाता है। यह क्षय शीघ्रता से प्राण हरने के कारण (Galloping T. B.) कहाता है। एक्स-रे से परीक्षा करने से (क) प्रकार के क्षय में फेफड़े का एक बड़ा अंश ठोस सफेद-सा दिखाई पड़ता है। गुहा बनने पर उसका निशान इसके बीच में दिखाई देता है। (ख) प्रकार के क्षय में सफेद चित्तियाँ दोनों फेफड़ों में फैली दिखाई पड़ती हैं। इनके बीच में स्वस्थ तथा ठोस फेफड़े की काली-सफेद छाया रहती है। इसमें गुहाएँ जल्दी बनती हैं और (ग) प्रकार के क्षय में फाइब्रोसिस और कैविटेशन के चिह्न साथ-साथ रहते हैं तथा फुफ्फुसावरण भी प्रायः आक्रान्त दीखता है।

(३) **तीव्र संक्रामक क्षय** (Acute Miliary Tuberculosis)—यह क्षय युक्त गलित अंश (Caseous matter) की किसी शिरा में प्रविष्ट हो जाने से होता है। कई बार यह गलित अंश लसिकाग्रन्थि से लसिकावाहिनियों और वहाँ से रसकुल्या (Thoracic duct) में होकर Venous Circulation में चला जाता है और सारे शरीर में क्षय रोगजन्य गाँठें (Tubercles) उत्पन्न कर देता है। प्रारम्भिक क्षय-केन्द्र, जहाँ से यह गलित अंश आता है, फेफड़े, उदर तथा श्वास-प्रणालियों की लसिकाग्रन्थियों, अस्थियों, मूत्रोत्पादक अंगों, उत्पादन संस्थान की रचनाओं आदि किसी भी स्थान में स्थित हो सकता है। इसमें ज्वर के प्रारम्भ में जाड़ा लगता है, सिरदर्द होता है, शरीर टूटता है और बाद में तीव्र ज्वर हो जाता है। ज्वर के लक्षणों के अनुसार इसके तीन भेद किए जा सकते हैं—(१) आंत्र ज्वर की तरह (Typhoid Type), जिसमें अफारे आदि के लक्षण होते हैं और बुखार लम्बा चलता जाता है। (२) Broncho-Pneumonic Type, जिसमें कासजन्य फुफ्फुस सन्निपात के लक्षण होते हैं। खाँसी बहुत आती है, साँस फूलता है और चेहरा धीरे-धीरे नीला पड़ता जाता है। एक्स-रे से देखने पर दोनों फेफड़ों में धुनी रूई-सी या गिरती बरफ-सी (Snow storm appearance) छाया दिखाई पड़ती है। (३) क्षय कृत मस्तिष्कावरण शोथ (Tubercular meningitis)–इसमें मस्तिकावरण शोथ के लक्षण होते हैं। तीव्र संक्रामक क्षय में दो सप्ताह से लेकर ३ मास के अन्दर मृत्यु हो जाती है।

सर्वसामान्य की दृष्टि से तथा साध्यता और असाध्यता को दृष्टि में रखते हुए क्षय की हम तीन अवस्थाएँ मानते हैं—

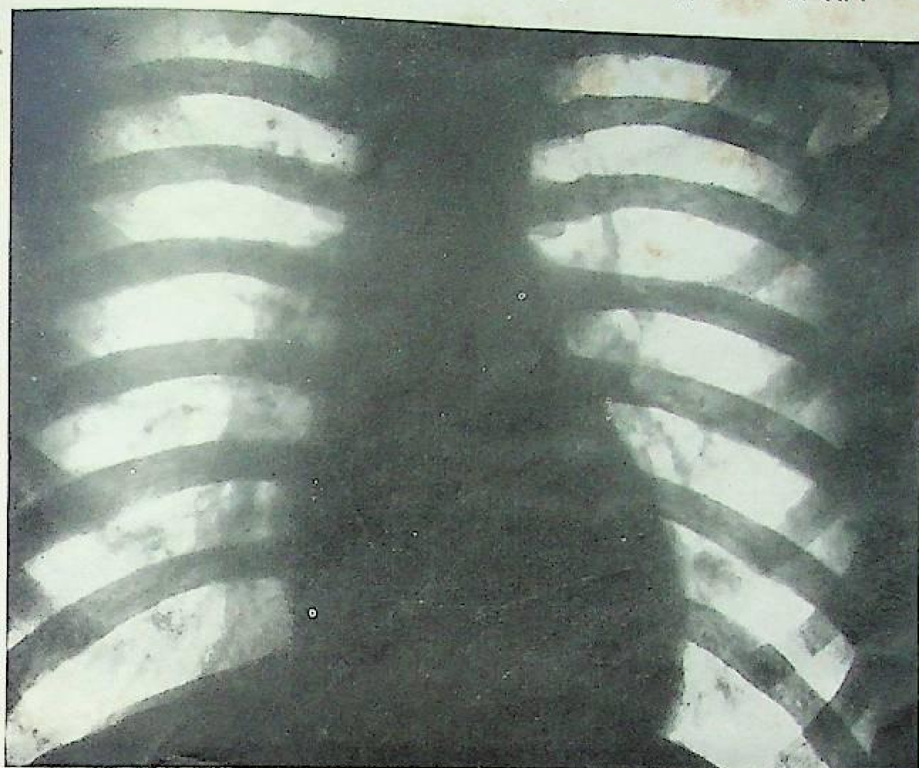
(१) **प्रथमावस्था** (First Stage)—दोनों ओर के फेफड़ों के आक्रान्त होने पर रोग का केवल शिखर तक सीमित होना और एक ओर के फुफ्फुस के क्षयग्रस्त होने पर द्वितीय पर्शुका तक रोग का बढ़ना।

(२) **द्वितीयावस्था** (2nd Stage)—एक ओर क्षय होने पर चतुर्थपर्शुका तक के भाग का आक्रान्त होना और दोनों ओर होने पर द्वितीय पर्शुका तक रोग का फैलना।

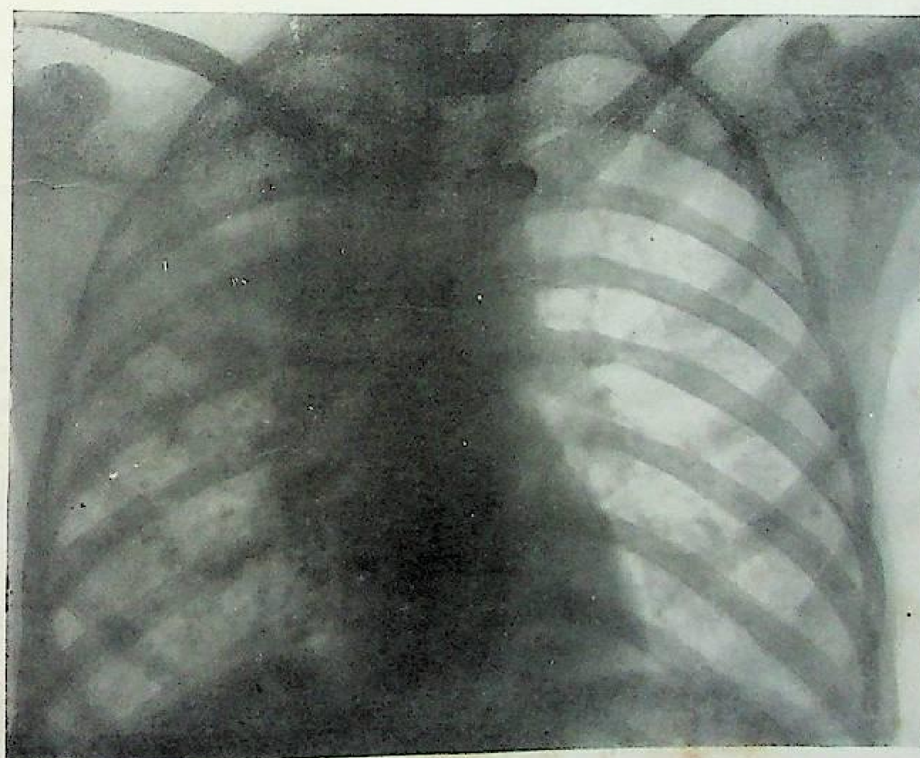
(३) **तृतीयावस्था** (3rd Stage)—द्वितीयावस्था से अधिक रोग का फैलना।

**क्षय का भ्रम पैदा करनेवाले फुफ्फुस रोग**—एक्स-रे चित्रों में विभिन्न रोगों में बहुत-सी ऐसी छायाएँ भी आती हैं, जिन्हें देख कर बड़ी सुगमता से क्षय का भ्रम हो जाता है; क्योंकि ये रोग भी फेफड़ों में लगभग वैसे ही रचनात्मक परिवर्तन पैदा करते हैं। मुख्य रोग निम्न हैं—

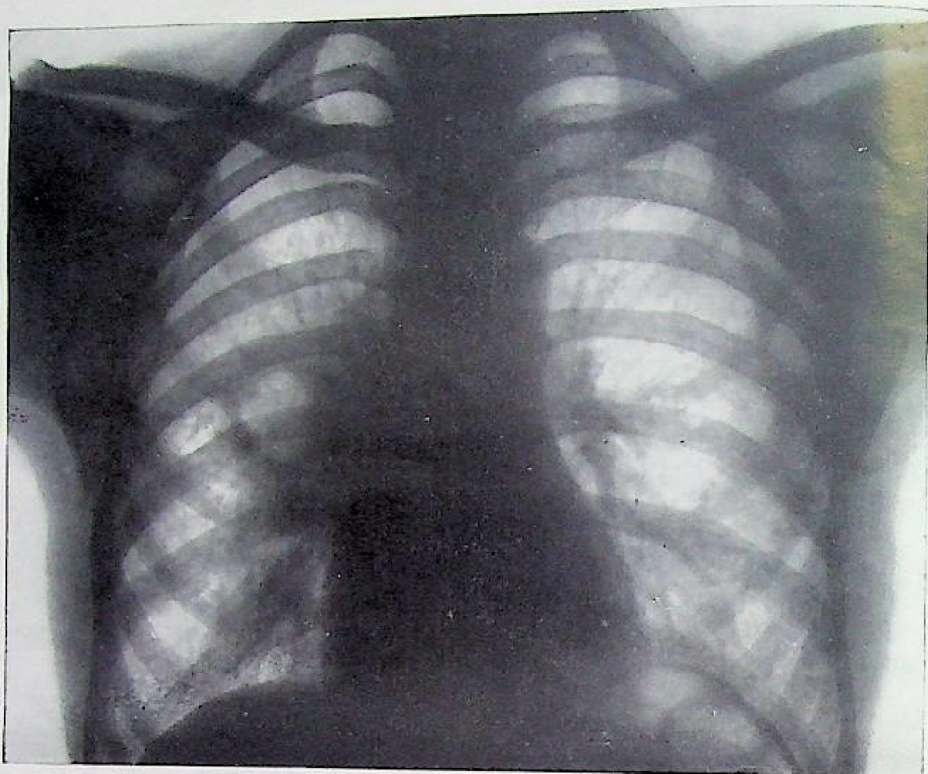
चित्र क्रम-संख्या १ से ९ तक का विशेष विवरण पृष्ठ संख्या ६६ से ७४ पर देखें।



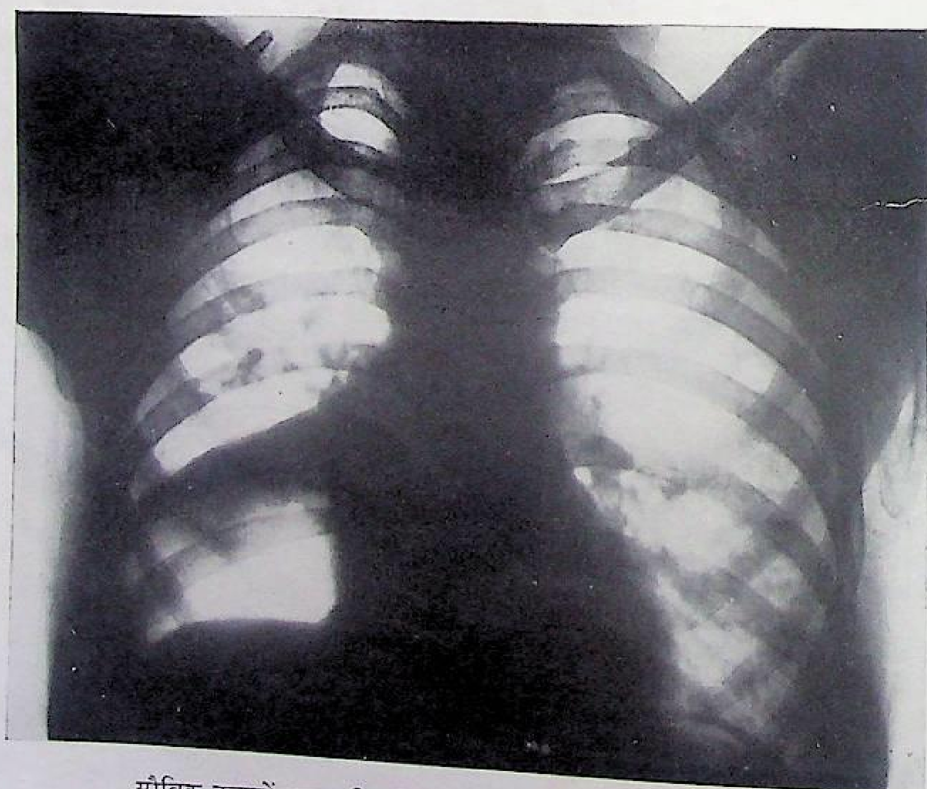
स्वस्थ फुफ्फस *(Healthy Lungs)* १



क्षय ( दक्षिण फुफ्फुस ) *Tuberculosis of Rt. Lung. Extensive mattling of right lung with diffuse mattling on left side* २



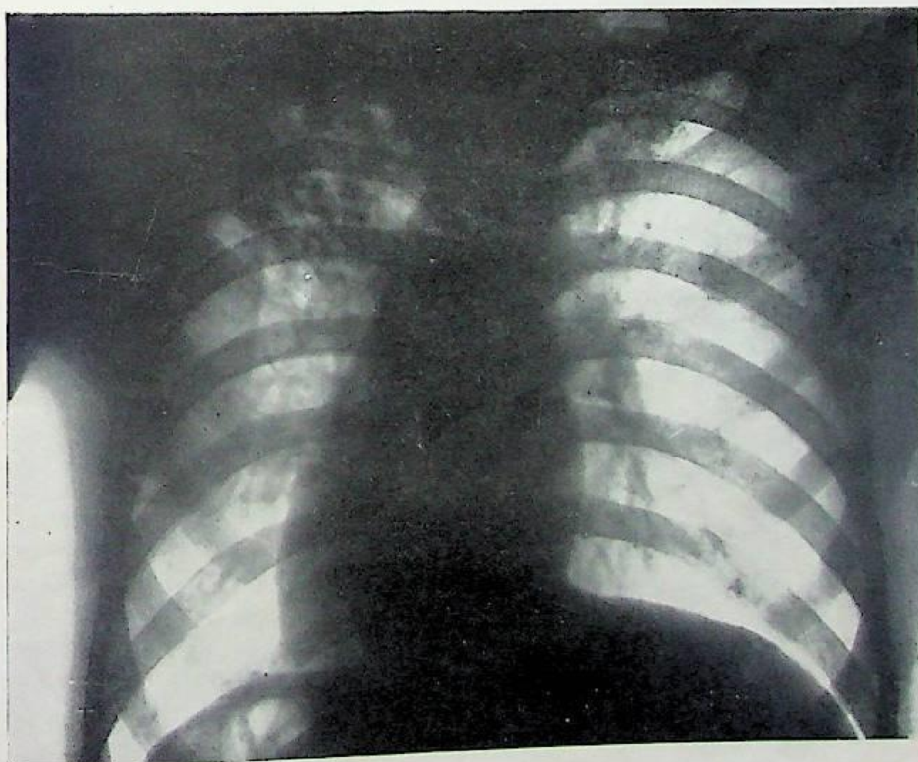
दक्षिण फुफ्फुस के मध्य में क्षयकृत गुहा ३



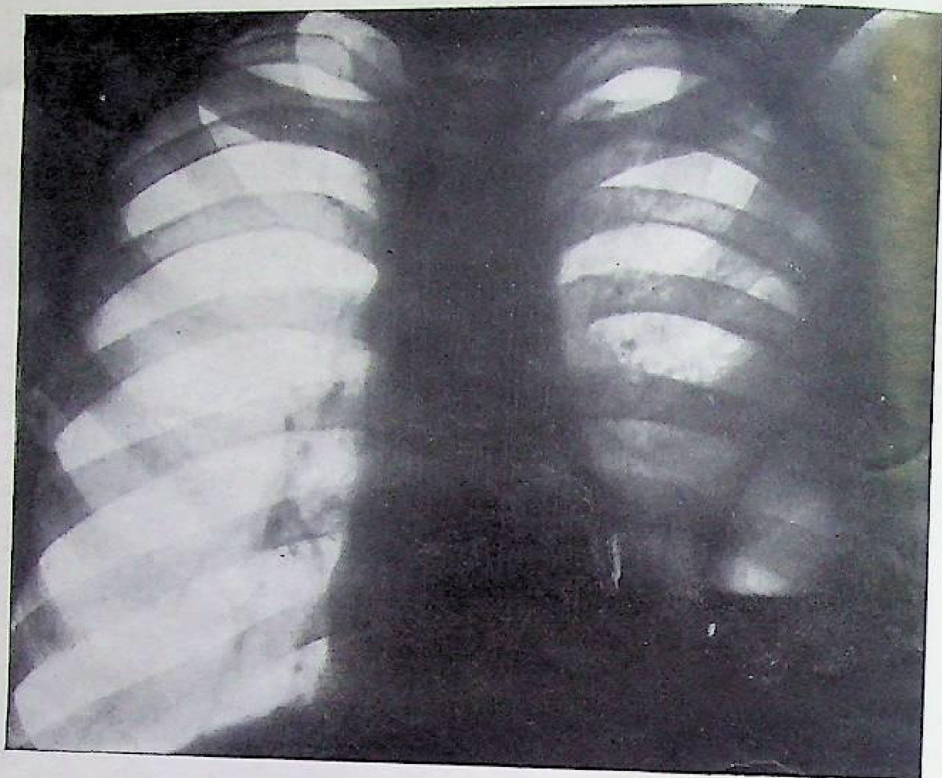
सौत्रिक तन्तुओं द्वारा पूरित विलुप्त क्षयगुहा (दक्षिण फुफ्फुस) ४



कृत्रिम विधि से वायुप्रवेश द्वारा संकुचित दक्षिण फुफ्फुस और मध्य में क्षय-गुहा ५



वाम पार्शुकास्थि के नीचे गुहा *(Cavitation of left side) sub-clavicular region* ६



द्रवयुक्त फुफ्फुसावरण शोथ दक्षिण पार्श्व (*Pleurisy with effusion right side.*) ७



फुफ्फुसावरण सोथ (सजल) *Pleurisy with effusion. Right lung—Pleurisy with effusion and Pneumothorax. Left Lung—Extensive mattling.* ८

(विशेष विवरण पृष्ठ १२७ पर देखें)

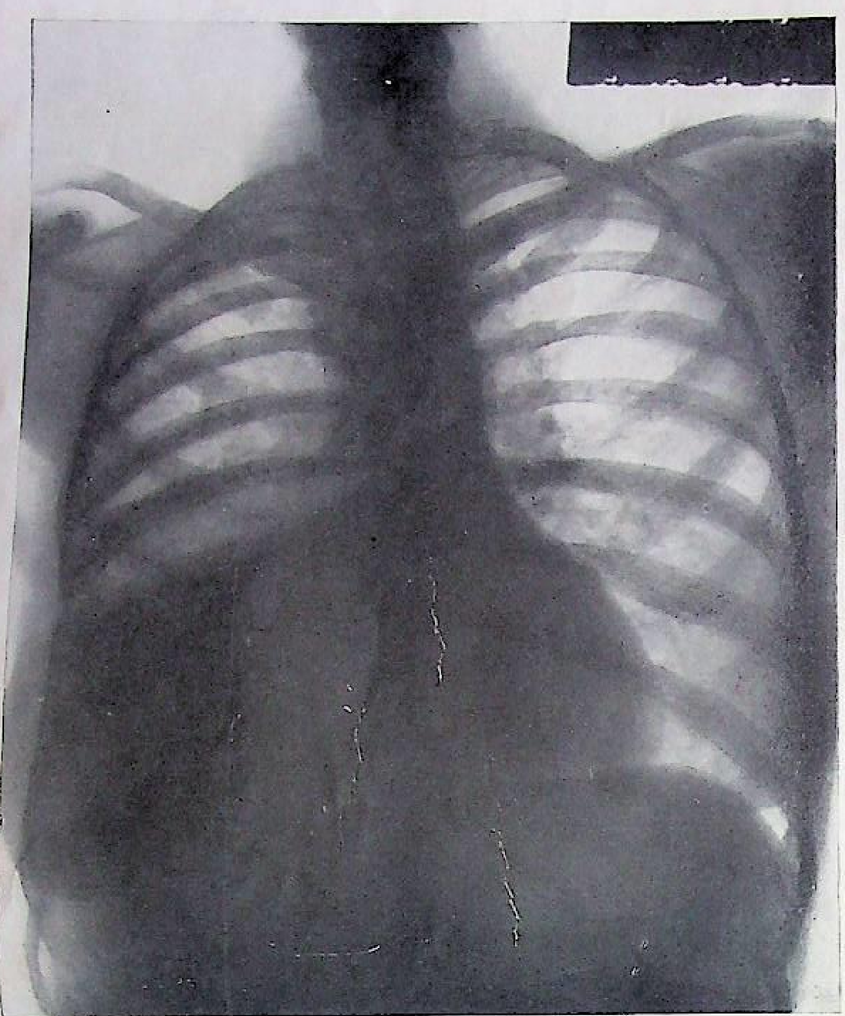


तीव्र संक्रामक क्षय (दोनों फुफ्फुस) *Acute Miliary Tuberculosis* ९

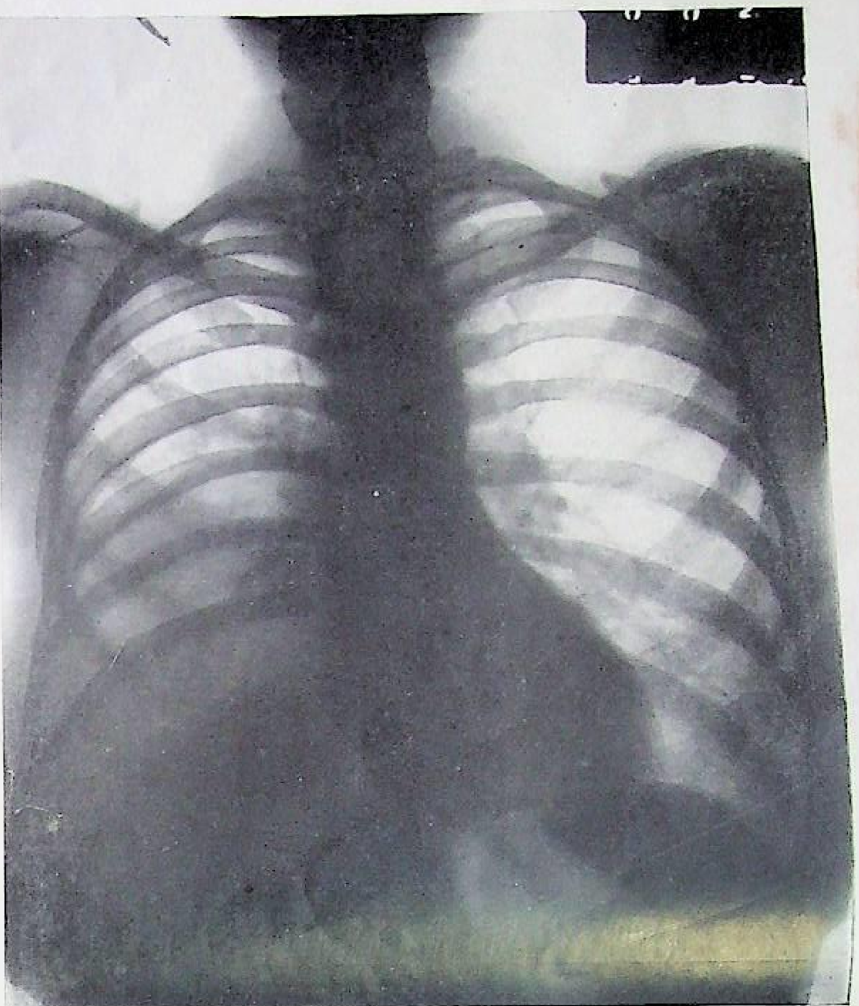


१० *Effusion and pleural Thickening* १२-२-५१

(विशेष विवरण पृष्ठ १२७ पर देखें)



११ Effusion and pleural Thickening ३-५-५१

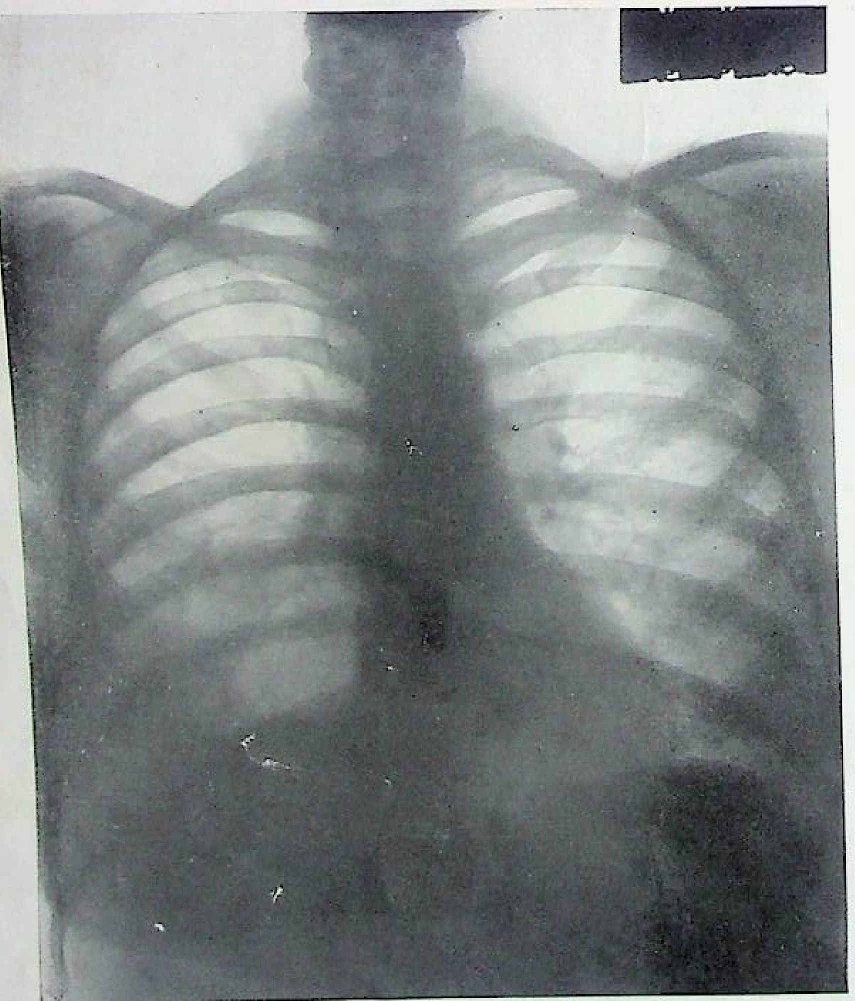


१२ उरस्तोय (*Effusion*) १-६-५१



(विशेष विवरण पृष्ठ १७२ पर देखें) (विशेष विवरण पृष्ठ-१७० से १७२ पर देखें)

(विशेष विवरण पृष्ठ १७२ पर देखें)



१३ *Thickened inter-lobular septum over the right lower Zone.*

१४-१२-५१

(विशेष विवरण पृष्ठ-१७० से १७२ पर देखें)




जाँघ में यक्ष्मा का संक्रमण—चित्र में यक्ष्मा द्वारा जाँघ की हड्डी में उत्पन्न क्षत स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। १४

(विशेष विवरण पृष्ठ १७० से १७२ पर देखें)



मेरुदण्ड में यक्ष्मा के संक्रमण से उत्पन्न क्षत।

१५



मेरुदण्ड में यक्ष्मा का संक्रमण—चित्र में यक्ष्माजनित क्षत

(१) **फुफ्फुस सन्निपात** (Pneumonia)—यहाँ इससे अभिप्राय विशेष कृमि (Pneumo Coccus) से होनेवाले रोग से है। इसमें फुफ्फुस का एक खण्ड अथवा एक खण्ड के एक या दो बड़े भाग कृमि से आक्रान्त होकर ठोस हो जाते हैं। एक्स-रे से देखने पर वह स्थल गहरा धुँधला दिखाई पड़ता है और वहाँ की श्वास-नलिकाओं और बड़ी रक्तवाहिनियों की बाहर की दीवार के मोटा हो जाने से फुफ्फुस-मूल से बहुत-सी शाखाएँ-सी उस स्थल की ओर बढ़ती दिखाई देती हैं। क्षय से इसका भेद हम दो प्रकार से कर सकते हैं। एक तो बलगम की जाँच करके, जिससे क्षय होने पर उसमें क्षय-कीटाणु पाए जाएँगे और दूसरा रोग का इतिवृत्त जानकर। क्षय में रोग का इतिहास लम्बा होगा। इसके अतिरिक्त साधारण नियम यह है कि क्षय में प्रायः शिखर का ठोसपना पहिले होता है, जब कि निमोनिया में बीच के या निचले खण्ड का।

(२) **कासजन्य फुफ्फुस सन्निपात** (Broncho-Pneumonia)—इसके एक्स-रे चिह्न तीव्र संक्रामक फुफ्फुस-क्षय (Acute miliary Tuberculosis) से मिलते-जुलते होते हैं, जिसमें ठोसपना छोटे धब्बों के रूप में सम्पूर्ण फुफ्फुस में फैला दिखाई देता है। भेद करने के लिए बलगम की जाँच आवश्यक है।

(३) **फुफ्फुस के धूलि रोग** (Pneumo Koniosis)—इसमें फुफ्फुस, श्वास-नलिका आदि में श्वास-वायु के साथ आनेवाले विभिन्न पदार्थों के धूलिमय कणों के-से सौत्रिक परिवर्तन होने लगते हैं, जो कि छोटे धब्बों के रूप में सब ओर फैले दिखाई देते हैं। फुफ्फुस-मूल से बाहर की ओर शाखाओं के रूप में हम इन्हें फैलते देखते हैं। ये शाखाएँ छोटे-छोटे दानों से बनी मालूम पड़ती हैं। जिन वस्तुओं के धूलिमय कणों से ये परिवर्तन होते हैं, उनमें लोहा, ताँबा, सिलिका, कोयला, सोना, सीसा तथा रूई मुख्य हैं। इन वस्तुओं की खानों या कारखानों में काम करनेवालों को यह रोग होता है। इसका भ्रम तीव्र संक्रामक क्षय (Acute miliary Tuberculosis) से हो सकता है। रोग का इतिवृत्त तथा श्लेष्मा की परीक्षा मुख्य भेदक चिह्न हैं।

(४) **फुफ्फुस संकोच** (Pulmonary Collapse or Atelectasis)—फुफ्फुसों का संकोच यद्यपि क्षय में भी होता है, पर बहुत-सी अन्य अवस्थाएँ भी इसका कारण बनी रहती हैं। छाती, उदर और नितम्ब पर चोट लगने से तथा बाल अर्धांग (Infantile paralysis) में कभी-कभी एक फेफड़े का निचला खण्ड, दोनों का आधार भाग अथवा पूरा एक फुफ्फुस संकुचित हो जाता है। इस प्रकार का संकोच फुफ्फुसावरण गुहा (Pleural Cavity) में हवा या पानी भरने से भी हो जाता है, जिन्हें Pneumothorax या Pleurisy Cum effusion कहते हैं। सिकुड़े हुए फेफड़े का भ्रम ठोस फेफड़े से हो सकता है, पर ऐसी अवस्था में भेदक चिह्न फुफ्फुस-रहित स्थान में हलकी छाया का आना है। रोग का इतिवृत्त भेदक है। फुफ्फुसावरण शोथ तथा पानी की छाया का होना प्रायः क्षयजन्य होते हैं।

(५) **फुफ्फुस शोथ** (Pneumonitis)—विशेष प्रकार की फुई (Fungus), सूक्ष्म कृमि (Virus) तथा कृमिविष आदि से संक्रमित होने के कारण फुफ्फुस का एक खण्ड ठोस हो जाता है, जैसे श्लेष्मज्वर या Primary atypical Pneumonia नामक रोग में। कई बार अनेक ठोस बने क्षेत्र फेफड़ों में फैले दिखाई देते हैं, प्रायः बाएँ फेफड़े के निचले भाग में। रक्त में श्वेताणुओं की वृद्धि और बलगम में क्षय-कीटाणुओं का न मिलना भेदक चिह्न है।

(६) **Tropical Eosinophilia**—दोनों फेफड़ों में तीव्र संक्रामक क्षय की तरह धुनी रूई-सी छाया दिखाई पड़ती है। ज्वर का कम होना, श्वेताणुओं की—विशेषकर Eosinophils की वृद्धि मुख्य भेदक चिह्न है।

(७) **श्वास-नलिका-वृद्धि** (Bronchiectasis)—इसमें श्वास-प्रणालियाँ स्थाई रूप से फैल जाती हैं। एक्स-रे में फुफ्फुस-मूल से बाहर की ओर फैलती हुई शाखाओं की-सी छाया आती है, जिनके सिरे पर क्षय-संक्रमण के-से चिह्न दिखाई पड़ते हैं। यदि रोगी के मुँह से रक्त भी आता हो, तो इसका क्षय से स्वभावतः भ्रम हो जाता है। इस रोग में श्वास-नलिका में व्रण होकर उसकी दीवारें खाई जाती हैं और वह चौड़ी हो जाती है। मुख्य भेदक चिह्न क्षय-कीटाणुओं का बलगम में न मिलना है। वैसे इसके

व्रण फुफ्फुस के बीच में या निचले खण्ड में होते हैं, जब कि क्षय के व्रण ऊपर के खण्ड में।

(८) **फुफ्फुस विद्रधि** (Lung abscess)—इसमें विद्रधि की गोल-सी छाया आती है, जो कि क्षय-गुहा की तरह होती है। इस प्रकार के व्रण शरीर में कहीं अन्यत्र पूय आदि पड़ने पर उसके उपद्रव के रूप में होते हैं। फुफ्फुस सन्निपात में, मुख में किसी पूयुक्त फोड़े का ऑपरेशन करते हुए उसके उपद्रव के रूप में अथवा उदरच्छदा कला की सूजन (Peritonitis) में उपद्रव के रूप में प्रायः ऐसा देखा जाता है। इसमें पूय-मिश्रित श्लेष्मा विशेष मात्रा में मुख से निकलती रहती है। क्षय-कीटाणु श्लेष्मा में नहीं मिलते।

(९) **फुफ्फुसार्बुद** (Neoplasm)—खाँसी, दर्द और श्वास-कष्ट मुख्य लक्षण है। एक्स-रे में अर्बुद के स्थान पर गहरी छाया दिखाई पड़ती है। फुफ्फुस-मूल की छायाएँ प्रायः बढ़ी होंगी, विशेषतः घातक अर्बुद होने पर, जैसे Carcinoma में। इसमें फुफ्फुस का प्रायः एक भाग संकुचित हो जाता है। अर्बुद प्रायः फुफ्फुस-मूल की तरफ होते हैं, जब कि क्षयजन्य परिवर्तन बाहर की ओर।

(१०) **फुफ्फुस का आंशिक नाश** (Gangrene of the lung)—फुफ्फुस महाधमनी की किसी शाखा के अवरुद्ध हो जाने से उससे सम्बन्धित फुफ्फुस का क्षेत्र गलकर नष्ट हो जाता है। शिरार्बुद द्वारा दबने से या Embolism (रक्तवाहिनी में किसी बाह्य पदार्थ का आकर उसे अवरुद्ध करना) में ऐसी अवस्था प्रायः देखी जाती है। एक्स-रे में व्रण की छाया आती है और रोगी के मुख से प्रायः बदबू निकलती रहती है।

(११) Sarcoidosis—इस रोग का कारण अज्ञात है। इसमें फेफड़े, प्लीहा, लसिकाग्रन्थियों तथा कर्णमूलग्रन्थि (Parotid) में छोटे-छोटे कठोर दाने उत्पन्न हो जाते हैं। इन दानों की विशेषता यह है कि ये गलते नहीं। फेफड़े में इसके दाने फुफ्फुस-मूल तथा श्वास-प्रणाली के साथ दिखाई पड़ते हैं, जिससे तीव्र संक्रामक क्षय का भ्रम हो जाता है। कर्णमूलग्रन्थि, प्लीहा तथा लसिकाग्रन्थियों की वृद्धि इस रोग की मुख्य निशानी है। इसके अतिरिक्त दृष्टिमान्द्य भी होता है।

(१२) **उपदंश** (Syphilis)—इस रोग में कभी-कभी फेफड़ों में छोटी-छोटी गाँठें (Gummata) उत्पन्न हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त सौत्रिक परिवर्तन तथा फुफ्फुस के एक खण्ड का ठोस होना आदि भी लक्षण मिलते हैं। रोग का इतिवृत्त तथा रक्त-परीक्षा भेदक है।

(१३) Haemosiderosis—प्रायः जीर्ण हृदय-मार्गावरोध (Mitral Stenosis) में, ऐसी अवस्था देखने में आती है। इसमें रक्त में से Haemosiderin निकल कर फेफड़ों में प्रक्षिप्त हो जाती है। इसकी सूक्ष्म, घनी, श्वेत छायाएँ सारे फेफड़े में फैली दिखाई देती हैं। कभी-कभी ये छायाएँ बड़े-बड़े समूह रूप में भी दिखाई पड़ती हैं। इससे तीव्र संक्रामक क्षय का भ्रम हो जाता है। बलगम की परीक्षा करें। क्षयरोग होने पर कृमि मिलेंगे।



# यक्ष्मा-निदान के विविध साधन

आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी, आयुर्वेदाचार्य, बी० ए०, डी० एस-सी०

"सचित्र आयुर्वेद" के सुपरिचित विद्वान् लेखक वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी, आयुर्वेद शास्त्राचार्य, बी० ए०, डी० एस-सी० की विद्वत्ता तथा कार्यकुशलता से आयुर्वेद-जगत् पूर्ण परिचित है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा आयोजित "नि० भा० आयुर्वेद-शास्त्र-चर्चा-परिषद--हरिद्वार" में विवेच्य विषय द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाक और प्रभाव पर आपने प्रमुखतया भाग लेकर समागत विद्वानों के समक्ष अभूतपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित किया था। यक्ष्मा जैसे कठिन रोग के निदान करने में अनेक चिकित्सकों से भूल हो जाने के कारण ही वे असफल हो जाते हैं। प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने आयुर्वेदीय पद्धति से निदान के भेदों का उल्लेख करते हुए यक्ष्मा-निदान के भेद तथा उसकी परीक्षा के प्रकारों का उल्लेख कर चिकित्सकों के लिए बहुत सुगम मार्ग बना दिया है। आशा है, पाठक इस लेख से अवश्य उपकृत होंगे। --स० सम्पादक

सामान्यतया जिस रोग में बराबर ज्वर वा कास रहे, अंस प्रदेश व पार्श्व प्रदेश उष्ण रहे, हस्त-पाद में जलन व गर्मी ज्ञात हो उसे 'राजयक्ष्मा' कहते हैं। इसके स्थान व हेतु-भेद से चार भेद होते हैं। किन्तु आजकल यक्ष्मा शब्द से रूढ़ि अर्थ में--फुफ्फुसविकारजन्य ज्वर-कास को यक्ष्मा समझा जाता है।

## निदान

जिसके द्वारा रोग का निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसे 'निदान' कहते हैं। अतः यक्ष्मा-रोग के निर्णय के लिए हमें कौन-कौन परीक्षाएँ, किन साधनों द्वारा करनी चाहिए, यही यहाँ का विवेच्य विषय है। रोग-निदानार्थ 'निदान पंचक' का सहारा लेना पड़ता है। निदान के निम्न ५ भेद हैं।



लेखक

(१) **निदान**--रोग प्रकोप के हेतु।

(२) **पूर्वरूप**--रोग होने से पूर्व के लक्षण।

(३) **रूप**--रोग हो जाने पर लक्षण।

(४) **उपशय**--रोग-शामक औषध, अन्न, आहार-विहार का सुखावह उपचार।

(५) **संप्राप्ति**--रोग की उपस्थिति व शरीर के विकृतिजन्य साधन।

इन पाँच प्रधान भेदों की तीन प्रधान कसौटियों द्वारा परीक्षा करते हैं। (१) आप्तोपदेश (२) प्रत्यक्ष और (३) अनुमान।

(१) **आप्तोपदेश**--विशेषज्ञों के तत्तद्ज्ञान सम्बन्धी प्राप्त विचारों को आप्तोपदेश कहते हैं। इसमें--विशेष कर शास्त्रीय विचार आप्तोपदेश का स्थान ग्रहण करते हैं।

(२) **प्रत्यक्ष**--आत्मा, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ व मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। अतः ध्यानपूर्वक पञ्चेन्द्रिय-ज्ञान द्वारा रोगी की स्थिति का अध्ययन करना प्रत्यक्ष कहलाता है।

(३) **अनुमान**--तर्क द्वारा साध्यज्ञातव्य लब्धज्ञान है। प्रत्यक्ष को हम ६ विभागों में विभक्त कर सकते हैं। (क) दर्शन बुद्धि, (ख) स्पर्शन बुद्धि, (ग) श्रवण बुद्धि,

(घ) गंध बुद्धि, (च) रस बुद्धि तथा (छ) मनोर्थ द्वारा लभ्य बुद्धि। इन षड्विध बुद्धियों द्वारा जो ज्ञान होता है, निदान में विशेष लाभप्रद है। आचार्य वाग्भट्ट ने इन्हें दर्शन, स्पर्शन व प्रश्न––इन तीन विधियों से परीक्षा करने का विचार दिया है। यह सूक्ष्म व संक्षिप्त विचार है। दर्शन क्रिया द्वारा दर्शन बुद्धि का, स्पर्श (शरीर-स्पर्श व ठेपनादि) द्वारा स्पर्श बुद्धि का कार्य तथा शेष श्रवण, बुद्धि, गंध बुद्धि द्वारा और इसी प्रकार रसना द्वारा ज्ञातव्य रस-ज्ञान की वृद्धि का पता लगता है। यदि रोगी पूर्व-रूप की स्थिति में आता है, तो चिकित्सक को विचारना पड़ता है कि कौन-कौन परीक्षा की जाय ?

**त्रिविध लक्षणों में**––(१) अंसताप, (२) पार्श्वाभिताप (३) करपाद ताप और (४) संताप (सर्वांगज्वर) की परीक्षा करें। यक्ष्मा शब्द का अर्थ है––शरीर का क्षय। यह क्षय जिस किसी भी प्रकार का हो, यक्ष्मा का स्वरूप ला देता है। शरीर के किसी भी स्थान में विकृति या क्षय होते ही सर्वप्रथम ताप की उत्पत्ति होती है। यक्ष्मा प्रारम्भ होने के कई मास पूर्व अंसदेश (स्कंध-प्रदेश) में उष्णता ज्ञात होती है। पश्चात् पार्श्वों में भी ताप का ज्ञान होता है। हाथ-पैर में भी जलन होती है। इस प्रकार कुछ दिन ये लक्षण होकर ज्वर रहने लगता है।

**स्पर्शन**––इस समय स्पर्श-विज्ञान की पद्धति द्वारा अंसदेश तथा पार्श्व देश को स्पर्श कर हाथ से देखना चाहिए क्योंकि थर्मामीटर इसका ज्ञान नहीं करा पाता।

**अंसप्रदेश**––सामने की तरफ ग्रीवा के नीचे अक्षक और उसके समीपस्थ पर्शुकाओं तक तथा पीछे की तरफ स्कंधास्थि के अर्धोत्तर ऊर्ध्व भाग तक सीमित है। यहाँ पर ताप तब होता है जब कि विशेष रूप से उरः स्थलीय फुफ्फुस के शिखरप्रान्त रुग्ण अथवा शोथयुक्त होते हैं।

**पार्श्व-प्रदेश**––आयुर्वेदीय शरीर में उरःस्थल (वक्ष) के वाम-दक्षिण पार्श्व भागों में जो तीसरी-चौथी पर्शुका से १०-११ तक रहता है, समझा जाता है। वास्तव में इस प्रदेश के नीचे फुफ्फुस के खण्डों का पार्श्व रहता है। अतः पार्श्व शब्द से कास, श्वास, यक्ष्मा-शोष एवं क्षत-क्षीण रोगों में फुफ्फुसीय खण्डों (Lobs) का प्रदेशीय भाग सम्मिलित रहता है। इनकी विकृति (शोष, शोथ, या व्रण की दशा) में पार्श्व संताप व पार्श्व रुग्ण शब्द का प्रयोग अधिक होता है। ये लक्षण जीर्ण तथा तीव्रकास-श्वास क्षय, क्षत-विवरी भवन (Cavities) आदि में अधिक मिलते हैं।

**कर-पाद दाह**––यह लक्षण शरीरगत किसी ओज या ओजतुल्य द्रव (धातु) के क्षय होने पर प्रारम्भ होता है। प्रमेह, प्रदर, शोष, यक्ष्मा, रसक्षय, रक्तक्षय तथा मांस-क्षय में अधिक होता है। मूत्र में धातु, लाला, अष्ठीला-ग्रन्थि का रस, शुक्र आदि किसी के शरीर से निर्गत होते ही अपना स्वरूप प्रकट करता है और पश्चात् दाह होता है। अतः यह यक्ष्मा के त्रिविध लक्षणों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होकर रोग की प्रथमावस्था में पहुँचने का द्योतक है। क्षय में प्रान्तीय नाड्यन्त भाग के क्षोभ से (Periferal nerve end) भी कर-पाद-दाह होता है। इनके अतिरिक्त निम्न लक्षणों को भी स्पर्श द्वारा जानना चाहिए।

(१) हृदयस्पंदन, नाड़ी स्पंदन
(२) ऊष्मा व शीतत्व
(३) मृदु व दारुण त्वक्
(४) श्लक्षण व खरत्व
(५) स्वेदलत्व या दारुणत्व

हृदयस्पंदन व नाड़ीस्पन्दन को नाड़ी-यन्त्र द्वारा तथा हस्तस्पर्श के प्रयोग से क्रमशः जानते हैं।

## सर्वाङ्गज्वर

यक्ष्मा के त्रिविध लक्षणों में सर्वांगज्वर प्रधान लक्षण है। इसकी परीक्षा स्पर्श द्वारा ही की जाती है।

(१) **स्पर्शजन्य**––स्वतः या परतः हस्त द्वारा स्पर्श कर ऊष्णता का अनुमान करना चाहिए।

(२) **दर्शनजन्य**––नेत्र की कान्ति में क्षीणता, ईषत् रक्ताभ, श्वेतवर्ण, कान्तिहीन व मांड की तरह दिखाई पड़ना।

(३) **मानसिक**––अरति, नेत्रचापल्य, नेत्र-दाह–ये लक्षण होते हैं।

(४) **नाड़ी**––नाड़ी की संख्या की गणना कर प्रति मिनट कितनी चलती है और उसका वेग तथा भार कितने हैं, देख कर पता लगाना चाहिए। इसमें (१) नाड़ी मार्दव तथा (२) रक्तभार की कमी दिखाई पड़ती है।

षड् व एकादश विध लक्षणों में निम्न प्रधान लक्षण होते हैं ।

| पूर्वरूप | | एकादशरूप | |
|---|---|---|---|
| च० चि० अ० ७ | सुश्रुत | चरक | सुश्रुत |
| १. प्रतिश्याय | श्वास | १. शिरसः परिपूर्णत्व | स्वरभेद |
| २. दौर्बल्य | अंगमर्द | २. कास | शूल |
| ३. दोष-दर्शन | कफसंस्रव | ३. श्वास | अंस-संकोच |
| ४. घृणित्व | तालुशोष | ४. स्वरभेद | पार्श्व-संकोच |
| ५. बलमांस परिक्षयः | वमन | ५. श्लेष्मच्छर्दन | ज्वर-दाह |
| ६. स्त्री-मत्स्य-मांसप्रियता | अग्निसाद | ६. शोणितष्ठीवन | अतिसार |
| ७. नखाभिवर्धन | मद | ७. पार्श्वसंवेदन | रक्तागम् |
| ८. स्वप्न में—— | पीनस | ८. अंसावमर्द | शिरसःपरिपूर्णत्व |
| केश-अस्थि-राशि | कास | ९. ज्वर | आरक्तच्छर्दि |
| भस्माधिरोहण--सूखा | निद्रा | १०. अतिसार | कास |
| जलाशय, वन आदि का | स्वप्न में——काक, शुक, | ११. अरोचक | कंठोध्वंस |
| देखना | शल्लकी, नीलकंठ के दर्शन | | |

| षड् रूपाणि | | त्रिविध लक्षण | |
|---|---|---|---|
| चरक | सुश्रुत | चरक | सुश्रुत |
| १. ज्वर | ज्वर | १. ज्वर | सर्वांगज्वर |
| २. कास | कास | २. कास | करपाद-दाह |
| ३. पार्श्वशूल | पार्श्वार्ति | ३. शोणितष्ठीवन | अंशपार्श्वाभिताप |
| ४. स्वर-भेद | स्वर-भेद | | |
| ५. वर्चोगद | अतिसार | | |
| ६. अरुचिः | अरुचिः | | |

इन ग्यारह, छै या तीन लक्षणों पर ध्यान दें तो कहीं अन्तर नहीं पड़ता। चरक में त्रिविध लक्षणों में अंसताप, पार्श्वाभिताप तथा सर्वांगज्वर के साथ रक्तष्ठीवन नहीं है। सुश्रुत स्पष्ट कहते हैं——ज्वर-कास व शोणितष्ठीवन तीनों का एक साथ होना ही यक्ष्मा का सूचक है। इस पर अगर हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो ज्ञात होगा कि दर्शन-क्रिया द्वारा ही वक्ष का निरीक्षण करना चाहिये।

## अंस-पार्श्व-संकोच

यक्ष्मा में जैसे-जैसे शरीर का क्षय होने लगता है, वैसे ही मांस का अंश भी कम होता जाता है। पर्शुकाएँ उभरी हुई दिखाई देती हैं। वक्षप्रदेश मांसरहित होता जाता है। मांसरहित प्रदेश में पर्शुकाओं के उभर आने पर चरक ने——"अवलीढ़ानि चास्य पार्श्वस्थीनि" ऐसा प्रयोग किया है। जब माँस की मात्रा घटने लगती है, तो क्षय के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। फुफ्फुस रुग्ण व शोथयुक्त हो जाता है और क्षयज विकृति की पूर्ति के लिये शरीर का जो क्रियात्मक विश्लेष होता है—उनमें संताप पहला लक्षण बनता है। जिधर फुफ्फुसव्रणवत् खात (Cavity) बन जाता है, उधर का वक्ष भारीपनयुक्त हो जाता है। सुश्रुत ने, इसे 'अंसावमर्द' संज्ञा दी है। व्रण पार्श्ववाला अक्षक-प्रदेश बिना व्रण वाले से उन्नत होता है और फुफ्फुसशिखर नत होता है। शोथयुक्त पार्श्व में संकोच दिखाई पड़ता है——श्वास लेने में रोगी, स्वच्छन्द श्वास न लेकर सम्हल कर श्वास लेता है और पार्श्व को सिकोड़े रहता है।

अतः परीक्षा करते समय दोनों तरफ के अंस-प्रदेश

तथा पार्श्व-प्रदेश को ध्यान पूर्वक देखें कि किधर का पार्श्व नत तथा किधर का उन्नत है और इसकी पसलियाँ मांस-पूर्ण है अथवा मांसावलीढ़ है। शोष में पर्शुकाओं का उभरा हुआ दिखाई पड़ना, फुफ्फुसों की विकृति व व्रणा-वस्था का पोषक है।

### अन्य अन्वेषणीय लक्षण

यक्ष्मा में कुछ ऐसे खास लक्षण होते हैं जो इसको छोड़ अन्य में नहीं पाये जाते।

**सर्वाङ्ग ज्वर** प्रत्यक्ष स्पर्श क्रिया द्वारा सरलता से जाना जाता है। स्पर्श करके नाड़ी की गति तथा नेत्र और त्वचा द्वारा इसका ज्ञान किया जा सकता है। रोग-निर्णयार्थ—आठ वस्तुओं की परीक्षा करने को चिकित्सकों ने बतलाया है—उनकी परीक्षा द्वारा भी तापादि का ज्ञान भली भाँति हो सकता है। यथा—

नाड़ीजिह्वास्यमूत्राणां परीक्षां यो न विन्दति।
मारयन्त्याशु जन्तून् हि स वैद्यो न च शोभनः॥
दूष्यंदेशंबलंकालमनलं प्रकृतिंवयः।
सत्वं सात्म्यं तथाऽऽहार अवस्थाच पृथग्विधाः
सूक्ष्मसूक्ष्माःपरीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्

—अ० हृ० सू० १

सुश्रुत द्वादश परीक्षा का, चरक उत्कल्पनीयाध्याय में ११ और विमानस्थान ८ म १० परीक्षाओं का निरूपण करते हैं। नीचे उन्हें संक्षेप में देते हैं।

| सुश्रुत | वाग्भट्ट | चरक | चरक |
|---|---|---|---|
| आतुरोपक्रमणीय अ० १२ | सू०अ० १२ | उत्कल्पनीयाध्याय | विमानस्थान ८ |
| आयु | दूष्य | दोष | प्रकृति |
| देश | देश | भेषज | विकृति |
| बल | बल | देश | सार |
| व्याधि | काल | काल | संहनन |
| ऋतु | अनल | बल | प्रमाण |
| अग्नि | प्रकृति | शरीर | सात्म्य |
| देह | वय | आहार | सत्व |
| सत्व | सत्व | सात्म्य | आहार-शक्ति |
| सात्म्य | सात्म्य | सत्व | व्यायाम-शक्ति |
| प्रकृति | आहारावस्था | प्रकृति | वय |
| वय | दोष | वयस्थान्तराणि | |
| भेषज | औषध | | |
| १२ | १२ | ११ | १० |

रावणकृत नाड़ी-विज्ञान में 'अष्टौपरीक्षेत्' में ८ की परीक्षा पर जोर दिया है।

नाड़ी-मूत्रं-मलं-जिह्वां-शब्द-स्पर्श दृगाकृतिः।
गदाक्रान्त शरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्॥

इन्द्रियस्थान अध्याय १ में व्याधि परीक्षणार्थ ३६ परीक्ष्य वस्तुओं की परीक्षा दी गई है। जिनमें—वर्ण-स्वर, गंध, रस, स्पर्श, सत्व, भक्ति, शौच, शील, आचार, स्मृति, मेधा, ग्लानिपूर्ण आहार-विहार, परिणाम, अपाय, उपाय, छाया, प्रतिच्छाया, स्वप्नदर्शन, दूताधिकार, शकुन, आकृति, विकृति, प्रकृति, बल-हर्ष, रौक्ष्य, स्नेह, तन्द्रा, गौरव, लाघव पंचनिदान, भेषज संवृत्ति, भेषज विकार, युक्ति इत्यादि प्रसिद्ध है।

अतः यक्ष्मा की परीक्षा में जहाँ सबका सहयोग परीक्षार्थ लिया जा सकता है, वहाँ एकादश व द्वादश पूर्वोक्त परीक्षण द्वारा संक्षेप परीक्षण करके भी बहुत कुछ ज्ञानोपार्जन किया जा सकता है। अतः यक्ष्मा की परीक्षा

इनकी परीक्षा कर निर्णय किया जाना उचित है। इनको यथा स्थान पाठक देखें। यहाँ केवल हम विशेष परीक्षण ही लिखना उचित समझते हैं।

**नाड़ी**—यक्ष्मा में ज्वर ९९ डिग्री से १०२ तक प्रायः रहता है। नाड़ी लध्वी और शीघ्रगामिनी होती है। एक मिनट में नाड़ी की गति ७२–८२ बार होती है। एक-एक डिग्री के ताप में ७ बार गति बढ़ जाती है। ९९° तक तो नाड़ी में कोई विशेष अंतर नहीं होता। रोगी अरति व गर्मी तथा बेचैनी की शिकायत करता है।

मध्याह्न में १-६ बजे तक विशेषकर ४ से ६ बजे तक नाड़ी की वृद्धि पाई जाती है। रात्रि में ९ बजे के बाद नाड़ी तीव्र हो जाती है। प्रथमावस्था में नाड़ी की गति १०० होने पर यक्ष्मा का ज्ञान प्रौढ़ हो जाता है। यह संख्या परिश्रम से बढ़ जाती तथा आराम से घट जाती है। नाड़ीस्पंदन संख्या ११६ तक हो जाती है। पुराने रोगियों में नाड़ी की गति अपेक्षाकृत कम रहती है।

**मूत्र**—यक्ष्मा रोगी का मूत्र अल्प और श्वेत-पीतवर्ण का होता है किन्तु; भार अधिक रहता है। नाड़ी की गति १०४ रहने पर मूत्र पीला आता है और मूत्र-त्याग के बाद दुर्बलता ज्ञात होती है।

**मल**—रोगी की स्थिति के अनुसार मल का त्याग होता है। या तो वेगावरोध अथवा आध्मान होकर मलत्याग नहीं हो पाता—पेट साफ नहीं होता। बली रोगी में यही सरलता से लक्षित होता है। दुर्बल रोगी में अतिसार के लक्षण ही मिलते हैं। सामान्य मलत्याग से भी रोगी बहुत कमजोरी अनुभव करता है। अरुचि होकर मन्दाग्नि बढ़ जाती है। रोगी क्षीण होने लगता है। किसी-किसी को तीव्र अतिसार के लक्षण होते हैं। आध्मान में शुष्क या गाढ़ा मल निकलता है। दोषानुसार शुष्क, रूक्ष-कृष्ण वात दोष प्राबल्य में और पीत वर्ण का पित्त में तथा श्वेतवर्ण का कफ में होता है।

**जिह्वा**—हल्दीपन रंग लिये-सफेद वर्ण की रहती है। कभी-कभी जिह्वा पर मैल का स्तर जमा रहता है।

**शब्द**—यक्ष्मा की प्रथमावस्था में जब कि पूर्ण लक्षण बनते हैं और षड् लक्षण या एकादश लक्षण विद्यमान रहते हैं, तो स्वरभेद हो जाता—आवाज बैठ जाती है। प्रतिश्याय बार-बार होने पर या कासाधिक्य में भी स्वर-भेद हो जाता है।

**स्पर्श**—ज्वर के रहने पर मध्याह्न में शरीर का ताप बढ़ा होता है। स्पर्श से रूक्षता, उष्णता तथा खरता का अनुभव होता है। कपाल अरुणाभ दिखाई पड़ता है। रात्रि में—विशेषकर मध्यरात्रि में ताप बढ़ जाता है। ४ बजे विना ताप के भी शरीर से पसीना छूटता है।

**दृगाकृति**—यक्ष्मी पुरुष के नेत्र श्वेत वर्ण तथा मांड की आकृति के होते हैं। श्रीमतत्व—यह विशेष लक्षण होता है। प्रथमावस्था में आकृति से स्निग्धता व चमकीलापन व्यक्त होता है। परन्तु; बाद में केवल नेत्र में ही स्निग्धता व श्वेतावभासता रह जाती है।

"अक्ष्णोःश्वेतावभासता चातिमात्रम्"

—शोष निदान—चरक

इन बातों पर विचार करते हुए भी यदि हम विशेष लक्षणों का अध्ययन करेंगे, तो निम्न लक्षण मिलेंगे।

(१) पुनः पुनः प्रतिश्याय का होना
(२) नाड़ी का शीघ्र व मृदुगामी होना
(३) श्रम न करने पर भी बलक्षय होना
(४) मध्याह्न-अपराह्न में ज्वर
(५) अधिक व अच्छा भोजन करने पर भी शारीरिक भार घटना।

**प्रारंभिक लक्षणों में**—(१) रात्रि-स्वेद, (२) रक्त-भार की कमी—नाड़ी मार्दव, (३) रिरंसा—मूत्र संस्थानीय-प्रजनन संस्थानीय, (४) अस्थि-संधि और हस्तपाद की अस्थियों का अग्रभाग स्थूल दिखाई पड़ना।

**कास व रक्तष्ठीवन**—इस रोग में कास होना और कफ का निकलना एक विशेष लक्षण है तथा यह अपना खास स्थान रखता है। प्रतिश्याय से खाँसी हो जाती है। कास में—कफ, कास के वेग की प्रथम दशा में—

(१) पिच्छिलम्—(चिकना निकलता है)।
(२) बहुलम् (गाढ़ा निकलता है।)
(३) विस्रम्—मांसगंधी कफ निकलता है, विशेष कर उस समय जब कि फुफ्फुसव्रण व विवर बन जाते हैं—सपूय कफ भी आने लगता है।
(४) हरितम्—हरे वर्ण का कफ निकलता है।
(५) श्वेतम्—श्वेत वर्ण का कफ निकलता है।
(६) पीतकम्—पीले वर्ण का कफ निकलता है।
(७) रक्तष्ठीवन—रक्त मिश्रित कफ निकलता है।

इन लक्षणों में प्रथम तो श्वेतवर्ण-झागदार कफ निकलता है, फिर बाद को क्रमशः पिच्छिलादि वर्ण का होता जाता है। ऐसा होना रस-वाहिनी स्रोतसों की विकृति का चिह्न है।

# यक्ष्मा-विनिश्चय

ऐसा भी देखा गया है कि क्षय रोग न होने पर भी चिकित्सक अनेक रोगियों म भय उत्पन्न कर देते हैं, इस भय से अनेक दुर्बल मनवाले रोगियों की मृत्युतक हो जाती है। मुझे भी चिकित्साकाल में ऐसे भयग्रस्त रोगियों की चिकित्सा करने का अवसर मिला है जो साधारण ओषधियों से और थोड़े ही दिनों में अच्छे हो गए।

रोग विनिश्चयात्मक भूल का एक उदाहरण विगत–यूरोपीय महायुद्ध है। सेनाओं के अनेक सिपाहियों को क्षयग्रस्त मानकर सैन्य-चिकित्सकों ने उन्हें सेनोटोरियमों में भेज दिया था। सेनोटोरियम में परीक्षण करने पर सिर्फ १८ प्रतिशत ही सिपाही क्षयग्रस्त मिले। फ्रान्स के एक प्रसिद्ध क्षय रोग विशेषज्ञ चिकित्सक "मेजररिष्ट" लिखते हैं कि, फ्रेंच सेना के १००० सेना को क्षयग्रस्त मानकर अस्पताल भेज दिया था। इन में ८०० सैनिक क्षयरहित थे। अतः राजयक्ष्मा का निर्णय करते समय निम्न बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

(१) विषमज्वर, इन्फ्लुएंजा, न्यूमोनिया, प्रसूतरोग, रोमान्तिका, कास, काली खाँसी, जीर्णप्रतिश्याय, पुराना अजीर्ण रोग, पाण्डु, फुफ्फुसावरणप्रदाह (उरस्तोय), रक्तष्ठीवन, कण्ठमाला, गलगण्ड, अपची, मधुमेह, क्षयज स्वरभेद या इस प्रकार के और कोई रोग पहले हुआ या नहीं ?

(२) रोगी के परिवार में पहले किसी को क्षय रोग हुआ था या नहीं ? रोगी पहले क्षयग्रस्त रोगियों के संपर्क में रहा है या नहीं ?

(३) रोगी अति व्यभिचारी, बाजारू, बासी या होटलों के पदार्थों का अति खानेवाला अथवा आर्थिक या कौटुम्बिक चिन्ता में डूबा हुआ तो नहीं है ?

(४) ज्वर प्रातःकाल कम फिर धीरे-धीरे बढ़ना, रात्रि को पसीना आना (पसीना से सब कपड़े भीग जाएँ), स्वप्न में अग्नि देखना, बताशेसदृश बँधा हुआ हरा-पीला कफ निकलना, धीरे-धीरे बल का ह्रास अधिक होना आदि लक्षणों में कौन-कौन मिलते हैं, प्रातः काल शारीरिक उष्णता ९७।। डिग्री लगभग रहती है और शाम को १०० से १०४ डिग्री तक तापमान बढ़ जाता है, बल धीरे-धीरे कम होने लगता है, प्रातःकाल खाँसी प्रारम्भिक अवस्था में शुष्क, फिर कुछ दिनों के पश्चात् कफ-युक्त हो जाती है, सूखी खाँसी होनेपर अधिक कष्ट होता है और अनेक बार निद्रा का भी नाश हो जाता है।

(५) कफ को जलाने पर मुर्दे सदृश दुर्गन्ध निकलती हैं, कफ में रक्त आता रहता है, अणुवीक्षण यन्त्र से परीक्षा करने पर कफ में कीटाणु प्रतीत होते हैं।

(६) एक्स-रे (क्ष–किरण) द्वारा फुफ्फुसों का चित्र लेने पर परीक्षा हो जाती है। स्वस्थावस्था में फुफ्फुसों का एक्स-रे चित्र लेने पर चित्र में किसी प्रकार की छाया नहीं पड़ती किन्तु; क्षय के कण हो जाने पर धब्बे पड़ जाते हैं।

(७) क्षयरोग की परीक्षा के लिए जबतक रोगी जाग्रतावस्था में रहे, २-२ घण्टा या ३-३ घण्टा पर शारीरिक ताप की परीक्षा कर लिखते रहना चाहिए, इससे ताप-क्रम पर से रोग निर्णय करने में सहायता मिलती है।

(८) युवती स्त्री के क्षयग्रस्त होने पर उसे मासिक धर्म के दिनों में ज्वर विशेष बढ़ जाता है।

(९) क्षयग्रस्त रोगी को अपथ्य खाने तथा मैथुन की प्रबल इच्छा होती है।

(१०) यदि अक्षिकास्थि पर नीचे और ऊँचे तथा अंशपृष्ठ पर अंगुली से ताड़न करने से ध्वनि मन्द हो जाय, फुफ्फुस शिखर-मर्मर ध्वनि में विशेषता हो, अथवा कोई नवीन ध्वनि सुनने में आवे, छाती एक ओर से चपटी प्रतीत हो, दीर्घ श्वास लेने पर दोनों फुफ्फुस समभाव से प्रसरित न हो, श्वासोच्छ्वास में फुफ्फुस का विकास स्वल्प हो, शारीरिक वजन (भार) क्रमशः कम होता जाय तो निश्चय करना चाहिए कि यह रोगी राजयक्ष्माग्रस्त हो गया है।



# TUBERCULOSIS

*By*

*Late* **Dr. D. N. Banerjee**, M. B. (CAL.) M. D. (BERLIN)

स्व० डा० डी० एन० बनर्जी का यह लेख उनके द्वारा लिखित पुस्तक 'पैथालॉजी' का एक अंश है। हमें दुःख है कि डॉक्टर साहब अब हम लोगों के बीच नहीं रहे; विगत २२ अप्रैल को आपका देहान्त हो गया। राजयक्ष्मा-अंक की विषय-सूची में आपने विशेष रूप से इस विषय का सन्निवेश कराया था और इस विषय पर आपका एकान्त आधिपत्य होने के कारण स्वतन्त्र रूप से एक लेख भी देने को कहा था। साथ ही 'पैथालॉजी' नामक पुस्तक में से कितना मैटर तथा किन-किन चित्रों का उपयोग हो सकता है; इसका निर्देश भी अपनी मृत्यु से चार रोज पहले आप कर गये थे। प्रस्तुत लेख उन्हीं के निर्देशानुसार चित्र के साथ तैयार कराकर, उनकी दिवंगतात्मा के शान्त्यर्थ प्रकाशित किया जा रहा है। सम्भव है, डाक्टर साहब यदि स्वतन्त्र रूप से इस लेख को लिखकर देते तो न जाने कितने नवीन विषयों का ज्ञान पाठकों को होता, फिर भी मैं आशा करता हूँ कि पाठकों के लिये यह लेख महत्त्वपूर्ण ही होगा। —स० सम्पादक

**Tuberculosis** is a specific infectious desease caused by the Mycobacterium tuberculosis and its toxin, and characterised by the formation of nodules called tubercles. A Tubercle is an inflammatory, more or less circumscribed nodule, which undergoes degeneration in the form of caseation, necrosis and ulceration or heals with the formation of fibrous tissue and subsequent calcification.

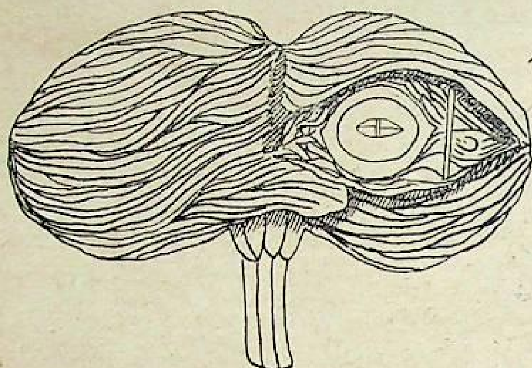


*Dr. D. N. Banerjee.*

The course and progress of tuberculosis can be divided both pathologically and clinically into different periods, each having quite distinct and peculiar manifestations, of which the tubercle formation is a particular phase. We may employ the name phthisis for this disease-entity. Tuberculosis is only a special reaction form in the course of phthisis.

Tuberculosis is a widespread disease in the animal kingdom. Man, domestic animals, even wild animals are subject to the disease. Cattle are commonest among the domestic animals to be infected. Monkeys usually suffer when confined. It is present in all races and all climates. The mortality from Tuberculosis is rising in India. In human beings one-seventh of all deaths are due to Tuberculosis. More than 90 percent of all individuals have a primary infection, of whom about two-thirds develop a re-infection. Of these reinfected individuals, half get absolutely well.

**Age incidence** :—It is rare under one year; after the fifth year it is more frequent, and most frequent between twenty to thirty. Mortality is high along the first five years of life, followed by a fall of death rate during adolescence with a rise of mortality, being very high between twenty and thirty years, especially in women. The children generally suffer from tuberculous affection of the lymph nodes, bones and joints, the so-called surgical tuberculosis. In the adult, the lung is the



*Tuberculous Tumour of the cerebellum.*

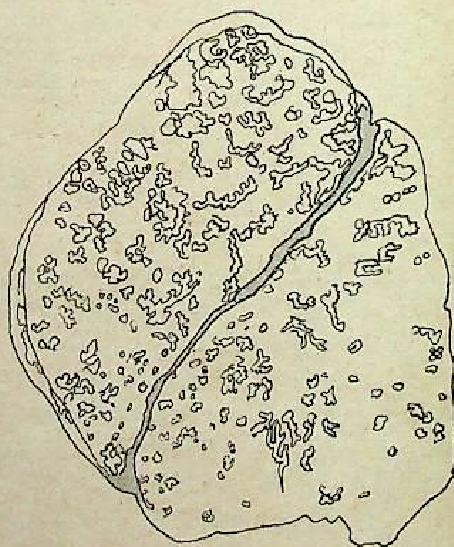
commonest seat. Bad hygienic condition, poor food, lowered vitality predispose to the infection.

**Sites** :—(1) Lungs—This is the commonest situation, being affected in about 95 per-cent of the cases, either primarily or secondarily from some other focus, (2) Serous membranes, e. g., Pleura, Peritoneum, pericardium, meninges etc. (3) Lymphatic glands. (4) Organs—Intestines, larynx, liver, kidney, spleen, brain etc. (5) Bones and joints. (6) fibrous tissue and muscles. (7) General :—This is generally known as acute miliary tuberculosis. In this condition the organism circulates in the blood and is carried to distant parts, causing either localised lesions, e. g., tuberculous meningitis or arthritis or general miliary tuberculosis. In adults, the lungs are the commonest situations of the disease, whereas, in children, glands, bones and joints are usually affected.

**Sources of infection** :—(1) Sputum—The patients suffering from pulmonary Tuberculosis expectorating large quantity of tubercle bacilli form the main source of infection. (2) Milk obtained from cows, suffering from advanced tuberculosis, is the source of infection. Cow's milk may also be contaminated by human type of bacilli when handled by persons, suffering from tuberculosis of lung, contaminating it by coughing. (3) Urine and faeces from patients suffering from tuberculo- sis of urogenital and intestinal tract ma also act as the source of infection. (4) Di charges from tuberculous sinuses or mil from tuberculosis of breast are also infectiv (5) Blood of the mother containing tuberc bacilli may be source of infection to the pla centa and subsequently to the foetus.

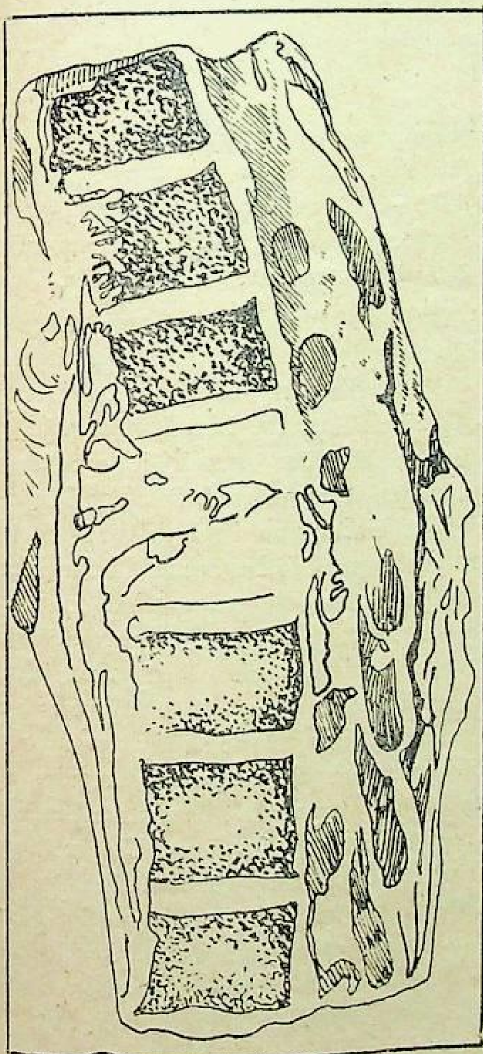
**Mode of infection** :—(1) By inhalation This is the commonest mode of infectio The dried sputum of a tuberculous patie containing a large number of M. Tuberculo sis, e. g., from the dust, from sweeping o the floor, wall, handkerchiefs etc., or th organisms in droplets of mucus expelled fro coughing, kissing, sneezing or even ordinar conversation, when inhaled by a health individual may reproduce the disease in him The infection takes place through inhalation, is proved by the facts that the lungs are com monly affected and persons in close contac with tuberculous patients are affected mor than others.

(2) By Ingestion—The tuberculous mater ial is taken up with the infected food materia commonly through milk. The organisms ar



*Disseminated acinous tuberculosis.*

either taken up by the tonsillar mucous membrane or are allowed to pass into the intestines. The organisms can enter the body through either intact or abraided mucous membrances. M. Tuberculosis coming in direct contact with any mucous surface gets absorbed into the system without leaving behind any area of destruction which may indicate their path of entry. From the tonsils they are carried by means of the lymphatics to the cervical lymph glands causing cervical adenitis. These glands become infected one after another and either burst externally or may



*Tuberculosis of the spine.*



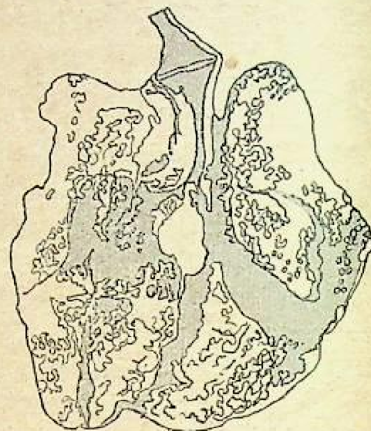
*Tuberculous ulcerations of the small intestines.*

infect the tracheo -bronchial glands and ultimately even the lungs themselves. From the intestinal mucous membrane the organisms enter into the mesenteric glands causing tabes mesenterica and subsequently peritonitis. Thus the sequence of events are Tuberculous ulcer of the intestines—tabes Mesenterica—Tuberculous peritonitis. When the organisms enter through intact intestinal mucous membrane they may cause primary tabes mesenterica without producing any intestinal lesion. Again the organisms pass unopposed through the intact mucous membrane as well as through the glands, producing primary tuberculous peritonitis. From the peritoneum the organisms may pass upwards through the lymphatics and may infect the bronchial glands or the lungs.

M. Tuberculosis have been obtained in pure culture from hundreds of tuberculous patients all over the world. The bovine type of bacilli could be found in only an astoundingly small number of such cases. The organisms causing pulmonary tuberculosis are usually of the human type, whereas those causing intestinal lesions are commonly of the bovine type. Bovine Tubercle bacilli are more virulent for the cattle than the human type of bacilli and the former are commonly found in affections of glands, bones and joints. Bovine type of infection has been experimentally produced by feeding monkeys with milk from infected cattle and also with meat of infected animals. Natural infection of cattle is commoner in Europe than in India. Pigs are also found to be infected. In some cases the sputum of tuberculous patient is swallowed by himself, giving rise to intestinal lesions of the human type. In the intestines the areas



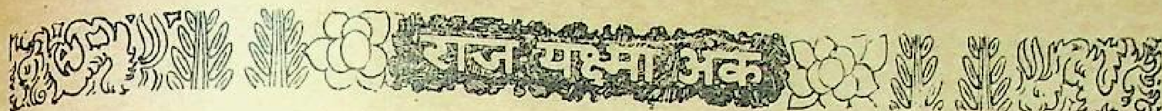
*Tuberculosis of the kidney. The kidney has been divided into two to show the interior. In one half the caseous matter is present, while in the other, it is removed by washing showing only the cavity.*

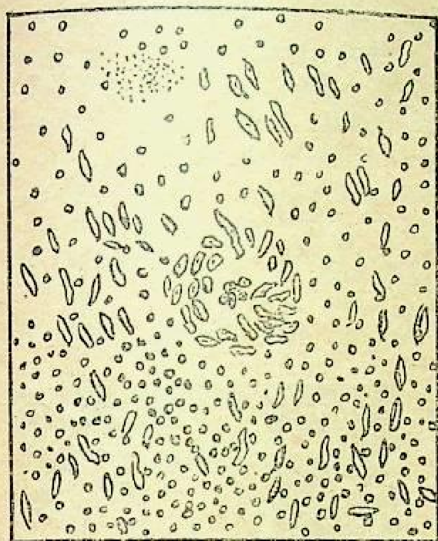


*Showing miliary tuberculosis of the lung from rupture of the caseous hilar lymph gland into the pulmonary artery.*

richly supplied by lymphatics are commonly affected. The infection of the stomach is rare. Of the intestines, the lower part is readily affected. Tuberculous lesions of the large intestines are not so common.

(3) Through Blood :—In case when the bronchial glands are affected, caseation takes place with adhesions of the neighbouring structures including the blood vessels. If the wall of one of these vessels is eroded, the caseous material is poured into and carried through the circulation into distant parts of the body. If one of the bronchial arteries is affected the organisms are carried to a part or whole of the lungs causing acute pulmonary miliary tuberculosis. In case the caseous matter is evacuated in the pulmonary vein, it is carried through the body, particularly in the bones, joints, urogenital organs etc., causing acute general miliary tuberculosis with or without localisation. Unlike Typhoid or other organisms, the M. Tuberculosis dose not grow while circulating in the blood. But it is transported from place to place by means of the blood current giving rise to local or general lesions. Thus the lung acts both as the receiving and broadcasting station for the organisms. M. Tuberculosis may





*A portion of the tubercle in a lymphatic gland.*

reach the blood from the lymph channels via the thoracic duct or in some instances the thoracic duct may itself be tuberculous. Tuberculous infection of the intima of the blood vessels may also be the source of tubercle bacillus being directly passed into the circulation.

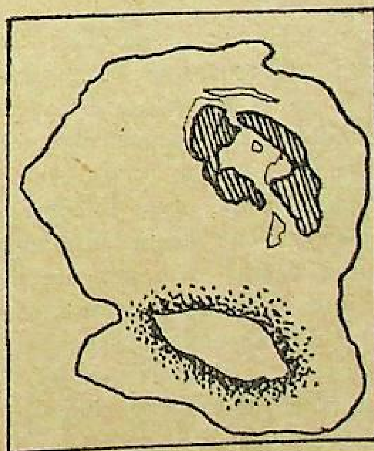
(4) Through continuity and contiguity of tissues :—The pleura and the peritoneum are very frequently involved on account of their proximity to the pulmonary and intestinal lesions respectively. As contents of the bronchus the Tuberculous material may be carried during coughing to another bronchus and finally to healthy lung.

(5) By hereditary transmission :—This may be through spermatozoa, ovum and placenta. Generally speaking tuberculosis is not transmitted through actual inheritance. The children of tuberculous parents are more pre-disposed to infection due to increased chance of exposure, diminished resistance and increased susceptibility.

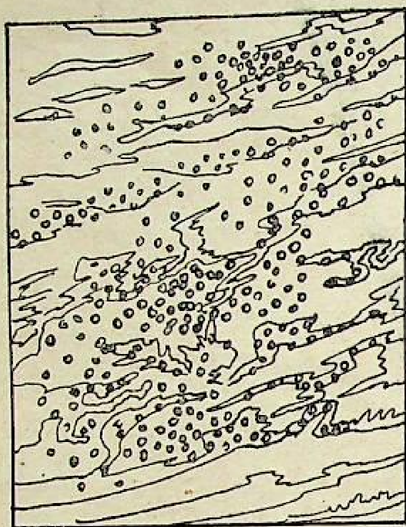
(6) By Inoculation :—In this condition the disease is always local and is commonly found in butchers, taxidermists, veterinary surgeons and those who perform post-mortem examinations. The infection takes place by the inoculation of tuberculous material of the dead animal through some abrasions present on the skin of the person infected. In case of butchers a localised wart like growth, tending to be very chronic is produced which is known as butcher's wart. Such infections are self-limited and rarely lead to pulmonary or other widespread infections.

**Mode of Spread** :—The spread of the lesion within the lung may take place in one or more of these ways—(1) by the lymphatics (2) through aspiration of tuberculous material from a recoverd area into healthy portions forming tuberculous broncho-pneumonia and (3) through involvement of the lumen of the pulmonary artery by the lesion and transmitting into other parts, producing the miliary tuberculosis. The organisms leave the body when the lesion is situated in direct or indirect communication with the exterior of the body e. g., in the lungs, alimentary tract or the urogenital tract.

**Acute Miliary Tuberculosis** :—This condition is characterised by the presence of a large number of small grey tuberculous nodules, all being more or less of the same



*Tuberculosis of the thoracic duct.*

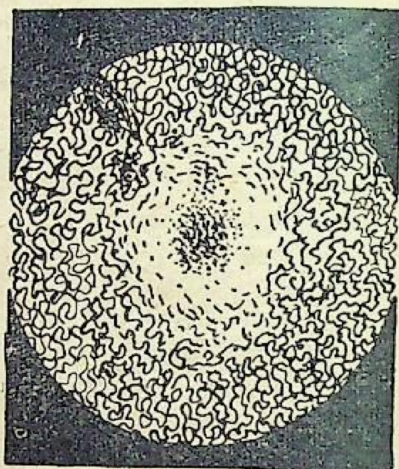


*Tuberculosis of the heart.*

age and same character due to sudden extensive dissemination of the organisms throughout the lungs or throughout the whole body.

The occurence of acute generalised tuberculosis requires at least 6 factors. (1) Existence of previous focus, (2) involvement of blood vessel, (3) Liberation of large number of virulent organisms in the blood stream, (4) an allergic condition of the individual and (5) the lesions are generally discrete as sufficient time is not available to coalesce together to form large masses.

Miliary tuberculosis indicates that the tissue finds sufficient time to produce local reaction in spite of apparently very heavy blood invasion. This shows that the tissue must have attained a certain amount of immunity beforehand due to some primary focus, otherwise the heavy invasion would have caused death. The presence of tuberculous lesions in remote organs at once suggest that the tuberculous infection must have reached the organs through the blood stream. As the number of the organisms are much small, the lesions are naturally localised. But on the other hand, if the discharge is heavy, the lungs will show a large number of miliary nodules, all of same size and appearance. This constitutes acute pulmonary miliary tuberculosis. If the material is discharged into the pulmonary vein, the bacilli will pass through the left heart and aorta and will be distributed throughout the whole body, forming acute general miliary tuberculosis. Acute miliary tuberculosis is bacteriamia and is manifested clinically as that of acute general toxaemia like typhoid fever.



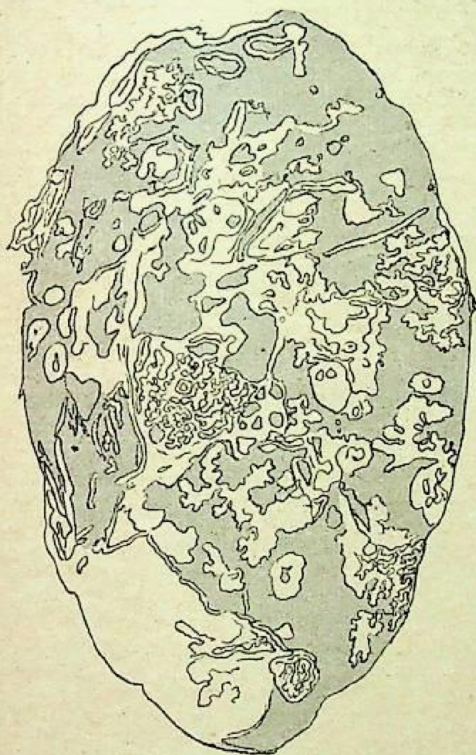
*Tuberculosis of the liver.*

The symptoms closely resemble those of Typhoid fever with meningeal complications.

**The Common seat of miliary tuberculosis** :—The lungs are affected very frequently and most extensively. Then come liver, kidneys, spleen, testes and meninges. Ovaries, breast and voluntary muscles are rarely affected.

**Pathogenicity** :—Tuberculosis is the result of the fight between virulence of the organisms vs. resistance of the individual. Pathogenicity depends upon (1) Virulence of the organisms, (2) the dose of the organism, (3) resistance or immunity of the tissues of the individual and (4) the degree of allergy to the toxin of the tubercle bacillus. All cultures of tubercle bacillus are not pathogenic to man nor to all animals. The bovine

strain plays a very minor role in the production of the human pulmonary tuberculosis. All human tuberculous lesions of the lungs are due to the human type. The affections of the bones and joints, lymph nodes, the surgical types of human tuberculosis and also many cases of tuberculous meningitis and general miliary tuberculosis of children are caused by the bovine type. It is a common fact that both types are rarely found together ; thus the occurance of pulmonary tuberculo-



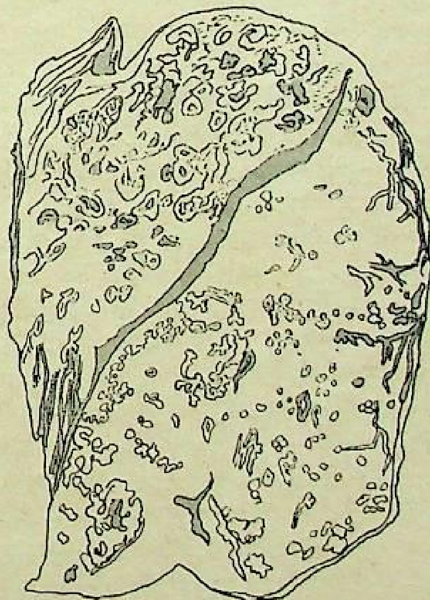
*Lobular and acinous Tuberculosis.*

sis and surgical tuberculosis at the same time is rare. The immunity produced by one type protects the individual from infection with the other. Bacilli of human type may not infect the cattle and vice versa. Again, the question of tissue resistance plays a very important part in the role of infection, some tissues being more vulnerable to infection, than others.

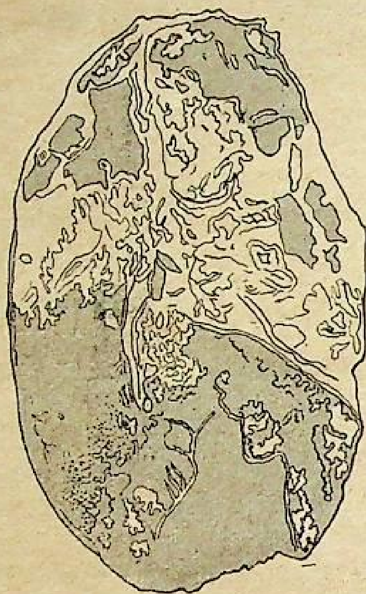
Tuberculosis is mainly a disease of civilised people, who live in populous aggregated towns. Long continude tuberculous diseases in civilised people often confer increasing degree of resistance to infection while people living isolated but coming in contact with civilised races show absence of immunity and so the disease takes a virulent form.

The pathological condition produced in the human body by tuberculosis are (1) formation of a tubercle, forming daughter and grand-daughter tubercles which may ultimately agglomerate to form a tuberculoma. Caseation, sclerosis, calcification take place according to the progress of the disease. (2) No organ or tissue is exempted from lesion of tuberculosis. The organs commonly affected are (a) lungs and pleura, (b) alimentary tract, (c) lymph nodes, (d) bones and joints, (e) kidneys, (f) liver, (g) peritoneum, (h) meningitis, (i) pericardium, (j) miliary tuberculosis affecting the whole body.

**Morbid Anatomy** :—The earliest circumscribed tuberculous lesion is a tubercle.



*Fibro–caseous Tuberculosis.*



*Caseous Tuberculosis.*

This is a very small, round or ovoid, raised nodule, generally colourless or transparent, often white in colour on account of central caseation. The size varies from pin-point to a pea. As the stage advances, secondary tubercles form surrounding the original one with involvement of the vascular supply of the central part resulting in necrosis. The central necrosis is not only due to the want of blood supply, but mainly due to the direct action of the toxin of the tubercle bacillus on the tissue elements. This toxin may also lead to thrombosis and necrosis of the capillary wall thus providing further avascularity. The nodules may be single and isolated or may appear in large number disseminated over a great area of the same organ or distributed on several or even all the organs at the same time.

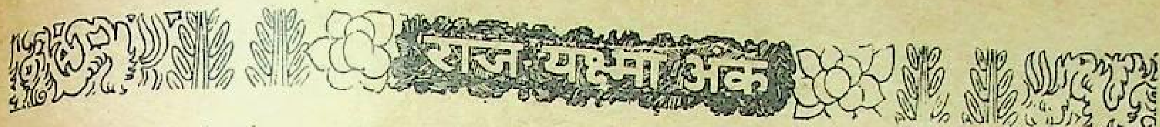
Fresh tubercles appear surrounding the necrosed zone until all the tubercles coalesce forming one single mass with caseation at the centre, called tuberculous. In the case of an acute process the extension is rapid and encapsulation rare ; whereas in chronic conditions a large amount of fibrous tissue surrounds the focus and may often check the further progress. In very chronic conditions the encapsulation may be complete and no further tubercles form outside the capsule.

Three stages of pulmonary tuberculosis are usually met with, viz (1) Congestion, (2) Consolidation, (3) Cavity formation. The above process is true for all tuberculous conditions whether of glands, organs, bones or joints.

Nutritional disturbance is the rule in all tuberculous lesions, hence, sooner or later caseation takes place. The cellular elements undergo cloudy swelling and fatty changes and form a cheesy mass. In case of chronic conditions it is encapsulated and in some instances may be calcified. Calcification does not mean that the organisms are dead. They remain dormant and may set up an inflammatory process at a later date if the soil become favourable. Complete healing may take place by fibrosis.

**Tuberculosis of the animals** :—Animals are also liable to be infected by M. Tuberculosis. Guinea-pigs and rabbits are very susceptible to the infection. Domestic animals particularly the cattle are often naturally infected. The infected cattle show no symptoms of the disease unless in an advanced condition. This is the reason why tuberculous disease of the glands, bones and joints are so common especially amongst children. Pigs, monkeys, goats, cats, horses and birds are also found to be infected naturally. Bovine T. bacillus is more virulent to cattle than the bacillus of the human type.

**Immunity and susceptibility** :—A man or an animal already infected with M. Tuberculosis reacts differently, from one not so inoculated, to subsequent infection of the organism or its products. This allergic responce in tuberculosis may be indicated by no symptoms at all, or by symptoms of high fever, cough, anorexia etc.



**Primary infection and re-infection :—** The active tuberculosis of the adult is the result of re-infection from outside. The primary infection generally takes place in the lungs and may occur in various parts, but the sites of predilection are the upper lobes, especially of the right lung. The primary focus of infection of the lungs is, as a rule, subpleural. This explains the so common attacks of pleurisy, which precede an attack of tuberculosis of the lungs. The primary lesion undergoes caseation but cavity formation does not take place. In a majority of instances the primary infection heals completely leaving only a scar which may be calcified or even ossified. The primary effect of M. Tuberculosis with respect to the lung is usually mild and less destructive than that found in later stages. This destructive behaviour in the later stages is entirely not due to the causative organism itself, but to the allergic changes in the tissues, produced as a result of the primary lesion.

The lesions of re-infection are usually multiple and generally affect the apex of the lungs, about one inch below the extreme tip, less frequently other portions and are situated more within the substance than subpleurally. The right lung is affected more frequently than the left one. Healing takes place by the production of fibrosis. The lymphatics are blocked early so that the tuberculous material rarely reaches the regional lymph nodes, rendering the tuberculous focus more pigmented. Calcification of the caseous material may also take place. Endogeneous re-infection is that due to metastasis in the lungs alone or other parts of the body from tuberculous material derived from a primary focus already present in the same individual. Exogeneous re-infection is that due to infection of the lung, already the seat of tuberculosis, with tuberculous material from further external source. The primary infection generally takes place in the childhood which leads to



*Fibrocaseous Tuberculosis of the lung with cavities.*

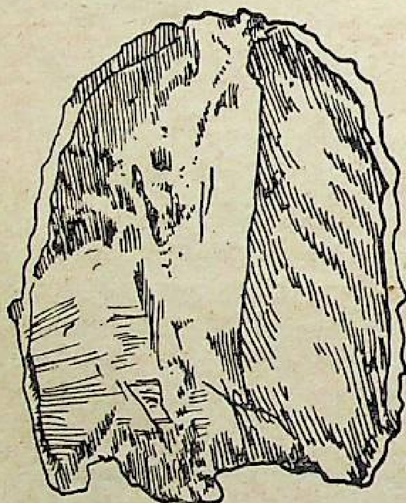
immunization of the individual so that the re-infection in the adult, as a result of fresh sufficiently massivs infection, breaking down the immunity, leads to the formation of fibrocaseous type with cavity formation ; while the lesion of the primary infection is more caseous.

**Tuberculosis of lymph glands :—**Tubercle Bacilli, gaining entrance into the lymphatics from the mucous surfaces of respiratory tract enter into the lymph glands through blood. Caseative form is the commonest form of the disease. Tuberculosis of bones and joints occurs commonly in children in the first 6 years of life. In children the process is slow. Adults are however not immune to it. Tuberculous arthritis happens in the majority of cases but the infection of the joints may occur primarily. In long bones, the epiphysis is the commonest site. In short bones, the disease begins in the diaphysis on account of their arborescent blood supply.

**Tuberculosis of the vertebrae :—**The spine is the commonest site of bone tuberculo-

sis, because the spinal column is subject to many strains through weight bearing. Further the spine is so deeply placed that earliest manifestations are obscure and complete immobilisation is difficult. Commonly the centre of the body of the vertebra is affected but in adults it begins under the periosteum on the anterior surface.

**Tuberculosis of the chest wall** :— This is generally found under the following conditions :—(1) Pleurocutaneous sinuses as complication in some cases undergoing artificial pneumothorax treatment. (2) Infec-



*Pyopneumothorax. Note the great downward displacement of the left dome of the diaphragm.*

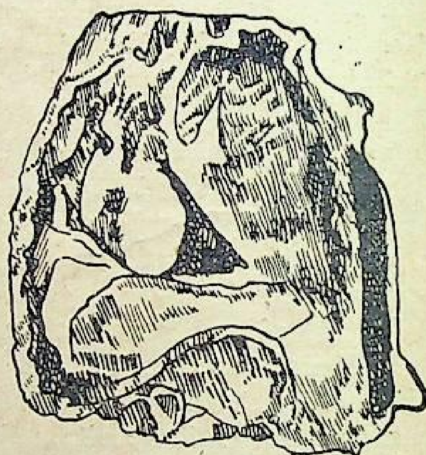
tion after thoracoplasty or extrapleural pneumothorax. (3) Tuberculosis of the rib, sternum, perio steum and cartilage. (4) Extension along the endothoracic fascia which lies between the ribs on the outside and the pleura on the inside and containing numerous lymphatic channels and lymph nodes. A cold abscess may form, which may burrow between the ribs and present itself under the skin.

**Intestinal Tuberculosis** :—Sources of infection—(1) by drinking tuberculous milk and (2) by swallowing tuberculous sputum. It is of five types—(1) Ulcerative, (2) Hypertrophic, (3) Mixed, (4) Tubercular and (5) Polypoid.

Ulcerative type in children and adults :— This is both primary and secondary to lung infection. The small intestines is involved in largest number than the large intestine.

Hypertrophic Tuberculosis :—The formative process is in preponderance to the destructive process. Common in young adults.

Mixed type :—Main changes are of pro-



*Pyopneumothorax opening into the abdominal cavity through the diaphragm. The opening is seen at the base of the left chest. Note displacement of the heart and the mediastinum. A band of adhesion at the apex prevents complete collapse of the lung.*

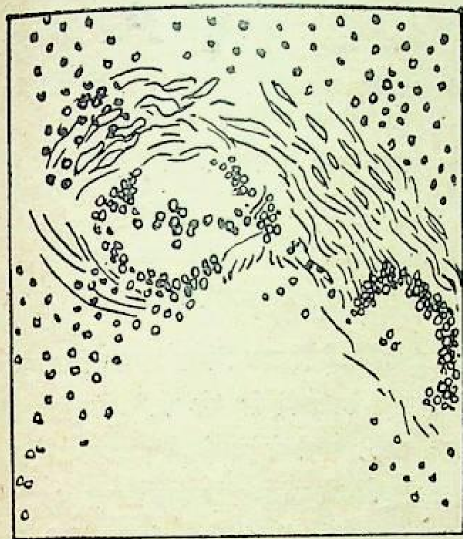
ductive type in which there is a marked localised thickening resembling a tumour mass.

Tubercular type :—There is hyperplasia of lymph nodes and lymph follicles only.

Polypoid type :—There is noduler or finger like process of different dimension projecting from the surface of the intestinal mucosa.

**Tuberculosis of the Kidney** :—kidney is the commonest site of tuberculosis next to

the lung. The course of the disease varies from a few weeks to years. Tuberculosis of the kidney may appear in any one of these form :—(1) It may occur primarily due to



*Showing giant cells with round and endothelial cells above and caseation below.*

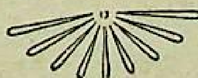
acute general tuberculosis, when both the kidneys are affected by miliary tuberculosis without marked symptoms. This form is more frequent in children. (2) It may be secondary from tuberculosis affection of the bladder. The infection spreads upwards and attacks both kidneys. This form of tuberculosis generally affects the young adult males. (3) The kidneys may be affected from primary lesion of tuberculosis which generally involves one kidney. The infection spreads from the ureter to the bladder and also gives rise to a tuberculous pyonephrosis. Young adult males are frequently affected.

**Chronic Tuberculosis of the Kidney :—** Chronic renal tuberculosis may be divided into four groups, e. g. (1) tuberculous ulceration of the apices of the pyramids, (2) chronic disseminated, (3) cheesy cavernous and (4) mixed forms.

**Chemical pathology :**—The urine generally remains acid so long there appears no secondary infection. When caseous material from the kidney appears in urine it becomes thick and turbid often with presence of blood. Urine shows the presence of M. Tuberculosis by examination of the centrifugated deposit.

**Tuberculous bacilluria :**—Urine may contain bacilli, even when the tuberculous process is in any part of the urinary tract other than the kidney. If the kidney is involved, urine will invariably contain the bacilli. Hence the presence of bacilli in the urine is quite consistent with the absence of any gross lesion in the kidney.

Bladder may be infected from the kidney and the ureter. Tuberculosis of the genital tract may be due to infection of the epididymis or the seminal vesicle of one or both sides. Tuberculosis of the genital organs may be primary and may produce a renal infection and conversely the renal infection involves the genital tract as a complication. So the infection, when primary is always blood borne to the epididymis. When secondary it follows the primary focus elsewhere. In the female, the fallopian tubes are the first to be involved. The infection may extend to ovaries producing adhesions and matting up of all neighbouring structures. The infection may spread from the tubes to the uterus producing tuberculous endometritis.



# पाश्चात्य दृष्टि से विविध क्षयों का विचार

कविराज एस० एन० बोस, एल० ए० एम० एस० भिषग्रत्न

**कविराज सतीन्द्रनाथ बसु, एल. ए. एम. एस. भिषग्रत्न रिसर्च आफिसर-आयुर्वेदीय अनुसंधान विभाग, एस. जी. एम. मेडिकल कालेज, इन्दौर की विद्वता से आयुर्वेद-जगत पूर्ण परिचित है। आयुर्वेद और एलोपैथी पर आप का समानाधिकार है। आप के खोजपूर्ण लेख 'सचित्र आयुर्वेद' में बराबर प्रकाशित होते रहते हैं। राजयक्ष्मा के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिकों ने कहाँ तक प्रगति की है, प्रस्तुत लेख में उन्हीं के सारांशों का कविराज जी ने बहुत परिश्रम के साथ उल्लेख किया है। पाठकों की सुविधा के लिए इस लेख को तीन अंशों में विभक्त करने पर भी लेख अति विस्तृत हो गया। मुझे दुःख है कि स्थानाभाव के कारण इस लेख के दो अंश ही हम प्रकाशित कर सके। शेष अंश आगामी अंकों में सुविधानुसार प्रकाशित किया जायगा। —स० सम्पादक**

पाश्चात्य दृष्टि से क्षयरोग का अर्थ शरीर के किसी भी अंश में क्षयरोग के कीटाणु Mycobacterium Tuberculosis (Commonly known as Tubercle Bacillus, formerly known as Bacillus tuberculosis) के आक्रमण से उत्पन्न हुई विकृति, जिसमें सूक्ष्म अथवा स्थूल व्रणों की उत्पत्ति होकर उन व्रणों में कालान्तर में पूय उत्पन्न होना, सड़ना, छाले पड़ जाना, अथवा चूनाजातीय पदार्थ में परिवर्त्तित हो जाना इत्यादि परिवर्त्तन होते हुए शरीर में विभिन्न प्रकार के स्थानिक तथा सर्वांगिक लक्षणों की उत्पत्ति होती है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों का मत है कि शरीर का कोई भी अंश इस कीटाणु के आक्रमण से प्राकृतिक रक्षा प्राप्त नहीं कर पाता। अर्थात् शरीर के सभी भागों में क्षयरोग हो सकता है।



लेखक

सन् १८८२ में काक (Koch) ने इस कीटाणु को क्षयरोग की उत्पत्ति का कारण बताया था, जिसके नामानुसार इस कीटाणु को Koch's Bacillus भी कहा जाता है। क्षयरोगज शारीरिक विकृति-युक्त स्थानों में इन कीटाणुओं की उपस्थिति से इस रोग का निदान किया जाता है। सूखे हुए थूक में ये कीटाणु कई महीनों तक जिन्दा तथा सक्रिय रहते हैं। क्षयरोगी के रहने के कमरे से जो गर्दा-धूल निकलता है, उसमें भी ये काफी मात्रा में मिलते हैं। आमाशयस्थ अम्ल-रस इन कीटाणुओं को ध्वंस नहीं कर सकता। मृत शरीर में भी यह जीवाणु दीर्घ दिन तक जीवित रह सकते हैं। परन्तु सूर्य-किरण इस कीटाणु के लिये तीव्र घातक है—विशेषतः हमारे देश की तीव्र सूर्य-किरण में ये कीटाणु अति स्वल्प काल में ही ध्वंस हो जाते हैं। ५ प्रतिशत कार्बोलिक एसिड का घोल इस रोग-जीवाणु के लिए घातक माना जाता है।

केवल मनुष्यों में ही नहीं, पशुओं तथा पक्षियों में भी क्षयरोग होता है; परन्तु तीनों जाति के रोग-जीवाणुओं में कुछ अन्तर अवश्य ही मिलता है। पशुओं के क्षयरोगज-जीवाणुओं से मनुष्य में, विशेषतः शिशुओं में रोग उत्पन्न होता है—हो सकता है; परन्तु पक्षियों के क्षयरोग-जीवाणुओं से मनुष्यों को विशेष हानि नहीं पहुँचती। पाशविक तथा मानविक दोनों प्रकार के क्षयरोग-जीवाणु मनुष्यों के लिए समान हानिकारक तथा खतरनाक माने जाते हैं।

शरीर में ये रोग-जीवाणु खास तौर से दो प्रकार से

पहुँच सकते हैं—एक तो क्षयरोगी के थूक से, जो कि सूखकर वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है और मनुष्यों के श्वास-मार्ग द्वारा प्रवेश करता है और दूसरा—क्षयरोगग्रस्त गाय अथवा भैंस के दूध से, जो कि मनुष्य की अन्न-नलिका के द्वारा प्रवेश करता है। और कुछ मूत्र-मार्ग से अथवा मल-मार्ग से निःसृत रोग-जीवाणु शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। क्षयरोगग्रस्त पशुओं के मांस-भक्षण से भी यह रोग मनुष्य-शरीर में संक्रमित हो सकता है। परन्तु प्रथमोक्त दोनों कारण ही प्रधान माने जाते हैं। क्षयरोग को वंशानुक्रमिक रोग कहना पूर्णरूपेण उचित नहीं होगा; क्योंकि इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है। किन्तु वंशानुक्रमिक रोगानुगामिता अथवा शारीरिक **कोषजाल** की रोग-संक्रमण-प्रवणता के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। वंशानुक्रमिक रोगियों के सम्बन्ध में यह मत ज्यादा प्रामाणिक माना जाता है कि गर्भावस्था में माता के रोगग्रस्ता अपरा से भ्रूणों के रक्त में रोग-जीवाणु संक्रमित होकर ही रोग उत्पन्न होता है। परन्तु ऐसे रोगियों की संख्या बहुत ही कम है। माता-पिता के क्षयरोग के कारण सन्तान में रोग-प्रतिषेधिका-शक्ति के ह्रास या अभाव को ही हम वंशानुक्रमिक रोगानुगामिता अथवा शारीरिक कोषजालों की रोग-संक्रमण-प्रवणता कह सकते हैं।

क्षयरोग के कीटाणुओं के अलावा शारीरिक दुर्बलता, मानसिक दुश्चिन्ता, दारिद्र्य, अस्वास्थ्यकर वास-भवन, पान, भोजन, घन वसति, दीर्घ दिनव्यापी रोग-भोग, विशिष्ट आघात, स्त्रियों में बारबार गर्भधारण, दीर्घ दिन व्यापी स्तन्यदान, प्रसवानन्तर उपयुक्त खाद्य तथा विश्रामाभाव इत्यादि को भी क्षयरोग की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त क्षेत्र बनाने का सहायक कहा जाता है। शरीर में क्षयरोग के जीवाणुओं के संक्रमण अथवा प्रवेश होने से ही रोगोत्पत्ति नहीं होती है। शरीरस्थ स्वाभाविक रोग-प्रतिषेधिका शक्ति के साथ संग्राम के बाद ही विजयी रोग-जीवाणु रोग उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। उसमें भी रोग-जीवाणुओं की संख्या, कर्मशक्ति तथा मनुष्य की रोग-प्रतिषेधिका शक्ति के तारतम्य के अनुसार ही रोगबल का निर्देश किया जा सकता है। कभी-कभी रोग-जीवाणु सामयिक रूप से अकर्मण्य होकर शरीर में रह जाते हैं, और कभी भी नए रोग-जीवाणुओं के सहयोग से अथवा कारणवश स्वाभाविक रोग-प्रतिषेधिका-शक्ति का ह्रास हो जाने पर रोगोत्पत्ति हो सकती है। कभी-कभी एक स्थान के संक्रमित रोग-जीवाणु वहाँ कोई लक्षण न प्रकट कर कालान्तर में दूसरे स्थान में संश्रित होकर रोग-लक्षण प्रकट करता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि क्षयरोग-जीवाणुओं के संक्रमण के पश्चात् भी रोगी साधारण स्वास्थ्यवान रहकर दीर्घ जीवन बिताते हैं। न उनमें कोई क्षयरोग के विशिष्ट लक्षण दिखाई पड़ते हैं, और न उनकी जीवनी शक्ति पर ही वे कोई असर डाल सकते हैं।

पाश्चात्य दृष्टि से इस रोग के निर्णय का निश्चयात्मक उपाय है—क्षयरोग के जीवाणु का प्रत्यक्ष दर्शन। शरीर में क्षयरोग के सभी लक्षण प्रकट होते हुए भी जबतक क्षयरोग के कीटाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता, तब तक निश्चयात्मक रोग-निर्णय नहीं किया जा सकता है। पाश्चात्य-शास्त्र के मत से लक्षणों को अवस्थाज्ञापक माना जाता है, रोग-निर्णायक नहीं कहा जा सकता। सुतरां क्षयरोग के कीटाणुओं का प्रत्यक्ष किये बिना क्षयरोग के सम्बन्ध में निश्चयात्मक सम्मति नहीं देनी चाहिए। थूक में, मल में, मूत्र में, आमाशय के उषाकालीन धावन में, मस्तिष्क-सुषुम्नाद्रव में, फुफ्फुसधराकला स्राव तथा संधिमत स्राव में जहाँ-जहाँ क्षयरोग का संदेह हो, वहाँसे परीक्षणीय पदार्थों की भलीभाँति जाँच कर क्षयरोग के कीटाणुओं का प्रत्यक्ष होने के बाद ही निश्चयात्मक रोग-निर्णय हो सकता है, अन्यथा रोग-निर्णय सन्देहात्मक ही रह जाता है। इसके अलावा रोग-निर्णय के लिए और अप्रत्यक्ष उपाय पाश्चात्य-शास्त्र की दृष्टि से बताये जाते हैं—जैसे कि "ट्यूबरकुलीन टेस्ट", चर्मान्तस्थ परीक्षा, चर्माभ्यन्तरगत परीक्षा, चर्मगत परीक्षा, रक्त परीक्षा, इत्यादि। इनका विशेष वर्णन यहाँ स्थानाभाव से देना सम्भव नहीं है। पाश्चात्य शास्त्रोक्त पुस्तकों से ज्ञात हो सकता है। पाश्चात्य दृष्टि से शरीर का ऐसा कोई भी अंश बाकी नहीं रह जाता है, जहाँ कि क्षयरोग नहीं हो सकता। शरीर के सब ही यन्त्रों में—चाहे श्वासयन्त्र हो, चाहे रक्त-संचालन, चाहे अन्नपचन, प्रजनन, मूत्र-निःसरण, लसीका-ग्रन्थियाँ, नाड़ी-संस्थान किसी से

सम्बन्धित हो—क्षयरोग का आक्रमण हो सकता है।

पाश्चात्य शास्त्रों में निम्नलिखित स्थान तथा आशयों में क्षयरोग का आक्रमण वर्णित है, जिससे यह प्रतीत होगा कि शरीर का कोई भी भाग क्षयरोग से अछूता नहीं है। इसके अलावा भी क्षयरोग हो सकता है; परन्तु सचराचर न होने से वर्णित नहीं है। **यन्त्रों व आशयों में से** (१) नासिका (Nose), (२) स्वरयन्त्र (Larynx), (३) क्लोमनलिका (Trachea), (४) फुफ्फुस (Lungs), (५) जिह्वा (Tongue), (६) ग्रसनिका (Pharynx), (७) आमाशय (Stomach), (८) क्षुद्रान्त्र (Small Intestines), (९) वृहदन्त्र (Large Intestines), (१०) उण्डुक (Caecum), (११) उण्डुक पुच्छ (Vermiform Appendix), (१२) गुदनलिका (Rectum), (१३) प्लीहा (Spleen), (१४) हृदयधराकला (Pericardium), (१५) उदर्याकला (Peritoneum), (१६) उदर्याकलाग्रन्थि (Mesenteric glands), (१७) उपजिह्विका (Tonsils), (१८) वृक्क (Kidneys), (१९) वस्ति (Bladder), (२०) पौरुषग्रन्थि (Prostate glands), (२१) वृषणग्रन्थि (Testis), (२२) अधिवृषणिका (Epididymis), (२३) वीर्यवाहिनी (Vas deferens), (२४) शुक्रप्रपिका (vesiculae Seminalis), (२५) वीजवाहिनी (Fallopian Tubes), (२६) स्तन (Breasts), (२७) मस्तिष्क सुषुम्नाधराकला (Cerebro-Spinal meninges), (२८) मस्तिष्क (Brain), (२९) लसीका-ग्रन्थियाँ (Lumphatic glands), (३०) लसीकावाही स्रोत (Lymphatic Vessels), (३१) मांस पेशियाँ (Muscles), (३२) चर्म (Skin), (३३) अस्थि (Bones), (३४) सन्धियाँ (Joints), (३५) सन्धिस्थित श्लेष्मधराकलाएँ (Synovial Membranes), अस्थियों में से (१) अस्थिधराकला (Periosteum), (२) प्रान्तास्थि (Epiphysis), (३) त्वचा (Bursa), (४) तालवस्थि (Palate), (५) अधोहन्वस्थि (Jaw), (६) कर्णमूलपिण्ड (Mastoid), (७) करोटि (Cranium), (८) चूड़ावलया (Atlas), (९) दन्तचूड़ा (Axis), (१०) पृष्ठवंश (Spine), (११) पर्शुका (Ribs), (१२) उर:फलक (Sternum), (१३) अंगुलीफलक (Phalanges), (१४) पार्ष्णि (O. Calcis), (१५) पादकूर्चास्थि (Tarsus); सन्धियों में से (१) कूर्पर सन्धि (Elbow Joint), (२) वंक्षण सन्धि (Hip joint), (३) त्रिकजघन संधान (Sacro-Iliac joint) (४) मणिबन्ध (Wrist joint), (५) कक्षा संधान (Shoulder joint), (६) शंखहन्वस्थि संधान (Temporo-Maxillary joint) तथा धमनियों में क्षय रोग के आक्रमण के सम्बन्ध में पाश्चात्य-शास्त्रों से हमें ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु इस निबन्ध में उपर्युक्त सभी स्थानगत क्षयरोग का वर्णन सम्भव नहीं है। यह तो एक वृहदाकार पुस्तक के रूप में ही प्रकाशित होने के योग्य विषय है। इस सम्बन्ध में हम उपरोक्त रोगों में से प्रधान-प्रधान विषयों पर प्रकाश डालने की कोशिश करेंगे। अन्यान्य विषयों पर केवल स्वल्प विवरण ही पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जायगा। विशेष विवरण के लिए पाश्चात्य शास्त्रोक्त पुस्तकों से अवलोकन किया जाना चाहिए। प्रधान रोगों के सम्बन्ध में आयुर्वेदीय चिकित्सा नहीं दी जावेगी; क्योंकि निबन्ध के विषय से यह विशेष रूप से सम्बन्धित नहीं है। केवल पाश्चात्य चिकित्सा के विशेषत्व का वर्णन किया जायेगा। क्षयरोगों के भीतर फौफ्फुसिक-क्षयरोग सब से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, अतः उसी का वर्णन कुछ विशद रूप से पहले किया जा रहा है।

**फौफ्फुसिक क्षयरोग** (Pulmonary Tuberculosis) के भेद :—

(१) Acute Miliary Tuberculosis **अथवा** क्षयरोग
(२) Chronic Miliary Tuberculosis अथवा क्षयरोग
(३) Acute Caseous Tuberculosis अथवा राजयक्ष्मा,
(४) Fibro-Caseous अथवा क्षयरोग, (५) Fibroid Tuberculosis अथवा याप्य क्षयरोग, (६) Hilum Tuberculosis अथवा क्षयरोग, (७) Epituberculosis अथवा सुसाध्य क्षयरोग और (८) Hilar Flare अथवा सुसाध्य क्षयरोग।

(१) **Acute Miliary Tuberculosis** अथवा **राजयक्ष्मा**—इस व्याधि में किसी भी फुफ्फुस के

शीर्ष भाग में अथवा श्वासनलिकास्थित ग्रन्थियों में अथवा शरीरस्थित अन्य किसी भी अंश में एक अथवा एकाधिक प्राथमिक सड़नशील क्षयरोग-केन्द्र मिलता है, जहाँ से किसी शिरा में क्षत पैदा होकर उक्त मार्ग द्वारा यह रोग फैलता है। फुफ्फुस के अन्यान्य अंश सूक्ष्मातिसूक्ष्म ग्रन्थियों से भरे हुए मिल सकते हैं। कभी-कभी यह व्याधि इतना तीव्र रूप धारण कर लेती है कि श्वासयन्त्रों की तीव्र प्रादाहिक अवस्था प्रकट होने के पहिले ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। अन्यान्य क्षयरोगों की अन्तिमावस्था में यह रोग उत्पन्न होकर मृत्यु का कारण बन जाता है।

(२) **Chronic Miliary Tuberculosis अथवा क्षयरोग**--इस व्याधि में फुफ्फुस के भीतर विभिन्न प्रकार के सख्त अर्बुद-सरीखी ग्रन्थियाँ भरी हुई दिखाई पड़ती हैं, जिनका रंग धूसर अथवा श्वेतवर्ण का होता है। फुफ्फुस का कुछ अंश तन्तुमय भी हो सकता है। साथ-ही-साथ शरीर के अन्य यन्त्रों में, जसे कि वृक्क, यकृत्, प्लीहा आदि म भी इसी प्रकार की ग्रन्थियाँ पाई जाती हैं। (Miliary शब्द का अर्थ बाजरे के दाने के समान है।)

(३) **Acute Caseous Tuberculosis अथवा क्षय रोग**--इस व्याधि में फुफ्फुसों के वृहदाकार अंशों का ठोस हो जाना, कभी-कभी उनमें द्रुत सड़न पैदा हो जाना आदि को प्रधान परिवर्त्तन कहा जा सकता है। उभय फुफ्फुस में पीतवर्ण के निश्चल धब्बे परस्पर सम्मिलित रूप से जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ते हैं। आक्रान्त अंश वायुहीन तथा भारी हो जाता है, जो कि पानी में डूब जाता है। अधिकांश क्षेत्र में उन ठोस जगहों की मृदुता आ जाती है जिसके फलस्वरूप क्षुद्र या बृहत् खोह बन जाते-- ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

(४) **Fibro-Caseous Tuberculosis अथवा क्षयरोग**--अधिकांश क्षय-रोगियों में होनेवाली इस व्याधि में तन्तुमय अथवा सड़नशील अंशों के परिमाण के तारतम्य के अनुसार फुप्फुसों में परिवर्त्तन पाए जाते हैं--फुप्फुस के अन्दर सड़न के विभिन्न स्तर पर से गुजरते हुए धब्बे दिखाई पड़ते हैं--इसके साथ छोटे-छोटे खोहे भी दिखाई पड़ते हैं। पुरातन आक्रान्त अंशों में विवर्ण तन्तुमयता भी मिलती हैं। इस व्याधि में प्राथमिक आक्रमण साधारणतः फुप्फुस के शीर्षभाग के पिछले अंश में होता है। कभी-कभी सम्मुख भाग में भी दिखाई पड़ता है। यहाँ से क्रमशः व्याधि फुप्फुस के निम्नांशों में प्रसरित होती है और दूसरे फुप्फुस के शीर्ष भाग में प्रसरित होकर धीरे-धीरे उसमें भी फैल जाती है।

(५) **Fibroid Tuberculosis अथवा याप्य क्षय-रोग**--इस व्याधि में किसी भी प्राथमिक आक्रांतांश के चारों तरफ तन्तुमय जाल की रचना होकर रोगाक्रमण को व्यर्थ करने की प्रचेष्टा प्रकट होती है। कभी-कभी फुप्फुस के एक खण्ड में अथवा सम्पूर्ण फुप्फुस में इसी प्रकार के जाल-रचना के कारण फुप्फुस संकुचित तथा दृढ़ हो जाता है, जिसमें सुधामय (Calcified) धब्बे, छोटे-छोटे खोहें अथवा सड़नशील छोटी-छोटी जगह दिखाई पड़ सकती हैं। फुप्फुस की तन्तुमयता तथा दृढ़ता के कारण श्वास-नलिकाओं में सम्प्रसारण तथा फुप्फुसधराकलाओं में स्थूलता तथा चिपकाव दिखाई पड़ता है। अन्य फुप्फुसों में अथवा आक्रान्त फुप्फुस के स्वस्थांश में अधिक कार्य के दबाव के कारण फुप्फुस-कोषों में सम्प्रसारण दिखाई पड़ता है।

उपरोक्त सभी व्याधियों में श्वासनलिकास्थित (Tracheo-Bronchial Glands) ग्रन्थियाँ आक्रान्त होकर उनका आकार बढ़ जाता और उनके रंग में परिवर्त्तन हो सकता है। किसी ग्रन्थि में अपक्वावस्था, किसी में सड़नावस्था, किसी में तन्तुमयता अथवा किसी में सुधामयता प्रभृति विभिन्न परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होते हैं।

ऐसा ही उन व्याधियों में फुप्फुसधराकला आक्रान्त हो जाता है। साधारणतः फुप्फुसधराकला का शुष्क प्रदाह हमें उपलब्ध होता है और बाद में उसमें स्थूलता, चिपकाव आदि आ जाते हैं--जिससे फुप्फुस में वह बिल्कुल चिपक भी जा सकती है। रोगों की तरुणावस्था में फुप्फुस-धराकला में सूक्ष्म क्षयरोग-ग्रन्थि भर जाते हैं और उस कला का आर्द्र-प्रदाह के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

(६) **Hilum Tuberculosis अथवा क्षयरोग**--किसी-किसी ग्रन्थलेखक ने एक विशिष्ट प्रकार के क्षयरोग का वर्णन किया है, जिसमें फुप्फुस वृन्त में रोग का प्रारम्भ होकर व्यजनी के आकार से प्रसरित होते हुए क्लोम-शाखाओं

तक फैल जाता है। रंजनरश्मि की सहायता से इस रोग का स्वरूप-ज्ञान सरलता से हो सकता है। इस रोग की विशिष्टता के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में अभी तक मतैक्य नहीं है।

(७) **Epituberculosis अथवा सुसाध्य क्षयरोग**—शिशुओं में इस व्याधि के प्रादुर्भाव का वर्णन प्रथमतः सन् १६२० में दो वैज्ञानिकों ने किया था, जिससे फुप्फुस का एक पिण्ड पूर्णतया ठोस हो जाने का वर्णन मिलता है। फुप्फुस में यथेष्ठ परिवर्त्तन होते हुए भी, लक्षणों की अल्पता तथा सुसाध्यता इस रोग की विशिष्टता है।

(८) **Hilar Flare अथवा सुसाध्य क्षयरोग**—शिशुओं के दक्षिण फुप्फुस के मध्यपिण्ड में अथवा किसी भी फुप्फुस के अधःपिण्ड में इस व्याधि का आक्रमण होता है। रंजन-रश्मि की सहायता से जो चित्र मिलता है, उसमें फुप्फुसान्तराल को अथवा फुप्फुसवृन्त को भूमि बनाकर एक त्रिकोणाकृति दृश्य प्रस्फुटित होता है। इस विशेषता के कारण इसका भेद वैज्ञानिकों ने माना है; परन्तु कारण के सम्बन्ध में अभी तक निश्चयात्मक सम्मति नहीं पाई जाती है। यह व्याधि भी Hilum Tuberculosis के माफिक सुसाध्य कही गई है। इन दोनों व्याधियों में रंजनरश्मि-चित्र को ही भेद-ज्ञान पूर्वक रोग निर्णायक माना जाता है—लाक्षणिक तथ्यों की स्वल्पता दोनों में ही प्रकट है।

**फौप्फुसिक क्षय रोग के लक्षण**—पाश्चात्य-शास्त्र की दृष्टि से लक्षणों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। **(क) फुप्फुस सम्बन्धीय लक्षण**; जैसे—सर्दी, जुकाम, खाँसी के साथ कफ गिरना, बलगम के साथ खून आ जाना, या ज्यादा परिमाण में रक्त निकलना, फुप्फुसधराकला का प्रदाह होना इत्यादि। **(ख) आनुसंगिक या प्रतिफलित लक्षण**; जैसे—दर्द होना, खाँसी होना, स्वरयन्त्र में सुर-सुराहट मालूम पड़ना इत्यादि। **(ग) शरीर में विषक्रिया के लक्षण**; जैसे—तबीयत अच्छी नहीं लगना, ज्वर, दिल की धड़कन, कमजोरी, वजन कम हो जाना इत्यादि।

इस व्याधि में रोग का प्रारम्भ नाना प्रकार से होता है (१) धीरे-धीरे—प्रथमतः शरीर में अस्वस्थता, खास तौर से शाम के समय थोड़ा-बहुत बुखार चढ़ जाना, क्रमशः वजन घटते जाना, पाण्डु इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। फुप्फुस में परिवर्त्तन के साथ खाँसी तथा कफ गिरना आरम्भ होता है।

(२) सर्दी-जुकाम होकर—सर्दी-जुकाम से बुखार आकर यह रोग प्रारम्भ हो सकता है।

(३) खाँसी के साथ खून आकर—साधारण स्वास्थ्यवान् व्यक्ति को एक रोज अचानक इस बीमारी का प्रारम्भ हो सकता है। खून का परिमाण मामूली से लेकर काफी ज्यादा तक हो सकता है। फुप्फुस-परीक्षा में कभी-कभी मामूली और कभी-कभी अत्यधिक आक्रान्त होने के लक्षण मिलते हैं।

(४) **स्वरयन्त्र की विकृति से**—स्वरभंग अथवा वाक्रोध होकर इस रोग का आरम्भ दिखाई पड़ता है। स्वरयन्त्र का क्षय रोग साधारणतः फौप्फुसिक क्षय रोग के बाद ही होता है; परन्तु ऐसा भी होता है कि फौप्फुसिक क्षय के लक्षण प्रकट न होकर प्रथम लक्षण स्वरभंग अथवा वाक्रोध के रूप में प्रकट होता है। बाद में फुप्फुस की परीक्षा में क्षय रोग के लक्षण मिलते हैं।

(५) **आन्त्रिक लक्षण**—प्रारम्भ में अरुचि तथा आध्मान दिखाई पड़ सकता है। परन्तु जब भूख कम होने के साथ वजन घटने लगता है और मामूली बुखार चढ़ने लगता है, तभी क्षय रोग का सन्देह होता है।

(६) **फुप्फुसधराकला-प्रदाह**—यह प्रदाह बार साधारणतः शुष्क अर्थात् स्रावहीन होता है। बार-बार फुप्फुस-धराकला का प्रदाह होने से क्षयरोग का सन्देह होता है। स्रावयुक्त प्रदाह में सरलता पूर्वक स्राव की परीक्षा से क्षय रोग का निर्णय हो सकता है। कभी-कभी फुप्फुस-विदारण भी क्षयरोग के प्रारम्भिक लक्षण के रूप में दिखाई पड़ता है।

(७) **श्वासनक सन्निपात के रूप में**—अधिकांश क्षेत्र में राजयक्ष्मा (Galloping Phthisis) का प्रारम्भ श्वसनक सन्निपात के रूप में होता है, जिसमें श्वसनक सन्निपात की मर्यादा से ज्यादा दिन तक रोग भोगने पर थूक की जाँच होने से रोग-निर्णय होता है।

(८) **उरः क्षत के लक्षण लेकर**—फुप्फुस में किसी भी प्रकार के आघात; जैसे कि आयुर्वेद में "बलवद् विग्रह" के रूप में बताया गया है—के बाद वहाँ क्षय रोग का




आक्रमण होना स्पष्ट दिखाई पड़ता है। स्थानीय निर्जीवता इसका प्रधान कारण है।

(९) **मानसिक लक्षण**––क्षयरोग के बाद मानसिक निस्तेजता स्वाभाविक है; परन्तु किसी-किसी क्षेत्र में मानसिक निस्तेजता के लिए परीक्षा करते समय क्षयरोग के लक्षण प्रकट होते हैं।

(१०) **मलेरिया जातीय विषमज्वर के लक्षण**–– मलेरिया-संक्रमित स्थानोंमें साधारणतः यह भ्रम उत्पन्न होता है, जहाँ प्रतिदिन ठण्ड देकर बुखार आता और पसीना देकर उतर जाता है। इसे मलेरिया समझकर रोगी की चिकित्सा की जाती है; परन्तु लाभ न होने से अन्यान्य परीक्षाएँ भी की जाती हैं, जिससे क्षयरोग का निर्णय हो जाता है।

(११) **अन्यान्य रोगों के साथ सम्मिलित रूप में**–– क्षयरोग रोमान्तिका, श्लेष्मक ज्वर तथा कुकुरखाँसी के साथ, विशेषकर इन रोगों में उपसर्ग के रूप में श्वसनक सन्निपात हो जाने पर उत्पन्न हो सकता है, अथवा रोगी की तरुणावस्था की समाप्ति के बाद क्षयरोग प्रकट होता दिखाई पड़ता है।

(१२) **वृद्धावस्था में**––क्षयरोग का आक्रमण धीरे-धीरे होता है। मामूली बुखार रहता या नहीं भी रहता है। खाँसी तथा मामूली श्वासकष्ट ही प्रधान लक्षण रहता है।

## क्षयरोग के विशिष्ट लक्षण—

(१) **कास**––किसी क्षेत्र में यह लक्षण मामूली तथा किसी क्षेत्र में अत्यन्त कष्टदायक रूप में प्रकट होता है। कभी शुष्क और कभी आर्द्र कास––जिसमें काफी कफ निकल सकता है––दिखाई पड़ता है। खाँसी के साथ छाती में दर्द भी हो सकता है।

(२) **कफ या बलगम**––विभिन्न प्रकार के क्षयरोग में इसका परिमाण कम-ज्यादा होता है––जैसे कि Fibroid Tuberculosis (तन्तुमयात्मक क्षय रोग) में कफ बिल्कुल नहीं निकलता है; Acute Caseous Tuberculosis (सड़नशील राजयक्ष्मा) में काफी कफ निकलता है। कभी-कभी निकले हुए कफ का परिमाण आधा सेर से तीन पाव तक हो सकता है। क्षयरोग का कफ कभी तो बिल्कुल साफ, कभी श्लेष्मायुक्त, कभी पूययुक्त अथवा पूय श्लेष्मायुक्त रहता है। कभी-कभी यह कफ रबर के माफिक स्थितिस्थापक अथवा चिपका हुआ होता है। साधारणतः क्षयरोग के कफ में कोई दुर्गन्ध नहीं रहती, परन्तु विशेष क्षयरोग के कफ में एक विशिष्ट प्रकार की गन्ध रहती है, जो कि क्षयरोग के कफ की विशेषता कही जा सकती है। पूययुक्त कफ में सड़ने की दुर्गन्ध आ जाती है। अणुवीक्षण-यन्त्र से कफ-परीक्षा करने पर उसमें क्षयरोग के कीटाणु दिखाई पड़ते हैं। अगर किसी बार दिखाई न पड़ें, तो पुनः ऐसी परीक्षा करनी चाहिए। इसमें भी सफलता न मिले, तो २४ घण्टे में निकले कफ में से नमूना लेकर जाँच करनी चाहिए। कफ के कलचर अर्थात् रोग-जीवाणु के उत्पादन तथा संख्या-वृद्धि की प्रक्रिया द्वारा क्षयरोग के कीटाणुओं की उपस्थिति प्रमाणित की जा सकती है। कफ में नाना प्रकार के कोष तथा स्थिति-स्थापक तन्तुओं की उपस्थिति रोग-निर्णय में विशेष सहायक मानी जाती है।

(३) **श्वासकष्ट**––यह लक्षण कम-ज्यादा मात्रा में सभी क्षेत्रों में प्रायः उपस्थित रहता है। फुप्फुस के अन्दर विकृति के तारतम्य के अनुसार इसकी ह्रास-वृद्धि होती है। कास तथा ज्वर-वृद्धि द्वारा भी श्वासकष्ट ज्यादा हो सकता है। फुप्फुसधराकला का प्रदाह, कलान्तराल में स्राव-संचय, फुप्फुस-विदारण अथवा हृद्दौर्बल्य में श्वासकष्ट अवश्य ही बढ़ जाता है। शारीरिक चेष्टा से भी ज्यादा हो जाता है।

(४) **निशाघर्म**––यद्यपि अन्यान्य बीमारियों में भी यह लक्षण दिखाई पड़ता है; परन्तु क्षयरोग में विशेष रूप से प्रकट होने के कारण इसको महत्त्व दिया जाता है। प्रायः सभी क्षेत्रों में कम या ज्यादा यह लक्षण प्रकट होता है।

(५) **वजन घट जाना**––इसको एक प्रारम्भिक लक्षण के रूप में माना जा सकता है। आक्रमण की तीव्रता, रोगी की रोग-प्रतिषेधिका शक्ति आदि के ऊपर ज्यादा निर्भर है।

(६) **ज्वर यानी शारीरिक ताप-वृद्धि**––ज्वर की ताप-वृद्धि से रोगी के शरीर में रोगजीवाणुओं की क्रियाशीलता तथा रोग की प्रगति का पता चलता है। ज्वर न रहने से शरीर की रोगमुक्ति अथवा रोग के प्रतिरोध

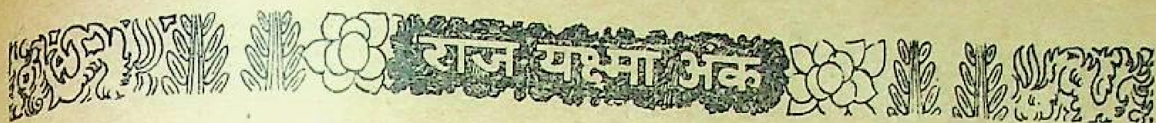
का निर्णय नहीं हो सकता। यक्ष्मारोगी के ज्वर का ताप प्रतिदिन नियमित रूप से दिन में कई बार लेना चाहिए। ४-४ अथवा ६-६ घण्टे में ज्वर-ताप देखकर लिख रखना चाहिए। क्षयरोग में साधारणतः प्रातःकालीन ज्वर-ताप सब से कम रहता है। शाम को ४ से ६ बजे तक के भीतर और कभी-कभी शाम को ८ से ६ के भीतर ज्वर-ताप सब से ज्यादा रहता है। क्षयरोगी के मुँह का भी ज्वर-ताप लेना उचित है। सब से कम ज्वर-ताप ६७ डिग्री (मुँह का) से लेकर सब से अधिक ६६ से १०४ डिग्री तक हो सकता है। Acute Miliary Tuberculosis में ज्वर साधारणतः हर समय बना रहता है, किन्तु न्यूनाधिक होता रहता है। कभी-कभी शाम को ज्वर कम और सुबह अधिक हो जाता है। ऐसा होना खतरनाक माना जाता है। Acute Caseous Tuberculosis में ज्वर-ताप अधिक दिनों तक और अधिक रूप में चालू रहता है। पूय-परिणति शुरू होने पर सुबह-शाम ज्वर-ताप में ४-५ डिग्री का अन्तर हो सकता है। शरीर में क्षयरोग-जीवाणुओं की विषक्रिया के कारण ही यह होता है। Chronic Fibro-Caseous Tuberculosis में सुबह और शाम के ज्वर-ताप में मामूली अन्तर दिखाई पड़ता है। कभी-कभी ज्वर नहीं भी रहता और कभी-कभी परिश्रम अथवा आत्मविष-क्रिया के कारण अचानक ज्वर-ताप बढ़ जाता है, जो कि विश्राम से कम पड़ जाता है। Fibroid Tuberculosis में साधारणतः ताप की वृद्धि नहीं पाई जाती है—स्वाभाविक ताप ही रहता है। परन्तु रोग के तेजी से बढ़ने पर अथवा आत्मविष-क्रिया के कारण ज्वर-ताप बढ़ सकता है।

(७) **रक्तनिष्ठीवन**—करीब-करीब ५० प्रतिशत क्षयरोगियों को खाँसी के साथ किसी समय कम और किसी समय अधिक मात्रा में खून आता है। तरुण व्याधियों में खून के रेशे दिखाई पड़ते हैं। श्वसनक सन्निपात के रूप में ईंट के रंग के समान कफ निकलता है। रोग के जीर्ण होने पर साधारणतः रक्त ज्यादा परिमाण में निकलता है। अधिक रक्त प्रायः किसी फुफ्फुसीय धमनी की शाखा के सम्प्रसारण अथवा विदारण के कारण होता है। रोगी की शयितावस्था में भी रक्तनिष्ठीवन हो सकता है। अतः आकस्मिक शारीरिक चेष्टा के कारण ही रक्तनिष्ठीवन होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। रक्तनिष्ठीवन के पहले रोगी अपने मुँह में नमकीन स्वाद तथा लौह की गन्ध का अनुभव करता है। मुँह से गर्म भाप निकलती रहती है और बाद में रक्तनिष्ठीवन प्रारम्भ हो जाता है। प्रथम रक्त का रंग बिल्कुल लालवर्ण तथा फेनयुक्त रहता है। कुछ जमे हुए रक्त के टुकड़े रह सकते हैं। बाद में कफ तथा पूय से मिला-जुला मालूम होता है। एक बार अधिक रक्तनिष्ठीवन होने के पश्चात् कुछ दिनों तक मामूली रक्त निकलता रहता है। रक्तनिष्ठीवन के समय रोगी सन्त्रस्त, व्याकुल, रक्तिमाभायुक्त तथा घर्म-प्लावित हो सकता है—हृदय की गति बढ़ जाती है।

क्षयरोग में हृदय की गति बढ़ जाती है। लगातार गति बढ़ रही हो, तो रोग के तेजी से बढ़ने का सन्देह होता है। रक्तचाप कम ही रहता है। चिकित्सा-काल में नियमित रूप से रक्तचाप की वृद्धि होते रहना सफलता-ज्ञापक कहा जाता है। रक्त-परीक्षा में विशेष कोई पार्थक्य नहीं आता। कभी रक्ताल्पता, कभी लालरक्त-कणिकाओं की वृद्धि—इसी प्रकार का अन्तर मिल सकता है। क्षुधा स्वाभाविक रहती है। ज्वर-ताप-वृद्धि होने पर भी क्षुधामान्द्य नहीं होता। जिह्वा स्वच्छ, कोठा भारी आदि लक्षण मिलते हैं। कभी-कभी आध्मान, अरुचि, अजीर्ण आदि लक्षण मानसिक विकृति के कारण हो सकते हैं। अन्त्रों में क्षत होने के कारण अतिसार होना स्वाभाविक है। मानसिक लक्षणों के भीतर दुश्चिन्ताजनित मानसिक अवसाद तथा भावप्रवणता प्रधान है। कास अथवा ज्वर या निशाघर्म के कारण निद्रा में व्याघात हो सकता है। रोग की प्राथमिक अवस्था में अथवा रोगमुक्ति के प्रारम्भ में मैथुनेच्छा बलवती होना इस रोग का विशिष्ट लक्षण है। परन्तु रोग की काफी प्रगति होने पर मैथुनेच्छा बिलकुल नष्ट हो जाती है। स्त्रियों में रजोरोध हो सकता है; परन्तु रोग की काफी प्रगति होने पर भी गर्भ धारण होता रहता है।

### क्षयरोग के परीक्षणीय लक्षण

**दर्शन**—कभी-कभी रोगी को देखने से विशेष कोई परिवर्तन अनुभव नहीं किया जा सकता है। साधारणतः रोगी का चेहरा निम्न प्रकार दिखाई पड़ता है:—




गात्र-चर्म श्वेताभ, शुष्क, चमकीला, छाती तथा पसली की हड्डियाँ निकली हुई, केश रूखे-से, शरीर शीर्ण, अंस-पार्श्व-शोष आदि। स्त्रियों में स्तनों का सिकुड़ना स्पष्ट प्रकट होता है।

**स्पर्शन**--छाती पर हाथ रखने से आक्रान्त अंश में फुफ्फुस का प्रसारण कम मालूम पड़ता है। रोगी को बार-बार एक ही शब्द कहलाने से उसी स्थान पर हाथ में जो तरंग का अनुभव होता है, वह स्वाभाविक से ज्यादा मालूम पड़ता है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्वाभाविकतः वामपार्श्व से दक्षिणपार्श्व के फुफ्फुस-शिखर में यह तरंग ज्यादा अनुभूत होती है। उस स्थान पर धीमे से अंगुली की टकोर मारने पर साधारण-सी स्तब्धता का अनुभव होता है। वक्ष:परीक्षा-यन्त्र की सहायता से विभिन्न अवस्था में विभिन्न प्रकार के शब्द सुनाई पड़ते हैं। कभी-कभी श्वास-प्रश्वास धीमी, कभी खूब तेज और कभी-कभी श्वास-प्रश्वास की ध्वनि अनियमित तथा स्थूल, प्रश्वास तीव्र, निःश्वास दीर्घतर इत्यादि नाना प्रकार की ध्वनि सुनाई पड़ती है। कभी-कभी अस्वाभाविक शब्द नहीं सुनाई पड़ते। कभी-कभी धीमी वंशी-ध्वनि के समान शब्द, कभी-कभी केशों के घर्षणजनित चिकारे के स्वर के समान सूक्ष्म अथवा मोटे स्वर आक्रान्त भागों में--खास तौर से खाँसने के बाद ही सुनाई पड़ते हैं। अगर लगातार ऐसे स्वर सुनाई पड़ते रहें, तो रोग की प्रगति काफी हुई है, ऐसा समझना चाहिए।

**फुफ्फुसों में कफ-संग्रहजनित काठिन्य के लक्षण**--आक्रान्त अंशों में अपेक्षाकृत गतिहीनता तथा स्थानिक चपटापन दिखाई पड़ता है। स्पर्शन द्वारा गतिहीनता तथा शब्द-तरंग की वृद्धि अनुभूत होती है। अंगुली से टकोर लगाने पर स्वाभाविक स्तब्धता विशेष परिलक्षित होती है। अस्वाभाविक स्वर नहीं सुनाई पड़ता अथवा सूक्ष्म घर-घर स्वर सुनाई पड़ सकता है। अगर आक्रान्त स्थान में स्राव होने के कारण उक्त स्थान में नरमी उत्पन्न हो जाय, तो वे घर-घर स्वर कुछ मोटे तथा चिपके हुए-से प्रतीत होते हैं।

**फुफ्फुस में खोह उत्पन्न होने का लक्षण**--वक्षः प्राचीर का समतल हो जाना तथा खोह के स्थान में गतिहीनता विशेषरूपेण परिलक्षित होती है। अगर यह खोह फुफ्फुस-चूड़ा में पैदा हुआ हो, तो उस तरफ की अंससन्धि नीचे की तरफ कुछ झुकी हुई-सी लगती है, तथा अंस-सन्धि की शीर्णता स्पष्टतर प्रकट होती है। स्पर्शन द्वारा गतिहीनता तथा शब्द-तरंग की वृद्धि अनुभव होती है। परन्तु अगर खोह स्राव से भरा हुआ हो, या फुफ्फुस-धराकला की स्थूलता उत्पन्न हुई हो, तो शब्द-तरंग की वृद्धि के बदले में न्यूनता का ही अनुभव होता है। अगर खोह स्राव से भरा हुआ हो अथवा अति क्षुद्र हो, तो अंगुली की टकोर से स्तब्धता प्रकट होती है; परन्तु खोह अगर गम्भीर न हो, तो फूटे हुए मिट्टी के बर्तन के ऊपर अंगुली की टकोर से जैसी आवाज होती है, वैसी ही आवाज सुनाई पड़ती है। ऐसे क्षेत्र में अंगुली की टकोर लगाते समय रोगी का मुँह खोलकर रखना चाहिए। मुँह बन्द रखने से आवाज में अवश्य ही अन्तर आ जाता है।

वक्ष-परीक्षा यन्त्र से खोह की आकृति के तारतम्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के शब्द सुनाई पड़ते हैं। कभी यह शब्द सूक्ष्म नलिका के भीतर से निकलती हुई आवाज के समान, कभी यह आवाज किसी संकीर्ण गलेवाले अधिक चौड़े भाण्ड से निकलती हुई आवाज के समान और कभी दोनों से मिलती-जुलती आवाज सुनाई पड़ती है। खोह भरा हुआ रहने से आवाज अति मृदु, कभी-कभी बिलकुल सुनाई तक नहीं पड़ सकती है। शुष्क खोह में साधारणतः कोई अस्वाभाविक शब्द नहीं सुनाई पड़ता है। कभी-कभी मध्यम अथवा स्थूल घर-घर शब्द सुनाई देते हैं। खोह बड़ा होने से संकीर्ण गलेवाले चौड़े भाण्ड से निकलती हुई आवाज के समान सुनाई देती है। रंजनरश्मि की सहायता से खोह का पता आसानी से लग सकता है।

**फुफ्फुस की तन्तुमयता का लक्षण**--वक्षःस्थल के दोनों पार्श्वों की असमानता इसका प्रधान लक्षण है। तन्तुमय खण्ड में समतलता तथा गतिहीनता और स्वस्थांश में क्षतिपूरक फूल जाना तथा गति-वृद्धि, दोनों का पार्थक्य निर्देश करता है। आक्रान्त पार्श्व में पर्शुकान्तराल (पसलियों के भीतर का भाग) संकुचित हो जाना तथा प्रसारित सिराओं का प्रकट होना दिखाई पड़ता है। स्पर्शन से तन्तुमय स्थान की गतिहीनता स्पष्ट होती है।

शब्द तरंग ज्यादा या कम हो सकती है। इसका कारण क्रमशः फुफ्फुस का काठिन्य तथा फुफ्फुस-धराकला की स्थूलता माना जाता है। ऐसी ही अंगुली की टकोर से तन्तुमय अंश के ऊपर स्तब्धता की आवाज मिलती है। खोह उत्पन्न होने पर इसके विपरीत होता है। अपर फुफ्फुस में अंगुली की टकोर से उत्पन्न आवाज अत्यन्त स्पष्ट मालूम होती है। श्वास-प्रश्वास के शब्द मृदु तथा दूरागत से सुनाई पड़ते हैं। अस्वाभाविक शब्द साधारणतः नहीं सुनाई पड़ते हैं। कभी-कभी सूक्ष्म अथवा मध्यम घर-घर शब्द सुनाई पड़ते हैं। कभी-कभी कांसे के पात्र से निकली ध्वनि के समान आवाज सुनाई पड़ती है।

रोगी की परीक्षा के समय चिकित्सक को यह स्मरण रखना चाहिए कि रोग की किसी भी अवस्था में फुफ्फुस में एक ही प्रकार का परिवर्तन नहीं मिल सकता है। एक ही समय पर फुफ्फुस के विभिन्न अंश में विभिन्न प्रकार की विकृति-जनित अवस्था प्राप्त हो सकती है, जिसके कारण विभिन्न प्रकार के संमिश्रित लक्षण मिलते हैं। जैसे कि एक ही समय पर फुफ्फुस के किसी अंश में रक्त-संचय, किसी में स्राव-संचय, किसी में काठिन्य या मृदुता, सड़न, खोह उत्पादन या तन्तुमयता साथ ही साथ हो सकता है, जिसके कारण लक्षणों में विभिन्नता तथा अन्तर आ सकता है। ऐसी परिस्थिति में चिकित्सकों को गम्भीरता के साथ रोगी की अवस्था के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

क्षयरोग की जीर्णावस्था में रोगी के नखों में परिवर्त्तन परिलक्षित होता ही है। साधारणतः नख वक्र होकर तोते की चोंच के समान दिखाई पड़ते हैं। अंगूठे, तर्जनी तथा मध्यमा में यह लक्षण अधिक प्रकट होता है। फुफ्फुस की तन्तुमयता में वे नख नगाड़ा बजाने की लकड़ी सरीखे हो जाते हैं।

**रंजनरश्मि से फुफ्फुस की परीक्षा**—समतल स्थल में यह परीक्षा कराना अति आवश्यक है। इससे महाप्राचीरा (Diaphragm) का श्वास-प्रश्वास के साथ ही साथ उत्थान-पतन, श्वास ग्रहण के साथ ही साथ फुफ्फुस-चूड़ा की आलोकितावस्था तथा हृदय की गति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अलावा फुफ्फुस में काठिन्य, सड़न, खोह-उत्पादन, फुफ्फुस-धराकला की स्थूलता, कलान्तराल में स्राव-संचय, फुफ्फुस-विदारण इत्यादि का विशेष पता लग सकता है। रंजनरश्मि की सहायता से गृहीत चित्र से रोग की प्राथमिक अवस्था में भी रोग-निर्णय में सहायता मिल सकती है—यद्यपि इस प्रकार से किये गये निदान को अविसंवादित सत्य नहीं कहा जा सकता। रोग-निर्णय की सहायता के अलावा जहाँ रोग-निरामय के लिए फुफ्फुस की सम्पूर्ण अथवा आंशिक निष्क्रियता का प्रयोजन प्रतीत होता है, वहाँ फुफ्फुस-विदारण की प्रक्रिया में संलग्न होने के पहले फुफ्फुस की परिस्थिति के निर्णय के लिए रंजनरश्मि की सहायता से गृहीत चित्र अपरिहार्य है।

पाश्चात्य दृष्टि से क्षयरोग के निर्णय के लिए विविध उपायों का वर्णन मिलता है। परन्तु शारीरिक विकृत द्रव पदार्थों में क्षयरोग-जीवाणु की उपस्थिति सर्वप्रधान मानी जाती है। लाक्षणिक रोग-निर्णय में जीर्ण कास, फुफ्फुस का सम्प्रसारण, श्वासनलिका का सम्प्रसारण, श्वास, उरस्तोय, फुफ्फुस का अर्बुद, ग्रन्थि अथवा दब जाना इत्यादि परिस्थिति सन्देहोत्पादन कर सकती है। परन्तु रोग का इतिहास, फुफ्फुसीय लक्षण, थूक की जाँच, रंजनरश्मि के संयोग से परीक्षा इत्यादि द्वारा रोग-निर्णय हो सकता है। तथापि अगर रोग-निर्णय में सन्देह रह जाय, तो रोगी को कुछ दिन तक निरीक्षण में रखने से रोग-निर्णय सरल हो सकता है।

पाश्चात्यशास्त्र में शरीर में क्षयरोग की उपस्थिति निर्णय करने के लिए अन्यान्य जो परीक्षाएँ प्रधानतया चालू हैं, वे नीचे लिखे अनुसार हैं :—

(१) **Sedimentation Test**—इससे Sodium Citrate द्रव के सम्मिश्रण से तरलीभूत रक्त में लाल रक्त-कणिकाओं के नीचे बैठ जाने का हिसाब (मान) द्वारा रोग-निर्णय में सहायता ली जाती है। अगर शरीर में क्षयरोग के जीवाणु क्रियाशील हैं, तो उक्त मान की वृद्धि होती है। परन्तु अन्यान्य स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक अवस्थाओं में (जैसे कि गर्भावस्था, ककचार्बुद, फिरंग रोग, आमवात अथवा अन्यान्य तरुण विषसंक्रमणज

व्याधियों में) भी यह मान बढ़ जाता है, जिससे इसका रोग-निर्णय के क्षेत्र में विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। परन्तु इससे शरीर में रोग-जीवाणुओं की क्रियाशीलता के सम्बन्ध में अवश्य ही पता लग जाता है। इससे रोग की साध्यासाध्यता के निर्णय में भी सहायता मिलती है। जब तक Sedimentation Rate स्वाभाविक न हो जाय, तब तक रोग की प्रगति का प्रतिरोध किया गया--ऐसा नहीं समझना चाहिए।

(२) **Tuberculin Test**--(क) **चर्मगत (Cutaneous, the Pirquet Reaction)**--इसमें प्रकोष्ठ के चर्म के ऊपर मामूली छीलकर उसमें मानवीय तथा पाशविक--दोनों प्रकार का काक का पुरातन ट्यूबरकुलीन (Koch's old Tuberculin) का १-१ बूंद और १ बूंद लवणजल पृथक्-पृथक् डाला जाता है। निश्चित प्रतिक्रिया में ट्यूबरकुलीन डाले हुए एक नहीं, तो दूसरे स्थान में लालवर्ण के शोथयुक्त चकत्ते या दाने दिखाई पड़ते हैं। लवणजल डाले हुए स्थान में ऐसा कुछ नहीं नजर आता है। जन्म के बाद २ साल तक इस परीक्षा का महत्त्व है; परन्तु बाद में इसका रोग-निर्णायक के रूप में विशेष कोई महत्त्व नहीं दिया जाता; क्योंकि पुरातन रोग-संक्रमण के कारण शरीर में क्षयरोग की विपक्रिया में जो सचेतावस्था उत्पन्न हो जाती है उसी के कारण करीब-करीब सब ही वयस्क व्यक्तियों में यह प्रतिक्रिया निश्चित प्रकट होती है।

(ख) **चर्ममध्यगत (Mantoux's Intradermal Test)**--इसमें चर्म के मध्य में पुरातन ट्यूबरकुलीन के १/१०००० घोल का १/१० सी० सी० का सूचीवेध दिया जाता है। अगर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई तो १ हफ्ते बाद १/१००० घोल का उतने ही परिमाण में सूचीवेध दिया जाता है। इससे भी अगर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, तो १ हफ्ते बाद फिर से १/१०० घोल का सूचीवेध दिया जाता है। इसकी निश्चित प्रतिक्रिया में दो या तीन दिन के बाद एक शोथयुक्त गोल चकत्ते का उद्गम होता है।

(ग) **Vollmer's Patch Test (चिप्पड़ परीक्षा)**--इसमें उरःफलक का एक अंश पहले इथर से साफ कराकर एक चिपकनेवाली पट्टी का टुकड़ा चिपका दिया जाता है। इस पट्टी में तीन छोटे-छोटे चतुष्कोण छानने के कागज का टुकड़ा लगा रहता है, उसके केन्द्रीय टुकड़े में कुछ नहीं लगाया जाता है। दोनों बाजुओं के टुकड़ों को पहले से ही पुराने ट्यूबरकुलीन के अमिश्रित घोल में भिगोकर सुखाकर रखा जाता है। वे दो टुकड़े उरःफलक के उपरिस्थित चमड़ी के साथ संस्पर्श करते हैं। दो दिन के बाद उस चिपकनेवाली पट्टी को निकाला जाता है। निकालने के १२ से लेकर २४ घण्टे के बाद उन दोनों स्थानों में लाल-लाल दाने या फुन्सियाँ हो जाती हैं।

(घ) **Tuberculin jelly Patch Test (ट्यूबरकुलीन लस्सी से परीक्षा)**--इसमें ट्यूब के भीतर से एक प्रकार की लस्सी--जिसमें कि ६५ प्रतिशत पुराना ट्यूबरकुलीन मिला हुआ हो--दवाकर निकाल करके दोनों अंसफलकों के बीच में एसिटोन से साफ की हुई चमड़ी के ऊपर लगाया जाता है। लस्सी सूख जाने के पहले वहाँ चिपकनेवाली पट्टी से ढँक दिया जाता है--जिसको दो दिन बाद निकाला जाता है। निश्चित प्रतिक्रिया में उस जगह पर लालीपन के साथ कुछ छोटी फुन्सियाँ उत्पन्न होती हैं। Vollmer परीक्षा से यह परीक्षा Mantoux परीक्षा के समान अधिकतर विश्वसनीय कही जाती है।

(ङ) **चर्मान्तर्गत परीक्षा (Subcutaneous Test)**--इसमें रोगी की विज्वरावस्था होना तथा रोगी का शय्याशायी रहना विशेष आवश्यक है। रोगी को १/१० मिलिग्राम मात्रा में पुराना ट्यूबरकुलीन का चर्मान्तर्गत सूचीवेध दिया जाता है। इसमें जो निश्चित प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, वे तीन प्रकार की हैं--(१) **स्थानिक**--जिसमें सूचीवेध के स्थान में प्रदाह का लक्षण दिखाई पड़ता है। (२) **फुफ्फुसीय**--फुफ्फुस के आक्रान्त स्थान में लक्षण-वृद्धि--जैसे कि पहले जहाँ घर-घर शब्द नहीं सुनाई पड़ता था, वहाँ अथवा फुफ्फुस-चूड़ा में घर-घर शब्द सुनाई पड़ना इत्यादि को प्रधान लक्षण कहा जाता है। (३) **सार्वाङ्गिक**--जिसमें ज्वर-ताप की वृद्धि, शारीरिक अस्वस्थता इत्यादि हो। सूचीवेध के बाद ४-४ घण्टे

पर रोगी का तापमान लिखकर रखना चाहिए। ९९ डिग्री के ऊपर तापमान बढ़ने से निश्चित प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। अगर पहले सूचीवेध में उपर्युक्त लक्षण प्रगट नहीं होता है, तो २-३ दिन के आड़ में यथाक्रम से १/५, १/३, १, ५ अथवा प्रयोजन होने पर १० मिलिग्राम तक का सूचीवेध दिया जा सकता है। परन्तु यह परीक्षा खतरे से मुक्त नहीं है। इससे केवल शरीर में रोग-जीवाणु की सक्रियता ही प्रगट नहीं होती, बल्कि इससे फुफ्फुस में कोई निष्क्रिय आक्रान्त केन्द्र सक्रिय होकर रोग को बढ़ा सकता है, जिससे काफी हानि पहुँच सकती है।

रंजनरश्मि की सहायता से रोग-निर्णय के सम्बन्ध में पहले ही बताया जा चुका है। रोग की प्राथमिक अवस्था में रोग-निर्णय के लिए, रोग की प्रगति के सम्बन्ध में निश्चयात्मक ज्ञान-प्राप्ति के लिए तथा फुफ्फुस के अन्यान्य रोगों से क्षयरोग को पृथक् करने के लिए रंजनरश्मि की उपयोगिता सर्वविदित हैं।

**क्षयरोग की प्रगति**—फौफ्फुसिक विभिन्न प्रकार के क्षय रोग की प्रगति विभिन्न प्रकार की होती है। Acute Miliary Tuberculosis नामक राजयक्ष्मा में शीघ्राति-शीघ्र, कभी-कभी १ से ३ हफ्ते के भीतर, विषक्रिया अथवा सार्वांगिक रोग-प्रसार के कारण मृत्यु हो सकती है। Acute Caseous Tuberculosis नामक राज-यक्ष्मा में १ से ६ महीने के भीतर मृत्यु हो सकती है। Chronic Fibro-Caseous Tuberculosis नामक क्षयरोग में कभी रोग-प्रगति का प्रतिरोध, कभी रोग-प्रगति में अग्रगति, फिर से प्रतिरोध, अग्रगति, इसी तरह बहुत दिनों तक रोगभोग हो सकता है। कभी-कभी रोग-प्रगति में प्रतिरोध न होने से अन्त में मृत्यु हो जाती है। Chronic Fibro-Caseous Tuberculosis नामक क्षयरोग वर्षों तक चालू रहता है—इसमें प्रगति बहुत ही मन्द होती है।

**साध्यासाध्यत्व निर्णय**—क्षयरोग की साध्यासाध्यता के निर्णय के लिए कई विषयों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) मातृ-पितृ-कुल से क्षयरोग का पुराना सम्पर्क रहने पर उसे दुःसाध्य मानना चाहिए।

(२) शराबियों के लिए यह व्याधि ज्यादा खतरनाक मानी जाती है; क्योंकि साधारणतः शराबियों में पचन-शक्ति तथा रोग-प्रतिषेधिका-शक्ति क्षीण ही होती है। फिरंग-रोगियों में क्षयरोग साधारणतः तन्तुमयता के रूप (Fibroid Type) में परिणत होता है, जिससे रोगी का **जीवनाशंका** कम होकर रोग दीर्घ दिन व्यापी अर्थात् याप्य का रूप ले लेता है। हृद्रोगी, मधुमेही आदि रोगियों में यह रोग अत्यन्त खतरनाक माना जाता है।

(३) शिशुओं तथा तरुणों में यह रोग अत्यन्त सांघातिक है। १४ से लेकर २० साल की उम्र तक यह रोग उतना खतरनाक नहीं है। २० से ४० साल तक की आयुवालों में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता; परन्तु इसके बाद रोग दुःसाध्य हो जाता है।

(४) आर्थिक परिस्थिति इस रोग पर काफी प्रभाव डालती है। आर्थिक दुश्चिन्ता न रहने से रोगी न केवल मानसिक शान्ति लाभ कर सकता है, वरन् प्रारम्भ में ही सुचिकित्सापूर्वक अपने स्वास्थ्य-सुधार की चेष्टा कर सकता है। इस रोग में जितनी जल्दी रोग का निदान होकर उत्तम चिकित्सा का प्रबन्ध हो सके, उतना ही रोगी का जीवन खतरे से बाहर हो सकता है।

(५) क्षयरोगियों में, विशेषतः स्त्रियों में, विवाह प्रतिरुद्ध रोग को बढ़ाकर खतरनाक बना देता है। क्षय-रोगी स्त्रियों में गर्भधारण होने से रोगी की स्वास्थ्योन्नति परिलक्षित होती है; परन्तु प्रसव के बाद रोग काफी बढ़कर जीवन विपन्न कर देता है।

(६) रोगमुक्ति के पश्चात् अधिक परिश्रम अथवा अहितकर आहार-विहार से रोगी का जीवन शीघ्र ही विपदापन्न हो जाता है।

(७) रोगी का शारीरिक गठन, विशेषतः वक्षस्थल की असम्यग् पुष्टि इस रोग के लिए अहितकर मानी जाती है। इसी प्रकार रोगी की मानसिक सबलता अथवा दुर्बलता के ऊपर भी इस रोग का फलाफल निर्भर करता है। सब लमनवाले व्यक्तियों पर यह रोग अपना उतना प्रभाव नहीं डाल सकता, जितना कि दुर्बल मनवाले व्यक्तियों पर।

# स्नायुमंडल का राजयक्ष्मा

डॉ० बी० राममूर्ति, एम० एस०, एफ० आर० सी० एस० (ई०)

शरीर में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जिस पर यक्ष्मा रोग का आक्रमण नहीं होता हो। स्नायुमण्डल के लिए भी यह बात लागू होती है। स्नायुमण्डल का यक्ष्मा—दो कारणों से एक संगीन रोग समझा जाता है : (१) राजयक्ष्मा स्वतः एक दीर्घस्थायी रोग है, और (२) स्नायुमण्डल एक ऐसा स्थान है, जहाँ क्षयपूर्ति अत्यन्त मन्थर गति से तथा काफी नुकसान पहुँचाकर होती है। किन्तु समयानुसार निदान और उपयुक्त चिकित्सा से स्नायुमण्डल के यक्ष्मा के अनेक रोगियों को चंगा किया जा सकता है। आधुनिक एण्टिबायोटिक औषधों के प्रादुर्भाव के पूर्व यह व्याधि साधारणतः घातक ही सिद्ध होती थी।

स्नायुमण्डल में रोग का संक्रमण प्रधानतः रक्त-वाहिनी-शिराओं द्वारा होता है। शरीर की रोगनिरोधक शक्ति जब क्षीण हो जाती है, तो राजयक्ष्मा के जीवाणु शरीरस्थ किसी अन्य उद्गम स्थान से रक्त मार्ग द्वारा अग्रसर होकर स्नायुमण्डल में एकत्र हो जाते हैं। स्नायुमण्डल के दुर्भेद्य आवरण के कारण यक्ष्मा के जीवाणुओं का संक्रमण प्रत्यक्ष रूप से स्नायुमण्डल पर नहीं हो सकता। यक्ष्मा के जीवाणु रक्त-कोषों में पहुँचकर किसी खास स्थान पर एकत्र हो जाते या सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से सम्पूर्ण स्नायुमण्डल में बिखर जाते हैं। ऐसा होने पर सारा स्नायुमण्डल आक्रान्त हो जाता है और क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार स्नायुमण्डल में दो प्रकार का क्षयरोग होता है, यथा—(१) किसी स्थान विशेष का सीमित रूप, जिसे टच्यूबरकुलोमा (Tuberculoma) कहते हैं और (२) व्यापक रूप जो क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह (Tuberculous meningitis) कहलाता है।

मस्तिष्कावरण और सुषुम्ना नाड़ी में जब प्रदाह होता है, तो स्नायुमण्डल को निम्नोक्त तीन प्रकार से क्षति पहुँचती है :—

(१) प्रदाहिका निःसरण से रक्त-कोषों का संकोचन होने के कारण रक्तवाहिनी नाड़ी में अवरोध हो जाता है। कभी-कभी धमन्यावरण शोथ से भी यह उत्पन्न होता है।

(२) प्रदाहिका निःसरण तथा स्नायुओं के प्रत्यक्ष संकोचन से यह क्षति होती है।

(३) मस्तिष्क और सुषुम्ना नाड़ी के तरल द्रव्य के परिभ्रमण मार्ग के अवरुद्ध होने से भी ऐसा होता है। इसके परिणाम स्वरूप मस्तिष्क पर दबाव बढ़ जाता है। स्नायुमण्डल का यक्ष्मा फुफ्फुसीय यक्ष्मा से भी उत्पन्न हो सकता है।

क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह उसी हालत में होता है, जब कि शरीर का कोई अंग क्षय रोग से आक्रान्त हो। यह अक्सर बच्चों को होता है। वयस्कों को यह रोग अपेक्षाकृत कम होता है। क्षय-जन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह की चिकित्सा तभी सफल हो सकती है, जब कि रोग-निदान प्रारम्भ में ही सम्भव हुआ हो। यदि चिकित्सक पूर्णतया जागरुक तथा क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह होने की सम्भावना से अवगत हो, तो वह इसका निदान आरम्भ में कर सकेगा। आरम्भ में इसके लक्षण प्रकट नहीं होते। बच्चा, जो पहले पूर्ण स्वस्थ दिखता था, अचानक चिड़-चिड़ा हो जाता और क्लान्त दिखायी देता है। यदि बच्चे की उम्र कुछ अधिक हो, तो वह कभी-कभी सिर-दर्द की शिकायत भी कर सकता है। इस रोग का आरंभ मन्द ज्वर अथवा वमन के साथ होता है। इन प्रारम्भिक लक्षणों से मस्तिष्क और सुषुम्ना के आवरण में क्षय रोग उत्पन्न होने का सन्देह किया जा सकता है। इस प्रकार बच्चे में जब इन लक्षणों की अकारण उत्पत्ति होती है तो उसको क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह समझना आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) के सदृश जीर्णज्वर के साथ यह रोग आरम्भ होता है। इन सभी अवस्थाओं में रोग का परिणाम अच्छा नहीं होता।

इस सिलसिले में बच्चों के वमन की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। साधारणतः बच्चों के वमन का कारण पाकस्थली का प्रदाह समझा जाता है, जो वस्तुतः एक साधारण व्याधि है। किन्तु, यदि पेट की गड़बड़ी की सामान्य चिकित्सा और भोजनक्रम में परिवर्तन करने से वमन न रुके तो सिर के भीतर की किसी व्याधि को वमन का कारण समझना चाहिये। मस्तिष्क-व्रण या क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह के कारण इसकी उत्पत्ति हो सकती है। अन्तर्कपालीय दवाव के अधिक हो जाने पर नेत्र-स्नायुओं का संकोचन होता है और इससे दृष्टि-शक्ति धूमिल हो जाती है। लेकिन अक्सर बच्चे तबतक दृष्टिशक्ति-हीनता की शिकायत नहीं करते, जबतक कि वे पूर्ण रूप से अन्धे नहीं हो जाते। अतएव, बच्चे की दृष्टिशक्ति-हीनता की शिकायत तक के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। सिरदर्द, मन्द ज्वर, वमन या जीवनीय शक्ति के ह्रास को क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह के लक्षण समझना चाहिये।

क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह का सन्देह होने पर निदान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपाय कटिवेध, मस्तिष्क एवं सुषुम्ना नाड़ी के तरल द्रव्य का परीक्षण है। सावधानी से सम्पादन करने पर कटिवेध एक निरापद उपाय है और रोग के शीघ्र निदान के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। आरम्भ में उक्त तरल द्रव्य स्वच्छ तथा रंगहीन दिखाई देगा। क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह का प्रारम्भिक लक्षण उक्त तरल द्रव्य में शर्करा अंश की कमी है। क्लोराइड्स का ह्रास और कोषाणुओं (Cells) की वृद्धि इसके पश्चात् होती है। किन्तु, क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह के रूप में रोग की चिकित्सा करने के लिए क्लोराइड्स के ह्रास तक प्रतीक्षा नहीं की जानी चाहिये। रोग की वर्द्धित अवस्था में, यदि रोग-निदान विलम्ब से हुआ हो, उक्त तरल द्रव्य का रंग फीका पीतवर्ण होगा तथा उसके प्रोटीन-तत्व में वृद्धि परिलक्षित होगी एवं उक्त तरल द्रव्य में जाली पड़ जायगी। इस जाली का अणुवीक्षण यन्त्र से परीक्षण करने पर यक्ष्मा के जीवाणु दृष्टिगोचर होते हैं। पर, ऐसा रोग की वर्द्धित अवस्था में होता है।

आधुनिक एण्टिबायोटिक औषधों के प्रादुर्भाव के पूर्व क्षयजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाहवाले प्रत्येक रोगी की मृत्यु निश्चित समझी जाती थी। स्ट्रेप्टोमाइसिन के आविष्कार के पूर्व इस रोग के किसी रोगी के बचने का प्रमाण नहीं मिला है। किन्तु अब, रोगारम्भ में ही निदान होने तथा आधुनिक एण्टिबायोटिक औषधों का सेवन कराने से केन्द्रीय स्नायु प्रणाली का प्रदाह रुक जाता और क्षय-पूर्ति आरम्भ हो जाती है। रोगारम्भ में ही चिकित्सा करने से रोगी पूर्णतया चंगा हो जाता तथा रोग के दुष्प्रभाव दूर हो जाते हैं। किन्तु, रोग का निदान विलम्ब से होने पर, स्नायु-मण्डल में उत्पन्न विकृतियों का उन्मूलन असम्भव हो जाता है। प्रदाहिका निःसरणों के एकत्र हो जाने पर मस्तिष्क और सुषुम्ना नाड़ी के तरल द्रव्य का गतिपथ अवरुद्ध हो जा सकता है और तत्काल व्यवस्था नहीं करने पर रोगी की मृत्यु हो जा सकती है। अन्यथा, एक मोटे रेशेदार आवरण से मस्तिष्क आवृत हो जाता है तथा इसके परिणामस्वरूप रोगी को स्थायी रूप से पक्षाघात हो जाता है। बच्चा पूर्णतया अन्धा, बहरा या विक्षिप्त हो जा सकता है। रोग का निदान और चिकित्सा विलम्ब से होने पर बच्चे की दशा ऐसी हो जा सकती है कि उसके माता-पिता यह चाहने लग जा सकते हैं कि बच्चे की यदि मृत्यु हो जाती तो बेहतर होता। इस प्रकार की दुर्घटना को प्रारम्भ में ही रोग-निदान और चिकित्सा द्वारा रोका जा सकता है।

रोगी में पर्याप्त रोग-निरोध-शक्ति रहने पर रोग का संक्रमण मस्तिष्क के किसी अंश विशेष तक ही सीमाबद्ध रह जाता है और वहाँ 'टयूबरकुलोमा' हो जाता है। यह मस्तिष्क के किसी भी अंश में हो सकता है, किन्तु अधिकतर यह मस्तिष्क के गोलक में या लघु मस्तिष्क के आसपास हुआ करता है। यह अक्सर मस्तिष्क-व्रण के समान दिखता है। इस रोग का निदान शल्य क्रिया के पश्चात् ही सम्भव है। आजकल इस व्रण को शल्य-क्रिया से सफलतापूर्वक चंगा किया जाने लगा है। सुषुम्ना प्रणाली में भी 'टयूबरकुलोमाटा' हो सकता है। कशेरुका में क्षय होने के परिणाम स्वरूप ऐसा होता है। इसमें सुषुम्ना नाड़ी में संकोचन होता तथा पक्षाघात हो सकता है।

आधुनिक औषधों की सहायता से यद्यपि इस व्याधि की चिकित्सा सम्भव हुई है, लेकिन प्रारम्भिक अवस्था में ही निदान और चिकित्सा करने से सफलता मिल सकती है। निदान में विलम्ब होने से रोगी पूर्णतया पंगु हो जाता है। इस रोग में दीर्घकालीन चिकित्सा की आवश्यकता होती है और धैर्य तथा सहिष्णुता से रोग-मुक्ति सम्भव है।

# राजयक्ष्मा और उसकी वैकारिकी

श्री एच० वी० गुप्त, ए० एम० एस०

राजयक्ष्माजन्य शारीरिक विकृति पर दृष्टिपात करने के पूर्व हमें उसकी पृष्ठभूमि पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए। शरीर में यक्ष्मा ही एक ऐसा रोग है, जिसके द्वारा शरीर का प्रत्येक अङ्गोपाङ्ग पीड़ित होता है; अर्थात् त्वचा, अस्थि, अन्त्र, फुफ्फुस, मस्तिष्क, सन्धियाँ, विविध श्लेष्मल-कलाएँ आदि प्रत्येक अवयव में राजयक्ष्माजन्य विकार उत्पन्न हो सकते हैं तथा इनके परिणाम-स्वरूप स्थानिक तथा सार्वदैहिक लक्षणों की परम्परा प्रारम्भ होती है। **यक्ष्मा, शोष,** क्षय आदि इसके पर्याय रोग-जन्य विकृतियों के विभिन्न परिणामसूचक शब्द हैं। अयथा बल-प्रयोग (साहसिक कार्य), वेगसन्धारण (वात-मूत्र पुरीषाणाम्), धातुक्षय (अति व्यवाय तथा ईर्ष्योत्कण्ठादि मानसिक विकारजन्य) और विषमाशन, इस हेतुचतुष्टय को क्षयोत्पत्ति में प्रमुख कारणभूत मानते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय, तो हमें पता चलेगा कि इन्हीं चार विशिष्ट कारणों के द्वारा शरीर के विभिन्न अवयवों में यक्ष्मा का प्रारम्भ होता है। यद्यपि एक स्थान की विकृति अन्य स्थानों को भी कालान्तर में दुष्ट कर सकती है और इस प्रकार रोग का प्रसार होकर असाध्यावस्था उत्पन्न हो सकती है; फिर भी उन स्थानों की विकृति को समझते हुए यदि उपक्रम उचित काल में ही प्रारम्भ हो जाते हैं, तो रोग के निराकरण में पर्याप्त सौकर्य हो जाता है। अयथा बल-प्रयोग तथा धातुक्षय से फौफ्फुसिक, वेगसन्धारण तथा विषमाशन से अन्त्र तथा मूत्र-प्रणालीगत इस प्रकार मुख्यतः दो प्रकार से यक्ष्मा का प्रारम्भ होता है। अर्थात् प्रायोगिक पद्धति से निरीक्षण करने पर भी फौफ्फुसिक (Pulmonary) तथा आन्त्र-क्षय (Intestinal) के ही रोगी अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। शेष अन्य अस्थि, चर्मादि शोष के रोगी अपेक्षाकृत कम पाए जाते हैं।

यक्ष्मा की संप्राप्ति का मनन करने से पूर्व हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि यक्ष्मा के आक्रमण एवं पोषण के लिए क्षेत्र (मनुष्य-शरीर) का हीनबल, कृश एवं अल्प-ओज होना परमावश्यक है। तभी उपर्युक्त हेतुचतुष्टय शरीर में विकृति सम्पादन करने में समर्थ हो सकते हैं।

आयुर्वेद में प्रायः सभी रोगों की अभिनिष्पत्ति, निदान, दोष और दूष्य के परस्परानुबन्धित्वादि के द्वारा ही होती है (इह खलु निदान-दोष-दूष्यविशेषेभ्यो विकार विघात भावाभावप्रतिविशेषाः भवन्ति)। सन्निकृष्ट, विकृष्टादि हेतुओं के द्वारा प्रकुपित वात, पित्त और कफ एकाकीभाव से या सन्निपात रूप से रस-रक्तादि धातुओं में प्रवृद्ध होकर, भिन्न-भिन्न स्थानों पर आश्रित होकर (Selective Affinity) अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं। दोषों के प्रकोप, प्रसार और स्थान संश्रयात्मक भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार ही धातुगत परिवर्तन एवं उनके निराकरणात्मक उपायों का अवलम्बन किया जाता है। प्रत्येक रोग की उत्पत्ति की यही पृष्ठभूमि है। राजयक्ष्मा की संप्राप्ति में भी हम इसी सिद्धान्त को देखेंगे।

केवल धातुक्षय-मात्र से राजयक्ष्मा नहीं होता, अपितु रसादिवह स्रोतों के निरोधादि से भी इसकी उत्पत्ति होती है, यह आयुर्वेद का मत है। राजयक्ष्मा में कारणभूत यद्यपि तीनों दोष माने गए हैं, फिर भी कफ-प्रधान दोषों के द्वारा जब रसवाही स्रोतों में अवरोध उत्पन्न कर दिया जाता है, तब क्षयोत्पत्ति होती है। वेगरोधादि कारणों से प्रकुपित वात जब अग्निमान्द्यादि उत्पन्न कर देता है, तब कफ की वृद्धि हो जाती है और तदनन्तर रसवाही स्रोतों का अवरोध हो जाता है। इस अवरोध के परिणाम स्वरूप हृदयस्थ रस की गति रुक जाने से उसमें विदाह उत्पन्न होता है और वही रस कास का वेग आने पर मुख द्वारा बाहर निकलने लगता है। इस क्षय को **अनुलोम क्षय** कहते हैं। इसके विपरीत जब व्यक्ति अतिव्यवायी होने के कारण क्षीणरेता हो जाता है, तब भी विपरीत दिशा में मज्जा, अस्थि आदि धातुएँ क्षीण होने लगती हैं और इस प्रकार क्षय की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

इसे **प्रतिलोम क्षय** कहते हैं। शुक्र धातु के क्षीण होने पर वायु का प्रकोप होता है (वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च) और वह वायु पूर्व की समीपस्थ धातुओं का शोषण करता है। इस प्रकार "क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः" की परिस्थिति उत्पन्न होती है।

रस का वहन करनेवाले स्रोत धमनी कहे गए हैं। अन्त्र-प्रणाली में भोजन का सम्यक् सात्म्यीकरण होने के बाद जो रस बनता है, वह अन्त्र-भित्तियों की सूक्ष्म प्रणालियों से शोषित होकर क्रमशः बड़ी रसवाहिनियों में होता हुआ महारसप्रपा आदि के द्वारा रक्त में मिलकर हृदयगामी होता है। यह रस जब यकृत् और प्लीहा में जाता है तथा धातुपाक की क्रिया द्वारा शारीरिक तेज से इसका परिपाक होकर रञ्जन होता है, तभी उसकी रक्त संज्ञा हो जाती है (सः खलु आप्योरसः यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति)। इस प्रकार रक्त का जनक या पूर्वरूप होने के कारण ही आचार्यों ने अनेक स्थलों पर रक्त को 'रञ्जितरस' नाम से उद्धृत किया है।

यक्ष्मा की वैकारिकी को ठीक-ठीक समझने के लिए इस बात का ज्ञान होना परमावश्यक है ; क्योंकि "रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थः विदह्यते, स उर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते" इस सम्प्राप्ति परक उक्ति का विश्लेषण इसके बिना हो ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि हृदय का मुख के साथ कोई सीधा सम्पर्क नहीं है और न कभी हृदय का विस्फोट ही होता है, जो रस (रक्त) बहिर्गामी हो। अतः हृदय शब्द यहाँ फुफ्फुस परक ही समझना चाहिए। हृदय से अशुद्ध रक्त (रस-मिश्रित) फुफ्फुसों में शुद्धि के लिए (Oxygenation) प्रतिक्षण प्रवाहित होता रहता है और फुफ्फुसों की रचना वायुकोष (Alveoli) की चतुर्दिक भित्तियों में ये रसवाही (रक्तवाही) धमनियाँ-धमनिकाएँ एवं केशिकाएँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से जालवत् प्रतानित रहती हैं, जहाँ बाह्य वातावरण का ओषजन श्वास द्वारा अन्दर जाकर इन वायुकोषों को विस्फारित करता है और परिणामतः केशिकाओं का विस्फार होकर वह प्राणवायु उनके द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है और बदले में शारीरिक प्रज्वलन के परिणाम-स्वरूप (ग्रहणीपाक, धातुपाक, निष्ठापाक) उत्पन्न हुआ मलस्वरूप कार्बन-द्वि-ओषित् वायु धातु श्वसन के समय रक्त में मिलकर फुफ्फुसों (Body Metabolism) में पहुँचकर प्रश्वास द्वारा शरीर से बाह्य होता रहता है।

इस प्रकार हृदय के समान फुफ्फुस भी रस के स्थान होने के कारण, वहीं जब रसवाही स्रोतों में कफ के प्रकुपित होने से अवरोध उत्पन्न होता है, तभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से वे स्रोतस् (Capillaries) भग्न हो जाते हैं और कास का वेग आने पर मुख द्वारा रक्तवर्ण का रस (Blood) बाहर आता है। फुफ्फुस को कफ का स्थान भी कहा गया है। जब कभी कफ की वृद्धि होती है, तो उसका प्रभाव फेफड़ों पर अवश्य पड़ता है। परिणाम यह होता है कि श्वास-नलिका तथा उसकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म शाखा-प्रशाखाओं (Bronchiols) की आभ्यन्तरिक श्लेष्मल कला में संरम्भ (Congestion) उत्पन्न होता है और पश्चात् शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। निष्कर्षतः नाना प्रकार के श्लेष्मा उत्सर्जित होकर एक प्रकार की प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा मुख द्वारा बाहर फेंक दिया जाता है। जब यह श्लेष्मोत्सर्जन की क्रिया जीर्ण हो जाती है, तब स्थानिक धातुओं में वैकल्य एवं दुर्बलता उत्पन्न होती है तथा इस श्लेष्मा के द्वारा वायुकोषों का अवरोध होता है, उनकी क्रिया में विघ्न पैदा होता है, और इस प्रकार वायुकोष भित्तियों की रसवाहिनियाँ टूट जाती हैं, जिससे रक्त रूप रस प्रथम वायुकोषों में और फिर श्वास-नलिकाओं द्वारा बहिर्गत होता है।

यक्ष्मोत्पत्ति के लिए आयुर्वेद में "प्रतिश्यायादथो कासः कासात् संजायते क्षयः" के द्वारा जीर्ण प्रतिश्याय को (Chronic Nasal Catarrah) विप्रकृष्ट हेतु रूप से माना है, अर्थात् नासिकागत श्लेष्मल-कला में स्थायी स्वरूप का शोथ उत्पन्न होकर नाना प्रकार के उपसर्गों को नीचे फुफ्फुसों तक भेजने में सहायक होता है। यही कारण है कि प्रतिश्याय के बाद कास और यदि अब भी यह चक्र न टूटे तो यक्ष्मा की उत्पत्ति हो जाती है।

नव्य सिद्धान्त के अनुसार यक्ष्मोत्पत्ति के लिए एक विशिष्ट वर्ग के जीवाणु (Bacillus Tuberculosis) द्वारा उपसर्ग होना आवश्यक माना गया है ; लेकिन इस

जीवाणु का प्रवेश और संवर्धन भी तभी हो सकता है, जबकि उसके स्वागत के लिए क्षेत्र पहिले से तैयार हो। अर्थात् सार्वदैहिक स्वास्थ्य की गिरावट सामान्य रूप से तथा श्वसन-संस्थानगत अङ्गों की रुग्णता व दुर्बलता विशेष रूप से इस रोग का आक्रमण होने के लिए आवश्यक होता है। एक बार जब जीवाणु विन्दूत्क्षेप की विधि से (Droplet Infection) फुफ्फुसों में पहुँच जाते हैं, तब वहाँसे वे सरलतापूर्वक रक्त-प्रवाह में पहुँचकर शीघ्र गति से वृद्धि करते हैं (रक्तवाहिशिरास्थान जन्तवोऽणवो स्मृताः, अपादाः वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः) और फिर उनके द्वारा फुफ्फुसों में स्थानिक विकृति उत्पन्न होने लगती है। इन जीवाणुओं को ही यदि हम कफ-प्रधान दोष मानें, तो भी कोई त्रुटि नहीं होगी ; क्योंकि यह एक ऐसा जीवाणु है, जिसका आवरण मेदधातु का बना रहता है, जो इसे विनाश से बचाता है, तथा इसके द्वारा शारीरिक धातुओं पर जो क्रिया होती है, उसके परिणाम-स्वरूप भी धातुओं का रूपान्तर विकृत कफ में ही होता है। अतः कफ-प्रधान शरीर होने के कारण इसके द्वारा रसवाही स्रोतों का अवरोध होकर क्षयोत्पत्ति होती है। यह अवरोध क्या है ? इसी का विचार हम आगे करेंगे।

कॉक्स बैसीलस का भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा अन्तर्प्रवेश होने पर उसका स्थान संश्रय फुफ्फुस के ऊपरी कोण पर (Apex) जिसे Assmann's Focus कहते हैं, या जहाँ पर श्वास-नलिका या रक्त-वाहिनियाँ प्रवेश करती हैं, उस स्थान (Hilum) पर ही प्रायः होता है। इसका कारण यह है कि प्रथम पर्शुकीय थार्टिलेज के काठिन्य (Calcification) के कारण इस भाग में श्वास-प्रश्वास के परिणाम-स्वरूप गति नहीं होती तथा जीवाणु की वृद्धि निर्बाध होती है। इस प्रकार जो विकृति केन्द्र बनता है, उसे ट्यूबरकल कहते हैं। यह एक प्रकार का कठिन उभार होता है, जो तीन प्रकार के कोषों से बना होता है, जिसे अंग्रेजी में Gel System ( Giant cells, Epithelial cells, Lymphocytes ) के द्वारा पुकारा जाता है। इस टचुबरकल में ही अनेक जीवाणु भरे रहते हैं। इसकी उत्पत्ति तथा प्रसृति (Infiltration) तीव्रता के साथ या प्रायः ईषत्तीव्रता के साथ होती है, जिससे एकाएक शारीरिक लक्षण उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार के रोगियों में, रेडियोलॉजीकल परीक्षणों से यह देखा जा सकता है कि सूक्ष्म श्वास-नलिकाओं में तथा उनके चारों तरफ (Fine Bronchioles of the 3rd to the 5th degree) प्रारम्भिक जीवाणुओं का संग्रह सर्वप्रथम होता है। इससे शोथ और उत्सेध की दशा उत्पन्न होती है, जिसका परिणाम यह होता है कि इन सूक्ष्म नलिकाओं के परिसरीय वायुकोषों पर दबाव पड़ने के कारण उनका तथा उनसे सम्बन्धित श्वास-नलिकाओं का संकोच होता है ( Collapse) और इस प्रकार श्वास-नलिका वायुकोष काठिन्य का एक सूक्ष्म क्षेत्र ( Brancho pneumonic Area) फुफ्फुसों में बन जाता है। साथ ही साथ श्वास-नलिकाओं के ऊपरी भागों में भी शोथ उत्पन्न होने लगता है (Peribronchial Inflammation)। जिन रोगियों में शारीरिक क्षमता के द्वारा रोग पर विजय हो जाती है, वहाँ तो इस क्षेत्र में सौत्रिक धातु का निर्माण होकर ( Fibrosis ) या चूने के लवणों पर अवक्षेप (Calcification) होकर स्वास्थ्य ठीक हो जाता है ; लेकिन जब उपसर्ग की तीव्रता तथा शारीरिक प्रतिरोध की कमी होती है, तब यह क्षेत्र बढ़ता जाता है और इसमें अनेक परिवर्तन होने प्रारम्भ हो जाते हैं। यथा—

**द्रवीभवन (Caseation)** क्योंकि टचुबरकल में रक्त-प्रवाह नहीं होता, इस कारण से तथा जीवाणुजन्य विषोत्सर्ग के द्वारा अवस्कन्दन कोथ (Coagulation Necrosis) की दशा उत्पन्न होती है तथा समस्त धातुओं का वसा में रूपान्तर हो जाता है। इस संयुक्त क्रिया को द्रवीभवन ( Caseation) क्रिया कहते हैं। तथा इसके परिणाम-स्वरूप एक रचना-रहित पिच्छिल पिण्ड जैसा बन जाता है। इसके बाद या तो यह पिण्ड पिघलता है तथा शीतविद्रधि के रूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसमें क्षयी पूय भरा रहता है, या चूने के लवण अवक्षिप्त होने के कारण उसमें छोटी-छोटी अश्मरियाँ बन जाती हैं ( Pneumolith )।

**गर्तीभवन (Cavitation)** कुथित भाग जब तरल में रूपान्तरित हो जाता है, तब वह तरल कास-वेग

से बाहर श्लेष्मा के रूप में फेंक दिया जाता है। इस प्रकार वह स्थान एक गहरे गर्त्त के समान रिक्त हो जाता है। यह गर्त्त एक मटर के दाने के आकार से लेकर समस्त फुफ्फुस के लोब के आकार तक का हो सकता है। नवीन गर्त्त के किनारे अनियमित, खुरदरे तथा उठे हुए होते हैं एवं उनके चारों तरफ रक्त-नलिकाएँ दिखाई देती हैं। कभी-कभी गर्त्त के मध्य से होकर अवरुद्ध श्वास-नलिका-सूत्र तथा रक्तवाहिनियाँ भी जाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। जब ये केविटीज पुरानी हो जाती हैं, तब इनके चारों तरफ सौत्रिक धातु बन जाती है। कभी-कभी रक्तवाहिनियों में विस्फार ( Pneurism ) भी हो जाता है, जो दबाव पड़ने पर फट जाती हैं और रक्तष्ठीवन के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

**सौत्रिक धातुमयता ( Fibrosis)** फुफ्फुसीय धातुओं में प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप सौत्रिक धातु का निर्माण होता है। यह प्रारम्भिक अवस्था में या द्रवीभवन के पश्चात् भी हो सकता है। इन परिवर्तनों को रोपणसंज्ञा दी जाती है (Productiue) तथा वसायुक्त द्रवीभवन आदि परिवर्तन Exudative कहलाते हैं।

फुफ्फुस के एक भाग से रोग का संक्रमण अन्य भागों में निम्न भाँति हो सकता है—

(१) सीधे सम्पर्क द्वारा ( Direct Infiltration)।

(२) श्वास-नलिका के समानान्तर फैली हुई रस-वाहिनियों तथा रक्तवाहिनियों के द्वारा (Peribronchial Lymphates and Capillaries)।

(३) रक्तष्ठीवन के बाद रक्त का कुछ भाग श्वास-नलिका द्वारा फुफ्फुस के अन्य भागों में पहुँचकर नवीन उपसर्ग करता है।

(४) रक्तवाहिनियों के द्वारा।

फुफ्फुसों में होनेवाले परिवर्तनों के आधार पर ही फौफ्फुसिक यक्ष्मा के निम्न भेद किए जाते हैं—

१. **Acute Miliary Tuberculosis**—इस प्रकार में धूसर वर्ण के ट्युबरकल सारे फुफ्फुसों में भरे रहते हैं, जिनका प्रारम्भ या तो अपैक्स से या ब्रोंङ्कियल ग्रन्थियों से या शरीर के किसी दूरवर्ती अन्य भाग से होता है। स्थानिक शिराओं में जब व्रण हो जाता है, तब यह समझा जाता है कि रोग का प्रसार रक्त द्वारा हो रहा है। द्वितीय श्रेणी के परिवर्तन होने से पूर्व ही रोगी दिवङ्गत हो जाता है। कभी-कभी यह स्थिति फाइब्रो-केसियस स्वरूप के यक्ष्मा में अन्तिम अवस्था में हो जाती है।

२. **Chronic Miliary Tuberculosis**—इस प्रकार में भी धूसर या श्वेतवर्ण के बाजरे के दानों के समान ट्युबरकल सारे फुफ्फुसों पर फैले रहते हैं। कभी-कभी ये प्लीहा, वृक्क और यकृत् में भी पाए जाते हैं, साथ ही साथ इस प्रकार के फुफ्फुसों में बहुत फाइन सौत्रिक धातु का जाल-सा भी बन जाता है।

३. **Acute Caseous Tuberculosis**—इस प्रकार में काठिन्य ( Consolidation ) के बड़े-बड़े क्षेत्र शीघ्रता से फुफ्फुसों में उत्पन्न हो जाते हैं तथा वायु-कोषों में जो शोथ के परिणाम-स्वरूप तरल एकत्रित होता है, उसमें फाइब्रिन होता है। ईषत्पीत वर्ण के कठिन भाग समस्त फुफ्फुसों में फैले हुए पाए जाते हैं।

४. **Fibrocaseous T. B.**—यह रोग का सर्व-साधारण रूप है, अर्थात् प्रायः इस वर्ग के यक्ष्मा से ही पीड़ित रोगी उपलब्ध होते हैं, फुफ्फुसों का आकृति-परिवर्तन, सौत्रिक धातु के निर्माण और द्रवीभवन की सापेक्ष क्रिया के विस्तार पर निर्भर रहता है। प्रारम्भिक अवस्था में सूक्ष्म दाने तथा स्थान-स्थान पर काठिन्य उत्पन्न होता है। तदनन्तर भिन्न-भिन्न स्थानों पर द्रवीभवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ तरतम भेद से उपलब्ध होती हैं ( Caseation, Cavitation) । जो व्रणस्थल पुराने हो जाते हैं, वहाँ सौत्रिक धातु भी बनने लगती है। सर्व-प्रथम ऊपरी लोब का शृङ्ग पृष्ठ की तरफ आक्रान्त होता है, फिर नीचेवाले लोब का शृङ्ग प्रभावित होता है, फिर दोनों लोबों के मध्यवर्ती आवरण में रोग का प्रसार होता है तथा क्रमशः दूसरे फुफ्फुस में भी इसी क्रम से रोग उत्पन्न हो जाता है।

५. **Fibroid T. B.**—सैत्रिक धातु का निर्माण स्थानिक उपसर्ग को रोकने के लिए या सारे फुफ्फुसों में जहाँ विकृति की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हो चुकी होती हैं, हो सकता है। इस दशा में एक लोब या सारा फुफ्फुस

सिकुड़ जाता तथा कठिन हो जाता है। इस सौत्रिक धातु के जाल में स्थान-स्थान पर पिच्छिल धातु, गर्त्त तथा खटिक की बनी छोटी-छोटी अश्मरियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सिकुड़े हुए भाग के ऊपर का प्लूरा भी अधिक स्थूल तथा फुफ्फुस से संसक्त होता है। दूसरे फुफ्फुस में तथा उसी फुफ्फुस के स्वस्थ भाग में वायुकोषों का पूरक विस्फार ( Compensatory Emphysema) हो जाता है।

सभी प्रकार के फौफ्फुसिक यक्ष्मा में श्वास-नलिकागत ग्रन्थियाँ प्रभावित होती और वे बढ़ जाती हैं, कभी-कभी उनमें रञ्जक कण उत्पन्न हो जाते हैं, और उनके अन्दर भी टयुबरकल, केसियस, अश्मरी जैसे तथा सौत्रिक धात्वात्मक परिवर्तन हो जाते हैं। ये परिवर्तन कहीं सर्वप्रथम होकर रोग का प्रसार होता है, तो कहीं रोग उत्पन्न होने के बाद ग्रन्थियों में उपसर्ग के परिणाम-स्वरूप ये परिवर्तन होते हैं।

फुफ्फुसावरण पर भी रोग का निश्चित प्रभाव पड़ता है। सर्वप्रथम आवरण में तीव्र शोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं और फिर शनैः-शनैः वह स्थान-स्थान पर दोनों स्तर आपस में संसक्त भी हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्लूरा में छोटे-छोटे टयुबरकल के कण भी उत्पन्न हो जाते हैं। फुफ्फुसों के अतिरिक्त अन्य अङ्गों पर भी रोग के आक्रमण के परिणाम-स्वरूप टयुबरकल की उत्पत्ति होती है तथा अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार विहङ्गम दृष्टिपात करने के उपरान्त यदि संक्षेप में उपर्युक्त विवरण को रखा जावे, तो वही उपपत्ति सामने आती है. जो हमारे प्राचीन आचार्यों ने प्रतिपादित की है--अर्थात् "**कफ-प्रधान दोषों के द्वारा जब रसवर्त्मों का अवरोध हो जाता है, तभी धातुओं का क्षय प्रारम्भ होता है।**" यह क्षय सर्वप्रथम स्थानिक (फौफ्फुसिक) धातुओं का (Caseation, Fatty degeneration of the lung stroma) होता है, तदुपरान्त सार्वदैहिक धातुओं का। इस प्रकार यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। कफ-प्रधान दोषों से यदि उदारचित्त होकर हम विशिष्ट जीवाणु का ग्रहण कर लें, तो यह सम्प्राप्ति पूर्ण हो जाती है।

---:o:---

[ पृष्ठ ११५ का शेषांश ]

## यक्ष्मा की सफल चिकित्सा

(४) मल का विबंध या स्रंसन करनेवाला न हो।

इन शास्त्रीय सूत्रों को ध्यान में रख, यदि हम क्षयी की पूरी सावधानी से चिकित्सा करेंगे, तो हम चिकित्स्य क्षयी को अवश्य नीरोग करने में अधिक-से-अधिक सफल हो सकते हैं। हाँ, रोगी को उपकरणसम्पन्न अवश्य होना चाहिये। यदि रोगी इस स्थिति का है कि उसके लिये जीवन-निर्वाह की आवश्यक सामग्री का भी सहारा न हो, तो उस स्थिति में रोगी की उचित चिकित्सा असम्भव है। ऐसे रोगियों की चिकित्सा क्षयाश्रमों में ही हो सकती है, घर पर नहीं।

इस रोग में जिन अधिकांश लाभप्रद आयुर्वेदीय योगों का प्रयोग होता है, उनके नाम निम्नलिखित हैं:--

(क) **रस-प्रयोग**--राजमृगांक, महामृगांक, मृगांक, वसन्तमालती, वसन्ततिलक, क्षयकेसरी, रत्नगर्भ पोट्टली, मृगांक वटी, चन्द्रामृत वटी, मुक्ता पंचामृत, काञ्चनाभ्र, शृंगाराभ्र, जीवानन्दाभ्र।

(ख) **घृत**--अमृतप्राशघृत, द्राक्षाघृत, जीवन्त्यादि घृत, दुरालभादि घृत, बलादि घृत, पिप्पल्यादि घृत।

(ग) **तैल**--लाक्षादि तैल, चन्दनादि तैल।

(घ) **चूर्ण**--तालीशादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण, लवंगादि चूर्ण, यवानी खाण्डव चूर्ण, जातीफलादि चूर्ण, शृंग्यादि चूर्ण।

(ङ) **अवलेह**--कंटकार्यादि, वासादि, च्यवनप्राश, सर्पिर्गुड।

(च) **अरिष्ट**--अस्नहरारिष्ट, द्राक्षारिष्ट, द्राक्षासव।

किस स्थिति में किस योग का प्रयोग उपादेय है, यह रोग की अवस्था पर निर्भर है। मुक्ता, स्वर्ण, अभ्र, पिप्पली, गिलोय, वासा और शिलाजतु इनका उपयोग आरम्भ से अन्त तक किसी भी अवस्था में रोग क्यों न हो, अवश्य करते रहना चाहिये।

# राजयक्ष्मा और आधुनिक नारी

लेडी डॉक्टर राजसचदेव आयुर्वेद विशारद

भारत में आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ राजयक्ष्मा महाव्याधि नामक खतरनाक रूप से व्याप्त होती जा रही है। पाश्चात्य रहन-सहन, आधुनिक शिक्षा और अप्राकृतिक जीवन के कुप्रभाव से इस महाव्याधि ने सर्वत्र अपनी विनाशलीला मचा रखी है। शायद ही ऐसा कोई सौभाग्यशाली परिवार होगा, जो इस रोग से अछूता हो। आधुनिक नारियों का रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार पाश्चात्य सभ्यता के कुप्रभाव से अत्यधिक दूषित हो गया है और इसी कारण यक्ष्मारोग से आधुनिक नारियों की सर्वाधिक संख्या में मृत्यु होती है। वर्त्तमान समय में १७ से ३० वर्ष तक की नारियों में राजयक्ष्मा का प्रसार अत्यधिक मात्रा में दृष्टि-गोचर हो रहा है।



लेखिका

राजयक्ष्मा का वास्तविक अर्थ शरीरगत धातुओं का क्षय होना है। आधुनिक नारियों में निम्नोक्त करणों से धातुओं का क्षय होता है :—

**(१) विलासितापूर्ण जीवन और रहन-सहन,**

**(२) फैसन में पड़कर पौष्टिक खाद्य-पदार्थों से परहेज,**

**(३) अधिक सन्तानोत्पत्ति,**

**(४) बार-बार गर्भपात या गर्भस्राव करना,**

**(५) प्रसव के समय असावधानी, तथा—**

**(६) लड़के एवं लड़कियों की सहशिक्षा की व्यवस्था।**

राजयक्ष्मा की उत्पत्ति वैदिककाल से ही है। सर्वप्रथम नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा इस रोग से आक्रान्त हुए थे। इसके बाद अन्य कई प्राचीन राजाओं को यह रोग हुआ, जिसका उल्लेख हम आर्ष ग्रन्थों में यत्र-तत्र पाते हैं। उक्त राजाओं को यह रोग प्रधानतः अतिव्यवाय के कारण ही हुआ था; लेकिन प्राचीनकाल की किसी नारी को राजयक्ष्मा रोग होने का हमें कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसका प्रधान कारण यह है कि हमारे देश की नारियाँ पूर्ण संयमित जीवन व्यतीत किया करती थीं। साथ ही घर के सारे काम-काज वे स्वयं कर लेती थीं। घरेलू मवेशियों की देखभाल, दूध दूहना, चक्की पीसना, झाड़ू देना, लीपा-पोती करना, उनकी दैनिक दिनचर्या थी। भोजन तैयार कर बच्चों और पति को खिलापिला कर वाहर भेजने के बाद वे चर्खा कातना, सिलाई करना आदि किया करती थीं। इसतरह उनके शरीर को पूरा व्यायाम मिल जाता था और वे सदैव पूर्ण स्वस्थ एवं प्रसन्न रहती थीं। घर में वे बड़ों की इज्जत करतीं और ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहती थीं। किन्तु, आधुनिक नारियों में इन सारे गुणों का पूर्णतया अभाव है। घरेलू काम-काज, पशुपालन आदि स्वास्थ्यवर्द्धक कार्यों से दूर रहकर वे विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं तथा घर की अन्यान्य महिलाओं से ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़ा कर अपना स्वास्थ्य नष्ट कर देती हैं। आज यह दोष अमीर-गरीब सभी घरों की स्त्रियों में देखा जाता जाता है। यद्यपि पहले की अपेक्षा आज नारियों में शिक्षा का प्रचार कई हजारगुना अधिक है, तथापि हमारे नारी समाज का स्वास्थ्य गिरता जा रहा है। आज घर-घर में सुशिक्षिता महिलाएँ मौजूद हैं, पर वे स्वास्थ्यवर्द्धक घरेलू कार्यों की ओर जरा भी ध्यान नहीं देतीं और हमेशा

सिनेमा देखने, उपन्यासादि पढ़ने, लड़ने-झगड़ने और इर्ष्या-द्वेष करने में ही व्यस्त रहती हैं। इन सब का मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है, जिससे मानसिक-क्षय होता है और धीरे-धीरे धातुओं का क्षय होकर राजयक्ष्मा जैसी महा-व्याधि हो जाती है।

आज की नारियाँ अपने घर का सारा काम नौकरों पर छोड़ देती हैं तथा स्वयं सारा दिन दफ्तरों या स्कूल में या चारपाई पर व्यतीत करती हैं। जिन घरों की नारियाँ आज भी अपने सारे घरेलू कार्यों को स्वयं करती हैं तथा शान्ति से रहती हैं, वे स्वस्थ, नीरोग एवं सुखी जीवन व्यतीत करती हैं। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के परिणामस्वरूप लड़के-लड़कियों का अवाधरूप से मिलन होने लगा है। सन्तति-निरोध के अवैध उपायों का अवलम्बन कर गुप्त व्यभिचार को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने और शारीरिक श्रम से दूर रहने से नारियों को प्रदर रोग हो जाता और यह रोग पुराना होने पर वे आलस्य, चित्त के भारीपन, शिरपीड़ा, भ्रम, उत्साह हीनता, कार्यों में विरक्त, कब्जियत, मन्दाग्नि, अरुचि, अनिद्रा, वमन, कफ-वृद्धि आदि लक्षणों से ग्रसित होने लगती हैं और धीरे-धीरे धातुक्षय होकर उनको यक्ष्मा रोग हो जाता है।

भोग-विलास को मनोरंजन की सामग्री समझ कर आजकल की नारियाँ और पुरुषवर्ग स्थान-काल पर कोई ध्यान न देकर सदा कामवासना में लिप्त रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे प्रतिवर्ष नयी सन्तान का दर्शन करते हैं। बार-बार गर्भ रहने से नारी के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव होता है। अधिक संख्या में सन्तानोत्पत्ति हो जाने पर उनके पालन-पोषण, शादी-व्याह, शिक्षा-दीक्षा आदि के लिए काफी अर्थराशि की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में स्त्री-पुरुष सन्तानोत्पत्ति रोकने के लिए गर्भस्राव करा देना बेहतर समझते हैं। इस प्रकार बार-बार गर्भस्राव होने से स्त्री की जीवनीय शक्ति का ह्रास होता रहता है और धातुक्षय होने से उन्हें राजयक्ष्मा रोग हो जाता है। अर्थाभाव के कारण बच्चों के पालन-पोषण की कठिनाइयों को ध्यान में रख कर अनेक स्त्रियाँ गर्भ-स्राव करा देती हैं, लेकिन सम्पन्न गृहों की नारियाँ प्रधानतः अपने विलासी जीवन को अक्षुण्ण रखने तथा गर्भधारण के कष्टों से बचने के लिए ही गर्भस्राव कराती हैं।

गर्भावस्था में मैथुन सभी दृष्टियों से त्याज्य है, लेकिन आजकल के अनेक स्त्री-पुरुष इस अवस्थामें भी मैथुन से अलग नहीं रहते। इस से गर्भ नष्ट हो जाता है। गर्भावस्था में गर्भस्थ शिशु का जीवन माता के स्वास्थ्य पर ही निर्भर करता है। यदि माता रोगग्रस्त या दुबली होगी तो भावी सन्तान भी दुर्बल और निस्तेज होगी ऐसी सन्तानें बड़ा होकर प्रायः क्षयरोगपीड़ित हो जाती हैं।

आधुनिक युग में प्रसव के समय सम्पन्नगृहों में काफी सुव्यवस्था की जाती है। प्रसव कराने के लिए सुयोग्य लेडी डॉक्टरों और नर्सों को नियुक्त किया जाता है तथा सफाई एवं देखरेख का पूरा प्रबन्ध होता है; फिर भी उन गृहों की नारियाँ अधिकतर दुर्बल दृष्टिगोचर होती हैं। इसका कारण यह है कि प्रसव के बाद अपनी क्षीण-शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए वे पुष्टिकर भोजनों से परहेज करती हैं। पुराने जमाने की नारियाँ प्रसव के बाद विविध प्रकार के पुष्टिकर भोजनों द्वारा अपना स्वास्थ्य अक्षुण्ण रखती थीं, किन्तु आज की नारियाँ अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान न देकर फैशन पर ही अधिक ध्यान देती हैं। गरीब घरों की स्त्रियाँ अर्थाभाव के कारण स्वास्थ्यकर भोजन नहीं पा सकतीं और गन्दे मकान तथा अस्वास्थ्यकर वातावरण में रहने के कारण रोगग्रस्त हो जाती हैं।

अर्थाभाव के कारण नगरों में अधिकांश परिवार एक ही कमरे में रहन को बाध्य होते हैं। पुरुष तो बाहर निकलकर शुद्ध वायु और धूप का सेवन कर लेते हैं, पर नारियों को उसी कमरे में रहना पड़ता है, जहाँ धूप और शुद्ध वायु का नितान्त अभाव रहता है। इससे उनके फेफड़ों को पूरा पोषण नहीं मिल पाता। इस कारण फेफड़ा कमजोर हो जाता और रोग का आसानी से उस पर आक्रमण हो सकता है।

**कारण**—अधिक उपवास, असमय भोजन, अधिक चटपटे और विरुद्ध भोजन, शक्ति से अधिक परिश्रम, चिन्ता, बुरे विचार, दूध-घी के बदले चाय और वनस्पति

घी का सेवन, अतिविलासिता और ब्रह्मचर्यहीनता के कारण ही राजयक्ष्मारोग उत्पन्न होता है।

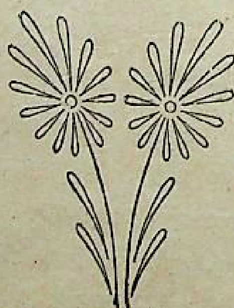
**क्षय के पूर्वरूप**—इस रोग का आक्रमण होने पर रोगिणी क्रमशः दुर्बल होती जाती है और उसके शरीर का वजन धीरे-धीरे कम होता जाता है। पाचन-शक्ति विगड़ जाती है, चेहरा रक्तहीन तथा पीला हो जाता है। गाल बैठ जाते हैं, छाती धँस जाती है और कन्धे झूल पड़ते हैं। चेहरे पर चिकनापन आ जाता है। शरीर में ज्वर के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और नींद की हालत में तथा खासकर प्रातःकाल पसीना छूटता है। रजोधर्म में विकृति हो जाती है, स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है और सूखी खाँसी प्रारम्भ हो जाती है। तालू सूखने लगता है और जुकाम, कास, श्वास, तथा अग्निमान्द्य के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। राजयक्ष्मा में वात और कफ की प्रधानता होती है। इसके दो लक्षण ही प्रधान हैं—

**खाँसी**—कण्ठनली में प्रदाह होकर खाँसी शुरू हो जाती है। रोग की वर्द्धित-अवस्था में अविराम खाँसी होती है। किसी-किसी को यह खाँसी थोड़ी-थोड़ी बनी रहती है और कफ नहीं आता। धीरे-धीरे फेनयुक्त श्लेष्मा आने लगती है और इसके बाद पीली लसदार-श्लेष्मा आती है। इसके बाद श्लेष्मा के साथ रक्त कण भी निकलने लगते हैं। खाँसने में कष्ट होता तथा रोगी की बेचैनी बढ़ जाती है।

खाँसी में कफ के साथ रक्त निकलने का कारण यह है कि यक्ष्मा-विवरों के चतुर्दिक तन्तुओं में रक्त की अधिकता हो जाती है, जिसे यक्ष्मा के जीवाणु सड़ाने का प्रयत्न करते हैं। इससे उनमें प्रदाह उत्पन्न होता है और कफ के साथ थोड़ा खून निकल जाने पर रोगी को आराम मालूम होता है। लेकिन, कण्ठ और फेफड़ों की शिराओं के फूट जाने पर रक्त अधिक मात्रा में निकलने लगता है तथा रोगी की हालत चिन्ताजनक हो जाती है। ऐसी अवस्था में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

**ज्वर**:—लम्बे अर्से तक मन्द ज्वर रहने से राजयक्ष्मा की आशंका हो जाती है। यद्यपि इस रोग में ज्वर की मात्रा अधिक नहीं होती, तथापि ज्वर प्रतिदिन तीसरे पहर या सायंकाल में बढ़ जाता है। इसके साथ ही रोगी का हृदययन्त्र बड़ी तेजी से धड़कने लगता है और रोगी ऐसा अनुभव करता है कि उसे बहुत तेज बुखार हो आया है। रोगी में यह जीर्ण ज्वर प्रायः सदैव वर्तमान रहता है।

साधारणतः उपर्युक्त दो लक्षणों के प्रकट होने पर रोगी के थूक, मल-मूत्र और फेफड़े की परीक्षा होती है और सभी परीक्षणों से यह निश्चित हो जाने पर कि रोगी को यक्ष्मा हो गया है, उसकी चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है। ऐसी अवस्था में रोगी को शुद्धवायुमय स्थान में रखना चाहिये, जहाँ पर्याप्त धूप और रोशनी मिले। घरेलू चिन्ताओं से उसको बिलकुल मुक्त कर देना चाहिये और विचारों को शुद्ध तथा मन को प्रफुल्ल रखने के उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। यक्ष्माग्रस्त स्त्री को पुरुष से बिलकुल अलग रखना चाहिए तथा ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे वह गर्भवती न हो। इसके साथ ही लक्षणों के अनुसार उसकी चिकित्सा की जानी चाहिये।



[ द्वितीय खंड ]

## राजयक्ष्मा--चिकित्सा और पथ्यापथ्य

इस खंड के अधिकारी लेखक

आयुर्वेद-महामहोपाध्याय श्री भागीरथ स्वामी, वैद्य बापालाल भाई,
वैद्य पु० बी० धामणकर, डॉ० आशानन्द पंचरत्न, वैद्य
विन्दुमाधव पंडित, डॉ० ए० लक्ष्मीपति, प्राणाचार्य
गोपाल शास्त्री गोडबोले, वैद्य रामगोपाल शास्त्री,
वैद्य रामेशवेदी, वैद्य धीरेन्द्र मोहन भट्ट,
कविराज हरिकृष्ण सहगल, डा०
लालजी सहाय, कविराज
कालिदास चट्टोपाध्याय
आदि-आदि



# यक्ष्मा की सफल चिकित्सा

वैद्य मङ्गलदास स्वामी, आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेद के सिद्धान्त से, चिकित्सा आरम्भ करने के पहले रोग की यथार्थ परीक्षा कर लेना परमावश्यक है। रोग का यथार्थ परिचय कैसे प्राप्त किया जाय, इसके लिये 'अष्टाङ्ग हृदय' का यह सूत्र सर्वदा सामने रखना चाहिए—

"दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्वं सात्म्यं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः।
सूक्ष्मसूक्ष्माः परीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥"

अर्थात् रोग की पहिचान के लिये दूष्य, देश, बल, काल, अग्नि, प्रकृति, आयु, मनोबल, सात्म्यासात्म्य, आहार-मात्रा, रोग की पूर्वावस्था व रूपावस्था में साध्यासाध्यत्वादि स्थितियों का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अध्ययन करने से ही हम रोगोत्पत्ति के मूलभूत दोष, रोग व रोग की उचित औषध का यथार्थ निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। इस तरह निर्णीत चिकित्साक्रम कभी विफल नहीं हो सकता।

वैद्य को चिकित्सा आरम्भ करते समय यह बात न भूलनी चाहिये कि उनका शास्त्र सर्वत्र चिकित्सा की दो प्रणालियों का निर्देश करता है। प्रथम है,सामान्य चिकित्सा—जिसको हम चिकित्सा-सूत्र के नाम से कह सकते हैं। यह रोग के मूल दोष को लेकर आदि से अन्त तक चलनेवाली चिकित्सा है। दूसरी है, आवस्थिक चिकित्सा। इसका सम्बन्ध रोग की अवस्था-विशेष से है। यह चिकित्सा-क्रम पूर्वावस्था से आरम्भ होकर रोग के निवारण पर्यन्त जितनी अवस्थायें बदलेंगी, तदनुरूप ही बदलता रहेगा। जब तक हम सामान्य-विशेष चिकित्साक्रमों का अवस्थानुसार सम्यक् विभाजित उपयोग नहीं कर सकेंगे, तब तक रोग पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करना कठिन है। अतः चिकित्सक को चाहिये कि प्रत्येक रोग की चिकित्सा के समय अपने शास्त्रोक्त इस सिद्धान्त का परित्याग न करे।

इस सिद्धान्त को समझने के बाद हमें यह जिज्ञासा नहीं रहनी चाहिये कि किसी रोग की एकान्ततः सफल व अनुभूत चिकित्सा क्या है? जब प्रत्येक रोग पूर्वावस्था से लेकर निवृत्त होने की अवस्था तक कई रूप बदलता है, तब उसके एक ही क्रम की चिकित्सा कैसे की जा सकती है? हाँ, सामान्य चिकित्सा का क्रम सब अवस्थाओं में चालू रह सकता है। विशेष अवस्था की चिकित्सा का तो परिवर्तन करना ही होगा। अतः आयुर्वेद के सिद्धान्त से यह कहना कठिन है कि कोलो कैल्शियम, विटामिन 'डी' संयुक्त काडलीवर ऑयल, हाइपो फोसफाइट्स का उपयोग व सोलगनल, सेवोक्राइसीन, सोडियम रूएट, वेंजिल सिनेमिक ईथर तथा तिल्ली के सत्व का इन्जेक्शन क्षय की सब अवस्थाओं में बिना विशेष विचार के करते रहना चाहिये। संभव है, इनमें से कुछ द्रव्य ऐसे हों, जो सामान्य चिकित्सा के अंगभूत हों। उनका उपयोग सब स्थितियों में उपयोगी हो सकता है। पर अवस्था विशेष में प्रयुक्त होनेवाले द्रव्यों का सब अवस्थाओं में प्रयोग करने से रोग निवृत्त होने की अपेक्षा और भी जटिल हो सकता है। अतः चिकित्सा सामान्य एवं विशेष भेद से प्रयुज्यमान चिकित्साक्रम को अनुकरणवश या उपेक्षावश कदापि नहीं भुलाना चाहिये।

चिकित्सा का दूसरा आधार है सम्प्राप्ति। दोष-दूष्यों का जिस रूप में संयोग होकर तज्जन्य आश्रय-विशेष में रोगोत्पत्ति होती है, इसको आयुर्वेद 'सम्प्राप्ति' नाम से व्युपदेश करता है। सम्प्राप्ति को समझे बिना चिकित्सा करना बिना लक्ष्य-स्थान को पहचाने तीर चलाना है। क्षय की सम्प्राप्ति क्या है, इसको चिकित्सा से पूर्व समझ लेने की आवश्यकता है। क्षय अन्य ज्वरादि रोगों की तरह सामान्य रोग नहीं है। अन्य रोगों से क्षय में यह विशेषता है कि और रोगों में तो रोगोत्पत्ति के बाद उपद्रव रूप अनेक व्याधियाँ होती हैं परन्तु क्षय में पहले अनेक व्याधियों का जन्म होता है और पश्चात् क्षय स्वयं उपद्रव की तरह अभिव्यक्त होता है। जैसा कि कहा गया है—

"अनेक रोगानुगतो बहुरोग पुरोगमः।
दुर्विज्ञेयो दुर्निवारः शोषोव्याधिर्महाबलः।।"

क्षय त्रिदोषजन्य रोग है। वेगरोधादि जो हेतुचतुष्टय हैं, वे तीनों ही दोषों को प्रकुपित करते हैं। प्रकुपित वातादि दोष रसादिवाहक स्रोतों को अवरुद्ध कर सम्पूर्ण धातुओं का क्षय करते हैं। जैसा कि क्षय की सम्प्राप्ति बताते हुए कहा गया है--

"कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु।
अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणेरेतस्यनन्तराः।।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यंति मानवः।"
—सु० उ० अ० ४१

अष्टाङ्ग हृदयकार भी निर्देश करते हैं कि—

दोषैर्मन्दानलत्वेन सोपलेपैः कफोल्वणैः।
स्रोतोमुखेषु रुद्धेषु धातूष्मा स्वल्पकेषु च।।
विदह्यमानः स्वस्थाने रसस्तांस्तानुपद्रवान्।
कुर्यादगच्छन् मांसादीन् असृक् चोर्ध्वं प्रधावति।।
पच्यते कोष्ठ एवान्नमन्नपक्त्वैव चास्यय त्।
प्रायोऽस्मात् मलतां प्राप्ते नैवालं धातुपुष्टये।।
रसोऽप्यस्य न रक्ताय मांसाय कुत एव तु।
उपस्तब्धः स शकृता केवलं वर्तते क्षयी।।"

चिकित्सक की सचेष्टता के लिये चरक और भी निर्देश करते हुए कहते हैं—

"यथा स्वेतोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना।
स्रोतसां सन्निरोधाच्च रसादीनां च संक्षयात्।
धातूष्मणां चापचयात् राजयक्ष्मा प्रवर्तते।
रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते।
तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसंश्रितम्।
मलीभवति तत् प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे।
तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद् राजयक्ष्मिणः।
सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्।

उपर्युक्त तीनों आचार्यों के वचनों को ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होगा कि क्षय में रसवाही स्रोतों का अवरोध, अग्नि की कमी और धातुओं का क्षय प्रमुख लक्षण हैं। इसीलिये क्षयी किस अवस्था में चिकित्स्य है, इसका निर्देश करते हुए सुश्रुत कहते हैं--

"ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रिया सहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्नि-अकृशं नरम्।"

कैसा क्षयी अचिकित्स्य है--

"लिङ्गेष्वल्पेष्वपि क्षीणं।"

कौन-सा क्षयी चिकित्सनीय है और कौन-सा अचिकित्सनीय, इस निर्देश में ये ही तीन बातें प्रमुख रूप से सामने आती हैं कि स्रोत अवरुद्ध न हुए हों, अग्नि ठीक काम करती हो, धातुओं का पोषण रुका नहीं हो, तो और चाहे जो लक्षण हों, चिकित्सा में सफलता की पूरी आशा रखनी चाहिये। यदि ये तीनों बातें न हों, तो चिकित्सा में सफलता मिलने की सम्भावना बहुत ही कम समझनी चाहिये।

जिन लक्षणों से युक्त क्षयी को चिकित्स्य माना गया है, वह क्षय का पूर्वावस्था काल है। यह क्षय की प्रथमावस्था है। इस अवस्था में यदि रोगी चिकित्सक के पास पहुँच जाय और चिकित्सक क्षय की पूर्वावस्था समझ उसकी चिकित्सा करे, तो रोगी बहुत शीघ्र स्वास्थ्य लाभ कर सकता है। इस अवस्था में उचित चिकित्साक्रम चलने से ८० प्रतिशत से अधिक रोगी क्षयाक्रान्त होने से बच जाते हैं।

जिस अवस्था को अचिकित्स्य माना गया है, वह व्यक्त हुए क्षय की उत्तरकालीन अवस्था है, जिसको हम द्वितीयावस्था या उत्तरार्ध कह सकते हैं। इस स्थिति में आने तक रोग का आधिपत्य दृढ़ता से शरीर में स्थिर हो जाता है। इस अवस्था के बाद शायद ही प्रतिशत दो-चार रोगी स्वस्थ हो सकें।

कहने का अभिप्राय यह है कि क्षयरोग की आरम्भिक अवस्था में ही चिकित्सा आरम्भ होनी चाहिये। और यह चिकित्सा होनी चाहिये, प्रतिश्यायादिकों की। पर उसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि न तो ऐसा आहार-विहार होने पावे और न ऐसा औषध ही हो, जो रस-स्रोतों की निरावरणता तथा अग्नि की उचित अवस्था में बाधक हो। मल को स्रंसन करने का कोई उपाय नहीं होना चाहिये।

प्रतिश्यायादि की चिकित्सा के साथ-साथ सामान्य चिकित्साक्रम, जो अग्नि-बलवर्धक व बृंहणकारक हो, अवश्य चलाना चाहिये। इसके लिये सुवर्णघटित मुक्ता-योग, पिप्पली, वंशलोचनादि प्रधान योग तथा अभ्रक के योगों का अनुबन्ध अवश्य रखना चाहिये।

व्यक्त लक्षणों की चिकित्सा में दोषों की प्रधानता के अनुसार शोधन, शमन चिकित्सा के उभय अंगों का अवस्थानुकूल प्रयोग किया जाना चाहिये। अवस्था-भेद से क्षय में स्वेद, अभ्यंग, धूम, आलेप, परिषेक, अवगाहन, नस्य और औत्तरभक्तिक स्नेह, वमन, स्निग्ध, मृदु विरेचन, निरूहवस्ति, अनुवासनवस्ति, कषाय, चूर्ण, गुटिका, अवलेह, स्नेह, धातु, उपधातु, रस, उपरस, रत्न, उपरत्न सभी प्रकार के भेषज-प्रयोग काम में लाये जा सकते हैं। रक्त-स्रावण के लिये शृंगी, अलाबू, जोंक व शिरावेध का प्रयोग हो सकता है। किस अवस्था में किस प्रकार की औषधों का प्रयोग करना चाहिए, इसका चरक, सुश्रुत तथा अष्टाङ्ग हृदय में विस्तृत विवेचन है। उस विस्तृत विवेचन का पूर्णतया यहाँ उल्लेख करना शक्य नहीं। भैषज्यरत्नावली, वंगसेन, चक्रदत्त, शार्ङ्गधर आदि संग्रह-ग्रन्थों में क्षय की अवस्था-विशेष के प्रामाणिक अनुभूत प्रयोग हैं। उनका उपयोग करना चाहिये।

क्षय की चिकित्सा में औषध की तरह आहार-विहार का भी उचित क्रम अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि क्षय के सभी प्रकार के हेतुसमुदाय में पोषकता की कमी का सर्वत्र अनुबन्ध है। अतः क्षयी का आहार-विहार एकान्ततः सुपच, पौष्टिक तत्त्वों से पूर्ण तथा उचित मात्रानुबन्धी होना चाहिये। क्षय के उपचार में मांसरस तथा मांसों का अत्यधिक प्रयोग है। अतः मांसाहारी जातियों की चिकित्सा में इनका विधिविहित उपयोग वैद्यों को अवश्य करना चाहिये। विहार में उचित विश्राम व मानसिक प्रसन्नता के साधनों की पूरी व्यवस्था रहनी चाहिये। क्षयी को जहाँ तक हो, ऐसी अवस्था में रखना चाहिये कि उसका ध्यान इस ओर कम-से-कम जाय कि मैं बीमार हूँ। उसको अकेला न रहना पड़े, ताकि वह अपना मन अपने रोग की ओर अधिक न लगा सके।

क्षय में चिकित्साक्रम रोग की अवस्था में ही चलाया जाय, यह बात नहीं, अपितु क्षयी स्वस्थ प्रतीत हो, तो भी सामान्य चिकित्सा का अनुबन्ध जारी रखना चाहिये।

क्षयी तथा उसका चिकित्सक दोनों को धैर्य से काम करने की आवश्यकता है। क्षय में न तो तुरन्त लाभ की स्थिति उत्पन्न होती है और न ही अत्यन्त शीघ्र-शीघ्र औषध परिवर्तन की। कुछ ओषधियाँ, जिनका मैंने सामान्य चिकित्सा के रूप में उल्लेख किया है, लाभालाभ के विचार के बिना बराबर चलानी चाहिये। हाँ, आवस्थिक लक्षणों के लिये औषध-परिवर्तन की आवश्यकता होती है; पर उसका भी परिवर्तन शीघ्रता से न कर शान्ति से विचार करके करना चाहिये। क्षय की चिकित्सा में क्लान्ति, ग्लानि या उत्क्लेश उत्पन्न करनेवाली ओषधियों का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये। जिन ओषधियों का प्रयोग किया जाय, उनको कल्पना-विधि से इस योग्य बना लेना चाहिये, जिससे रोगी उनको आसानी से प्रसन्नता के साथ ले सके।

भोज्य वस्तुओं का ऐसा वर्गीकरण कर देना चाहिये, जिससे रोगी को विभिन्न स्थितियों में आवश्यक सभी प्रकार की खुराक मिलती रहे। क्षय में एक ही प्रकार की खुराक का अनवरत उपयोग उपादेय नहीं। लाक्षणिक अवस्था विशेष को लेकर भोजन-व्यवस्था में अत्यधिक अदल-बदल करने की आवश्यकता है। अतः इसमें सदा साव-धानी रखनी चाहिये। भोजन की वस्तुओं में चाहे जैसा परिवर्तन किया जाय, पर इन तीन बातों को कभी न भूलनी चाहिये कि (१) वह भोजन शीघ्र हजम होनेवाला हो, (२) धातुओं की शक्ल में अधिक परिवर्तन होनेवाला हो तथा (३) उचित मात्रा से अधिक न हो। साथ ही विबंध या अतिसार को उत्पन्न करनेवाला भी न हो।

इसी तरह औषध-योगों के परिवर्तन में भी इन चार बातों का सर्वदा ध्यान रखना चाहिये—

(१) औषध का परिणाम स्रोतों में उपलेप करने-वाला न हो।

(२) अग्निबल को सर्वदा सहायता देनेवाला हो।

(३) हरएक स्थिति में कर्षण न कर बृंहण करने-वाला हो।

(शेषांश १०९ पृष्ठ पर)

# राजयक्ष्मा में स्वर्ण की प्राचीनता और विशेषता

आयुर्वेद महामहोपाध्याय पं० भागीरथ स्वामी, रसायनाचार्य

राजयक्ष्मा में स्वर्ण का प्रयोग चिरकाल से होता आ रहा है। इधर आधुनिक चिकित्सकों ने भी स्वर्ण के प्रयोग का राजयक्ष्मा में अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है। अभीतक स्वर्ण-लवण के प्रयोग हो रहे हैं, किन्तु, इधर कुछ दिनों से एण्टीवायोटिक्स की एक-दो औषधों के प्रयोग ने जिनमें स्ट्रेप्टोमाईसिन और पेनिसिलीन है—इस तरफ की प्रगति में थोड़ी शिथिलता उत्पन्न कर दी है। किन्तु, इन ओषधियों को आज भी निरापद नहीं माना जाता। अस्तु, यहाँ राजयक्ष्मा में स्वर्ण की प्राचीनता तथा विशेषता का ही उल्लेख करना है।

ई० सन् ५०० वर्ष पूर्व बुद्धकालीन चिकित्सकों ने राजयक्ष्मा में स्वर्ण का प्रयोग विशेष रूप से किया। उस काल से लेकर ई० सन् ७००–८०० वर्षों में रस-शास्त्र का खूब विकास हुआ। तात्कालिक अन्वेषकों ने स्वर्ण के प्रयोग को प्रभावशाली सिद्ध किया तथा अधिकाधिक मात्रा में इसका प्रयोग भी किया गया।

फुफ्फुसीय क्षय में मृगांक, महामृगांक, राजमृगांक रत्नगर्भ पोट्टली रस, सर्वाङ्ग सुन्दर रस, हेमगर्भ पोट्टली रस, कांचनाभ्र इत्यादि कई नये योगों का अन्वेषण करके स्थिरता पूर्वक अन्वेषण होने लगा। इनमें नागार्जुन, सिद्ध नागार्जुन, नन्दिनाथ, शम्भु, कृष्णात्रेय इत्यादि रस सिद्धाचार्यों ने अतुल परिश्रम व अनवरत प्रयोगों द्वारा स्वर्ण की विशेषता को सिद्ध करके प्रत्यक्ष दिखला दिया था। इन योगों में स्वर्ण की मात्रा ८ प्रतिशत से २० प्रतिशत तक थी और स्वर्ण के प्रत्येक योग में पारद, गंधक, मोती, कौड़ी, प्रवाल, ताम्र, हरताल एवं लौह के यौगिक भी थे।

इन चिकित्सकों ने चिकित्सा-जगत् में क्रान्ति मचाकर स्वर्ण-चिकित्सा में एक नई प्रगति उत्पन्न कर दी। शरीर के विभिन्न स्थानीय रोगों में उन्होंने स्वर्ण के विभिन्न योग बनाकर सफलता पूर्वक प्रयोग किये।

अन्त्रगत क्षय में स्वर्ण पर्पटी, विजय पर्पटी जैसे योगों का सफल प्रयोग हुआ। इन प्रयोगों का व्यवहार कर आज भी लाभ उठाया जाता है। उन्होंने फुफ्फुसीय क्षय में मृगांक, महामृगांक, रत्न गर्भपोट्टली, राजमृगांक, कांचनाभ्र एवं हेमगर्भ पोट्टली का प्रयोग तथा नाड़ीगत क्षय में चतुर्मुख रस, बृहत् कृष्ण चतुर्मुख रस, बृहत्वात चिन्तामणि का तथा अस्थिक्षय में राजमृगांक तथा बृ० लोकनाथ रस का प्रयोग किया और उन्हें सफलता भी मिली।

इसके बाद के चिकित्सक वाग्भट्ट, भावमिश्र, शार्ङ्गधर, आदि ने इसी प्राचीन पद्धति पर अपने को सीमित रखा। कालक्रम से अभारतीय शासन होने के कारण प्रगति क्षीण होने लगी और नयी-नयी चिकित्सा-पद्धतियां पनपने लगीं।

## प्रयोग और प्रभाव

रुग्ण शरीर पर प्रयोग करके स्वर्ण को जीवाणु नाशक, प्राचीन चिकित्सकों ने भी माना और वैसे ही "गारलैच" कोपेन होकर फेल्ट तथा अन्यों ने भी प्रयोग कर बतलाया। इनका कथन है कि स्वर्ण रुग्ण-प्रदेश में एक घुलनशील प्रोटीन बनाता है और जीवाणु के चारों ओर फैलकर उसका नाश कर देता है।

स्वर्ण के प्रभाव के विषय में ह्यूबनर ने लिखा है—यह रोग-क्षमता उत्पादक संस्थान के सेलों को सचेत कर सूक्ष्म रसवाहिनी शिराओं पर प्रभाव डालता है। सेल स्वर्ण के कोलाइडल फार्म से प्रभावित होते हैं।

## प्रयोग में विभेद

स्वर्ण के प्रयोगों के रूप में प्राचीन व आधुनिक चिकित्सकों में बहुत साम्यता है। आधुनिक चिकित्सक मुख द्वारा स्वर्ण का प्रयोग नहीं करते। स्वर्ण के लवण मायोक्राइसिन व अन्य लवण दो रूप में प्रयुक्त होते हैं। प्रयोग शिरावेधन द्वारा किया जाता है। इनमें प्रथम जल में घुलनशील व दूसरा तैल में घुलन-शील होते हैं। इनमें ५० प्रतिशत तक स्वर्ण पाया जाता है। तैल-मिश्रण को कुछ लोग अच्छा मानते हैं। क्योंकि इससे यह धीरे-धीरे शरीर में मिश्रित होता है और कम विषाक्त

प्रभाव रखता है। जलीय घोल शीघ्र व प्रभावशाली प्रभाव करता है।

प्राचीन चिकित्सकों ने स्वर्ण का प्रयोग उसके भस्म व पारदीय मिश्रणों के साथ मुख द्वारा बार-बार किया है। शिरागत प्रयोग नहीं मिलते। इन प्रयोगों में स्वर्ण की मात्रा ८ प्रतिशत से २० प्रतिशत तक रहती है। प्रयोग करने पर कोई विषाक्त प्रभाव नहीं प्राप्त हुआ है। रस-चिकित्सकों का कथन है कि "स्वर्ण-शीतल, वीर्य-वर्द्धक, बलदायक, रसायन, स्वाद में कटु व कषाय होता है। यह पुष्टिकारक, नेत्रों को हितकारी हृदय को बलप्रद, स्मृति, कान्ति, वाणी व आयुवर्द्धक है।" मुख के द्वारा सेवन करने पर इतने गुण स्वर्ण-भस्म के मिलते हैं। यह भस्म स्वर्ण को शुद्ध करके बनाया जाता है। अशुद्ध भस्म का प्रयोग हानिकर होता है।

**प्रभाव**

स्वर्ण भस्म किंवा स्वर्ण के साथ पारद गन्धकादि यौगिक द्रव्य मुख में जाकर लालारस व पाचक रसों से घुल-मिल कर तथा शरीर में शोषित होकर अपना प्रभाव करते हैं। इस प्रकार २० प्रतिशत अंश का स्वर्ण-योग उदर में जाकर पाचक रसों में घुल-मिल कर शोषित होता है। यदि यह अधिक पुटित होता है तो सबका सब घुल जाता है। अथवा सामान्य संस्कारित रहने पर भी आमाशयिक रस में ४.७ प्रतिशत तक घुल जाता है और प्रभाव करता है। इस प्रकार शोषित स्वर्ण का प्रभाव अंगों को बलप्रद हो शरीर की शक्ति-वृद्धि करके, रोग-क्षमता-शक्ति उत्पन्न कर जीवाणु के प्रभाव को नष्ट करता है।

रसायनाचार्य नन्दिनाथ ने रस के कुछ प्रधान योगों का वर्णन किया है। जैसे-मृगांक, राजमृगांक और महा-मृगांक इनके गुणों में लिखा है कि यह मृगांक राजयक्ष्मा का नाशक (रोगराज निकृन्तनः) है। पथ्य में गव्य दुग्ध, तक्र और अजा मांस-रस (बकरी के मांस का रस) का प्रयोग लिखा है। इससे शरीर की स्थिति सुधर जाती है एवं ज्वर कासादि समाप्त होकर रोगी हृष्ट-पुष्ट बन जाता है। इसमें स्वर्ण का अंश १२वाँ भाग होता है।

राजमृगांक के प्रयोग पर उनका मत है--यह रस एक गुंजा की मात्रा में क्षयनाशक तथा शारीरिक बल, वर्ण, वीर्य वर्धक व रसायन है। महामृगांक पर नन्दिनाथ बताते हैं कि यह रसायन ज्वर, गुल्म, मन्दाग्नि, स्वर-भेद, कास, अरुचि इत्यादि को दूर करने के साथ-साथ राज-यक्ष्मा को भी दूर करता है। इसका भी प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर होता है।

रसायनाचार्य 'हर' ने शृंगाराभ्र योग का प्रयोग करके बतलाया है कि यह यक्ष्मा, क्षय, शोष, प्रमेह, ज्वर, पाण्डु, हिक्का, अम्लपित्त तथा तृष्णा नाशक है। यह मेधा के लिये हितकारी व रसायन है। इसका प्रभाव सार्वाङ्गिक, रसोत्पादक व शरीर-क्रिया वर्द्धक है। इसी प्रकार रत्नगर्भ पोट्टली रस, सर्वाङ्ग सुन्दर रस व हेमगर्भ पोट्टली रस--इन योगों में स्वर्ण के साथ पारद, मुक्ता, शंख और प्रवाल भस्म का मिश्रण है। अतः स्वर्ण में केलशियम अंश प्रधान होने से ये शारीरिक क्षय को दूर करते हैं तथा शरीर के वात, पित्त व श्लेष्म-संस्थान को सचेत कर उत्तम प्रभाव करते हैं। कांचनाभ्र, वृहत् कांचनाभ्र एवं वृहत् क्षय केशरी का प्रयोग करके पर्याप्त लाभ उठाया गया है। यक्ष्मा के सहयोगी लक्षणों को दूर करने के लिए यह बहुत प्रसिद्ध है। यथा--

सेवितो हन्तिरोगान् हि व्याधिवारण केशरी।
क्षयमेकादशविधं शोषं पाण्डु क्रिमिं जयेत्॥

रस-शास्त्रियों ने स्वर्ण के करीब-करीब २५-३० योगों को शरीर पर प्रयोग कर लाभदायक पाया है। इसी प्रकार नागार्जुन, सिद्ध नागार्जुन, शंभु, भास्कर, लोकनाथ, वैद्यनाथ, भैरव, स्वच्छन्द भैरव, काकचण्डीश्वर इत्यादि रसायनाचार्यों ने स्वर्ण का प्रयोग यक्ष्मा में करके बहुत लाभ उठाया है।

---

# राजयक्ष्मारोगोत्पादक भूताणु

प्राणाचार्य गोपाल शास्त्री गोडबोले, आयुर्वेदबृहस्पति

**प्रश्न**—राजयक्ष्मा की उत्पत्ति कीटाणुओं द्वारा होती है। ऐसा नव्यमत (एलोपैथी का मत) है। इस सम्बन्ध में आयुर्वेद का क्या अभिप्राय है?

**उत्तर**—आयुर्वेद-शास्त्र का मत है, कि राजयक्ष्मा रोग, अनेक कारणों से उत्पन्न होते हैं, उनमें रोगजन्तु (कीटाणु) भी एक कारण हैं। यथा—

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम्।
वातातपौभयंशोको रूक्षयानं प्रजागरः॥
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्तनम्।
कालोभूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः॥
च० सू० अ० १७

इस श्लोक में "भूतोपघात" शब्द रोगजन्तुओं (कीटाणुओं) से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाला है।

**प्रश्न**—यह कैसे?

**उत्तर**—वेद भाष्य में "भूत" शब्द की निम्नलिखित व्याख्या की गई है—"मनुष्योपद्रवकारिणोविशेषाः भूता उच्यन्ते।"

अर्थात्—जिन जीवाणुओं के शरीर हैं, किन्तु अन्त-र्निहित—अदृश्य हैं, ऐसे जीवाणु मनुष्यों में रोगोत्पन्न कर विशेष परेशान करते हैं, इन जीवाणुओं का "भूत" शब्द से शास्त्र में व्यवहार किया गया है। इस प्रकार भूतगणों द्वारा जो उपद्रव (भूतोपघात) होता है, शास्त्रकारों ने राजयक्ष्मा उत्पन्न करते वाले अनेक उपद्रवों में एक उपद्रव इसी भूतोपघात (जीवाणुओं) को माना है।

**प्रश्न**—किस स्थिति में ये भूतगण रोगोत्पन्न करते हैं?

**उत्तर**—"अशुचि भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वा क्षतम्।
हिंस्युः * * * * * सु० उ० अ० ७।५

अर्थात्—जो मनुष्य गन्दापन से रहता हो, तथा शास्त्रोक्त नियमादि का उल्लंघन करे, शरीर में कहीं चोट या खरोंच लगा या न लगा हो, ऐसे मनुष्य के शरीर में ये भूतगण हिंसात्मक आक्रमण करते हैं।

**प्रश्न**—क्या आयुर्वेद-शास्त्रकार ऐसा मानते हैं कि रोगोत्पादक अनेक जीवाणुओं की एक विशिष्ट जाति भी है?

**उत्तर**—हाँ, चरकसंहिता में राजयक्ष्मा उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं का "यक्ष्मग्रह" नाम से उल्लेख आया है।

**प्रश्न**—शास्त्रकारों ने इस यक्ष्मग्रह की क्या विशेषता लिखी है?

**उत्तर**—"यक्ष्मग्रह" की विशेषता का उल्लेख करते हुए—पालकाप्य मुनि ने—लिखा है—

"मृदुग्रह समाख्यातो राजयक्ष्मा सुदारुणः।
यस्मात्क्षपयतिप्राणास्तस्मादेष मृदुग्रहः"॥

अर्थात्—राजयक्ष्मा उत्पन्न करने वाला "यक्ष्मग्रह" मृदु (सौम्य) और दारुण (उग्र) दोनों प्रकार का होता है अतएव यक्ष्मा की प्रथमावस्था सौम्य और द्वितीया—या तृतीयावस्था उग्ररूप की होती हैं।

**प्रश्न**—यक्ष्मग्रह से पीड़ित रोगी कितने दिनोंतक जीवित रह सकते हैं।

**उत्तर**—यक्ष्माग्रस्त पुरुष की आयु का उल्लेख करते हुए "पाल संहिता—१।६" में लिखा है—

"जीवेत्स चतुरोमासान् षडष्टौवापि जीवति।
जीवेत्संवत्सरंवापि न च रोगात्प्रयुच्यते"॥

"मृदुग्रह" शब्द की स्पष्ट व्याख्या करते हुए पाल-संहिता—१।६ में लिखा है—"शनैः शनैः क्षीयते—मृदुग्रहः। अर्थात्—राजयक्ष्मा पीड़ित मनुष्य धीरे-धीरे क्षीण होता है।

# यक्ष्मा-चिकित्सा और सिद्धौषधियाँ

वैद्य दुर्गाप्रसाद शर्मा, आयुर्वेदाचार्य

आजकल चारों ओर क्षय (राजयक्ष्मा) का बाजार बहुत गर्म है। आहार-विहार की विकृतावस्था के कारण आजकल इसकी चिकित्सा अत्यन्त ही कष्टसाध्य हो गई है। इस रोग की प्रथमावस्था में विशेष अड़चन नहीं होती। यह शीघ्र ही दूर हो जाता है। किन्तु जब प्रथमावस्था वाले रोगी, अपने रोग की उपेक्षा करते हैं तब रोग द्वितीयावस्था में पहुँच जाने पर विशेष फिकर के साथ दौड़-धूप होने लगती है। अस्तु, यहाँ अपने अनुभव के साथ श्रीयुत् हिर्लेकर शास्त्री तथा कृष्णप्रसादजी त्रिवेदी के लेख के आधार पर बहुत कुछ ज्ञातव्य बातें इस विषय में लिखी जा रही हैं।



लेखक

क्षय की प्रथमावस्था में यदि केवल धातुक्षीणता ही उसका स्वरूप हो एवं क्षय के अन्यान्य लक्षण उत्पन्न न हुए हों, साधारण कृशता, कमजोरी एवं कभी-कभी किंचित् ज्वर का होना या थोड़े ही परिश्रम से ज्वर का बढ़ जाना या शैथिल्य विशेष की प्रतीति होना आदि दशा में जो औषधि धातु को पुष्टि पहुँचाये वही लाभदायक होती है। किन्तु; इस औषधि में विशेष उत्तेजक गुण नहीं होना चाहिए। हाँ, धातुओं को निर्मल करने का गुण अवश्य होना चाहिए। कारण, क्षीण हुए निःसत्त्व धातु घटकों के शरीर में वैसे ही बने रहने से भविष्य में राजयक्ष्मा की विशेष संभावना रहती है। अतः धातुघटकों को निर्मल कर उनमें उत्पादन शक्ति की वृद्धि करने वाली रासायनिक औषधियाँ इस दशा में लाभदायक होती हैं।

एतद्गुणविशिष्ट आयुर्वदीय उत्तम सिद्धौषधि च्यवनप्राशावलेह है। इस अवलेह में लगभग ४० द्रव्यों का समावेश है, जिनमें प्रमुख द्रव्य आमला है, जो शारीरिक धातुओं को स्वच्छ कर उनकी विदग्धता (दाह दूषित अम्लता) दूर करता है और परिणाम में अभिसरण एवं उत्पादन क्रिया की वृद्धि कर धातुपुष्टि करता है। आमला के इसी गुण के सहायक अन्य द्रव्य च्यवनप्राशावलेह में मिलाये जाते हैं। अतः इस एक ही औषधि के उपयोग से क्षय की प्रारम्भिकावस्था में उत्तम लाभ पहुँचता है। यदि इसी एक औषधि का प्रयोग करना हो तो प्रतिदिन अवस्थानुसार २ से ३ तोले तक की मात्रा में दें। प्रातः २ या ३ तोले तथा उतना ही रात्रि में शयन के पूर्व दें। इसमें सारक गुण होने से—जिनका कोठा मुलायम है, उन्हें इसके प्रयोग से २ या ३ दस्त खुलकर आते हैं। किन्तु इससे कोई हानि नहीं होती। कुछ दिनों के सेवन से ये दस्त स्वयं बन्द हो जाते हैं। जिनका कोठा सख्त हो या जिन्हें मलावरोध की शिकायत हो, उन्हें चाहिये कि इसकी मात्रा दिन में कुछ कम तथा रात्रि में अधिक लेवें। ऐसा करने से प्रातः मलशुद्धि ठीक-ठीक होती है।

उक्त अवस्था में यदि अजीर्ण, आध्मान आदि सदृश विकार हो तो उनके नाशार्थ च्यवनप्राशावलेह के पुष्टि गुण-वृद्धि की दृष्टि से द्राक्षासव का उपयोग गुणदायक होता है। शारीरिक धातुओं एवं सर्वेन्द्रियों की शक्ति के घट जाने से उसी प्रमाण में पचनेन्द्रियों की शक्ति का भी ह्रास होता है और यथासमय आहार का न पचना तथा

तज्जन्य अम्लत्वकी उत्पत्ति होकर कण्ठ में दाह, जलन आदि होना, मुख में चिकटापन, तृष्णा, जी मिचलाना इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं। ऐसी अवस्था में शरीर के अन्दर आहार रस में जो एक प्रकार की अस्वाभाविक दूषित अम्लता उत्पन्न होती है, वह शरीरस्थ धातुओं को भी दूषित कर देती है। इन सब लक्षणों को 'द्राक्षासव' का नियमित सेवन दूर कर देता है तथा इसके सेवन से आभ्यन्तरिक धातु-पोषण कार्य को भी सहायता मिलती है।

क्षय की इसी प्रारम्भिक अवस्था में मौक्तिक और प्रवाल भस्म तथा मृगश्रृंग भस्म का उत्तम उपयोग होता है। इन भस्मों का मुख्य गुण अन्न पचन करना और पचनेन्द्रियों एवं रस-रक्तादि धातुओं की अस्वाभाविक विकारी अम्लता को नष्ट करना है। मौक्तिक और प्रवाल में विशेषतः ये गुण अधिक प्रमाण में पाये जाते हैं। ध्यान रहे, पचनक्रिया को सुधारने के लिये शौक्तिक भस्म, शंख भस्म या कपर्द भस्म का प्रयोग करना विशेष हितकारी है। विदाहावस्था के प्रतीकारार्थ मौक्तिक या प्रवाल भस्म का प्रयोग लाभप्रद है।

मृगश्रृंग भस्म का सामान्य स्वरूप यद्यपि उपर्युक्त प्रवालादि भस्मों जैसा ही है, तथापि इसका कार्य किञ्चित् भिन्न प्रकार का होता है। मौक्तिक, प्रवाल, शंख या शुक्ति में जितना पाचक और विदाह-शामक गुण है, उतना इसमें नहीं, किन्तु; शरीरान्तर्गत अस्थिमय द्रव्यों का पोषण कार्य मृगश्रृंग भस्म के द्वारा उत्तम प्रकार से होता है। धातुक्षीणावस्था में तरुणास्थि या हड्डियों की संधियों में जो मृदु अवयव या भाग होता है, वह जब निःसत्त्व हो जाता है, तब मृगश्रृंग भस्म का प्रयोग विशेष लाभप्रद होता है।

एक बालक की ऐसी अवस्था हो गई थी कि वह लुञ्ज-सा हो गया। उठना-बैठना तक दुस्वार हो गया था। उसे केवल मृगश्रृंग भस्म का सेवन मधु और घृत के साथ कराने से विशेष लाभ हुआ। इससे सिद्ध होता है कि उक्त तरुणास्थि के साथ ही साथ मांसमय या पेशीमय अवयवों में जो शैथिल्य आता है, उसे दूर कर पेशियों की शक्ति बढ़ाने में मृगश्रृंग भस्म विशेष उपयुक्त होता है। अतः जब शरीर में शिथिलता, किञ्चित् श्रम से ही सर्वाङ्ग सन्धियों में वेदना या जकड़न मालूम हो तब मृगश्रृंग भस्म का प्रयोग विशेष हितावह है।

प्रवाल, मौक्तिक या मृगश्रृंग भस्म--इनमें से जिसका उपयोग कराना अभीष्ट हो उसे च्यवनप्राशावलेह (इसके अभाव में मधु और घृत) के साथ करावें। विधि इस प्रकार है--

प्रातः-सायं च्यवनप्राशावलेह २ से ३ तोले तक (अनुपान में दूध या जल) तथा दुपहर और रात्रि में भोजनोपरान्त 'द्राक्षासव' १।। से २ तोले तक चौगुने जल में मिला कर दें। मृगश्रृंग भस्म देना हो तो प्रातः-सायं च्यवनप्राश में मिलाकर दें और प्रवाल या मौक्तिक भस्म देनी हो तो 'द्राक्षासव' या द्राक्षारिष्ट में मिला कर सेवन करावें।

धातुक्षीणता की अवस्था में यदि शुक्रक्षय की विशेषता हो तो च्यवनप्राश और द्राक्षारिष्ट के साथ 'स्वर्ण राजवंगेश्वर' की योजना विशेष लाभप्रद है। स्वर्णराज वंगेश्वर में वंग और पारद का संस्कार होने के कारण केवल वंगभस्म की अपेक्षा विशेष लाभप्रद होता है। किन्तु इसके अभाव में शुद्ध वंगभस्म से भी काम लिया जा सकता है। स्वर्णराज वंगेश्वर प्रातः-सायं १ से २ रत्ती की मात्रा में च्यवनप्राश के साथ हम दिया करते हैं।

यद्यपि धातुक्षीणता की अवस्था में च्यवनप्राश विशेष गुणदायक है, परन्तु यदि क्षय रोग अपना पूर्ण स्वरूप धारण कर लिया हो अर्थात् ज्वर, कास आदि उपद्रव पूर्ण रूप से उत्पन्न हो गये हों तो च्यवनप्राश से उतना ठीक-ठीक लाभ नहीं होता है। कारण, क्षय की ऐसी अवस्था में उन ओषधियों का प्रयोग विशेष हितकारी होता है, जिनमें पौष्टिक गुणों की अपेक्षा, विषैली अथवा प्रतिबन्धक या क्षयकीटाणुनाशक गुण अधिक प्रमाण में हों। च्यवनप्राश में यह गुण विशेष प्रमाण में नहीं होता। वह तो केवल धातुक्षय की अवस्था अथवा क्षय की प्रथमावस्था में अपने पौष्टिक गुणों के कारण उत्तम कार्य करता है। बाद की अवस्था में वह उतना सफलीभूत नहीं होता।

उपर्युक्त धातुक्षीणता की अवस्था या क्षय की प्रथमावस्था में यदि रक्तक्षीणता की विशेषता हो (शरीर श्वेत हो गया हो तथा हाथ-पाँव या मुख पर सूजन आ गई हो) तो अभ्रक, लोहा या मंडूर भस्म का प्रयोग

च्यवनप्राश और द्राक्षारिष्ट के साथ करें। अभ्रक और लोह का उपयोग रक्त-वृद्धि के लिये उत्तम होता है। इनमें भी लोह की अपेक्षा अभ्रक अधिक गुणदायक होता है। अतः प्रातः-सायं च्यवनप्राश के साथ अभ्रक भस्म १ से १॥ रत्ती तक या लौह अथवा मण्डूर भस्म १ से २ रत्ती तक मिलाकर सेवन करावें। ध्यान रहे--अभ्रक भस्म जितना अधिक पुटवाला होगा उतना ही विशेष लाभप्रद होगा।

जिस अभ्रक में अडूसा और पुनर्नवा रस की ,अधिक से अधिक भावना दी गई हो वह कास, रक्त पित्त और शोथादि उपद्रव युक्त क्षय में उतनी ही उत्तम लाभकारी होती है। रक्तक्षीणता की अवस्था में यदि विदाह हो (सूक्ष्म ज्वर तथा हाथ-पैर और नेत्रों में दाह हो ) तो अभ्रक भस्म या लोह भस्म को एक बार च्यवनप्राश के साथ और एक बार द्राक्षासव के साथ देने से शीघ्र लाभ होता है। यदि रोगी को शोथ हो, तो अभ्रक भस्म २ रत्ती, पुनर्नवा चूर्ण ४ रत्ती तथा वायविडंग चूर्ण २ या ३ रत्ती के साथ मिला, सेवन करावें।

क्षय रोग के उपचारार्थ आयुर्वेद में जो भिन्न-भिन्न औषधिकल्पों की योजना बतलाई गई हैं, उनमें ४ कल्प मुख्य हैं। (१) पारद-सुवर्णयुक्त मौक्तिकादि मिश्रित कल्प, जैसे चन्द्रोदय, सुवर्ण पर्पटी आदि (२) पारद सुवर्ण-युक्त मौक्तिकादि मिश्रित कल्प, (३) पारद-सुवर्ण-रसक (खर्पर) मिश्रित कल्प और (४) पारद सुवर्णयुक्त अभ्रक, माक्षिक, लोहादि मिश्रित कल्प।

इन कल्पों में पारद और सुवर्ण की मुख्यता इस कारण है कि ये शारीरिक परमाणु के दूषित भाग को नष्ट कर उसी की शुद्धि तथा निर्मल स्वरूप में वृद्ध करने में ये दोनों द्रव्य उत्तम उपयोगी हैं। क्षय की विशेषता--दूसरी और तीसरी अवस्था में प्रधानतः शारीरिक धातुओं की क्षीणता एवं सदोषता (सड़ान आदि होना) होने में पारद और सुवर्ण उपयुक्त होता है।

पारद और सुवर्ण के साथ अन्यान्य द्रव्यों का सम्मिश्रण क्षय की विशिष्ट अवस्था या स्वरूप के अनुसार ही किया जाता है। उदाहरणार्थ--रक्त की अल्पता में पारद-सुवर्ण के साथ अभ्रक, मण्डूर या लोह जैसे धातुओं का मिश्रण किया जाता है। यह मिश्रण उस दशा में उपयुक्त होता है, जब कि शरीर में रक्त का विशिष्ट घनत्व कम होकर द्रवांश बढ़ गया हो जिसका यथायोग्य शोषण न होने से शोथ, जड़ता आदि लक्षण प्रकट हो गये हों। यह विशेषतः उक्त चतुर्थ नम्बर के कल्प की बात हुई।

उक्त द्वितीय नम्बर का कल्प, जिसमें मौक्तिक, प्रवालादि का मिश्रण है, उस अवस्था में उपयोगी होता है, जब शरीर में विदग्धता तथा अस्वाभाविक दूषित अम्लता विशेष बढ़ गई हो। अर्थात् दाह या कफ-पित्त प्रधान विकृति में यह विशेष उपयोगी है। उक्त तृतीय नम्बर का रस-युक्त कल्प का उपयोग भी क्षय की उसी एक विशेष अवस्था में उत्तम होता है जब कि शरीर में धातुओं की क्षीणता होने से शुष्कता या रूक्षता की विशेष वृद्धि हुई हो। ऐसी अवस्था में रूक्षता तो कम हो जाय, किन्तु साथ ही साथ-आर्द्रता या घनता की वृद्धि न होने पावे इस प्रकार की गुण युक्त औषधियों की आवश्यकता होती है। औषधान्तर्गत इस गुण को ही आयुर्वेदीय भाषा में श्लक्ष्णता कहा जाता है। यह गुण रसक (खर्पर) में काफी होता है। वसन्त-मालिनी जैसे रसक युक्त कल्पों के श्लक्ष्णतायुक्त गुण को विशेष बढ़ाने की दृष्टि से ही उनका मक्खन के साथ खरल करने की योजना की गई है। रसक मिश्र कल्पों के इस विशिष्ट गुण के कारण ही उनका क्षय की उक्त विशेष अवस्था में उत्तम उपयोग होता है। इन कल्पों में सुवर्ण वसन्त मालिनी अधिक गुणदायक है। गौ के धारोष्ण दुग्ध के साथ प्रातः-सायं इसकी मात्रा १॥ या २ रत्ती सेवन करना परम लाभदायक होता है। ताजे मक्खन के साथ भी यह लाभकारी होता है। शरीर में जब ज्वर विशेष प्रमाण में न हो, किन्तु उष्णता प्रतीत हो, हाथ-पैरों के पंजे, तलुओं तथा सिर में दाह हो, अस्वस्थता (बेचैनी) मालूम हो, किन्तु स्पर्श से या उष्णता-मापक यन्त्र (थर्मामीटर) से भी उष्णता विशेष बढ़ी हुई मालूम न पड़े (यह जीर्ण ज्वर या लीन ज्वर का एक प्रकार है जो क्षय की अवस्था में पाया जाता है ), खाँसी बिलकुल न हो, ऐसी अवस्था में सुवर्ण मालिनी वसन्त का उपयोग उत्तम होता है। प्रातः-सायं तथा रात्रि के समय इसे च्यवनप्राश के साथ सेवन करने से विशेष लाभ होता है।

क्षय की प्रथम वा द्वितीय अवस्था में चिकित्सा दृष्टि से

दो सूक्ष्म भेद विचारणीय है। (१) केवल क्षीणता, अशक्ति, निरुत्साह, बेचैनी होना तथा ज्वर अत्यन्त ही सूक्ष्म (जिसकी प्रतीति स्पर्श या थर्मामीटर से भी न होती हो) होना, किन्तु अन्यान्य किसी उपद्रव का न होना; (२) ज्वर सूक्ष्म होना जो स्पर्श से प्रतीत हो, तथा थोड़े प्रमाण में कासादि उपद्रव भी हों। इनमें से प्रथम भेद की अवस्था में सु० मा० वसन्त जैसे रसक-कल्पों तथा च्यवनप्राश का विशेष उपयोग होता है और दूसरे भेद में केवल पारद-सुवर्ण मिश्रित कल्प (चन्द्रोदय, रससिन्दूर, हेमाभ्रक आदि) का एवं दशमूल कल्पों का अधिक लाभदायक उपयोग होता है।

यदि अन्त्र या पचनेन्द्रिय की विकृति से क्षयोत्पत्ति हो, अथवा क्षय की दशा में पचनेन्द्रियों की विकृति हुई हो तो उक्त प्रथम नम्बर के पारद-सुवर्ण मिश्रित कल्पों में से सुवर्ण पर्पटी विशेष गुणकारी होती है। पारद-सुवर्ण मिश्र कल्पों के मुख्य दो प्रकार होते हैं। (१) रससिन्दूर मिश्र और (२) कज्जली मिश्रित। यदि अन्त्र की विकृति न हो तो रससिन्दूर मिश्र कल्प लाभदायक होता है।

यदि क्षय रोग का कारण अन्त्र विकृति हो तो, अनपच; कभी-कभी गाढ़ा या पतला दस्त होना, कभी वमन, थोड़ा-थोड़ा शूल तथा बार-बार मुखपाक होना आदि लक्षण होते हैं। इसीको ग्रहणी विकार कहते हैं। ग्रहणी रोग के सन्निपातिक स्वरूप में क्षय रोग की अवस्था हो सकती है। अन्त्र में अपचनादि कारणों से सड़ान या पूतिभवन अवस्था निर्माण करने वाले रोगकारक द्रव्य उत्पन्न होकर व रस या रक्त के साथ सर्व शरीर में फैल जाने पर इस प्रकार की क्षय-विकृति उत्पन्न होती है। जिस समय या जिस स्थिति में ग्रहणी रोग की यह अवस्था क्षय रोग का कारण हो, उस समय स्वर्णपर्पटी या सुवर्ण राजमृगांक विशेष हित-कर होता है। साथ ही साथ इस अवस्था में मौक्तिक एवं शौक्तिक भस्म आदि चूने के स्वरूप की ओषधियों की योजना करना और भी लाभप्रद है। मौक्तिक भस्म इन भस्मों से अधिक गुणकारी होती है। किन्तु यह कीमती होने से इसके अभाव में शौक्तिक, प्रवाल, शंख भस्म या कर्पदिक भस्म का उपयोग करना चाहिये। ध्यान रहे! शौक्तिक भस्म और शंख भस्म में प्रवाल की अपेक्षा विशेष दीपन-पाचन गुण है। यदि पित्ताधिक्य हो तो, प्रवाल भस्म का उपयोग करना चाहिये। प्रवालपंचामृत नामक ओषधि-कल्प जिसमें मौक्तिक व शौक्तिक द्रव्यों का उपयुक्त मिश्रण रहता है, क्षय की इस अवस्था में उत्तम लाभदायक है। सुवर्ण पर्पटी २ या ३ रत्ती तथा प्रवाल-पंचामृत ३ या ४ रत्ती एकत्र मिश्रण कर ४ मात्रा बना, प्रातः दुपहर, और सायंकाल तथा रात्रि में सेवन करावें।

**अनुपानार्थ**—दाड़िमावलेह या अनार का मीठा रस, शहद, शक्कर, जीरा का महीन चूर्ण या घृत इनमें से कोई भी एक या दो मिलाकर प्रयोग करें। प्रकृतिमान के अनुसार इन ओषधियों का प्रमाण बढ़ाना चाहिये या क्षीणता विशेष हो तो कम करना चाहिये। प्रवालपंचामृत उत्तम दीपन-पाचन है। किन्तु; किंचित् उष्ण एवं दाहक भी है। अतः रोगी की प्रकृति यदि विशेष उष्ण हो तो उसका उपयोग न करते हुए, स्वर्णपर्पटी के साथ मौक्तिक भस्म या प्रवाल भस्म की योजना करनी चाहिये। अथवा इसकी योजना इस प्रकार करना और भी उत्तम है। प्रातः सायं स्वर्णपर्पटी की मात्रा जीरा चूर्ण और शक्कर के साथ दें, दुपहर और रात्रि में प्रवाल पंचामृत या मौक्तिकादि भस्मों को उपयुक्त अनुपान के साथ सेवन करावें।

पारद, स्वर्ण, गंधक, मौक्तिक, शंख तथा कर्पदिकादि चूने की जाति की कुछ ओषधियों के मिश्रण से निर्मित राजमृगांक रस, त्रैलोक्य चिंतामणि रस, लोकनाथ रस आदि कल्पों की योजना भी ग्रहणी दोषोत्पन्न क्षय रोग पर उत्तम लाभदायक है। इसमें विशेषता यह है कि इन ओषधि-कल्पों के साथ सुवर्णपर्पटी सेवन कराने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

ग्रहणी दोषोत्पन्न क्षय को प्रारंभिक अवस्था में कुटज-छाल (कुड़ा छाल) का उपयोग भी गुणदायक होता है। कुड़ा मूल की छाल का तथा उसके बीजों (इन्द्रयव) का उपयोग किया जाता है। पचनेन्द्रियों की दोषावस्था तथा विदग्धावस्था को नष्ट करना, ग्रहणी की शिथिलता दूर करना, पाचनशक्ति को बढ़ाना तथा विदग्धावस्था के कारण पचनेन्द्रियों की श्लेस्मल त्वचा में उत्पन्न होनेवाले व्रणों को दूर करना इत्यादि गुण कुटज में है।

# चरकोक्त यक्ष्मा चिकित्सा

वैद्य धीरेन्द्र मोहन भट्ट शास्त्री, जी० ए० एम० एस०

["चरकोक्त यक्ष्मा-चिकित्सा" पर एक लेख वैद्य रघुनन्दन मिश्र आयुर्वेदाचार्य--रांची का भी प्राप्त है और इसी से मिलता-जुलता एक लेख वैद्य--नानकचन्दजी वैद्य शास्त्री-दिल्ली का भी आया है। लेख सब उत्तमोत्तम होते हुए भी पिष्टपेषण के भय से यहाँ सिर्फ एक ही लेख प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है मेरे मित्रद्वय इस के लिए क्षमा करेंगे। --स० सम्पादक]

सभी राजयक्ष्मा त्रिदोषज होते हैं। अतः चिकित्सकों को चरक के निम्न सूत्रों पर बराबर ध्यान देना चाहिये।

सर्वस्त्रिदोषजोयक्ष्मा दोषाणां तु बलाबलम्।
परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत्॥
च० चि० अ० ८

यक्ष्मा-चिकित्सा में क्रमशः संशमन, संशोधन, (स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन) कराना आवश्यक है। अतः यहाँ पहले चरक चिकित्सास्थान में वर्णित संशमन-चिकित्सा का उल्लेख किया जायेगा। यथा--

प्रतिश्याय को दूर करने के लिये स्वेद, अभ्यंग, धूप, आलेप, परिषेक, अवगाह, यवागू एवं वाष्प का प्रयोग करें। लावा, तीतर, मुर्गा, वटेर, इनमें मांसों के लवण, अम्ल एवं कटुरस युक्त उष्ण तथा घी (स्नेह) से युक्त रसों की कल्पना करके रोगी को देना चाहिये। बकरे के मांस को पिप्पली जौ, सोंठ, कुलथी, अनारदाना, आँवला से यथाविधि साधितघृत आदि स्नेह से युक्त करके पीने को दें। पीने के लिये पंचमूल से साधित जल देना चाहिये। पंचमूल (पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) के अभाव में धनियाँ, सोंठ या भूइ आँवला या मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालिपर्णी तथा पृश्निपर्णी से षडंग पानीय साधित कर प्रयोग करना श्रेयस्कर है। इन्हीं द्रव्यों से साधित जल में अन्न को संस्कृत कर आहारार्थ भी देना चाहिए।

**स्वेद**--कृशरा, उत्कारिका, उड़द, कुलत्थ, जौ, खीर, आदि के द्वारा संकर स्वेद की विधि से कंठ, पार्श्व, छाती और शिर का स्वेदन करना चाहिये।

**परिषेक**--वातहर पत्तों के क्वाथ से या बला, गुडीच, मुलहठी से साधित किंचित् गरम क्वाथ से परिषेचन करावें।

**उपनाह**--जीवन्ती, सोया, बला, मुलहठी, वच, वेशवार, विदारीकन्द, मूली, औदक और आनूपमांस--इनके चारों महास्नेहों से युक्त यथाविधि संस्कृत उपनाह का प्रयोग शिरः, पार्श्व तथा अंसदेश के शूल को दूर करने के लिये करें। इन शूलों को दूर करने के लिये शतपुष्पाद्य लेप का (सोया, मुलहठी, कूठ, तगर, रक्तचन्दन, इन्हें एकत्र घी के साथ पीसकर) प्रयोग करें।

**प्रदेह**--

बलारास्नातिलाःसर्पिर्मधुकं नीलमुत्पलम्।
पलंकषा देवदारु चन्दनं केशरं घृतम्॥
वीरा बला विदारी च कृष्णा गंधा पुनर्नवा।
शतावरी पयस्या च कतृणं मधुकं घृतम्॥
चत्वार एते श्लोकार्धः प्रदेहाः परिकीर्तिताः।
शस्ताः संसृष्ट दोषाणां शिरःपार्श्वांसशूलिनाम्॥
च० चि० अ० ८

इस आधे श्लोक में कहे गये चार प्रदेहों का उपयोग द्विदोषज यक्ष्मा से पीड़ित रोगियों पर--शिरोवेदना, पार्श्वशूल एवं अंसशूल को दूर करने के लिये करना चाहिये। इन वेदनाओं को दूर करने के लिये नस्य तथा धूम्रपान का प्रयोग करना चाहिये। भोजन के बाद स्नेहपान का प्रयोग कराना भी उचित है। अभ्यंग के लिये तैल और बस्ति-कर्म का उपयोग करें। रोगी के शरीर के दूषित रक्त को जोंक, तुम्बी, शृंग या शिराव्यध क्रिया से दोषानुसार जोंक आदि का व्यवहार रक्त निर्हरणार्थ करें। वात में सींग, पित्त में जोंक और कफ में तुम्बी का प्रयोग करें।

नावनंधूमपानानि स्नेहाश्चोत्तरभक्तिकाः।
तैलान्यभ्यंगयोगानि बस्तिकर्म तथा परम्॥
जलौकालाबुश्रृङ्गैर्वा प्रदुष्टं व्यधनेन वा॥
शिरःपार्श्वांसशूलिषु रुधिरं तस्य निर्हरेत्॥
च० चि० अ० ८

प्रलेपार्थ—प्रपौण्डरीकाद्य प्रलेप (पुण्डरीक काष्ठ, निर्गुण्डी, कमल, नागकेशर, नीलोत्पल, कसेरू, क्षीर काकोली, इन्हें पीसकर एकत्र घी के साथ मिलाकर) चन्दनाद्य तैल (ज्वराधिकारोक्त) या शतधौत घृत का प्रयोग करना चाहिये। दूध या मुलहठी के क्वाथ का परिषेचन करना चाहिये।

चरक के निम्न सूत्रों पर ध्यान देते हुए यक्ष्मा रोगियों में वमन या स्नेहयुक्त विरेचन करावें। यथा—

शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि।
अबलापेक्षिणीमात्रां किं पुन र्यो विरिच्यते।।

च० चि० अ० ८

कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर कास, श्वास, स्वर भेद, शिरः शूल, पार्श्वशूल तथा अंस शूल को दूर करने के लिये चरक चिकित्सा-स्थान के इसी अध्याय में वर्णित प्रपौण्डरीकाद्य घृत (पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, बड़ी कटेरी, बला, मूलत्वक् इनके कल्क से सिद्ध दूध से निष्कासित घी) का प्रयोग लाभप्रद है। यूं तो साधारणतः भोजन के पश्चात् किया गया घृत-पान उपरोक्त पीड़ाओं को दूर करने में स्वयं सिद्ध है।

यक्ष्मा से पीड़ित रोगी को भुक्तान्त में या भोजन के मध्य में अग्निबलानुसार रास्नाघृत—(यह शोषनाशक है) घी-प्रस्थ, रास्ना, बलामूल, गोखरू, शालिपर्णी, पुनर्नवा इन द्रव्यों का क्वाथ ८ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, कल्कार्थ—जीवन्ती, पिप्पली (एकसाथ १ शराव) या बलाघृत के सेवन से शिरःशूल आदि दूर होते हैं।

चरक के प्रसिद्ध टीकाकार चक्रपाणि ने बलाघृत, बलाक्षीर, रास्नाघृत और रास्नाक्षीर ऐसा अर्थ किया है। किन्तु, टीकाकार गंगाधर के अनुसार 'रास्ना घृतं सक्षीरं' पाठ के द्वारा घी को रास्ना के कल्क और चतुर्गुण दूध से सिद्ध करने को बताया है। इसी तरह 'सक्षीरं वा बलाघृतम्' पाठ के द्वारा घी को बला कल्क और चतुर्गुण दुग्ध से सिद्ध करने को बताया है।

इनके लिये अवस्थानुसार खर्जूरादि घृत (च० चि० अ० ८) पंचमूलादि घृत (घी २ प्रस्थ, पंचमूलों का क्वाथ ८ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ) आधा तोला की मात्रा में प्रयोग करें।

स्वरसाद, शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, श्वास-कास एवं ज्वर को दूर करने के लिये दशमूल से साधित दूध से निष्कासित ताजे घी में पिप्पली चूर्ण और शहद का प्रक्षेप देकर वमन कराना हितकर है।

इसके लिये पंचमूलों से साधित दूध से निष्कासित ताजा घी भी बहुत लाभदायक है।

चक्रपाणि के 'लेहान् कासापहान्' पाठ के द्वारा सात उपद्रवों का ग्रहण किया गया है और ज्वर के स्थान पर हिक्का का उल्लेख किया गया है। किन्तु; राजयक्ष्मा के लक्षणों के मूल पाठ में हिक्का का पाठ नहीं मिलता है। संभव है, उपद्रव रूप में हिक्का का जिक्र आया हो या लेखक के द्वारा प्रमादवश हिक्का का पाठ कर दिया गया हो। क्योंकि, आचार्य द्वारा हिक्का-नाश के लिये यहाँ पर विधान नहीं बताया गया है और न तो नीचे के लेहों के योगों का गुण बताते हुए हिक्का का पाठ है। ये चार लेह निम्न हैं :—

(१) पिण्डखर्जूर, पिप्पली, द्राक्षा, हर्रे, काकड़ाश्रृंगी, दुरालभा।

(२) त्रिफला, पिप्पली, मोथा, सिंघाड़ा, पुराना गुड़, खांड।

(३) क्षीर काकोली, कचूर, पुष्करमूल, तुलसी, खांड, पुराना गुड़।

(४) सोंठ, चित्रक, लाजा, पिप्पली, आँवला और पुराना गुड़। यथा—

खर्जूरं पिप्पली द्राक्षा पथ्या श्रृंगी दुरालभा।
त्रिफला पिप्पली मुस्तं श्रृंगाटं गुड़ शर्करा।।
वीरा शटी पुष्कराख्यं सुरसः शर्करा गुड़।
नागरं चित्रको लाजा पिप्पल्यामलकं गुड़ः।।

च० चि० अ० ८

इन आधे श्लोकों में बताये गये चार योगों का मधु और घी के साथ प्रयोग करने से कास, श्वास, स्वर भेद एवं पार्श्वशूल दूर होता है। श्वास-कास एवं कफ को दूर करने के लिये सितोपलादि लेह का (मिश्री १६ तोला, वंशलोचन ८ तोला पीपर ४ तोला, इलायची २ तोला, दालचीनी १ तोला, चूर्ण बनाकर मधु के साथ) सेवन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त बलादिघृत, गोक्षुरादि-

घृत, जीवन्त्यादि घृत, बलादि क्षीर (च० चि० अ० ८) का प्रयोग अवस्थानुसार करना चाहिये।

### कफ-प्रसेक की दोषानुसार चिकित्सा

इनमें प्रथम बलवान श्लैष्मिक पुरुष को कफ प्रसेक रहने पर वमन कराना चाहिये। वमन के बाद दीपन द्रव्यों से युक्त लघु आहार (जौ, गेहूँ, माध्वीक, जांगल पशु-पक्षियों का मांस-रस) द्रव्यों का प्रयोग करावें। फुफ्फुस में कफ के अधिक निकलने से वायु द्वारा उस कफ को बाहर फेंका जाता है। इस कफ-प्रसेक की चिकित्सा विद्वान् वैद्य स्निग्ध और उष्ण क्रिया से करें। छर्दि को दूर करने के लिये उपरोक्त चिकित्सा से काम लें।

### अतिसार आदि की चिकित्सा

अग्निमान्द्य के कारण रोगी को प्रायः आँवयुक्त अतिसार होता है। मुख वैरस्य और अरुचि भी रहती है। इसे दूर करने के लिये अग्निदीपक, अतिसार नाशक, और मुख को शुद्ध करने वाला तथा अरुचिनाशक योगों का व्यवहार करना चाहिये।

इन योगों में मल को बांध कर लाने के लिये सोंठ, और इन्द्रजौ को एकत्रित कर मात्रानुसार तण्डुलोदक से लेना चाहिये। पाढ़, बेलसोंठ, अजवायन, (सम भाग, मात्रा दो माशा) को तक्र के साथ सेवन करना चाहिये। दुरालभा, अदरख और पाढ़ सम भाग मात्रा—दो माशा, अनुपान सुरा से लें। इसके अतिरिक्त जम्ब्वादि चूर्ण (जामुन बीज, आम की गुठली, बेल सोंठ, कैथ, सोंठ सम भाग) पेया और मण्ड के साथ अतिसार-नाश के लिये दें। उपरिलिखित तीन योगों से खंडयूष, मसूर आदि दाल, उपयोगी धान्य और घृत आदि स्नेह से युक्त कपित्थ, अनार एवं चांगेरी आदि से खट्टा करके देना चाहिये।

वेतसार्जुनजम्बूनां मृणालीकृष्णगंधयोः।
श्रीपर्ण्यां मदयन्त्याश्च यूथिकायाश्च पल्लवान् ॥
मातुलुंगस्य धातक्या दाड़िमस्य च कारयेत्।
स्नेहाम्ललवणोपेतान् खडान्सांग्राहिकान् प्ररान् ॥
च० चि० अ० ८

इन श्लोकों में कथित द्रव्यों से साधित खण्ड रोगी को दें। व्यंजन के लिये शीघ्र पचने वाले मांस-रसों का प्रयोग एवं बेलसोंठ दें। अन्न में लाल शालि (चावल) उत्तम है। पीने के लिये शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कंटकारी और गोखरू-इन लघुपंचमूलों से षडङ्ग परिभाषा के अनुसार साधित जल देना चाहिये।

### मुख की विरसता को दूर करने के लिए

मुख की विरसता को दूर करने के लिये चक्रपाणि के कथनानुसार सायं-प्रातः मुख को शुद्ध करनेवाली दातौन (निम्ब, खदिर, महुआ और करंज की) करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त दीपन, पाचन, स्वच्छ औषध एवं मन के लायक हितकर अन्नपान का सेवन करें। निम्नोक्त श्लोकानुसार मुखशोधक योगों के क्वाथों से मुख धोना चाहिये।

त्वङ्मुस्तमेलाधान्यानि मुस्तमामलकंत्वचम्।
दार्वी त्वचो यमानी च पिप्पल्यस्तेजवत्यपि ॥
श्लोकपादेष्वभिहिता रोचना मुख शोधनाः ॥
गुड़िकां धारयेदास्ये चूर्णो वा शोधयेन्मुखम्।
एषामालोडितानां वा धारयेत्कवलग्रहान् ॥
—च० चि० अ० ८

नीचे के यथासंभव प्राप्य द्रव्यों में सुरा, माध्वीक, शीधु, तैल, मधु, और घी मिश्रित दूध और इक्षु स्वरस का कवल धारण करना चाहिये। दवा के रूप में चरक में वर्णित यवानि खाण्डव (अजवायन, तिन्तिड़ीक, सोंठ, अम्लवेत, अनारदाना, शुष्क खट्टे बेर (सभी १ कर्ष), धनियाँ, सौंचर नमक, जीरा, दालचीनी, (प्रत्येक आधा कर्ष), काली मिर्च दो भाग खांड ४ पल), यह मुखबिरसता को दूर करने के साथ-साथ हृदय, पार्श्वशूल, कास, श्वास, एवं विबंध को भी दूर करता है। तालिसाद्य चूर्ण (तालीसपत्र १ भाग, काली मिर्च २ भाग, सोंठ ३ भाग, पिप्पली ४ भाग, दालचीनी आधा भाग, इलायची १।। भाग, मिश्री ३२ भाग, मात्रा १ से २ माशा तक) का प्रयोग करना लाभदायक है। राजयक्ष्मा रोगी के लिये मांस का प्रयोग—बृंहण और पुष्टिकारक होता है। इसका विधान चरक में आया है।

वातप्रधान यक्ष्मा रोगी के लिये आनूप-जलज और जलचर पशु-पक्षियों का मांस हितकर है। कफ-पित्त से आक्रान्त यक्ष्मा के रोगियों को प्रतुद, विष्किर और जांगल जीवों के मांस का प्रयोग करना श्रेयस्कर है। यथा—

प्रतुदाविष्किराश्चैव धन्वजाश्च मृगाद्विजाः ।
कफपित्तपरीतानां प्रयोज्याः शोषरोगिणाम् ।।
च० चि० अ० ८

इस तरह रोगी शास्त्रोक्त विधि से साधित इच्छानुसार कोमल रस व शुभ गंध से युक्त मांस का भक्षण करें।

जो शोष रोगी उदारचित्त होकर यथाविधि मांस का आहार एवं माध्वीक सेवन करता है, उसके समीप अधिक दिनों तक शोष नहीं ठहर सकता।

वारुणीमंड नित्यस्य बहिर्मार्जन सेविनः ।
अविधारित वेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम् ।।
च० चि० अ० ८

मांस-भोजी पशु-पक्षियों के मांस-रस से साधित घृत का प्रयोग यक्ष्मा रोगी को कराना चाहिये। घृत साधनार्थ-- घृत से चतुर्गुण मांस-रस लेना चाहिये। अथवा दश गुने गौ के दूध से घृत को सिद्ध कर मधु के साथ प्रयोग करावें। मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, विशद और सूक्ष्म गुणयुक्त होने से स्रोतों के मुख को खोल देता है; जिनके खुलने से रस-रक्तादि सप्त धातुएँ पुष्ट होती हैं और यक्ष्मा शीघ्र शांत हो जाता है।

यथा—

मद्यं तैक्ष्ण्योष्ण्य वैशद्य सूक्ष्मत्वात्स्रोतसां मुखम् ।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात्सप्तधातवः ।।
पुष्यन्ति धातु पोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति ।।
च० चि० अ० ८

शोष को दूर करने के लिये दशमूलादि घृत (सिद्धं मधुरकैर्द्रव्यै र्दशमूलकषायिकैः । क्षीर मांस रसोपेतै र्घृतं शोपहरं परम् ) मात्रा आधा तोला, एवं स्रोतों के शोधन के लिये पंचकोलादि घृत (पिप्पली पिप्पलीमूल चव्य चित्रक नागरैः । सयावशुकैः सक्षीरैः स्रोतसां शोधनं घृतम् )। मात्रा १। से १।। तोला तक यवागू, शहद या अन्न के साथ मिलाकर देना चाहिये।

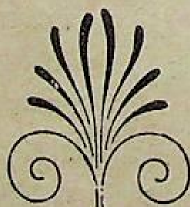
बहिर्मार्जन—

बहिःस्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः ।
स्नेह क्षीराम्बु कोष्ठे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ।।
स्रोतो विबंध मोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च ।।
च० चि० अ० ८

अवगाहन के पश्चात् कोष्ठक के मिश्रक स्नेह से बहिर आने पर हाथों पर घृत-तैलादि को लगाकर रोगी के शरीर को धीरे-धीरे मलें। मालिश के पश्चात् जीवन्ती, शतवीर्या, विकसा (मंजिष्ठा), पुनर्नवा, असगंध, अपामार्ग, जयन्ती, मुलहठी, बला, बिदारीकन्द, सरसों, कूठ, चावल, अलसी, उड़द, तिल, किण्व (सुराबीज) के चूर्णों को एकत्र समभाग लेकर त्रिगुण जौ चूर्ण मिला कर दही और शहद के साथ शरीर पर उबटन लगावें। इससे बल-वर्ण की वृद्धि होती है। उत्सादन के बाद जीवनीयगण की औषधियों द्वारा सिद्ध किये गये जलों में श्वेत सरसों का कल्क और सुगंधित द्रव्यों को डालकर ऋतु के अनुसार (ग्रीष्म में शीत, शीतकाल में उष्ण) सुखकर जल से स्नान कराना चाहिये।

चरक के टीकाकार गंगाधर के विचार से सरसों से साधित जल से शीतकाल में, गन्ध द्रव्यों से साधित जल से उष्णकाल में और जीवनीय गणों से साधित जल से वर्षाकाल में स्नान कराना चाहिये।

स्नानादि के पश्चात् स्वच्छ वस्त्रों को धारणकर, भूषणों से विभूषित होकर, गौ, सुवर्ण आदि मंगलकारक स्पर्श्य द्रव्यों का स्पर्श कर, देवता, चिकित्सक और ब्राह्मण की पूजा करके, मन को अभीष्ट एवं वर्ण, रस, गंध से युक्त, सुस्वादु और सुख को देने वाले इच्छानुसार पथ्यकर व्यञ्जनों के साथ भोजन करें। शोष रोगियों के लिये कम से कम एक वर्ष के पुराने धान्यों का प्रयोग करना अत्यन्त पथ्यकर है।



# उरस्तोय और कल्याणसुन्दर रस

वैद्य लक्ष्मीनारायण चौरासिया, आयुर्वेदाचार्य

रोगी का नाम--भगवानदेवी (धर्मपत्नी ला० वैजनाथजी); स्थान--मानियाँ (धौलपुर); आयु--२५ वर्ष।

**विवरण**--दिसम्बर १९५० में गर्भावस्था की दशा में पेचिश हुई, जो लगभग दो माह तक न्यूनाधिकरूप में चलती रही। परिमाणतः रक्ताल्पता अत्यधिक हो गई। इसी अवस्था में प्रसव हुआ। प्रसव के तृतीय दिवस के स्नान के पश्चात् तीव्र ज्वर (१०२ डिग्री) और पार्श्वशूल आरम्भ हो गया। स्थानीय चिकित्सक द्वारा पेनिसलीन के तीन-तीन घंटे बाद सूचीवेध आठ दिन किये गये। इससे पार्श्वशूल में किञ्चित् कमी हुई, पर ज्वर बना ही रहा। इसके साथ ही कुछ अन्य चिकित्साएँ भी हुईं, किन्तु ज्वर नहीं गया। तत्पश्चात् रोगीणी को आगरा लाकर सर्वप्रथम यहाँ के एक प्रमुख एलोपैथ चिकित्सक को दिखलाया गया और उनकी सम्मति से १२ फर्वरी १९५१ को एक्स-रे लिया गया (देखिये चित्र नं० १०)। इसके द्वारा ज्ञात हुआ कि दक्षिण पार्श्व में तोय (Effusion) चौथी से सातवीं पसली में पर्याप्त मात्रा में उपस्थित है। अस्तु, चिकित्सार्थ डाईहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसीन के आधा-आधा ग्राम के सूचीवेध प्रातः-सायं बराबर लगभग तीनमाह तक लगते रहे। किन्तु ज्वर, कास और निर्बलता में कोई अन्तर न आने पर सरोजनी नायडू अस्पताल के ख्यातिप्राप्त रोग-विशेषज्ञ डॉक्टर को दिखलाया गया और पुनः ३ मई १९५१ को एक्स-रे लिया गया (देखिये चित्र नं० ११)। किन्तु उरस्तोय के पानी (Effusion) में अथवा ज्वर, कास और निर्बलता में कोई कमी नहीं हुई। तब पुनः डाईहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसीन के सूचीवेध तथा पास (Para Amins salicilat) और अन्य मिश्रण आदि लगभग चार मास चलते रहे। एक बार उरस्तोय का जल भी निकाला गया, किन्तु ज्वर, कास, निर्बलता दिन पर दिन बढ़ती ही गई।

अन्त में नैराश्य अवस्था प्रतीत होने पर रोगिणी को हमें दिखलाया गया। उक्त चिकित्सा का परिणाम जानने के लिए मैंने भी एक एक्स-रे कराने की सम्मति दी, जो ता० १ सितम्बर १९५१ को लिया गया (देखिए चित्र नं० १२)। यह देख कर आश्चर्य हुआ कि सात मास के निरन्तर प्रयास और एलोपैथी की पूर्ण चिकित्सा के पश्चात् भी रोगिणी की दशा ज्यों-की-त्यों पाई गई। अन्त में रोगिणी के अविभावकों ने निराश होकर आयुर्वैदिक चिकित्सा में देने का निश्चय किया और रोगिणी मेरी चिकित्सा में आ गई। रोग स्पष्ट था। ज्वर पर्याप्त रहता था। कास भी विश्राम नहीं लेने देती थी। यकृत्वृद्धि पर्याप्त हो चुकी थी। रक्ताल्पता भी भीषण दशा को पहुँच चुकी थी। इस कारण आयुर्वेद की प्रमुख औषध "कल्याणसुन्दर रस" श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० से खरीद कर सेवन कराने और स्वर्ण तथा प्रवाल के सूची वेध की व्यवस्था के साथ रोगीणी को उसके माता-पिता के निवास-स्थान (खदौली) रहने का आदेश देकर चिकित्सा आरम्भ की, जो निरन्तर तीनमास तक चलती रही और रोगिणी शनैः-शनैः स्वास्थ्यलाभ करती गई। ज्वर, कास एक मास में बिल्कुल जाते रहे और शक्ति बढ़ती गई। एक-एक मास पश्चात् हम रोगिणी का निरीक्षण करते रहे। तीन मास में आश्चर्य जनक लाभ देख कर इच्छा हुई कि पुनः एक्स-रे कराकर देखा जाए कि उरस्तोय की क्या हालत है। इसलिए १४ दिसम्बर १९५१ को पुनः एक्स-रे कराया गया। (देखिये चित्र नं० १३)। यह देखकर अति प्रसन्नता हुई कि जो उरस्तोय दो-दो बार डाईहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसीन के पूरे कोर्स लगने, पानी निकालने, पास खिलाने तथा अन्य मिश्रण आदि मिलते रहने पर भी सात माह में ठीक न हो पाया था, वह 'कल्याणसुन्दर रस' के तीन मास के प्रयोग से बिलकुल ठीक हो गई। किन्तु यकृत्वृद्धि शेष रह गई थी। उसकी औषध के लिये 'अष्टादशाङ्ग लौह' की व्यवस्था कर दी गई और रोगिणी अपने ग्राम-मानियाँ चली गई।

(शेषांश १२९ पृष्ठ पर)

# क्षय-रोग में मेरा प्रत्यक्ष अनुभव

आयुर्वेदालङ्कार वैद्य रामगोपाल शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

आज-कल यक्ष्मा रोग प्रायः १६ वर्ष से २५ वर्ष तक के आयुवालों को अधिक होने लगा है। इसका खास कारण सिनेमा, सह-भोजन, चायपार्टी आदि है। आज-कल के नवयुवक पोषक-भोजन न करके चाय आदि का अधिक सेवन करने लगे हैं। जिस प्याले में कुष्ठ या क्षय रोगी आदि चाय पीते हैं, उसी प्याली में बेचारे स्वस्थ पुरुष को भी चाय दी जाती है। क्षय-रोग के कीटाणु प्याले से मुख के द्वारा जिस स्वस्थपुरुष के शरीर में प्रवेशकर जाते हैं उसको भी क्षयाक्रान्त कर देते हैं। आज-कल आयुर्वेद का सिद्धान्त "त्र्यहात् बसन्त शरदोः पक्षात् वर्षानिदाघयोः" वाला सूत्र भूल जाने के कारण लोग नित्य संभोग में रत रहते हैं, इस कारण व्यवायजन्य प्रतिलोम क्षय अधिक होता है। इसी सम्बन्ध में कुछ अपने अनुभव में आए हुए प्रयोग लिख रहा हूँ—

(१) **कर्कोटक भस्म**—नर जातीय केकड़े को चीरकर नाखून सहित उसको हाँड़ी में रखकर अग्नि में फूंक दें। भस्म हो जाने पर महीन पीस कर रख लें। २ रत्ती भस्म शहद के साथ दिन में ३ बार लेने से क्षय नष्ट होता है।

(२) नर केकड़े को चीर कर इनकी मिट्टी साफ करके पाव भर पानी में पकने के लिए अग्नि पर चढ़ा दें। थोड़ा नमक, दालचीनी, धनिया, तेजपात भी डाल दें। पक कर ५ तोले जल रहने पर छान कर थोड़े से घी में लौंग का बघार देकर प्रातः मरीज को पिला दें। इससे क्षयरोग में बड़ा लाभ होता है। पुराने अग्निमान्द्य में भी कुछ दिनों तक सेवन करने से भूख लगने लगती है।

(३) **क्षयार्क**—खूबकला १ तोला, दालचीनी १ तोला, चन्दन लाल १ तोला, जीरास्याह १ तोला, सोंठ १ तोला, पीपल छोटी १ तोला, लौंग १ तोला, छोटी इलायची १ तोला, तेजपात १ तोला, गिलोय ऽ।।, खश १ तोला, शतावरी १ तोला, असगंध २।। तोला, गुलभण्टी ५ तोला, गोखरू ५ तोला, बकरे की कलेजी ऽ१।। सेर, केकड़ा नग ५०, दूध बकरी या गौ का ऽ८ सेर, कलेजी छोड़कर शेष ओषधियों को जौ कूटकर के शाम को ऽ१ सेर दूध में भिगो दें। कलेजी सुबह ताजी लाकर महीन-महीन टुकड़े कर के कपड़े में बाँध कर दवा मिश्रित जल में डाल कर अर्क खींच लें। अर्क खींचते समय ३ माशे केशर की पोटली बनाकर भवके की नली के मुँह पर बाँध दें। ताकि अर्क पोटली पर से होता हुआ बोतल में गिरे। जब पूरा अर्क खिंच जावे, तब सारा अर्क एक बर्तन में डालकर फिर बोतलें भर लें। उपरोक्त अर्क ३ तोला प्रातः और ३ तोला शाम को पीने से क्षय रोग में बड़ा लाभ होता है।

(४) चन्द्रोदय षड्गुणबलिजारित ३ माशा, शु० विष ३ माशा, शुद्ध टंकण ३ माशा, काली मिर्च ३ माशा, चाँदी का वर्क ३ माशा, सोने का वर्क ३ माशा, वंगभस्म ३ माशा, अभ्रक भस्म शतपुटी ३ माशा, कान्तलौह भस्म ३ माशा, वैक्रान्त भस्म ३ माशा सब को नीबू व अदरक के रस में २-२ रोज घोटें। बाद में २ छोटी टिकिया बनाकर सुखा लें। सूख जाने पर सुरमा के समान महीन पीस लें व बोतल में भरकर रख लें। इसके उपरान्त २ रत्ती सुबह व १ रत्ती शाम को, ४ रत्ती वंशलोचन, ४ रत्ती छोटी इलायची के बीज, ४ रत्ती सत्त गिलोय व ४ रत्ती मुलहठी, १ तोला शहद के साथ लेवें।

इसके सेवन से क्षय, जीर्णज्वर तथा वीर्यगत ज्वर को अधिक लाभ पहुँचाता है। भूख न लगना, दिन-दिन शरीर का क्षय होते जाना आदि रोगों को शीघ्र नष्ट करता हुआ यह आरोग्य प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त यदि इस रसायन को मक्खन—मिश्री के साथ काफी दिनों तक सेवन किया जाय तो सारे शरीर के अवयवों, तथा दिल, दिमाग व वीर्य को अधिक बलवान् बनाता है। वीर्य की खराबी से उत्पन्न होनेवाले सारे रोगों को नष्ट करता है। गिरती हुई आरोग्यता को ठहराने में सहायता करता है। मन्दाग्नि और पाचनशक्ति

को ठीक करता है। कफ-वात से होने वाली व्याधियाँ जैसे प्रतिश्याय, कफ, खाँसी, दमा, अरुचि, मन्दाग्नि, बहुमूत्र आदि रोगों को नष्ट करता है। प्रसूता स्त्रियों को सदैव निर्बल बना रहना, इसके सेवन से ठीक हो जाता है।

(५) आचार्य प्रवर श्री यादवजी त्रिकमजी के लिखे हुए सिद्धयोग संग्रह में 'रसोनक्षीर योग' क्षय रोग में बहुत लाभ करता है। किन्तु पित्त प्रधान क्षय में इससे लाभ नहीं होता। जिस क्षय में मुख के द्वारा रक्त आता हो, उसे उपरोक्त प्रयोग न करवाएँ।

(६) नीबू का रस १ तोला, मूली का रस १ तोला, प्याज का रस १ तोला, अदरक का रस १ तोला, सेव का रस १ तोला, सब को एक साथ मिलाकर प्रातः पीने से क्षय रोग में लाभ होता है। प्रारम्भ में इसके प्रयोग से किसी-किसी को खाँसी बढ़ जाती है, पर कुछ दिन बाद स्वतः ठीक हो जाती है।

## फुफ्फुस-परीक्षण-विधि

क्षय रोगी को उकड़ु बैठा दें ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की बालक अक्को-बक्को खेलते हैं। दोनों हाथों को दोनों जाँघों के बीच में रखकर हाथ की दशों अंगुलियाँ जमीन पर रख दें। पहिले एक हाथ की अंगुली से उठाना शुरू करें। बारी-बारी से सब अंगुलियाँ मरीज उठावे। जिस हाथ की अंगुली बगैर दूसरी अंगुली के सहारे से न उठे, समझना चाहिए कि उसी ओर को फेफड़ा खराब है।

(७) दो नर केकड़े लेकर चीर कर उनकी मिट्टी निकाल कर पाव भर पानी में पकाएँ। पकते समय थोड़ा नमक भी उसमें डाल दें। पाव भर पानी को ५ तोला रहने पर छान कर थोड़ा तेजपात, इलायची, धनियाँ, पीस कर डाल दें। बाद में लौंग का बघार देकर सुबह पिलाएँ। यदि पीने में स्वादयुक्त न मालूम हो, तो दाल या साग में मिला कर दें। इससे चिर नष्ट क्षुधा थोड़े दिन में ठीक हो जायगी। क्षय के विषय में जहाँ तक मेरा अनुभव है बिना मांस-प्रयोग के क्षय रोग नहीं जाता है। "छागोपसेवा सततच्छागमध्ये तु यक्ष्मनुत्" के अनुसार इस रोग में विविध जीवों के मांस का सेवन कराना चाहिये। अग्निहोत्री को क्षय रोग कभी नहीं होता। कदाचित् हो भी जाय तो शीघ्र ठीक हो जाता है।

मैं खनियाधाना के राजा साहब की बहन की चिकित्सा कर रहा था। वह तो ठीक हो गई, पर उसी समय ३२ के आन्दोलन में मैं पकड़ा गया। जेल की यातनाओं के कारण मुझे कई बार अनशन करना पड़ा। अतः मुझे क्षय रोग ने ग्रस लिया। अधिकारियों ने, हालत खराब देख कर अवधि के १ मास पूर्व ही मुझे छोड़ दिया। बाहर आकर बिना दूध, फल, अन्न आदि के छः मास तक केवल मांस-भोजन पर ही रहा। अच्छा हो जाने पर मेरा वजन ५२ पौंड बढ़ा। अतः मेरा दृढ़ विश्वास है कि बिना मांस सेवन के क्षय रोग नहीं जाता चाहे वह क्षय अनुलोम हो या प्रतिलोम।

—०—

शेषांश ] उरस्तोय और कल्याण सुन्दर रस [ १२७ पृष्ठ का

कुछ दिन बाद वहाँ एक भोज में कई दिनों के बासी छाछ के रायते को पीने से उसके उदर में भयंकर शोथ और ज्वर हो गया, जिस की चिकित्सा परिवार के लोगों की आज्ञानुसार आगरे के सरोजिनी नायडू अस्पताल में की गई। शोथ और ज्वर लगभग डेढ़ मास में ठीक हो गए, किन्तु यकृत्वृद्धि बनी रही। अस्पताल से लाकर पुनः उसके माता-पिता के यहां छोड़ा गया, जहाँ ४-५ मास तक ग्रामीण चिकित्सक द्वारा यकृत्वृद्धि की उचित चिकित्सा होती रही और रोगिणी पर्याप्त ठीक हो गई। किन्तु यकृत्वृद्धि शेष थी। अतः मानियाँ से जाते समय मुझे दिखलाने पर मैंने संकेतकर दिया था कि अपथ्य से बचती रहना। कुछ समय वह ठीक रूप में चलती रही। इस वर्ष इसी अपथ्य के कारण, जिसको हम प्रयत्न करने पर भी ज्ञात न कर सके, यकृत इतना बढ़ गया कि उसने उदर का चौथाई भाग घेर लिया। श्वास की गति अति तीव्र, ज्वर और कास भी तीव्र होकर रोगिणी अति क्षीणावस्था को पहुँच गयी, तब हमें सूचना दी गई।

मानियाँ जाकर देखा, हृदय की गति तीव्र होने से मुँह से एक शब्द नहीं बोल सकती थी और लक्षण सब अरिष्ट कारक देखकर कहना पड़ा कि अबकी बार सम्हालना कठिन प्रतीत होता है, किन्तु प्रयत्न तो करना ही है। फिर सहस्रपुटी अभ्रक आधा रत्ती, कान्तलौह भस्म एक रत्ती दोनों का मिश्रणकर ४ पुड़िया और मुक्तापिष्टी नं० १ की १-१ रत्ती की दो पुड़िया प्रतिदिन देना आरम्भ की गई। साथ-साथ रेटीकुलोजिन (लिवर एक्सट्रेक्ट) के सूचीवेध की व्यवस्था कर दी गई, जिससे रोगिणी की दशा दिन-पर-दिन सम्हलती गई। ज्वर, कास, उदर-शोथ सब ठीक हो गया। अभी यकृत् वृद्धि थोड़ी शेष है। वजन १४ पौंड बढ़ गया, अच्छी तरह खाना खाती है, चलती-फिरती है। अब औषधि की व्यवस्था कान्तलौह भस्म तथा आरोग्यवर्द्धिनीबटी कर दी गई है। इस समय रोगिणी तथा उसके पतिदेव सम्मुख बैठे हैं, यह विवरण उसने पूछ कर पुष्ट रूप से लिखाजा रहा है। आशा है चिकित्सा-संसार इससे लाभ उठा सकेगा।

—०—

# क्षय की अचूक ओषधि—लहसुन

वैद्य रामेशवेदी, आयुर्वेदालंकार

क्षय की चिकित्सा में लहसुन की उपयोगिता का उल्लेख सब से पहिले एक हजार, ईस्वी पूर्व में मिलता है। उसके बाद भी प्रायः हर जमाने में इसका प्रयोग किया जाता रहा है। कश्यप, चरक आदि पुराने समय के श्रेष्ठतम चिकित्सक इसे इस रोग में देते रहे हैं। वर्तमान समय में फेफड़े के क्षय में इसका अन्तः प्रयोग करने के लिए लन्दन के स्वर्गीय डॉक्टर यूरे, वेनिस के डाक्टर कावाजानी तथा अन्य डॉक्टरों ने भी सिफारिश की है। इन विद्वानों ने कन्द और उसके योगों का केवल अन्तःप्रयोग ही किया है, ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञात होता है कि लहसुन के तेल की शीघ्र उड़ जाने की तीव्र शक्ति और त्वचा पर अथवा जख्मों पर लगाने से अन्दर घुस जाने की इस की अद्भुत शक्ति को इन विद्वानों ने नहीं जाना था। इस तेल के गुण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

## प्रकृति का सर्वोत्तम क्रमिहर

लहसुन में जो अत्यन्त उड़नशील पदार्थ होते हैं, वे इसे प्रथम श्रेणी के क्रमिहरों (एण्टिसेप्टिक) में रख देते हैं और फेफड़े के रोगों की चिकित्सा में सुँघाने के लिए इसे सर्वोत्कृष्ट मूल्यवान् पदार्थ बना देते हैं। मनुष्य-शरीर के अन्दर रोगों के बहुत-से कीटाणुओं को मारने के कारण यह केवल उपयोगी ही नहीं है, किन्तु शरीर के जन्तुओं के लिए निरापद भी है। अब तक मालूम किए गए प्रभावशाली सब क्रमिहरों में यह सब से भिन्न है। प्रकृति का सब से अच्छा क्रमिहर वह है, जो अन्दर और बाहर दोनों तरह से प्रयुक्त होता है। इसकी जीवाणुनाशक-शक्ति की कार्बोलिकाम्ल से या किसी दूसरे विषैले पदार्थ के साथ तुलना करना बहुत गलत रास्ते पर ले जा सकता है। चाहे मुख द्वारा हो या स्थानिक प्रयोग द्वारा। लगातार बहुत देर तक दिये जाने पर भी यह कोई हानि नहीं करता।

## लेप भी उपयोगी

लेप करने से अक्षय-त्वचा में यह कितनी शीघ्रता से प्रवेश कर जाता है, यह इस बात से समझा जा सकता है कि यदि त्वचा पर किसी भी जगह लेप कर दिया जाय, तो इसका क्रियाशील तेल झट रक्त-संचार में मिल जाता है। जिसका प्रमाण यह है कि उसकी साँस में भी इसकी गन्ध आने लगती है। शरीर के प्रत्येक हिस्से में घुस कर यह फेफड़े, त्वचा, जिगर, गुर्दे, दूध और लार के द्वारा बाहर निकलता है।

## हड्डियों के क्षय में भी

लहसुन में विद्यमान उड़नशील तेल, प्रबल क्रमिनाशक होने से, क्षय के क्रिमियों की वृद्धि को रोकने में आश्चर्यजनक प्रभावकारी होता है। खून में मिलकर यह तैल फेफड़े, जिगर, गुर्दे, तथा त्वचा में दौड़ा करता है और शारीरिक धातुओं तथा रचनाओं में गहराई तक पहुँच जाता है, जिससे समस्त शरीर के अन्दर किसी भी जगह क्षय के कीटाणुओं का उपद्रव हो, तो उसे रोकता है। हड्डियों तक के क्षय को यह ठीक करता हुआ देखा गया है।

## हाथ-पैर कटने से रक्षा

एक जवान मनुष्य के पैर और पंजे की सारी हड्डियों को क्षय के कीटाणुओं ने खा लिया था। गली हुई हड्डियों वाले पैर को कटवा डालने की उसे सलाह दी गई, परन्तु ऐसा करने को वह राजी न हुआ। दो महीने के बाद जब डा० मिनचिन ने उसका पैर बिलकुल स्वस्थ अवस्था में देखा तो इस चमत्कार का रहस्य जानना चाहा। उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि लहसुन का लेप करते रहने से उसका पैर बिलकुल ठीक हो गया था।

## हथेली कटते-कटते बची

मिनचिन ने दस साल के एक बच्चे का उदाहरण दिया है। हाथ की हथेलियों में क्षय रोग हो जाने से उसकी एक अंगूली तो काट ही डाली गई थी, हथेली के तीन गहरे घावों में सदा पीव बहती रहती थी। दूसरे उपचारों से असफलता प्राप्त होने के बाद उसकी लहसुन से चिकित्सा की जाने लगी। बारीक पीसे हुए लहसुन को चरबी के

साथ मिलाकर घाव पर रख दिया जाता था। चौबीस घण्टे के बाद पट्टी खोलकर नया लेप किया जाता था। उसे इससे जल्दी ही लाभ नजर आने लगा और प्रायः डेढ़ महीने में उसका हाथ बिलकुल ठीक हो गया। चरबी या वेसलीन में लहसुन के कल्क (लेप) मिलाने का उद्देश्य यह था कि कि लहसुन की जलन घावों पर कम अनुभूत हो।

### क्षयी घावों की चिकित्सा-विधि

हड्डी के क्षयी जख्मों को लहसुन से कुछ सप्ताह इलाज करने के बाद यदि आराम न हो तो शल्य कर्म कराना चाहिए। हड्डी की परीक्षा करने से पता चलेगा कि ऊपर मरी हुई हड्डी का एक टुकड़ा है। उसके नीचे सड़े हुए मृत तन्तुओं का समूह है, जिसमें पीव अच्छी तरह मिली हुई रहती है। शल्य कर्म से इन सब की सफाई करने के बाद लहसुन-चिकित्सा आरम्भ कर देने से जल्दी ही आराम होने लगता है।

### न्यूयार्क में १०८२ रोगियों की चिकित्सा

न्यूयार्क में ट्रेपिलिटन हास्पिटल के डाक्टरों ने इन्हीं निर्देशों का पालन करते हुए दो साल से अधिक समय तक १०८२ क्षय रोगियों की चिकित्सा की। उन्हों ने इन रोगियों की चिकित्सा में क्षय के ५६ आधुनिक इलाजों की परीक्षा की। इन डॉक्टरों ने उदारता से डा० मिनचिन के मन्तव्यों और परीक्षणों को पुष्ट किया है। १६१४ के इण्टर स्टेट मेडिकल जर्नल के क्षयरोग-विशेषांक में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें डा० मार्शल ने इन परीक्षणों की रिपोर्ट दी थी।

### विश्वसनीय औषध केवल लहसुन

वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि क्षय के कीटाणुओं और उनसे पैदा होने वाले विविध प्रकार के रोगों पर विश्वसनीय रूप से प्रभाव करनेवाली बनस्पति वर्ग की केवल लहसुन ही एक औषधि है। सब बनस्पतियों में लहसुन और खनिजों में पारा ये दो ही दवाएँ उन्हों ने लाभदायक पाये। अपनी रिपोर्ट में वे लिखते हैं कि किसी स्थान पर लेप करने से लहसुन त्वचा द्वारा अच्छी तरह जज्ब कर लिया जाता है और अधिक गहरे तन्तुओं में घुस जाता है। इसके प्रयोग ने हमें सर्वोत्कृष्ट सफल परिणाम दिये हैं। त्वचा, हड्डियाँ, ग्रन्थियाँ, फेफड़े या और कोई विशेष भाग रोगाक्रान्त होने पर लहसुन सब अवस्थाओं में प्रभावकारी पाया गया है। अन्तः प्रयोग में ताजे निकाले रस की एक ड्राम मात्रा अथवा उड़नशील तेल की बूँदें दिन में तीन बार दी जाती थीं। बाह्य प्रयोग में कन्दों के एक भाग कल्क को तीन भाग चरबी या वेसलीन के साथ मिलाकर उसमें पचास प्रतिशत रस मिलाकर बनाये मरहम का रोज लेप किया जाता था।

### फेफड़े के क्षय में

डा० जोहनबेन ने ब्रिटिश मेडिकल जर्नल के सम्पादक को एक पत्र भेजा था, जो १५ जुलाई १६१६ के जर्नल में पृष्ठ ६६ पर प्रकाशित हुआ था। वह पत्र इस प्रकार है—"डॉक्टर हॉवेल ने जैसा लिखा है, उससे कहीं अधिक यह छाती के रोगों में उपयोगी है। पिछले तीन सालों में इसके तरल-सार (एक्स्ट्रेक्ट) को फेफड़े के क्षय में घुसाने के काम में लाया जा रहा है। मुझे पूर्ण निश्चय है कि इसका प्रभाव फार्मलीन के हलके घोल के समान लाभकारी है और इसकी खूबी यह है कि यह क्षोभ पैदा नहीं करता। पहले मैं फार्मलीन का इस्तेमाल किया करता था।"

### सन्धियों का क्षय

सन्धियों के क्षय की चिकित्सा भी लहसुन से सफलतापूर्वक की जा सकती है। रस को एक स्वच्छ लिण्ट पर रख कर जोड़ (सन्धि) पर लगाकर पट्टी बाँध देनी चाहिए। डा० बेन के तरलसार के प्रयोग में कई बार क्षोभ के कारण उस स्थान की त्वचा पर छाले पड़ जाते थे। तब उन्हें कुछ समय के लिये चिकित्सा बन्द कर देनी पड़ती थी और छाले ठीक हो जाने पर फिर यही इलाज आरम्भ कर दिया जाता था। डा० मिन चिन बताते हैं कि जिन रोगियों की त्वचा पर छाले पड़ जाते हैं, वे रोगी उनकी अपेक्षा, जिनकी त्वचा पर किसी प्रकार का क्षोभ नहीं पैदा होते; जल्दी ठीक होते हैं।

### रीढ़ का क्षय

कैप्टन एस्टीन्सन ने डॉक्टर हावेल के लेख पर लिखा था कि काली खाँसी के अतिरिक्त फेफड़े और सन्धियों के क्षय की चिकित्सा के लिए भी यह सफल परिणामों के साथ बरता जा सकता है। एक रोगी को रीढ़ की हड्डी

का क्षय था उसके फेफड़े भी आक्रान्त थे। उस रोगी के लिये पूर्ण विश्राम, रुग्ण रीढ़ पर लहसुन के रस का लेप और सुँघने के लिए लहसुन का रस यह उपचार था, जिससे वह जवान बिलकुल ठीक हो गया। दूसरा रोगी कलाई की सन्धि के क्षय से ग्रस्त था। वह भी लहसुन-रस के प्रयोग और लकड़ी की पट्टी पर कलाई को पूर्ण विश्राम देने से ठीक हो गया था।

## विनोवाभावे के भाई का उदाहरण

श्री बिनोवा भावे की भाई श्री बालकृष्ण जी, क्षय-ग्रस्त होने पर अपने ऊपर लहसुन का प्रयोग करके रोग से छटकारा पाया था। जवान आदमी, छिली हुई छः सात तुरियों से प्रयोग आरम्भ करके एक दिन में पाँच तोले तक पहूँच जाता है। दूध, दही, शहद, मक्खन या सब्जी के साथ भी इसका प्रयोग करते हैं। पकाने से गुणों में कुछ कमी आ जाने की आशंका से वे इसे कच्चा खाना पसन्द करते हैं। एक तुरी को मुँह में रख कर उसके साथ ही जरा-सा दूध का घूँट मुंह में लेकर वे इसे चावते थे और घुल जाने पर निगल लेते हैं। तेजी के कारण इसे खाली मुँह नहीं चवाना चाहिए। इससे मुँह में छाले पड़ सकते हैं। अतः सिल पर चटनी की तरह पीसकर सेवन करना अधिक सुगम समझा जाता हैं। चटनी को दूध, दही, शहद, मक्खन या सब्जी में मिलाकर खा लेते हैं। तब यह इतना तेज नहीं मालूम होता। लहसुन की मात्रा शरीर की पाचन-शक्ति के अनुसार लें, लहसुन-प्रयोग में घी और दही का प्रचूर परिमाण में सेवन करना नितान्त आवश्यक है। बालकृष्ण जी जब दिन में तीन बार में पाँच तोला लहसुन लेते थे, उन दिनों उनकी रोज की औसत पुष्टिप्रद खुराक यह थी––चार पाव दूध, चार तोला मक्खन, ढाई तोला शहद और दो पाव दही। इस प्रकार स्निग्धता-जनक खुराक न होने से यह हानि करता है; जिससे शरीर में गर्मी का आधिक्य और मुखपाक आदि लक्षण प्रकट हो सकते हैं। उपर्युक्त खुराक के साथ बालकृष्णजी सेगाँव की प्रचण्ड गरमियों में भी प्रतिदिन पाँच तोला तुरिया लेते रहे और उन्हें गरमी से परेशानी नहीं हुई।

## गिनीपिगों पर परीक्षण

विनिसर यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डाक्टर कावाजनी का परीक्षण ९ जनवरी १९०४ के 'लैसेट' में प्रकाशित हुआ था। जून १९०३ के अन्त में आठ गिनिपिगों में से छः को वे पन्द्रह दिन तक रोज एक बुँद लहसुन का रस देते रहे। इसके बाद उन्हों ने इन गिनिपियों के स्वरयन्त्रों में क्षय-रोग के सुखाए हुए बलगम को डाल दिया। इन में से दो को तो उन्हों ने यों ही रहने दिया, शेष छः में से तीन को पन्द्रह दिन तक उपर्युक्त परिमाण में लहसुन का रस दिया जाता रहा और तीन को सितम्बर के अन्त तक वे लहसुन देते रहे। अक्टूबर के पहले सप्ताह में उन्हों ने सब गिनिपिगों को मार दिया। परीक्षा करने से पहले पता चला कि कोई भी दवा न दिए गए गिनिपिगों के उपरस्थ अंग और लसिका-संस्थान क्षयी रचनाओं से पूर्ण तया भर गये थे। कुछ रचनाएँ छोटी थीं और कुछ अच्छी तरह बढ़ी हुई थीं। कुछ गाँठों की अणुवीक्षण परीक्षा से सिद्ध होता था कि उनमें क्षय के जीवाणु विद्यमान हैं। जिन तीन प्राणियों को एक महीने तक लहसुन दिया गया था, उनके शरीर में दस से बीस तक क्षय की गाँठे पाई गईं। इन में से कुछ जिगर में थीं और कुछ तिल्ली में। आणुवीक्षण परीक्षा से इनमें क्षय के जीवाणु नहीं पाये गए। जिन तीन गिनिपिगों की अन्त तक लहसुन से चिकित्सा की जाती थी, उनमें बहुत सूक्ष्म परीक्षा करने पर भी कोई क्षयी रचना नहीं मिली।

## क्षय में अनेक प्रकार की उपयोगी

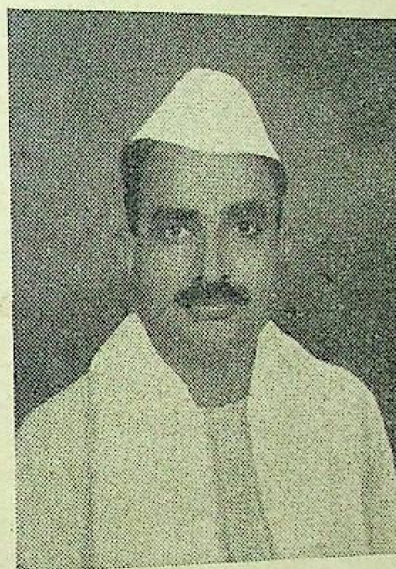
फेफड़े के क्षय में लहसुन और इनके योगों का बहुत प्रयोग होता है। कर्नल चोपड़ा के अनुसार वर्तमान काल में इस प्रकार के कई योग बाजार में चल रहे हैं, जिनमें लहसुन का रस या इसके अन्य क्रियाशील तत्त्व होते हैं। फेफड़े के क्षय की अवस्था में जमें हुए बलगम और खाँसी को लहसुन-रस प्रायः कम करता है। भूख जग जाती है और कुछ रोगियों में तो रात का पसीना पूर्णतया बन्द होता देखा गया है। रोगी अपने को स्वस्थ अनुभव करता है। नींद बढ़ जाती है, पाचन क्रिया में उन्नति दिखाई देती है और वजन में वृद्धि हो जाती है। यक्ष्मा में लहसुन का सेवन करते समय घी और दूध का खूब प्रयोग करना चाहिए। दूध में लहसुन को पकाकर खिलावें,

(शेषांश पृष्ठ १३४ पर)

# यक्ष्मा रोग की अनुभूत चिकित्सा

आयुर्वेदाचार्य कविराज श्रीनारायण शर्मा, एम० ए० एस० एफ०, वैद्यशिरोमणि

आज से आठ साल पूर्व की घटना है। गत २४ अप्रेल १९४६ को भागलपुर में मेरे पास अवधेश्वरी सिंह नामक एक सज्जन अपना इलाज कराने के लिए बाँका से आए। उनकी उम्र २७ साल की थी। उनकी हालत उस समय इस प्रकार थी—३ महीने से ज्वर रहता था। ज्वर नीचे ९८।। डिग्री एवं ऊपर १०२ डिग्री तक चला जाता था। रात्रि में पसीना होकर ज्वर छूटता था। खाँसी की शिकायत ३-४ महीना से थी। खाँसी के साथ सफेद एवं पीलापन लिए कफ निकलता था। ६ महीने पहिले खाँसी के साथ हठात् रक्त आया था। इसके बाद एक-दो मास के अन्तर से कभी-कभी रक्त आ जाता था। दोनों पार्श्वों में दर्द रहता था। भूख कम लगती थी। वजन घट गया था। रोगी की परीक्षा करने पर 'जीर्णक्षय' के लक्षण प्रतीत हुए थे। शरीर का मेद और मांस घट गया था। छाती सीधी एवं दबी हुई थी। अन्तर-पार्शुका-प्रदेश में गढ्ढ़ा मालूम होता था। स्पर्श करने पर नाड़ी दुर्बल-वेगवती, वायु एवं कफ-प्रधान गति युक्त प्रतीत हुई। नाड़ी का परिमाण एवं दवाव घटकर सूक्ष्म एवं क्षीण हो गया था नाड़ी की गति १२५ प्रति मिनट थी। श्वास की गति भी २५ प्रति मिनट पायी गई। दाहिने तरफ की उरोगुहा श्वास खींचने के समय कम फूलती थी। ठेपन से दाहिने तरफ के चतुर्थ पर्शुकान्तरीय प्रदेश में शब्द घन एवं भारीपन लिए प्रतीत हुआ। ध्वनिवाहक यन्त्र (टैथिस्कोप) द्वारा परीक्षा करने पर विवरनाद, कौफकनाद एवं कट्-कट् ध्वनियाँ मिलीं। उन्हीं स्थानों पर, एक-दो-तीन कहाने पर, तीव्र प्रतिध्वनि कान में सुनाई दीं। इससे यह ज्ञात हो गया कि रोगी को यक्ष्मा है तथा भीतर घाव में गढ्ढ़ा भी पड़ गया है। बाई तरफ भी छिटपुट जगहों में यक्ष्मा के छींटे मिले। रोगी के आदमियों को राजयक्ष्मा निदान की कल्पना बता दी गई।



लेखक

इसके बाद रोगी की उरोगुहा का एक्स-रे भी लिया गया तथा उसमें भी उपर्युक्त परीक्षा की कल्पना के अनुसार रोगी की हालत मिली। कफ परीक्षा में भी ट्यूबरक्यूलोसिस के कीटाणु मिले। रोगी ने आधुनिक विज्ञान के अन्य चिकित्सकों को भी दिखाया और निदान सभी जगह एक ही मिला। अन्त में आयुर्वेदीय प्रणाली से चिकित्सा कराने का निश्चय किया गया। और निम्नलिखित तरीके से चिकित्सा शुरू की गई। (१) बाँका के नजदीक एक साफ-सुथरे, खुले हवादार मकान में उसको रखा गया। (२) रोगी के लिए स्थायी शय्या का प्रबन्ध कर दिया गया। मल-मूत्र-त्याग भी खटिया के नजदीक ही किया जाने लगा। (३) सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक परिश्रम की सभी चीजों से रोगी को मुक्त रखते हुए पूर्ण विश्राम दिया गया।

**निम्नलिखित ओषधियों की व्यवस्था की गई—**

**प्रातः-काल**—स्वर्णवसन्तमालती रस १ रत्ती, मुक्ता पीष्टि १ रत्ती, शृङ्ग भस्म १ रत्ती, सीतोपलादिचुर्ण १ माशा मधु से चाटने की सलाह दी गयी।

**सायंकाल**—रक्तपित्तकुलकुठाररस ३ रत्ती, मोतीपीष्टी १ रत्ती, प्रवाल पिष्टी २ रत्ती, १ माशा शहद और निम्न क्वाथ के साथ।

**क्वाथ-द्रव्य**

लाक्षा, लोध, रक्तचन्दन, वासकछाल, किसमिस सर्व मिलित दो-तोला, जल आधा सेर, शेष आधपाव, एक तोला मिश्री मिलाकर दिया गया।

**रात्रि में**—वसन्ततिलक रस २ रत्ती, प्रवालभस्म २ रत्ती, सीतोपलादि चूर्ण १॥ माशा, मधु के साथ।

छाती पर लाक्षादि तैल मालिश के लिए दिया गया।

**पथ्य**—बकरी का दूध, बकरे का मांस रस और कलेजी एक वर्ष के पुराने गेहूँ का आटा, परवल, पपीता, भिंडी, तोरई, पोदीना की चटनी आदि घृतयुक्त सागों का सेवन कराया गया।

दिन और रात में भोजन बाद—द्राक्षासव, अमृतारिष्ट और अर्जुनारिष्ट समान भाग मिश्रित कर आधा औंस मात्रा में उतना ही जल मिलाकर दिया गया।

उपर्युक्त व्यवस्था बीसदिन चलने के बाद ज्वर १०२ डिग्री से घट कर नीचे १०० डिग्री तक आ गया। रक्तपित्त के लक्षण २० दिनों में बिलकुल नहीं हुए। रोगी का दो पौंड वजन बढ़ा। परिवारवालों को भी लाभ नजर आने लगा। रोगी को दूध अधिक पीने की सलाह दी गई। उसे १॥ से ऽ२ सेर तक दूध दिया जाने लगा।

एक महीने के बाद रक्तपित्त की आशंका नष्ट होने के बाद संध्या समय रक्तपित्तकुलकुठार के स्थान पर कासाधिकारोक्त सर्वाङ्गसुन्दर एक से आधी रत्ती और प्रवाल भस्म २ रत्ती, वासक का स्वरस १ तोला और मधु २ चम्मच मिलाकर दी गई। इसके अलावा उपर्युक्त दवाइयाँ जारी रखी गईं। दूसरे महीने के अन्त में ज्वर नीचे ९९ तथा ऊपर ९९ तक जाने लगा। खाँसी भी कम हो गई। बल-वर्ण की वृद्धि भी हुई और भूख भी बढ़ने लगी।

उपर्युक्त व्यवस्था एवं विश्राम जारी रखा गया। चार महीने के अन्दर ज्वर बिलकुल छूट गया तथा खाँसी भी साधारण-सी रह गई। चार महीने के बाद निम्नलिखित व्यवस्था जारी की गई—

**प्रातःकाल**—स्वर्णवसन्तमालती—एक से आधी रत्ती, शृङ्ग भस्म १ रत्ती, प्रवालभस्म १ रत्ती, सीतोपलादि चूर्ण १॥ माशा, मधु के साथ।

दोबार खाने के बाद द्राक्षासव आधा औंस उतने ही जल से दिया गया।

**शामको**—वसन्ततिलक रस १ गोली, प्रवालभस्म २ रत्ती, सीतोपलादि १॥ माशा मधु के साथ।

दूध के साथ च्यवनप्राश ६ माशे की मात्रा में दिन-रात में दो बार दिया गया।

इस प्रकार रोगी की छः महीने तक चिकित्सा की गई। तीसरे महीने में थूक परीक्षा करने पर कीटाणु बिलकुल नहीं आये। पाँचवें मासमें एक्स-रे फोटो में घाव के चिह्न दूर हो गए थे। फेफड़ा साफ हो गया था। इसके बाद संयम से रहने, अधिक परिश्रम न करने तथा ब्रह्मचर्य का पालन करने एवं पुष्टिकारक भोजन जारी रखने की सलाह दी गई। औषधियों में केवल च्यवनप्राश १ तोला दूध के साथ और दोबार भोजन के बाद द्राक्षासव आधा औंस उतने ही जल से दिया गया, जो २ महीने तक जारी रखा। यह व्यक्ति आजतक पूर्ण स्वस्थ है। वह बीच-बीच में च्यवनप्राश का सेवन करता रहता है।

---

शेषांश ]

**क्षय की अचूक औषधि लहसुन**

[ पृष्ठ १३२ का

क्षय रोग को अधिक गहरा घर करने से लहसुन रोकता है। शरीर सूख रहा हो, तो इसके योगों का नियमित सेवन आरम्भ कर देना चाहिए। कृशता में असगंध के चूर्ण के साथ सेवन कराते हैं। कश्यप संहिता का इन्द्राणी घृत, क्षयी के भोजनों में सम्मिलित कर देना चाहिए। लहसुन को कुण्डी-सोटे से कुचल और गाय के घी में मिलाकर बन्द हाण्डी में एक साल तक धान के ढेर के अन्दर दवा देते, फिर इसे क्षय के रोगी को चार-छः या आठ महीने तक (रोग की जड़ निकल जाने तक) निरन्तर सेवन कराते हैं। क्षय के सब लक्षणों को दूर करके यह क्षय रोगी को सर्वथा नीरोग करता है। मिनचिन (१९१९) ने क्षय की अवस्थाओं में लहसुन-योगों के प्रयोग के लिए बहुत जोर दिया है। उनके अनुसार लहसुन सब प्रकार के क्षयी व्रणों में, उनकी बढ़ी हुई अवस्था में या जब उनके बढ़ जाने की सम्भावना हो, तब भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

# राजयक्ष्मा में नागबला

वैद्य बापालाल भाई

देश में राजयक्ष्मा का प्रसार अत्यन्त बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में 'राजयक्ष्माङ्क' की प्रवृत्ति अवश्य आदरणीय है।

चरक में **नागबला-रसायन** (रसायनाध्याय, द्वितीय पाद) का पाठ प्रसिद्ध है। क्षतक्षीण-चिकित्सा (च० चि० ११।९१-९२) में भी नागबला का प्रयोग उपदिष्ट है। इस नागबला के विषय में वैद्यों में मतभेद है। कोई भूमिबला (फरीद बूटी) को नागबला कहते हैं, कोई गाङ्गेरुकी (गंगेरन) को। चरक में नागबला-रसायन में नागबला के मूल ला, भलीभाँति धो, स्वच्छ कर, ऊपर की त्वचा ले, उसे पीसकर पीने का विधान है। इस विधान से तो गंगेरन (गुजराती--गजेटी, गंगेटी) ही नागबला होनी चाहिए। भूमिबला के मूल तो कनिष्ठिका से भी पतले होते हैं। इनके ऊपर की त्वचा उतारी जा सके, ऐसी नहीं होती।

आचार्य यादवजी भाई भागीरथ स्वामीजी के मत का समर्थन करते हुए भूमिबला को ही नागबला कहते हैं। (देखिए : द्रव्यगुण-विज्ञान, द्वितीय खण्ड, पृ० ११६)। 'नाग इव वलते संचलति' यह निरुक्ति (व्युत्पत्ति) देते हुए नाग के सदृश भूमिपर फैलनेवाली होने से भूमिबला को ही वे नागबला मानते हैं। भूमिबला का अतिशय विस्तार मेरे देखने में नहीं आया। इस नागबला के मूल का उपयोग किन्हीं वैद्य ने किया हो, तो वे इस पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं।

मैं तो अपने गुरु स्व० श्री अमृतलाल प्रा० पट्टणी (पाटण आयुर्वेदिक कॉलेज के प्रथम प्रिंसिपल; लींबडी राज्य के राजवद्य) और वनस्पतिशास्त्री जयकृष्ण इन्द्रजी की पद-पद्धति का अनुसरण करता हूँ। जयकृष्ण भाई ने गंगेरन को नागबला माना है। यादवजी भाई ने गङ्गेरन (गाङ्गेरुकी) का वर्णन पृथक् किया है और कहा है (पृ० १२० पर) : "सुश्रुतोक्त गाङ्गेरुकी (वृक्ष) तथा गाङ्गेरुक (फल) यही है। पीछे के निघण्टुकारों ने गाङ्गेरुकी और नागबला को एक लिख दिया है, वह ठीक नहीं है।"

सुश्रुत ने धन्वन के फल के गुण लिखकर कहा है— "तद्वत् गाङ्गेरुकं विद्यात्" (सू० ४६)—गाङ्गेरुक के गुण भी ऐसे ही समझें। धन्वन (ग्रीविआ टिलिफोलिआ) और गंगेरन (ग्रीविआ पॉप्युलीफोलिआ) सहोदर भगिनियाँ हैं--एक ही वर्ग, एक ही कुटुम्ब और समान गुण वाली वनस्पतियाँ हैं। गंगेरन के मूल के समान धन्वन (गुजराती—धामण) के मूल सद्यश्छिन्नगात्रव्रण के पूरण हैं, यह अपना अनुभव मैंने अपने निघण्टु आदर्श में दर्शाया भी है।

भूमिबला (सिडा वेरोनीकीफोलिआ लाम; सिडा हचुमिलिस—पूर्वनाम) कार्पास-वर्ग (मालवेसी) की वनस्पति है। इसके रेशों की दृढ़ता गंगेरन जैसी नहीं होती। गंगेरन का वर्ग (टिलिएसी) अपने पिच्छिल, दृढ़ रेशों के कारण प्रख्यात है। गंगेरन के मूल मैंने खा कर देखे भी हैं।

भूमिबला जांगल या धन्व देश की वनस्पति नहीं है, गंगेरन है। चरक में **"धन्वनि कुशास्तीर्णे स्निग्ध मधुर कृष्णमृत्तिके..."** इत्यादि वर्णन नागबला के प्रकरण में किया गया है। इसका अर्थ है—नागबला जाङ्गल देश में होती है, कुश से व्याप्त भू-भाग पर, कृष्ण, स्निग्ध और मधुर मृत्तिका वाली पृथ्वी पर होती है। नागबला का निर्णय करते हुए इस उल्लेख को दृष्टि में रखना चाहिए।

भूमिबला मुख्यतया चौमासे में ही प्रचुर होती है। गंगेरन बारहों मास हरी रहनेवाली बहुवर्षायु वनस्पति है। भूमिबला प्रायः वर्षायु होती है। गंगेरन के वृक्ष कभी-कभी बढ़कर दस-बारह फुट ऊँचाई तक गए भी देखे जाते हैं। बरडा (पश्चिम-भारत का एक पर्वत) पर गंगेरन के सहस्रों वृक्ष और क्षुप देख पड़ते हैं। इसके मूल बहुत गंभीर (गहरे) होते ह। इसके फल 'शिकारीमेवा'

नाम से प्रसिद्ध हैं। मेवे के रूप में ये खाए जाते हैं, तृषा को भी शान्त करते हैं।

इस विवेचन से मेरे मत से तो गंगेरन ही शास्त्रोक्त नागबला है। मेरे स्व० गुरु श्री ग्रमृतलाल पट्टणी ने क्षय के एक तृतीय ग्रवस्था-प्राप्त रोगी को गंगेरन का ही नागबला नाम से सेवन करा स्वस्थ किया था। यह रोगी हाँसोट का था। मैंने भी ग्रपना व्यवसाय इसी ग्राम में प्रारम्भ किया था ग्रौर वहाँ इस रोगी के मुख से यह बात सुनी थी। गुरुमुख से भी इसका समर्थन कराया था। तभी से मेरा दृढ़ प्रत्यय हो गया था कि गंगेरन ही नागबला है। जयकृष्ण भाई से इस प्रत्यय की पुष्टि हुई। उसके पीछे मैंने भी इसका उपयोग किया है।

यह गंगेरन (गाङ्गेरुकी) ग्रौर नागबला एक ग्रौर ग्रभिन्न हैं। धन्वन्तरि-निघण्टु ग्रौर राजनिघण्टु में भी 'गाङ्गेरुकी नागबला' यही उल्लेख है। गुजरात में गाङ्गेरु की के लिए गंगेटी या गंजेटी नाम ग्राज भी प्रचलित हैं।

मेरे दिवंगत गुरुजी ने इसी नागबला के मूल से क्षय का एक ग्रसाध्यप्राय रोगी स्वस्थ किया था। रोगमुक्त होने के पश्चात् बीस-पच्चीस वर्ष वह जीवित रहा। ग्राज उसके कुटुम्ब में दो-तीन पुत्र-पुत्रियाँ हैं।

संग्रहकार का विधान है: **नागबला क्षयघ्नानाम्**—राजयक्ष्मा के लिए सर्वोत्तम नागबला है। इसके पूर्व चरक ने भी इसका ग्रधोलिखित प्रयोग लिखा है:

"पिबेन्नागबलामूलमर्धकर्षविवर्धितम्।
पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक्॥
एष प्रयोगः पुष्टचायुर्बलारोग्यकरः परः॥"

—नागबला के मूल ला, सम्यक् शुद्ध कर ऊपर की त्वचा उतारें। काष्ठभाग छोड़ दें। त्वचा को शिला पर सूक्ष्म पीस, कल्क होने पर दूध में मिला, पी लें। प्रथम दिवस मूलत्वक् ग्राधा तोला लें। प्रतिदिन ग्रर्ध कर्ष बढ़ाते जाएँ। एक पल (४ तोला) तक वृद्धि करें ग्रौर उतनी ही मात्रा स्थिर रखें। प्रयोग-काल में ग्रन्न का सेवन न करें, केवल गो-दुग्ध लें। दुग्ध यथाशक्ति ग्रधिक प्रमाण में लें।

चरक के टीकाकार चक्रदत्त ने भी ग्रपने चिकित्सा-ग्रन्थ (चक्रदत्त) में लिखा है—

"घृतकुसुमसारलीढं क्षयं क्षयं नयति गजबलामूलम्।"

—नागबलामूल का सेवन विषम प्रमाण में गृहीत घृत ग्रौर मधु के ग्रनुपान से करने से क्षय नष्ट होता है।

बरडा जामनगर के समीप है। उसपर नागबला (गाङ्गेरुकी) प्रभूत होती है। सेंट्रल ग्रायुर्वेदिक रिसर्च इंस्टीटयूट में इसके मूल का राजयक्ष्मा पर व्यवहार कर देखना चाहिए। नागबला का कषाय मधुर रस कफ को सर्वथा न्यून कर देता है। एंटीबायोटिक्स के इस युग में वैद्य-समाज यदि नागबला को क्षयघ्न सिद्ध कर सके तो यह ग्रायुर्वेद की ग्रोर से विश्व को मूल्यवान् उपहार होगा। इंस्टीटयूट के डाइरेक्टर लब्धप्रतिष्ठ डॉ० प्राण जीवनदास भाई से मैं विनती करता हूँ कि वे क्षय के रोगियों को, ग्राधुनिक साधनों से क्षय है यह सिद्ध कर बरडा में प्रभूत प्रमाण में प्राप्य नागबला के मूल-त्वक् का उपयोग करा देखें ग्रौर इस विषय पर नवीन प्रकाश डालें।

सहस्रों विशेषांकों की तुलना में एक यह कार्य उत्तम होगा।

—:o:—

शेषांश ] बालशोष-चिकित्सा [ १३७ पृष्ठ का

इस चूर्ण को इन मुनक्काग्रों में डाल खरल करना प्रारम्भ कर दें। गोली बनाने योग्य होने पर चार-चार रत्ती की गोली बना लें। एक-एक वटी प्रातः-सायं माँ या गाय के दूध से दें।

(५) **तैल**—तिल तैल, भृङ्गराज रस, कुकरौंदा, तथा चिरचिटा रस दो-दो सेर लें। सब को मिला तैल पाक करें। तैल पाक होने पर कूर्मास्थि चूर्ण ग्राधा पाव डाल कर उतार लें। नीचे उतार ग्रफीम तथा तैल चन्दन इस में मिला छान कर रख लें। इस तैल की मालिश दिन में दो बार सारे शरीर में करें।

# फेफड़े के विकार, राजयक्ष्मा और कफ-खाँसी के लिये

# बैद्यनाथ च्यवनप्राश




इस महारसायन के सेवन से धातुदौर्बल्य, स्वप्नदोष, मन्दाग्नि आदि रोग नष्ट होते हैं एवं शरीर हृष्ट-पुष्ट और बलवान होता है।




TRADE MARK

## श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता - पटना - झाँसी - नागपुर

# बालशोष-चिकित्सा

वैद्य शिवकुमार व्यास, आयुर्वेदाचार्य

बालशोष कई कारणों से होता है! चिकित्सा करने से पूर्व इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोग का मुख्य कारण कौन-सा है! उस कारण के अनुसार ही चिकित्सा करनी चाहिये। जो कारण मुख्य होते हैं उसको प्रथम समाप्त करने की योजना बनानी पड़ती है और इस के उपरान्त दूसरे कारणों की ओर ध्यान दिया जाता है। इसका संक्षेप में वर्णन लिखा जा रहा है।

जिस बालक को माँ के दूषित दूध से शोष हो गया हो या होने की सम्भावना हो, तो दुग्ध-शुद्धि के लिए निम्न उपाय करना चाहिए——सोंठ, कड़वा परवल, छोटी पीपल, तीनों सम भाग ले चूर्ण कर तीन-तीन माशा सवेरे, शाम शहद से चटावें। इसके सेवन से कुछ समय में दूध शुद्ध हो जाता है। बच्चे की माँ को उर्द की दाल आदि गरिष्ट भोजन दधि आदि पिच्छिल पदार्थ तथा दिन का सोना आदि बन्द कर देना चाहिये। मूँग, मसूर की दाल, गेहूँ की रोटी साँठी चावल, गाय तथा बकरी का दूध सेवन करना चाहिए। गर्भवती माँ का दूध बच्चे को न देना चाहिए। इस के स्थान पर गाय या बकरी का——जो गर्भवती न हो, दूध देना चाहिए। जो बालक माँ के दूध पर आश्रित हो और माँ को थोड़ा ही दूध होता हो तो बच्चे की माँ को दुग्ध वर्धन के लिए दुग्ध, घी, मधुर तथा पतले अन्न-पान का सेवन कराना चाहिए। जो मांस का सेवन करती हों, वे मांस का भी प्रयोग करें।

बालक को पौष्टिक पदार्थ मिलने चाहिए। इस प्रकार का आहार जिस में कैल्शियम हो, देना अच्छा है। बच्चों को शीघ्र-पाकी पदार्थ देना चाहिए, जिस से रस आदि बने और बल बढ़े तथा रोग आक्रमण न कर सके। शिशु को नियमितरूप से आहार देना चाहिए, ताकि उसकी अग्नि मन्द न हो जाए। उसके खान-पान का समय निर्धारित हो और एक बार कुछ खाने-पीने को दे देने के बाद कम-से-कम चार घंटे के बाद दोबारा कुछ देना चाहिए। बालक को भूमि पर थोड़ा बहुत खेलने देना चाहिए, जिस से वह हाथ-पाँव चलाकर कुछ व्यायाम कर सके। यदि बालक रोवे, तो उसे रोने देना चाहिए। इस से उसे किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं होती। अस्तु, इस प्रकार उपर्युक्त नियमों का पालन करने से शोष रोग नहीं होता और यदि वह पहले से हुआ हो तो समाप्त होने लगता है।

चिकित्सा-क्रम के पश्चात् अब पाँच योगों का उल्लेख किया जा रहा है, जो बाल-शोष की चिकित्सा में प्रयोग किए जाते हैं।

(१) **रस**——समान भाग पारद-गंधक की कज्जली में चौथाई भाग सोनामक्खीभस्म मिला खरल में डालें। फिर केशराज (भृंगराज) तथा निर्गुण्डी के स्वरस से मर्दन करें। गोली बनाने योग्य होने पर राई के समान गोली बना लेवें। दिन में दो बार एक-एक गोली पान के रस के साथ खिलावें।

(२) **रस**——प्रवाल भस्म, मुक्ताशुक्ति भस्म, शंख भस्म, कौड़ी भस्म, कूर्मास्थि भस्म तथा गोदन्ती भस्म क्रमशः १, २, ३, ४, ५ तथा ६ तोला लें। सब को मिला नींबू के रस में मर्दन कर २-२ रत्ती की गोली बना लें। प्रातः और सायं एक-एक वटी दूध के साथ दें।

(३) **वटी**——अतीस, काकड़ासिंगी, पीपल, नागर मोथा, बच, तुलसीबीज, गिलोय सत्त्व तथा केशर प्रत्येक समान भाग लें और कूट कर कपड़ छान चूर्ण कर लें। इसे चूने के पानी से एक पहर तक खरल करें। अब आधी-आधी रत्ती की गोलियाँ बना शहद के साथ दिन में तीन बार दें।

(४) **वटी**——कछुए की खोपड़ी, घोड़े का जला हुआ खुर, पीपल की जटा, पवाड़ के बीज, बकरी की जली हुई सींग, जलाया हुआ केकड़ा तथा अजवायन देशी——ये सातों चीजें २।।-२।। तोला ले प्रत्येक को कूट-कपड़छान कर लें। फिर बीज निकाली हुई आठ तोला मुनक्का लेकर——

(शेषांश १३६ पृष्ठ पर)

# राजयक्ष्मा और प्राणिज ओषधियाँ

कविराज हरिकृष्ण सहगल, आयुर्वेदाचार्य

राजयक्ष्मा की चिकित्सा में दो-पायो (द्विपद) में वानर का औषध रूप में प्रयोग होता है। चौपायों में ऊँट, गधा तथा मारखोर बकरी का प्रयोग होता है। जांगल जीवों में कण्टमूषक (सेह) और पक्षियों में मयूर, नीलकण्ठ, चकोर, तीतर, बटेर, हुदहुद, बुलबुल, राजहंस, और सारस का मांस-रस तथा उनके अण्डे व्यवहृत होते हैं। जलचरों में कॉड और शार्क मछली, केंकड़ा, कछुआ तथा शुक्ति-मांस उत्तम है। भूमि में निवास करने वालों में सर्प का मांस विशेष स्थान रखता है।

**ऊँट**

यूनानी चिकित्सकों के मतानुसार राजयक्ष्मा के रोगियों के पथ्य में ऊँट का मांस हितकर है। अरब देश में इसका विशेष प्रयोग होता है।

**गधा**

गधी का दूध १ से २ छटाँक तक प्रतिदिन पीने से चालीस दिन में यक्ष्मी को अवश्य लाभ होता है। यूनानी चिकित्सकों के मतानुसार गर्दभ के कान पर जोंक लगवावें और पाँच-छः बिन्दु रक्त लेकर वर्षा के जल में मिला कर, ३–५ दिन तक पिलाने से यक्ष्मी को लाभ पहुँचा है।

**मारखोर**

मारखोर एक सर्पभक्षक पहाड़ी बकरा है, जो काश्मीर के बर्फीले स्थान में होता है। जैसे सर्प-खाद से तैयार गन्ने का रस यक्ष्मी को लाभ करता है, ठीक उसी प्रकार इस सर्प-भक्षी बकरे का मांस-रस यक्ष्मी के लिये हितकर है। मांस-रस तीन प्रकार का होता है—अच्छतर, तनुक और घन। एक पल मांस को दो प्रस्थ जल में पकाने को **अच्छतर**, छः पल मांस को आठ सेर जल में पकाने को **तनुक** और बारह पल मांस को २ सेर पानी में पकाने को **घन** कहते हैं। पकाने में जल चौथाई भाग शेष रखा जाता है। मारखोर के मांस को पालक में पकाकर खिलाना तथा इसके हृदय का अर्क पिलाना भी लाभदायक है।

**बकरी**

"अजाक्षीरं शोषघ्नस्तन्यसात्म्यमरक्त संग्राहिक रक्त-पित्त प्रशमनानाम् (च० सू०)।।" अर्थात् यक्ष्मा को हरनेवाले, रक्त को रोकनेवाले एवं रक्त-पित्त के प्रशमन करनेवाले द्रव्यों में अजाक्षीर सर्वोत्तम है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार अजादुग्ध अडूसे के गुणों के बराबर है।

राजयक्ष्मा में आधा पाव उबला गरम दुग्ध, एक तोला मधु एवं छः माशा घृत का पान उत्तम पथ्य है। राजयक्ष्मा-चिकित्सा में शास्त्रवर्णित छागलाद्य घृत बहुत उत्तम औषध है।

**अजापंचकघृत**—बकरी का दुग्ध, दही का मट्ठा, मूत्र और लेंडी प्रत्येक समभाग लेकर उसकी चौथाई भाग बकरी का घृत और घृत का चतुर्थांश यवक्षार डालकर सबको पकाना चाहिये। सब जल जाने पर जब घृत मात्र शेष रहे, उसे छानकर उपयोग में लावें। संहिताओं में यह अजापंच-घृत के नाम से यक्ष्मा के लिये आया है। अकेला बकरी का घृत गव्य घृत की अपेक्षा यक्ष्मी को अधिक लाभ करता है।

यक्ष्मी के लिये प्रयुक्त की जानेवाली अभ्रक भस्म को बनाते हुए अभ्रक को १०० बार बकरी के रक्त से भावित कर, पुट देकर भस्म करने का आदेश 'रसेन्द्र-सार-संग्रह' में है। बकरी-रक्त के स्थान पर गधी का रक्त भी काम दे सकता है।

रावणकृत पुस्तक 'अर्क प्रकाश' में क्षयरोग में बकरे के हृदय तथा बकरी के दूध के अर्क का देना लिखा है। 'कश्यप-संहिता' में महायूष में मांस डालने का विधान है। 'भावप्रकाश' में षडङ्गयूष का योग निम्नोक्त प्रकार से लिखा है—जौ छिलके रहित ४ तोला, कुलथी ४ तोला, बकरे का मांस १६ तोला, पानी अढ़ाई सेर।

**विधि**—मिट्टी के पात्र में उबालें, चौथाई रहने पर छानकर रख लें। फिर दूसरे बर्तन में ४ तोला बकरी का घृत डालकर इसे छौंक दें। फिर उसमें सेंधा नमक १ तोला




और हींग अल्प मात्रा में, आँवला १ माशा, सोंठ ६ रत्ती पानी से खूब पीस कर डाल दें। पकने पर छानकर रोगी को दें। बकरी की लेंडी का धूम्र भी यक्ष्मी के लिये लाभदायक है।

### वानर

बानर के मांस का रस आयुर्वेद की दृष्टि में वात-नाशक है। इसका प्रयोग 'भाव-प्रकाश' में वात-नाशक तैल में आया है। वानरों में साधारण बानर से लंगूर और लंगूर से बढ़िया गुरीला को माना जाता है।

"कपिपलमेवसुचूर्णितम् पयसा नित्यं देहि।
क्षय शमनं नहियत्परं सुश्रुत लिखितमेवेहि।।"

अर्थात् बन्दर का मांस सुखाकर, चूर्ण बनाकर, दूध के साथ लेने से क्षयरोग दूर होता है।

### सेह ( सह्लकी )

सेह को हिन्दी में कण्टमूषक कहते हैं। सेह साँप का आखेट करके उसका भोजन करती है। इसकी भस्म और मांस-रस राजयक्ष्मा में लाभ करता है।

### नीलकण्ठ

नीलकण्ठ सर्प-शत्रु है। इसका मांस-रस यक्ष्मी के लिये बहुत हितकर है। आयुर्वेद-मतानुसार यक्ष्मा-चिकित्सा में रोगी को प्रथम स्नेह-स्वेद करना चाहिये। पश्चात् शोधन करके औषध देना चाहिये। यक्ष्मी को साधित घृत दिया जाता है और शास्त्र, घृत को मांसाहारी पक्षियों के मांस से साधित करके देने को कहता है।

यक्ष्मा में भोजनोपरांत घृत-पान की बड़ी महत्ता है। अतः दशमूल घृत का प्रयोग लिखा जाता है। घृत १ भाग, दशमूल क्वाथ ४ भाग, दुग्ध ४ भाग, मांस-रस (मांस से अभिप्राय बकरे का मांस नहीं, बल्कि नीलकण्ठ, हुदहुद, मयूर, मुर्गा, तीतर, चकोर, बटेर, बुलबुल, आदि का मांस-रस है) और बलाचूर्ण चौथाई भाग के साथ घृतपान करें।

क्षत-क्षीण की चिकित्सा में अमृतप्राश घृत को निर्माण करते हुए मांस-रस के स्थान पर उपर्युक्त पक्षियों के मांस रस डालने से ही लाभ होता है। शास्त्र क्रमिभोजी पक्षियों के मांस-रस से घृत को साधित करने की आज्ञा देता है।

### मयूर

हमारे ऋषियों ने जब महामयूर घृत का योग निर्माण किया, तो निश्चय ही उनकी दृष्टि में मयूर का भोजन सर्प था। महामयूर घृत के गुण इस प्रकार लिखे हैं कि इसके नस्य, पान, बस्ति और अभ्यंग से सम्पूर्ण शिरोरोग कास, श्वास, मन्याग्रह, पृष्ठग्रह, शोष, स्वरभेद, अर्दित, योनिरोग, रक्तदोष, शुक्रदोष दूर होते हैं तथा ऋतुस्नाता-बन्ध्या भी पुत्र जनने लगती है।

मृत सर्प को भूमि में गाड़ कर, उसपर गन्ने उपजा कर, उन्हें चूसने से अगर राजयक्ष्मा का रोगी यक्ष्मा से मुक्त हो सकता है, तो क्या वह सर्प-मांस-भक्षी मयूर के (सेह व नीलकण्ठ आदि के भी) मांस-रस-सेवन द्वारा राज-यक्ष्मा से मुक्त न होगा? क्या कॉडलिवर आयल से मयूर-मांस-रस साधित घृत अधिक हितकर न होगा? लाक्षादि तैल के निर्माण-काल में उसमें मयूर-रक्त डालने से वह तैल शीघ्र यक्ष्मी के फुफ्फुस के व्रणों को नहीं भर देगा? द्राक्षासव-निर्माण-काल में उसमें मयूर-मांस डालने से उसके गुणों में वृद्धि न होगी? मयूर-अस्थि-भस्म को सितोपलादि चूर्ण में मिलाकर देना क्या लाभप्रद नहीं होगा?

### राजहंस

राजहंस का मांस बल-वीर्य को बढ़ाने तथा मांस-पेशियों को पुष्ट करनेवाला है। इसके मांस के सेवन से पक्षाघात, क्षय, अर्दित आदि रोग दूर होते हैं। राज-हंस व सारस के अण्डे केवल पुरुषत्व शक्ति ही उत्पन्न नहीं करते, बल्कि राजयक्ष्मा की खाँसी और ज्वर को भी दूर करते हैं। आमतौर पर सेनेटोरियमों में यक्ष्मियों को दिन में एक-दो मुर्गी के अण्डे भोजन में दिये जाते हैं। प्राचीन काल में जब बाजीकरण के लिये राजहंस व सारस के अण्डों को देने का रिवाज था, तभी यक्ष्मियों को भी भोजन में इनके अण्डे दिये जाते थे। आज आस्ट्रेलिया ही एक ऐसा देश है, जहाँ अण्डों के लिये राजहंसों को पाला जाता है। हमारे देश में मुर्गीखाने तो बेशक ही बन गये हैं, मगर अभी तक राजहंस और सारस पालने के फार्म नहीं बने।

## कॉड लिवर ऑयल

कॉड लिवर ऑयल कॉड नामक मछली के यकृत् से बनता है। युद्ध-काल में कॉड लिवर ऑयल के प्राप्त न होने से अन्य मछलियों के यकृत-तैलों पर अनुसन्धान किये गये, तो मालूम हुआ कि शार्क मछली के यकृत् में भी यह तैल है। शार्क मछलियाँ भारतीय समुद्रों में पाई जाती हैं। यह श्वेत और कृष्ण दो वर्ण की होती हैं। श्वेत की अपेक्षा कृष्ण शार्क में तैल अधिक मात्रा में होता है। कभी-कभी इसमें ८०-९० पौंड तक तैल निकल आता है। इस मछली का शिकार मांस के लिये नहीं, बल्कि इसके यकृत्-तैल के लिये किया जाता है।

कॉड लिवर ऑयल में वसा २८.०० होती है। इसका ऊष्मांक २५२ है। 'काश्यप-संहिता' में मीन-तैलों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। बच्चों के फक्क रोग, अग्निमांद्य, तथा क्षीणता दूर करने के लिये 'काश्यप-संहिता' में मीन-तैल देने का आदेश मिलता है।

## कर्कट (केकड़ा)

यक्ष्मा के नाम के श्रवण मात्र से ही मनुष्य-शरीर में कँपकँपी आने लगती है और केकड़े का नाम सुनते ही यक्ष्मा के कीटाणु मरने लगते हैं। इसे कोषस्थ माना गया है। शास्त्र यक्ष्मा में वातज दोष-वृद्धि होने पर जलचरों के मांस का आहार-रूप में उपयोग उत्तम मानता है। केकड़े का मांस-रस आहार में तथा उसकी अस्थि की भस्म औषध के रूप में सितोपलादि चूर्ण के साथ बहुत प्रशस्त है। इसकी अस्थियों का कैल्शियम सर्वश्रेष्ठ कैल्शियम है।

यूनानी मतानुसार केकड़े का मांस, यव के साथ पका कर उसका रस पिलाने से सिल और दिक दूर होते हैं। यूनानी चिकित्सक इसकी भस्म की गोलियाँ कुर्स सरतान के नाम से यक्ष्मा रोगियों को खिलाते हैं। सर्व प्रकार के यक्ष्मा के लिये एक उत्तम योग इस प्रकार है—एक सौ केकड़ों को एक हाँडी में भरकर उसका मुँह इस प्रकार बन्द करें कि वे उसे काट न सकें (वायु-प्रवेश के लिये रास्ता रहने दें)। उसे लगभग एक मास तक रखा रहने दें। इनमें से एक या दो बच जायँगे, बाकी सब लड़-झगड़कर एक दूसरे के भक्ष्य होते जावेंगे। बचे हुए दो-एक को हाण्डी में बन्दकर गजपुट में फूँक दें तो, पीला-गुलाबी रंग लिये भस्म तैयार होगी।

**मात्रा और अनुपान**—कर्कट भस्म १ रत्ती, अभ्रक भस्म सहस्रपुटी आधी रत्ती, स्वर्ण भस्म २ चावल, सितोपलादि चूर्ण १ माशा मिलाकर, ३ माशा शहद और ६ माशा मक्खन के साथ चटाकर ऊपर से गधी का दूध पिलावें। अभाव में अजादुग्ध या गोदुग्ध दें। इससे सब प्रकार के यक्ष्मा में लाभ होता है।

## केकड़े का अर्क

धोकर साफ किये हुए मृत कर्कट ८० तोला, अडूसा के पत्र ३० तोला, बनफ्शा २ तोला, गावजबाँ २ तोला, मुलेठी २ तोला, खूबकलाँ ५ तोला, कासनी २ तोला, चिरायता ३ तोला, खश ३ तोला, काहू ३ तोला, नीम पर की हरी गिलोय ५ तोला, तुलसी २ तोला, नीम की अन्तर्छाल १० तोला।

**विधि**—सबको रात्रि में चाँदी तथा लौह से बुझाये २-२ सेर जल में, मकोय का एक सेर ताजा रस डाल कर भिगो दें। प्रातः अर्क खींचने के समय केशर और रेग माही भबके के मुख पर पोटली बाँधकर धीमी आँच से ७ सेर अर्क खींच लें। मात्रा—१ छटाँक से २ छटाँक तक, शर्बत बासा २ तोला डाल कर पिलावें।

## कछुआ

कछुए का मांस १ छटांक और चार आना भर छोटी इलायची इन्हें २ सेर पानी डाल कर धीमी-धीमी आँच पर पकायें। आँच कंडे की हो तो अच्छा है। जब आध पाव रस बच जाय, तो रोगी को पिला दें। इस कच्छप-मांस-रस से मांस और बल बढ़ते हैं। ज्वर दूर होकर क्षय का नाश होता है। शुक्ति का मांस भी उपर्युक्त प्रकार से दिया जाता है।

## सर्प

फ्रांस और इटली में मंडली सर्पों का शोरबा (मांस-रस) यक्ष्मियों को देने की साधारण प्रथा थी। सर्प-खाद से उत्पन्न गन्नों का रस चूसने से हजारों यक्ष्मी स्वास्थ्य लाभ कर चुके हैं। चीन, जापान, स्याम आदि देशों में सर्प-मांस खाने का आम रिवाज है। जहाँ सर्प-मांस खाया जाता है, वहाँ यक्ष्मा बहुत कम होता है।

—:o:—

# राजयक्ष्मा-नाशक कुछ सुप्रसिद्ध सिद्धौषधियाँ

वैद्य सभाकान्त झा, शास्त्री

आयुर्वेद में राजयक्ष्मा की प्रत्येक अवस्था में प्रयोग करने योग्य अनेकानेक औषधों का उल्लेख है। यदि उन सब दवाओं का संकलन यहाँ किया जाय, तो स्वतन्त्ररूप से एक पुस्तक ही बन जायगा जो शायद पाठकों के लिए भी अरुचिकर होगा। अतएव यहाँ राजयक्ष्मा नाशक उन ही सुप्रसिद्ध शास्त्रोक्त औषधों का उल्लेख किया जायगा, जिनके नाम-गुण तथा कार्य से वैद्य से लेकर सर्वसाधारण जनता तक परिचित हैं।

चूँकि उल्लेख्य औषधें शास्त्रोक्त हैं, अतः प्रयोगों के नाम और संक्षिप्त गुण-धर्म मात्र का ही वर्णन किया जायगा. इसके निर्माण विधि तत्तत् पुस्तकों में ही यथा स्थान पाठक देखने का कष्ट करें।

**स्वर्णभस्म**--राजयक्ष्मा के कीटाणुओं के नाश करने की सर्वोत्तम औषध है। यक्ष्मा का यदि प्रारम्भिक अवस्था हो, ज्वरस्ताप विशेष न हो, खांसी शुष्क आती हो, तो गिलोय सत्त्व और सितोपलादि चूर्ण के साथ देने से विशेष लाभ होता है। कफ दूषित हो, तो प्रवाल पिष्टी और शृंगभस्म के साथ दें। कमजोरी नष्ट करने के लिए च्यवनप्राशावलेह के साथ देना अच्छा है। अति हो, तो दाड़िमावलेह के साथ और उरःक्षत हो, तो रक्तस्राव को रोकने के लिए वासावलेह के साथ दें।

जन्तुघ्न और प्रतिविषोत्पादक गुण के कारण सुवर्ण क्षय रोग में बहुत लाभ पहुँचाता है। अतएव आयुर्वेदाचार्यों ने क्षय रोग में स्थान-स्थान पर सुवर्ण के प्रयोगों का उपयोग किया है।

राजयक्ष्मा के प्रथम और द्वितीयावस्था में स्वर्ण का उपयोग अच्छा होता है। जबतक रोग निरोधक-शक्ति का अधिक क्षय न हुआ हो, तबतक सुवर्ण का अच्छा उपयोग होता है।

**अभ्रकभस्म**--मिर्जन्तुकक्षय में उपकारक है। जन्तुजन्य क्षय में सुवर्णभस्म के साथ देते रहने से शक्ति का क्षय नहीं होता, क्षय की प्रथमावस्था में अभ्रक, शृंगभस्म और गिलोय सत्त्व मिलाकर शहद के साथ देने से दाह, जीर्णज्वर, कास और कफ की विकृति आदि विकारयुक्त के साथ क्षयरोग दूर हो जाता है। मन्दाग्नि और जीर्णज्वर हो तो शहद और पीपल-चूर्ण के साथ दें।

अभ्रकभस्म रासायनिक गुणयुक्त होने से धातुपरिपोषण-क्रम को सुव्यस्थित करती है। अतः क्षय, पाण्डु, रक्तपित्त, अम्लपित्त आदि तीव्र और जीर्ण व्याधियों में इसके सेवन से शीघ्र लाभ होता है।

**वज्र (हीरा) भस्म**--हीरा कीटाणुओं को मारने और शक्ति-संरक्षणार्थ अति लाभदायक है। आवश्यकता पड़ने पर सुवर्णभस्म के साथ भी दी जाती है। अथवा त्रैलोक्य-चिन्तामणि या वसन्तकुसुमाकर (हीराभस्म मिला हुआ) का प्रयोग करें।

**शृङ्गभस्म**--निर्जन्तुक एवं जन्तुजन्य क्षय दोनों में इसका उपयोग होता है। इसके उपयोग से क्षय, कास और ज्वर दोनों दूर होते हैं। इतना ही नहीं, क्षय के कीटाणुओं पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। शृंगभस्म के सेवन से क्षय के कीटाणुओं की वृद्धि रुक जाती है। क्षय की प्रथमावस्था से ही इस भस्म का उपयोग करना प्रारम्भ कर दें तो क्षय रोग आगे नहीं बढ़ सकता। अतः शृंगभस्म क्षय रोग में बहुत उपयोगी औषध है। शृंगभस्म के साथ अभ्रक और सुवर्णभस्म मिलाकर उपयोग करने से अधिकाधिक और शीघ्र लाभ होता है।

**मुक्तापिष्टी**--क्षय रोग में दाह, व्याकुलता, अधिक ज्वर, अधिक प्यास आदि लक्षण हो, तो मोतीपिष्टी देनी चाहिए। क्षय की प्रथमावस्था में मोतीपिष्टी का उपयोग दाहविशिष्ट अथवा पित्तप्रधान लक्षण होने पर किया जाता है। अनुलोमक्षय में रसादि धातुओं के क्रमशः क्षय हो जाने से शरीर कृश और अशक्त हो जाता है। साथ-साथ अतिसार, मुँह में छाले और सम्पूर्ण शरीर में दाह होते हैं। ऐसी स्थिति में मुक्तापिष्टी का उत्तम उपयोग होता है।

इससे दाह आदि कम हो जाता और रसादि धातु पुष्ट होकर शरीर हृष्ट-पुष्ट हो जाता है।

**प्रवालपिष्टी**––क्षय की प्रथमावस्था से लेकर तीसरी अवस्था तक इसका उपयोग होता है। क्षय की प्रथमावस्था जब प्रकट रूप में आती है तब एक समान ज्वर और खाँसी बढ़ने लगती है; रोगी क्षीण होता जाता है, श्वास, कास तथा फुफ्फुसों में पीड़ा आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में प्रवालपिष्टी अच्छा काम करती है। क्षय की द्वितीय या तृतीयावस्था में जब भयंकर ज्वर, कास, उरःक्षत होकर उसमें से रक्त गिरना, पीला-हरा और दुर्गंधयुक्त कफ, सर्वांग में विशेषतः कपाल पर स्वेद आना, बेचैनी, प्यास, रोगी निस्तेज और भयंकर क्षीण हो जाय तो प्रवालपिष्टी को सुवर्णभस्म और गिलोय सत्त्व के साथ सेवन कराने से शीघ्रातिशीघ्र लाभ होता है।

**तालसिन्दूर**––कफघ्न और जन्तुघ्न गुण होने से यह रसायन श्वास, कास और क्षय की प्रथमावस्था या द्वितीयावस्था में फुफ्फुस और स्रोतसों का शोधन और ताप का शमन तथा कीटाणुओं का नष्ट करना इन सब कार्यों में सहायता करता है। ध्यान रखें! क्षय की सूखी खाँसी में इसका अकेला प्रयोग न कर प्रवालपिष्टी मिलाकर प्रयोग करें तथा कफ शुष्क होने पर यदि तालसिंदूर का प्रयोग करना हो, तो शृंगभस्म मिश्री के साथ मिलाकर देने से कफ और कीटाणुओं का शीघ्र नाश होता है।

**सुवर्णमालिनी वसन्त**––इसमें बल्य, क्षयघ्न, कीटाणुनाशक और रक्त-प्रसादन गुण है। किसी भी प्रकार के ज्वर से राजयक्ष्मा हुआ हो, लसिका ग्रन्थियाँ और रसवाहिनियों की विकृति हुई हो, अरुचि, अग्निमान्द्य, मन्द-मन्द ज्वर, प्लीहा-वृद्धि, शुक्र की शिथिलता आदि लक्षण हों, उन सब को शीघ्र शमन करती है।

क्षय की प्रथमावस्था और जीर्णज्वर में सुवर्ण मा० वसन्त, अभ्रकभस्म, शृंगभस्म और सितोपलादि चूर्ण मिला, घी और शहद के साथ दिनभर में तीन मात्रा देने से अच्छा लाभ होता है। कीटाणुजन्य राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था में शारीरिक बल बढ़ाने तथा रोग प्रतिकार क्षमता बढ़ाने का महत्त्वपूर्ण कार्य इसके द्वारा होता है। रोग प्रतिकार क्षमता बढ़ने पर कीटाणुओं का स्वयं नाश हो जाता है। यह कार्य सुवर्णमालिनी वसन्त में विद्यमान सुवर्ण और मुक्ता के योग से होता है।

कफ-क्षय की प्रथमावस्था में शुष्ककास, सूक्ष्म ज्वर, विशेषतः सायंकाल को शारीरिक ताप बढ़ जाना, दिन प्रतिदिन निर्बलता की वृद्धि होना और प्रातःकाल प्रस्वेद आना आदि लक्षण होने पर सुवर्णमालिनी वसन्त से उत्तम लाभ होता है। इसके साथ प्रवालपिष्टी और गिलोय सत्त्व मिला देने से क्षय रोग की अत्युत्तम दवा बन जाती है।

सुवर्णमालिनी वसन्त १ रत्ती, अभ्रकभस्म एक रत्ती, शृंगभस्म १।। रत्ती, ६४ प्रहरी पीपल २ रत्ती, और गिलोय सत्त्व ६ रत्ती लें, इनको एकत्र कर ३ मात्रा बना दिन में तीनवार शर्बत अनार के साथ दें। दोपहर की मात्रा में प्रवालपिष्टी मिला दिया करें। यदि दाह अधिक हो तो प्रातः-सायं की मात्रा में भी प्रवाल पिष्टी मिला दें। इससे यक्ष्मा रोग नष्ट होने में देर नहीं लगती।

**जयमङ्गल रस**––राजयक्ष्मा की प्रत्येक अवस्था में इसका व्यवहार किया जाता है। सुवर्ण युक्त रसायन होने से क्षय को तो दूर करता ही है, साथ ही शरीर को भी पुष्ट कर कान्तिमान बनाता है। राजयक्ष्मा में जब ज्वर का वेग अधिक होने से व्याकुलता तथा दुर्बलता बढ़ जाती है, तब सुवर्ण युक्त अन्य ओषधियों का प्रयोग न कर जयमंगल रस का न्यून मात्रा में निर्भयता पूर्वक प्रयोग करना चाहिये। इसके सेवन से क्षय के कीटाणु और विष दोनों नष्ट हो जाते हैं तथा शारीरिक उत्ताप भी सीमित रहता है।

**बसन्तकुसुमाकर रस**––शुक्र क्षय, रक्तपित्त, प्रमेह, प्रदर, रक्त में विष की वृद्धि, दाह आदि उपद्रवों के साथ राजयक्ष्मा को दूर करता और रस-रक्तादि सातों धातुओं को भी पुष्ट करता है।

अतिव्यवाय शोषी के मनोदौर्बल्य, इन्द्रिय शैथिल्य और शारीरिक निर्बलता बढ़ने पर स्त्री दर्शन मात्र से मन में विकृति, शरीर निस्तेज और जननेन्द्रिय शिथिल हो जाना आदि लक्षण होते हैं। इसमें वसन्तकुसुमाकर के उपयोग से काफी लाभ होता है।

**हेमगर्भ पोट्टली रस**––यह रसायन क्षय, कास, श्वास, कफज संग्रहणी और वातज अतिसार आदि रोगों को दूर करता है। क्षय में विशेष ज्वर (१०१ से ज्यादा)–

न हो, तब देना चाहिये। क्षय रोग की सब अवस्थाओं में इससे लाभ होता है। यह पित्त प्रकोप, मुखपाक, शुष्ककास, अतिसार आदि लक्षणों तथा संग्रहणी सहित या रहित राजयक्ष्मा को दूर करता है और पाचन-शक्ति को बढ़ाता है। उदर में वात प्रकोप हो, पित्त में अम्लता और उष्णता बहुत बढ़ गयी हो, अन्त्र की संधारण-शक्ति निर्बल होगयी हो, तो इस रसायन का उपयोग हितावह होता है।

**लक्ष्मीविलास रस**––(सुवर्ण युक्त) क्षय की प्रथमावस्था में इसके प्रयोग से शक्तिपात दूर होता और रस-रक्तादि धातुओं की शीघ्र वृद्धि हो बल बढ़ने लगता है। क्षय की द्वितीयावस्था में भी इसका अच्छा उपयोग होता है। तृतीयावस्था में बड़े-बड़े उरःक्षत हो जाने के कारण इसका उपयोग नहीं किया जाता, कीटाणु जन्य क्षय में भी इसका प्रयोग होता है। अतिशय रक्तस्राव, शुक्रस्राव, या रजःस्राव होने पर या दीर्घकाल का अतिरजःस्रावरूप विकार होने पर धातुक्षय अधिक होता है, ऐसी अवस्था में लक्ष्मीविलास रस, प्रवालपिष्टी और गिलोय-सत्त्व के साथ देना चाहिये।

**महामृगांक रस**––यह रसायन अनेक प्रकार के उपद्रव सहित क्षय, ज्वर, गुल्म, विद्रधि, मन्दाग्नि, स्वरभेद, कास, अरुचि, भ्रम, मूर्च्छा आदि रोगों को नष्ट करता है। राजयक्ष्मा की सब अवस्था में इस से लाभ होता है। यह मस्तिष्क में शान्ति उत्पन्न करके निद्रा लाता और मानसिक बेचैनी दूर करता है। शरीर में शक्ति बढ़ाकर थोड़े ही दिनों में रोगी को अधिकाधिक लाभ पहुँचाता है।

जिन रोगियों के निद्रानाश, वृक्क-विकृति, वात-वाहिनियों में क्षोभ और शुक्र-क्षय आदि लक्षण हों, उन क्षय रोगियों के लिये यह रसायन अमृत के समान लाभदायक है।

**लोकनाथ रस**––क्षय रोग में उत्पन्न होनेवाली गाँठ, अथवा गाँठ के क्षय में इस रसायन का प्रयोग अधिक होता है। क्षय में उरःक्षत न हुए हों, या क्षय अधिक बड़े न हों, फुफ्फुसों में मात्र मोटापन और जड़ता आदि हो, कफ दोष का प्राधान्य हो एवं कास, अरुचि, मन्दाग्नि, मुंह से लार गिरना, कण्ठ बैठ जाना, गला जकड़ जाना आदि लक्षण होने पर लोकनाथ रस से लाभ होता है।

**पंचामृत रस**––इस रसायन के सेवन से राजयक्ष्मा के ज्वर आदि विविध लक्षणों का निवारण होता है, इसका उपयोग कीटाणुजन्य क्षय में ज्वर का वेग तीव्र होने पर किया जाता है। परन्तु क्षय की प्रथमावस्था में जब ज्वर अधिक हो, तो इस रसायन का प्रयोग न कर अभ्रकभस्म, शृंगभस्म, प्रवालपिष्टी और गिलोय सत्त्व का मिश्रण देना अच्छा है। द्वितीयावस्था में ज्वर का तीव्रवेग होने पर इस रसायन को दें। क्षय में रस-रक्तादि धातुओं का क्षय होकर बल, मांसादि का भी क्षय होने लगता है, रोगी ज्वर से ग्रसित हो जाता और कफ अधिक मात्रा में निकलने लगता है, ऐसी स्थिति में इस रसायन का सेवन विशेष हितावह है।

**योगेन्द्र रस**––अति व्यवाय से उत्पन्न क्षय रोग की प्रथमा और द्वितीयावस्था में दाह होता हो, वीर्य पतला हो गया हो, स्वप्नदोष होता रहता हो, तो इस रसायन के सेवन से क्षय-कीटाणुओं का नाश तथा दाह शमन होता और वीर्य पुष्ट होता है। इसके अतिरिक्त अम्लपित्त, बहुमूत्र, पक्षाघात, उन्माद, मूर्च्छा, अपस्मार, हिस्टीरिया आदि के साथ होनेवाले राजयक्ष्मा में भी लाभ करता है।

**चतुर्मुख रस**––राजयक्ष्मा की यह उत्तम औषध है यद्यपि इस रसायन में सुवर्ण भस्म अन्य द्रव्यों की अपेक्षा कम मात्रा में है, फिर भी ज्वर की तीव्रावस्था में इसके प्रयोग से ज्वर कुछ बढ़ जाता है। अतः तीव्र ज्वरावस्था में इसका प्रयोग कम मात्रा में करें। राजयक्ष्मा की प्रारम्भिक अवस्था में अर्थात् क्षय की आशंका होने पर एवं नेत्र, छाती, पसली, तथा पैर आदि में जलन, बेचैनी, अंग टूटना, कुछ ज्वर सदृश देह सन्तप्त हो जाना आदि लक्षण होने पर इस रसायन का प्रयोग प्रवालपिष्टी के साथ करना चाहिए। परन्तु कफाधिक्य के कारण स्रोतोऽवरोध हो, तो केवल इसी का प्रयोग करें। चतुर्मुख रस देने में दूसरा विशेष लक्षण क्षीणता होनी चाहिए।

राजयक्ष्मा की द्वितीयावस्था में क्षीणता का लक्षण प्रधान रूप से होने के कारण स्वरभेद (ज्वर का वेग तीव्र न हो), सर्वगात्र-क्षीणता, दाह कम होने पर भी असह्य

होना, दस्त पतला और अधिक होना, अन्न में अरुचि, थोड़ा भोजन करने पर भी पेट भारी हो जाना, खाँसी कफ युक्त या सूखी होना, खाँसी के प्रत्येक वेग के साथ क्षीणता की वृद्धि का अनुभव होना, बोलने में भी कमजोरी मालूम दे, हाथ-पांव चलाने में शक्तिहीनता का अनुभव हो, शरीर शिथिल आदि लक्षण होने पर इस रसायन का उपयोग बहुत लाभदायक होता है।

**मकरध्वज**—राजयक्ष्मा की द्वितीयावस्था में जब क्षय के कीटाणु शरीर में व्यापक रूप से अपना प्रभाव जमा लिये हों, रोगी दुर्बल और निस्तेज हो गया हो, ऐसी दशा में मकरध्वज के सेवन से बहुत लाभ होता है। यद्यपि मकरध्वज में सुवर्ण रहने के कारण रक्तवाहिनी नाड़ियों पर इसका उत्तेजक प्रभाव पड़ता है, जिससे रोग कुछ बढ़े हुए मालूम पड़ते हैं। किन्तु, जब रक्त क्रमशः सुवर्ण के प्रभाव को सहन करने लायक हो जाता है और यह दवा भी शरीर में काफी मात्रा में पहुँच कर अपना व्यापक प्रभाव शरीर में फैला देती है, तब क्षय के कीटाणुओं का नाश हो क्षय रोग आराम होने लगता है और रोगी की अवस्था में भी क्रमशः सुधार होने लगता है। मकरध्वज के प्रयोग काल में इतना ध्यान अवश्य रखें कि प्रारम्भ में इसकी मात्रा कम होनी चाहिये अन्यथा ज्वर की गर्मी में वृद्धि हो रोगी बेचैन हो जाता है।

**सितोपलादि चूर्ण**—इसका व्यवहार राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था में विशेष रूप से किया जाता है। इसके उपयोग से सूखी खाँसी गीली होकर रोगी को आराम पहुँचता है। जब रोगी को रात-दिन चैन नहीं पड़ती, खाँसी का वेग बराबर सताता रहता है, ज्वर ९९ डिग्रीतक बढ़ता है, नेत्र में दाह, दौर्बल्य की वृद्धि, मल-विबन्ध, अग्निमान्द्य और शुष्क कास बराबर बढ़ती ही जा रही हो, तो ऐसी दशा में सितोपलादि चूर्ण से अभूतपूर्व लाभ होता है। क्षय की द्वितीय या तृतीयावस्था में भी इसका प्रयोग लाभदायक है।

**लवंगादि चूर्ण**—इसका उपयोग राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था में होता है, विशेषकर आन्त्रक्षय में जब अतिसार बढ़ने लगता है और भूख कम होने लगती है, उस समय इस चूर्ण का प्रयोग किया जाता है। यह श्वसन संस्थान पर भी अच्छा कार्य कर हिक्का, श्वास और कास को दूर करता है। उरःक्षत में भी यह बहुत लाभ करता है।

**एलादि चूर्ण**—इसका उपयोग शुष्क कास, अरुचि, रक्तपित्त तथा यक्ष्मा की प्रथमावस्था में होता है। इसके साथ में यदि मकरध्वज, स्वर्ण या अभ्रक इनमें से किसी एक का भी सम्मिश्रण कर लिया जाय तो यक्ष्मा रोग को नष्ट करने के लिए यह अद्भुत दवा बन जाती है। यह वमन को भी शान्त करता है।

यक्ष्मा की प्रथमावस्था में इसे स्वर्ण-अभ्र और मकरध्वज तथा वंशलोचन-चूर्ण के साथ दें। सूखी खाँसी में—यवक्षार और मधु में मिलाकर दें। रक्तपित्त में—वासास्वरस और मधु में घोंटकर दें।

**च्यवनप्राशावलेह**—क्षय की प्रथमावस्था में यदि केवल धातुक्षीणता ही उसका प्रधान स्वरूप हो और क्षय के अन्यान्य लक्षण उत्पन्न न हुए हों, साधारण कृशता, कमजोरी, एवं कभी-कभी ज्वर हो जाना, थोड़े भी परिश्रम से ज्वर बढ़ जाना, शारीरिक शिथिलता का विशेष अनुभव होना आदि लक्षणों में जो औषध धातु को पुष्ट करे, वही लाभदायक होती है। परन्तु इसमें विशेष उत्तेजक गुण नहीं होना चाहिये। हाँ, धातुओं को निर्मल करने का गुण अवश्य होना चाहिए, क्योंकि क्षीण हुए निःसत्त्व धातु घटकों के शरीर में वैसे ही बने रहने से भविष्य में राजयक्ष्मा की विशेष सम्भावना रहती है। अतः धातु घटकों को निर्मल कर उनमें उत्पादन-शक्ति की वृद्धि करनेवाली रासायनिक औषधें इस अवस्था में विशेष लाभ करती हैं।

एवं गुण विशिष्ट च्यवनप्राश है। इसमें लगभग ४० द्रव्यों का संकलन है, जिनमें प्रमुख द्रव्य आँवला है। शारीरिक धातुओं को स्वच्छ कर उसकी विदग्धता यह दूर करते हुए धातु को भी पुष्ट करता है। आँवला के इसी गुण के सहायक द्रव्य च्यवनप्राश में मिलाये जाते हैं। अतः इस एक ही औषध से क्षय की प्रथमावस्था में काफी लाभ होता है। इनमें सारक गुण होने से जिनका कोष्ठ मुलायम हो उन्हें इसके प्रयोग से २-३ दस्त खुलकर हो जाते हैं। इसकी साधारण मात्रा २-३ तोला है। जिनका कोठा कठिन हो, या जिन्हें मलावरोध की शिकायत हो, उन्हें दिन की अपेक्षा रात्रि को च्यवनप्राश अधिक मात्रा में लेना चाहिये। इससे प्रातः खुलकर दस्त आ जाते हैं।

क्षय की प्रारम्भिक-अवस्था में च्यवनप्राश के साथ मुक्ता भस्म, प्रवाल भस्म, तथा श्रृंगभस्मादिकों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

# मालिश और यक्ष्मा-चिकित्सा

डा० ए० लक्ष्मीपति, बी० ए०, एम० बी० एण्ड सी० एम०, भिषग्रत्न

रोग की चिकित्सा में अंगमर्दन (मालिश) के महत्व का अनुभव करने के पूर्व रोग के प्रति आयुर्वेदिक दृष्टिकोण को स्पष्ट भाव से हृदयंगम करना वाञ्छनीय है।

आयुर्वेद के अनुसार सभी रोगों की चिकित्सा के उपायों को निम्नोक्त चार पंक्तियों में व्यक्त किया जा सकता है—

"संशोधनम् संशमनम् निदानस्य च वर्जनम्।
एतावत् भिषजाकार्यम् रोगे-रोगे यथाविधिः॥

(१) **संशोधनम्**—शरीर से रोग-तत्वों को बाहर निकाल देना।

(२) **संशमनम्**—रोग-तत्त्वों के दुष्प्रभावों से शरीर के तन्तुओं को मुक्त करना।

(३) **निदानवर्जनम्**—रोग के मूल कारणों का उच्छेद करना।

## आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणाली

आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणाली का तीन भागों में प्राथमिक विभाजन किया गया है—

(१) अन्तःपरिमार्जनम् अर्थात् खाद्य एवं औषधों द्वारा आभ्यान्तरिक चिकित्सा।

(२) वहिःपरिमार्जनम् में सभी वाह्य-चिकित्सा, यथा—शारीरिक स्वच्छता और वातावरण की अनुकूलता सम्मिलित है।

(३) शस्त्रपरिविधानम्—शल्य-चिकित्सा, जिसमें मांसदाहक द्रव्यों, जोंक, अग्निशलाका तथा शल्य-यन्त्रों का सुयोग्यता के साथ व्यवहार सम्मिलित है।

## रोग क्या है ?

"रोगास्तु दोषवैषम्यम् दोषसाम्यमरोगता।"

शरीर के तीन धातुओं—वात, पित्त और कफ—का असाम्य होने पर रोग होता है। रोग-जीवाणु तो परवर्ती कारण हैं। वे शरीर के भीतर और बाहर, सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। वे तभी रोग उत्पन्न करते हैं, जब शरीर की रोग-निरोध-शक्ति घट जाती है। शरीर की रक्षा करनेवाले तन्तुओं को धातु कहा जाता है, लेकिन जब वे दुर्बल हो जाते हैं, तो उन्हें दोष संज्ञा दी जाती है।

## रोग के कारण क्या हैं ?

"सर्वेषामेवरोगाणां निदानं कुपिता मलाः।"

सभी रोगों के कारण शरीर में एकत्र दोष या मल होते हैं।


लेखक

प्रायः ४० वर्ष पूर्व, एलेक्सी कैरेल नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने इस तथ्य का पुनराविष्कार व्यावहारिक प्रयोगों द्वारा किया था और उनको नोबेल-पुरस्कार दिया गया था। उन्होंने एक मेढक के हृदय की मांसपेशी का एकांश काटकर उसे उपयुक्त पोषक द्रव्य में रखा। वे प्रतिदिन उक्त मांसपेशी-खण्ड की सफाई करते रहे तथा उसके विकास के लिए उपयोगी पोषक द्रव्यों को भी रोजाना बदलते रहे। इस प्रकार की दैनिक सफाई तथा पोषक द्रव्य-परिवर्तन से उक्त मांसपेशी-खण्ड क्रमशः बढ़ने लगा तथा अनेक वर्षों तक क्लान्ति या वार्द्धक्य के किसी चिह्न के बिना सजीव बना रहा।

आयुर्वेद ने इसी तथ्य का सहस्रों वर्ष पूर्व आविष्कार किया था। आयुर्वेद का कथन है कि रोग, वार्द्धक्य और मृत्यु का कारण सजीव शरीरावयवों में संचित मल-पदार्थों से शरीर का दूषित होना है। अतएव आयुर्वेद ने शरीर के भीतरी और बाहरी अवयवों की पूर्ण स्वच्छता पर हमेशा जोर दिया है। स्नेह और स्वेद विधि तथा पंचकर्म द्वारा रसायन-चिकित्सा शरीर की पूरी सफाई की दिशा में ही एक प्रयास है। इसमें विशेष रूप से अंग-मर्दन द्वारा शरीर की सफाई तथा पुनर्यौवन-प्राप्ति भी सम्मिलित है।

## सम्प्राप्ति-रोगोत्पत्ति के कारण

"कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः स्ववैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते।"
(सु० चि० २४ अ० १०)

रोग की उत्पत्ति धातुओं, दोषों और मलों की विकृत क्रिया से होती है। दोष जब अपने स्रोतसों में अबाध गति से परिभ्रमण करते हैं, तो उनमें विकृति नहीं आती एवं रोग पैदा नहीं होते। किन्तु शरीर में जब विकृत दोष परिभ्रमण करते हैं, तो वे किसी तन्तु में चिपक जाते हैं और उस स्थान पर विकृति पैदा कर देते हैं, जो रोग का प्रथम स्थल बन जाता है। इस प्रकार की बाधा उत्पन्न होने पर शरीरावयवों में अनेक परिवर्तन होते हैं, जो रोग कहलाते हैं।

## रोगों के नाम

विभिन्न रोगों के नाम उनके लक्षण, वर्ण और उद्गम स्थान के अनुसार रखे गए हैं। निम्न तथ्यों का गम्भीरता पूर्वक मनन करने से किसी रोग की साध्यासाध्यता ज्ञात होती है:

"रुजावर्ण समुत्थानम् स्थान संस्थान नामाभिः।"
(च० सू० १६)

(१) रुजा—रोग की साध्यासाध्यता।
(२) वर्ण—रोग का स्वरूप।
(३) समुत्थान—रोग के कारण।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में अधिकतर रोगों के मूल कारण रोग-जीवाणु बताये जाते हैं, किन्तु आयुर्वेद में पोषक तत्त्वों तथा शारीरिक तन्तुओं के साम्य को नष्ट करनेवाले कारणों को प्राथमिक कारण तथा जीवाणुओं को परवर्ती कारण माना गया है।

## यक्ष्मा के प्राथमिक कारण

यक्ष्मारोग की उत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं—

(१) अत्यधिक परिश्रम (साहसम्)।
(२) भोजन की अनियमितता (विषमाशनम्)।
(३) मल, मूत्र और स्वेद के निकलने में बाधा या अनियमितता (वेगसंधारणम्)।
(४) अत्यधिक मैथुन (धातुक्षयम्)।

इन चार कारणों से शरीर की रोग-निरोध-शक्ति का ह्रास होता है और रोगोत्पादक जीवाणुओं को शरीर पर आक्रमण करने का सुअवसर मिल जाता है।

## रोग का स्थान

शरीर में ऐसा कोई स्थल नहीं है, जिसपर यक्ष्मा के जीवाणुओं का आक्रमण नहीं होता हो। शरीर के जिस स्थल पर रोग का आक्रमण होता है, रोग-वृद्धि में उस स्थल का बड़ा महत्व रहता है। सप्तधातुओं में से किसी एक या अधिक में अथवा फुफ्फुस, मूत्राशय या पाकाशय जैसे किसी अवयव में यक्ष्मारोग हो सकता है। यदि यक्ष्मा के जीवाणुओं का रस-धातु में संक्रमण हो, तो अपची या गण्डमाला रोग हो सकता है। रक्त में संक्रमण होने से रक्तपित्त, मांसपेशी में होने से हृदय की पेशी का प्रदाह, अस्थि में होने से अस्थिक्षय, मज्जा धातु (मस्तिष्क तथा स्नायुमण्डल) में होने से मस्तिष्कावरण प्रदाह या फुफ्फुसीय यक्ष्मा होता है।

## रोग की वृद्धि

यदि रोग का स्थान फुफ्फुसों में हो, तो उससे फुफ्फुसीय राजयक्ष्मा की सभी लक्षणों के साथ सृष्टि होती है। रोग की वृद्धि निम्नलिखित विषयों पर अधिकतर निर्भर करती है—

(१) रोगाक्रान्त दोषों की मात्रा,
(२) दूष्यं—रोगाक्रान्त तन्तु,
(३) बलं—रोगी और रोग की क्षमता,
(४) देश—शरीर में रोग का स्थान या जलवायु,
(५) काल—उम्र, रोग की अवधि,
(६) अग्नि—रोगी की पचन-शक्ति,
(७) प्रकृति—रोगी के शरीर का गठन और स्वभाव,
(८) सत्वम्—मानसिक शक्ति,
(९) सात्म्य—व्यक्तिगत आदत,
(१०) आहार—खाद्य और पथ्य।

सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणां तु बालाबलम्।
परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत्।
(च० चि० ८।२८)

सभी यक्ष्मारोग की उत्पत्ति त्रिदोषों से होती है। चिकित्सक को प्रत्येक दोष के बलाबल पर विचार कर चिकित्साक्रम का निर्द्धारण करना चाहिए।

रोग का निदान

रोग का निदान करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है--

(१) क्षय का वह रोगी, जो हमेशा ज्वरग्रस्त नहीं रहता, जो ताकतवर है, जो चिकित्सा-काल के कष्टों को बर्दाश्त करने की क्षमता रखता है, जिसकी पाचन-शक्ति ठीक है, जो संयमी और आत्मवंत है तथा जो दुर्बल नहीं है, वह रोग से मुक्त हो सकता है। यथा--

"ज्वरानुबन्धरहितम् बलवन्तम् क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तम् दीप्ताग्निमकृशंनरम्।"

(२) क्षय का वह रोगी, जो पूर्ण भोजन करने के बावजूद क्षीण होता जाता है, अतिसार से पीड़ित है, जिसके वृषण और उदर सूज गए हैं, वह चिकित्सा के अयोग्य है, क्योंकि उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। यथा--

"महाशनम् क्षीयमाणम् अतिसारानिपीड़नम्।
सूनमुष्कोदरम् चैव यक्ष्मिणम् परिवर्जयेत्।"

(सुश्रुत उत्तर चि० ३१)

(३) रोगी में क्षयरोग के चाहे जितने भी लक्षण उपस्थित हों, यदि वह क्रमशः क्षीण तथा शक्तिहीन नहीं हो रहा हो, तो उसकी चिकित्सा की जा सकती है।

यक्ष्मा में अंगमर्दन

रोगोत्पत्ति के कारणों के सम्बन्ध में आयुर्वेदीय निदान तथा चिकित्सा-पद्धति को भलीभाँति हृदयङ्गम करना औषधि की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। यक्ष्मा साधारणतः एक जीर्ण रोग है और अनेक अवसरों पर अंगमर्दन तथा स्नान द्वारा इसकी चिकित्सा अत्यन्त उपयोगी होती है। वहिः परिमार्जन चिकित्सा की अक्सर आयुर्वेदीय और एलोपैथिक चिकित्सकों द्वारा उपेक्षा की जाती है। अंगमर्दन चिकित्सा वस्तुतः रसायन-चिकित्सा का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। इनमें स्नेह और स्वेद-विधि सम्मिलित है। दूषित कफ द्वारा स्रोतोविबन्ध ही रोग का कारण है और स्वभावतः स्रोतोविकार से रोग दूर होता है। अंगमर्दन स्वतः एक कला है। उत्सादन, संवाहन, केश-मर्दन आदि ६४ प्रकार के कौशल भारत में प्रचलित थे।

अंगमर्दन के लिए निपुणता और धैर्य की आवश्यकता होती है। संरक्षण के अभाव में इस कला का हमारे देश में काफी पतन हुआ है। चिकित्सक भी इतना परिश्रम करने में अपना लाभ नहीं देखता। इसी कारण इसकी इतनी उपेक्षा हुई है। चिकित्सा का एक अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग वहिःपरिमार्जन है। इससे शरीर की रोग-निरोध-शक्ति में वृद्धि होती है। मार्जन का अर्थ सफाई, परिमार्जन का अर्थ पूरी सफाई तथा वहिःमार्जन का अर्थ शरीर के बाहर की पूरी सफाई है। यक्ष्मा के अनेक रोगियों को इस चिकित्सा से मैंने चंगा किया है।

अंगमर्दन-कला और विज्ञान

अंगमर्दन को साधारणतः तीन भागों में विभाजित किया जाता है--

(१) **देहमर्दनम्**--शक्तिवृद्धि और शरीर को सुगठित करने के लिए भारतीय अखाड़ों में यह विधि प्रयुक्त होती है।

(२) **संवाहनम्**--चिकित्साजन्य अंगमर्दन। बिस्तर पर लेटने के समय या बीमार अवस्था में हाथ-पैरों को आराम से दबाया जाता है। पुराने जमाने में भारत के प्रत्येक गृह में यह विधि प्रचलित था।

(३) **केशमर्दनम्**--केशों की सफाई और ताजगी के लिए सिर की मालिश की जाती है।

विभिन्न रोगों की चिकित्सा में अंगमर्दन की विविध विधियाँ उपयोगी हैं। अंगमर्दन-कला की विभिन्न विधियों में से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

(१) **अनुलेपन**--शरीर के सभी भागों में दोनों हाथों से तेल मलने की यह क्रिया है।

(२) **घर्षण**--शरीर के ऊपर-नीचे या अगल-बगल रगड़ने की यह क्रिया है।

(३) **उद्घर्षण**--घर्षण की अपेक्षा अधिक बल या दबाव से रगड़ने की क्रिया को उद्घर्षण कहते हैं। खुजलाहटके स्थान पर इस क्रिया का प्रयोग होता है। इसमें विशेष रूप से निर्मित इष्टिका-खण्ड का उपयोग किया जाता है। विष-प्रभाव के कारण मूर्च्छित या तन्द्रित व्यक्ति को जाग्रत रखने के लिए उद्घर्षण किया जाता है। इससे पसीना, क्लान्ति और प्यास दूर होती है। मृदु उद्घर्षण के पूर्व शरीर पर तेल का लेप कर देना आवश्यक है।

(४) **उत्सादन**--शरीर पर थोड़ा तेल लगाकर

ऊपर-नीचे रगड़ने की क्रिया को उत्सादन कहते हैं। कलाई से कन्धे की ओर और पैर से कमर की ओर अधिक बल के साथ मालिश की जाती है। इससे हृदय में रक्त संचार अधिक होता है।

(५) **उद्वर्तन**--बदन पर उबटन लगाकर हाथ से अच्छी तरह रगड़ा जाता है। इससे मेद घटता, हाथ-पैरों को स्फूर्ति मिलती, चर्म स्वच्छ होता है तथा शरीर में चमक आती है।

**अंगमर्दन की अन्य विधियाँ**

लंतावेष्टन, पीड़न, अँगुलीपीड़न, उद्वेष्टन, मण्डन, परिपीड़न, सन्धिचालन, हर्षण, प्रहर्षण, चेड्यम्, ताड़न, सम्पुटक, वाद्य, आस्फालन, मार्जन, केशमर्दन आदि अंग-मर्दन की विभिन्न विधियाँ हैं और रोग की चिकित्सा में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

(६) **लतावेष्टन**—हाथ-पैरों को लपेट के रूप में मलने की यह क्रिया है। नीचे से ऊपर की दिशा में भीतर से बाहर की ओर मर्दन किया जाता है।

(७) **पीड़न**—मांशपेशियों को हाथ से पकड़ कर खींचने और मलने की यह क्रिया है। इसमें पेशियों को जोर से और धीरे-धीरे सहलाना तथा रगड़ना पड़ता है।

(८) **अवपीडन-प्रपीडन**—इस क्रमशः में जोर से और धीरे-धीरे मुक्की लगायी जाती है।

(९) **उद्वेष्टन**--इस क्रिया में अंगों को अगल-बगल गोलाई बनाते हुए जोर से मलते हैं। हाथ-पैरों के चतुर्दिक् गोलाई बनाते हुए यह क्रिया की जाती है। कंधों, जाँघों और कमर की मालिश इसी ढंग से सर्वोत्तम होती है।

(१०) **मण्डन**—हाथ या पैर को दोनों हाथों से पकड़ कर ऊपर या नीचे रगड़ा जाता है। इसमें मालिश करनेवाले व्यक्ति के हाथ कंधे या कमर से नीचे की ओर तेजी से गुजरते हैं। इससे हाथ-पैरों की पेशियों का संचालन होता है और अंगों में ताकत आती है।

(११) **परिपीडन**--इसमें हाथ-पैरों को खूब जोर से गोलाई में मला जाता है। इससे बदन का दर्द दूर होता और ताकत आती है।

(१२) **सन्धिचालन**--इसमें आकुंचन, प्रसारण और वृंहण भी सम्मिलित है।

(१३) **सन्दसिकम्**--शरीर के किसी भाग के चर्म को अंगूठे और तर्जनी से पकड़कर जोर से दबाते और तुरत छोड़ देते हैं।

(१४) **प्रहरण**--इसका वास्तविक अर्थ घूँसे मारना है। लेकिन इस कला का विशेषज्ञ इतनी कुशलता से घूँसे मारता है, कि बड़ा ही आराम मालूम होता है। मुट्ठी ढीली कर उँगलियों के किनारे से यह क्रिया होती है।

(१५) **चालन**—इसमें उँगलियों से बदन को ऊपर-नीचे रगड़ते हैं।

(१६) **ताड़न**--इसमें हाथ के तलुवों से बदन पर स्पर्शाघात करते हैं।

(१७) **सम्पुटक**--इसमें ढीली-ढीली उँगलियों द्वारा आघात करते हैं।

(१८) **वाद्य**--इसमें उँगलियों के सिरे से अंग पर मृदु आघात करते हैं।

(१९) **आस्फालन**--इसमें हाथों की उँगलियों को इस ढंग से मोड़ लेते हैं कि आघात करते समय तीव्र शब्द निकलता है। इससे स्नायुओं को बल और ताजगी मिलती है।

(२०) **हर्षण**--इसमें उँगलियों के मृदु स्पर्श से बदन में सनसनी और गुदगुदी पैदा करते हैं।

(२१) **मार्जन**--बदन पर मृदु आघात करते हुए दूर तक रगड़ते जाने की यह क्रिया है। इसके दो ढंग हैं: सम्मार्जन और मृदु मार्जन।

(२२) **अभ्यंग**--इसका अर्थ शरीर के किसी या सम्पूर्ण भाग पर तेल लगाना है। इसमें बदन पर तेल लगाकर कुछ देर तक मालिश करते हैं। इसके बाद उबटन लगाकर खूब रगड़ते हैं और गर्म जल से स्नान करते हैं।

(२३) **केशमर्दन**--सिर की मालिश और सफाई की यह विशेष क्रिया है। सिर में तेल लगाकर उसकी विविध प्रकार से मालिश की जाती है।

(२४) **फेनक**--साबुन जैसे फेनिल द्रव्यों से शरीर को रगड़ने की यह क्रिया अभ्यंग का ही एक रूप है। चर्म को स्वच्छ और मुलायम बनाने के लिए यह करते हैं। इसके लिए बेसन का अधिकतर उपयोग

होता है। दूध, दही, आदि का भी उपयोग इसके लिए होता है।

(२५) **अवगाहन**--इसका अर्थ डूब कर स्नान करना है। सिर समेत सारे बदन को पानी या ओषधियुक्त जल में डुबोकर स्नान करना होता है।

(२६) **सेक**--गर्म या ठंडे जल से सारे बदन को रगड़कर पोंछने की यह क्रिया है।

(२७) **परिषेक**--इसका अर्थ बदन पर पानी या सुगन्धित द्रव्य डालना है।

(२८) **स्नेहकर्म**--तेल, गोघृत, वसा या मज्जा का ओषधियों के मिश्रण के साथ शरीर की भीतरी और बाहरी सफाई के लिए उपयोग किया जाता है।

(२९) **स्वेदकर्म**--बदन में पसीना लाने की यह क्रिया है। वात या कफ या वात-कफ प्रधान रोग में यह क्रिया वांछनीय नहीं है। स्वेदकर्म दो प्रकार का होता है--स्निग्धस्वेद और रूक्षस्वेद। चरक ने १३ प्रकार के स्वेदकर्म का उल्लेख किया है।

(३०) **प्रदेह**--प्रदेह का अर्थ ठण्डा या गर्म पलस्तर लगाना है।

(३१) **प्रलेप**--इसका अर्थ चर्म पर पतला लेप लगाना है।

(३२) **आलेप**--यह क्रिया मलहम लगाने के समान होती है।

## आयुर्वेदीय चिकित्सा में मालिश

अंगमर्दन का कौशल सारे भारत में सुविदित है। चरक, सुश्रुत और वात्स्यायन के कामसूत्र में इसका पर्याप्त वर्णन है। वैद्यों को इस कला का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इससे अजीर्ण, दौर्बल्य, मधुमेह, क्षय, रक्तचाप, पक्षाघात, लकवा आदि रोग दूर किये जा सकते हैं। महात्मा गांधी ने इसके गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था।

## राजयक्ष्मा में उपयोगिता

चरक ने वहिःपरिमार्जन द्वारा राजयक्ष्मा की चिकित्सा को विशेष महत्व दिया है।

"वहिः स्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परम् विधिः।
स्नेह क्षीरेऽम्बुकोस्वाभ्यक्तष्ठेतं गाहयेत् ॥
स्रोतोविवन्ध मोक्षार्थम् वलपुष्ट्यर्थमेववा
उत्तीर्णम् मिस्रकैः स्नेहैः पुरनरुक्तैः सुखैः करैः।
मृद्नीयात् सुखमासीनम् सुखं चोउत्सादयेन्न नरम्।"

चरक चिकित्सा ८.१७२-७४

क्षयरोग की चरकोक्त चिकित्सा वस्तुतः आदर्श है। क्षय की सभी चिकित्साओं का एकमात्र उद्देश्य पोषक खाद्य देना और शरीर से रोग-विष का उच्छेद करना है।

त्वचा और त्वग् निम्नस्थ तन्तुओं में उपस्थित रस-धातु अन्य तन्तुओं का नियन्त्रण एवं पोषण करते हैं, अतएव मल, जो क्षय का प्रमुख लक्षण है, रुक जाता है।

"जलसिक्तस्य वर्द्धन्ते यथा मूले-अंकुरास्तरोः।
तथा धातु विवृद्धिहि स्नेहसिक्तस्य जायते।"

सुश्रुत चि० अ० २२

जिस प्रकार पौधा जल-सिंचन करते रहने से बढ़ता है, उसी प्रकार शरीर के चर्म और केश मूल में तैल मर्दन करने से शरीर-तन्तु बढ़ते और ताजगी तथा नवयौवन पाते हैं। इसी कारण उन्हों ने तैल, दूध, और उष्ण या शीतल जल से परिपूर्ण टब में स्नान करने की सलाह दी है। स्नान के पूर्व रोगी के शरीर पर तैल मर्दन कर देना चाहिये। टब में डूब कर स्नान करना चाहिए।

"स्नेहक्षीराम्बु कोष्ठेषु अभ्यङ्गम् अवगाहयेत्।
(चरक चि० ८. अ०)

इस प्रकार के स्नान के दो लक्ष्य हैं: (१) इससे स्रोतसों के अवरुद्ध द्वार खुल जाते हैं तथा (२) रोगी को बल एवं पुष्टि प्राप्त होती है।

"स्रोतो विवन्ध मोक्षार्थम् बलपुष्ट्यर्थमेवच।" चरक

तेल चर्म में प्रविष्ट होकर गन्दगी दूर करता तथा स्रोतसों को खोल देता है, कुछ तैल शरीर में प्रविष्ट होकर पोषण प्रदान करते हैं। दूध से तन्तुओं में कोमलता आती है तथा चर्म को पोषण मिलता है।

स्नान के पश्चात् रोगी के बदन को पोंछ कर पुनः तैल की मालिश करनी चाहिये। क्षय रोगी का अंगमर्दन अत्यन्त मृदु एवं कोमल हाथों से अराम के साथ होना चाहिए।

—०—

# क्षय रोग और सितोपलादि चूर्ण

वैद्य सुरेन्द्रदत्त शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

यक्ष्मारोग, क्षय तथा शोष इन तीनों में भेद रहने पर भी आयुर्वेद-शास्त्र में ये तीनों शब्द एक ही रोग के लिये निश्चित हुए हैं। अनेक कारणों से रसादि धातुओं का क्षय होते रहने को ही शोष कहा गया है, अर्थात रस-धातु का अवरोध होने पर रस-रक्त, मांस-मेद, अस्थि-मज्जा व शुक्र का यथाक्रम क्षय होने लगता है, जिससे मानव-शरीर क्रमशः क्षीण होने लगता है। इसीको क्षयरोग कहते हैं। जराशोष, अध्यशोष तथा शोकजशोष प्रभृति रोगों में भी धातुओं का क्षय होने लगता है। उरःक्षत रोग में फेफड़ों में क्षत यानी घाव होने के कारण खाँसी के साथ रक्त आने लगते हैं, खाँसी में दुर्गंध होने लगती है। परन्तु व्यवाय-शोष रोग में फेफड़ों में वैसे घाव आदि का लक्षण नहीं दिख पड़ता है। वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक यक्ष्मारोग के जो ग्यारह लक्षण कहे गये हैं, उनके प्रकट होने पर वह असाध्य माना गया है। फिर भी माधवकार ने लिखा है—



लेखक

"असंप्रार्श्वाभितापश्च संतापः करपादयोः।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः।।"

अर्थात् जिस मनुष्य के कंधा और पंसुली में पीड़ा हो, हाथ-पैर में जलन पैदा हो तथा शरीर भर में मंद ज्वर बना रहे, यह राजयक्ष्मा का प्रधान तीन रूपवाला लक्षण है।

यक्ष्मा की प्रथमावस्था में रोग का निश्चय करना अति कठिन है, क्योंकि सभी लक्षण तो प्रकाश में आते नहीं हैं। आजकल अधिकांश एलोपैथिक डाक्टर मंद-ज्वर और खाँसी की बाहुल्यता को देखते ही रोगी को राजयक्ष्मा का पूर्वरूप बताकर आधा प्राणविहीन कर देते हैं और एक्सरे, पाखाना और पेशाब तथा थूक की जाँच के झमेले में डालकर रोगी को सचमुच में क्षय रोगी बना देते हैं। हम यह नहीं कहते कि रोगी की भलीभांति जाँच न हो, परन्तु आज तो रक्तपित्त के रोगी को भी क्षय का शिकारी बना दिया जाता है। इसलिए रोगी भयभीत नहीं किये जायँ, इस ओर चिकित्सक समाज एवं सरकार का ध्यान होना बहुत जरूरी है।

अब क्षय की प्राथमिक अवस्था में लेखक द्वारा सितोपलादि चूर्ण से रोगियों पर जो आशातीत लाभ पाया गया है, उस के सेवन का सविस्तार वर्णन दिया जा रहा है। इसे व्यवहार में लाकर स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता।

**सितोपलादि चूर्ण**—मिश्री १६ तोला, वंशलोचन ८ तोला, पीपल ४ तोला, छोटी इलायची के बीज २ तोला और दालचीनी १ तोला लें। इन सभी दवाइयों को अलग-अलग चूर्ण कर कपड़छान करके एकत्र करें, तब मिश्री का चूर्ण मिलाकर बोतल में रख छोड़ें।

**गुण**—यह साधारणतः खाँसी से लेकर क्षयज खाँसी, जीर्णज्वर, मन्दाग्नि, कफ के साथ खून आना, स्त्रियों एवं बच्चों की निर्बलता, गले में जलन और ज्वर आदि की शर्तिया दवा है। सगर्भा स्त्रियों को ३-४ मास तक सेवन कराने से गर्भपुष्ट होता है। इसकी मात्रा ३ से ४ माशे तक है। यह घृत या शहद के साथ सेवन किया जाता है।

क्षय की प्रथमावस्था में जब श्वास-नलिका एवं फुफ्फुसों के कोष-स्थानों में क्षयजन्य कीटाणुओं के विष-प्रयोग से शुष्कता आ जाती है। साथ ही किसी-किसी रोगी को कफ के साथ रक्त भी आने लगता है, रात्रि में नींद नहीं

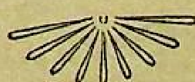
आती है, बेचैनी बनी रहती है, अग्निमांद्य, शारीरिक निर्बलता एवं मूत्र में पीलापन तक ज्वर भी बना रहता है। उस अवस्था में सितोपलादि चूर्ण ४ माशा, प्रवाल-पिष्टी ४ माशा दिन-रात में चार बार गोघृत और शहद के साथ दिया जाय, तो क्षय-कीटाणुओं की वृद्धि में रुकावट आ जाती है और रोग की आरम्भिक अवस्था में भी कमी आ जाती है। साथ ही बल का संचार होने लगता है। यह ध्यान रहे कि राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था में औषध-प्रयोग होने पर प्रायः कफ का बाहुल्य होने लगता है। इसलिये उस समय घबराना नहीं चाहिये, बल्कि सितोपलादि चूर्ण के साथ अभ्रक भस्म, शृंग भस्म और रस-सिन्दूर की मात्रा भी रोग के अवस्थानुसार रोगी को सेवन कराते रहना चाहिये। उस अवस्था में सीरप वासक (अडूसा) के साथ दवा देना चाहिये और भोजनोपरान्त द्राक्षारिष्ट, वासारिष्ट का भी प्रयोग आरम्भ कर देना चाहिये।

**सीरप बासक की निर्माण-विधि**—अडूसे का पंचाङ्ग आधा सेर, छोटी कटेरी (रेंगनी) १ पाव और हिंगोट की जड़ १ छटांक—इन तीनों के पंचाङ्ग को दो सेर जल में अग्नि पर पकावें। जब आधा जल रह जाय, यानी १ सेर काढ़ा तैयार हो जाय, तो उसमें आधा सेर मिश्री डालकर फिर आग पर चढ़ावें। जब चासनी तार के जैसी हो जाय, तो उतार कर छानकर बोतल में रख छोड़ें। प्रतिदिन एक चम्मच के साथ सितोपलादि चूर्ण का दिन-रात में चार बार सेवन कराया जाय, तो क्षयज खाँसी और श्वास रोग भी आराम होते हैं। एलोपैथिक वाले इसे ही 'सीरप वासक' कहकर बेचते हैं।

किसी-किसी रोगी को कफ के साथ खून भी आने लगता है। कफ में दुर्गन्ध भी आने लगती है और साथ ही मंद ज्वर भी रहने लगता है। उस अवस्था में सितोपलादि चूर्ण ४ माशा, मुक्ताप्रवाल पिष्टी २ माशा और वसंत मालती रस २ रत्ती की मात्रा से सीरप वासक के साथ दिया जाय, तो प्रथमावस्था के सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं और खून आना भी बन्द हो जाता है। कितने ही रोगियों को प्रथमावस्था के बाद जब क्षय के उपद्रव बढ़ने लगते हैं, तो पित्त-प्रकोप से कंठ, नेत्र तथा दोनों हाथ-पैरों में जलन होने लगती है। मस्तिष्क में बेचैनी आने लगती है। उस अवस्था में केवल सितोपलादि चूर्ण मक्खन के साथ प्रयोग करने से शरीर में शीतलता आ जाती है और रोग के उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

कफ-क्षय की प्रथमावस्था में शुष्क कास, मंद ज्वर विशेषतः सायंकाल में शारीरिक उत्ताप बढ़ने लगता है। दिन-पर-दिन कमजोरी बढ़ने लगती है। उस अवस्था में सितोपलादि चूर्ण ४ माशा, शृंग भस्म २ माशा और गुडूचि सत्त्व ४ रत्ती मिलाकर दिन-रात में चार बार दिया जाय, तो सत्वर लाभ होता है। जीर्ण ज्वर होने पर नेत्रों में दाह, हाथ-पैरों में गर्मी, खाँसी, मलावरोध, नाड़ी में क्षीणता, मंद ज्वर आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं। उस अवस्था में सितोपलादि चूर्ण २ माशा, मुलहठी का चूर्ण २ माशा, गुडूचि सत्त्व २ माशा—इन तीनों को एकत्र कर खश, सोंठ, अमलतास और मिश्री की बराबर मात्रा का काढ़ा शहद मिलाकर दिया जाय, तो जीर्ण ज्वर के उपद्रव शान्त होते हैं।

गर्भस्थ बच्चे की अस्थि का पोषण माता के ही अस्थि-संस्थान से होता है। यदि माता स्वस्थ है, तो बच्चे भी हृष्ट-पुष्ट होंगे। यदि माता रोगिणी है, तो बच्चे भी रोगी ही पैदा होंगे। इसलिये गर्भावस्था के प्रायः ४-५ मास तक केवल सितोपलादि चूर्ण घृत या शहद के साथ २ माशा से ४ माशा तक सेवन कराया जा सकता है। इससे गर्भिणी का दिल-दिमाग और चित्त प्रसन्न रहता है और रोगों के प्रादुर्भाव होने का कोई भय नहीं रहता।



# यक्ष्मानाशक घरेलू औषधियाँ

(१) अर्जुन की छाल, गुलसकरी और कौंच के बीज—इनको दूध में पीसकर, पीछे शहद, घी और चीनी मिलाकर पीने से राजयक्ष्मा और खाँसी—ये रोग नष्ट होते हैं।

(२) बकरी का मांस खाना, बकरी का दूध पीना, बकरी के घी में सोंठ मिलाकर पीना और बकरे-बकरियों के बीच में सोना क्षय-रोगी को लाभदायक है। इन उपायों से गरीब यक्ष्मा-रोगी निश्चय ही आराम हो सकते हैं।

(३) शहद, सोनामक्खी की भस्म, बायबिडंग, शुद्ध शिलाजीत, लोह भस्म, घी और हरड़—इन सबको मिलाकर सेवन करने और पथ्य-पालन करने से उग्र राज-यक्ष्मा भी आराम हो जाता है।

(४) नौनी घी में शहद और चीनी मिलाकर खाने और ऊपर से दूध सहित भोजन करने से क्षय रोग नष्ट हो जाता है।

(५) असगन्ध, गिलोय, भारंगी, बच, अडूसा, पोहकर मूल, अतीस और दशमूल की दशों दवाएँ—इन सबका काढ़ा पीने और ऊपर से दूध और मांस-रस खाने से यक्ष्मा रोग का नाश होता है।

(६) बच, रास्ना, पोहकर मूल, देवदारु, सोंठ और दशमूल की दशों दवाएँ—इनका काढ़ा पीने से पसली का दर्द, शिर का रोग, राजयक्ष्मा और खाँसी प्रभृति रोग आराम होते हैं।

(७) दशमूल, धनिया, पीपर और सोंठ, इनके काढ़े में दालचीनी, इलायची, नागकेशर और तेजपात—इन चारों के चूर्ण मिला कर पीने से खाँसी और ज्वरादि रोग नाश होकर बलवृद्धि और पुष्टि होती है।

(८) दो तोले लाख पेठे के रस में पीसकर पीने से रक्त क्षय या मुँह से खून गिरना आराम होता है।

(९) चव्य, सोंठ, मिर्च, पीपर और वायबिडंग—इन सबका चूर्ण घी और शहद में मिलाकर चाटने से क्षय रोग निश्चय ही नाश हो जाता है।

(१०) त्रिकुटा, त्रिफला, शतावर, खरेंटी, और कंघी—इन सबके पिसे-छने चूर्ण में "लोह भस्म" मिलाकर सेवन करने से अत्यन्त उग्र यक्ष्मा, उरःक्षत, कण्ठरोग, बाहुस्तम्भ, और अर्दित रोग नाश हो जाते हैं।

(११) असगन्ध और पीपल के चूर्ण में शहद, घी और मिश्री मिलाकर चाटने से क्षय रोग चला जाता है।

(१२) मिश्री, शहद और घी मिलाकर चाटने से क्षय नष्ट हो जाता है।

(१३) सोया, तगर, कूठ, मुलेठी और देवदारु—इनको घी में पीसकर पीठ, पसली, कन्धे और छाती पर लेप करने से इन स्थानों का दर्द मिट जाता है।

(१४) कबूतर का मांस बकरी के दूध के साथ खाने से यक्ष्मा नाश हो जाता है। कहा भी है—

संशोषितं सूर्यकरैर्हि मांसं पारावतं यः प्रतिवस्रमत्ति।
सर्पिर्मधुभ्यां विलिहन्नरो वा निहन्तियक्ष्माणमतिप्रगल्भम्॥

कबूतर का मांस, सूरज की किरणों में सुखा कर प्रति दिन खाने से अथवा उसमें घी और शहद मिलाकर चाटने से अत्यन्त बढ़ा हुआ राजयक्ष्मा भी नाश हो जाता है।

(१५) गाय का ताजा मक्खन ६ माशे, शहद ४ माशे, मिश्री ३ माशे और सोने के वरक १ रत्ती इनको मिलाकर खाने से यक्ष्मा अवश्य नष्ट हो जाता है। यह नुसखा कभी फेल नहीं होता।

(१६) बकरी का घी बकरी के ही दूध में पकाकर और पीपल तथा गुड़ मिलाकर सेवन करने से भूख बढ़ती, खाँसी और क्षय नाश होते हैं।

(१७) अगर क्षय या जीर्ण ज्वर वाले के शरीर में ज्वर चढ़ा रहता हो, हाथ-पैर जलते हों और कमजोरी बहुत हो तो "लाक्षादि तैल" की मालिश कराना परम हितकर है। कहा भी है।

दौर्बल्ये ज्वर सन्तापे तैलं लाक्षादिकं हितम्।
सघृतान्राजमाषान्यो नित्यमश्नात मानवः।
तस्य क्षयः क्षयं यान्ति मूत्रमेहोऽतिदारुणः॥

—:o:—

# उरःक्षत का सरल उपचार

(१) धान की खील ६ माशे लेकर, गाय के आधा पाव कच्चे दूध और ६ माशे शहद में मिलाकर पीवें। फिर दो घंटे बाद पुनः गाय का कच्चा दूध एक पाव मिश्री मिला कर पीवें। इस नुसखे से उरःक्षत या सिल रोग में लाभ होता है।

(२) पोस्ते के दाने ३ तोले और ईसबगोल १ तोला को मिलाकर आध सेर पानी में काढ़ा बनावें। जब पाव भर काढ़ा रह जाय, तो छानकर कलईदार वर्त्तन में डाल दें। ऊपर से मिश्री आध सेर, खसखस ६ माशे और बबूल का गोंद ६ माशे मिलाकर इसे आग पर थोड़ी देर पकावें और उतार कर बोतल में भरकर काग लगा दें। इसमें से एक तोला दवा नित्य खाने से उरःक्षत या सिल का रोग अवश्य नाश हो जाता है।

(३) पीपर की लाख ३ या ६ माशे, महीन पीसकर शहद में मिलाकर, खाने से उरःक्षत रोग नाश हो जाता है।

(४) एक माशा लाल फिटकिरी, महीन पीस कर, छान कर ठंढे पानी के साथ फाँकने से उरःक्षत और मुँह से खखार के साथ खून का आना बन्द हो जाता है। मुँह से खून आना बन्द करने की यह आजमूदा दवा है।

नोट——अगर खखार के साथ मुँह से खून आवे, तो हृदय की गर्मी से समझो। अगर बिना खखार के अकेला ही खून आवे, तो मस्तिष्क या भेजे के विकार समझो। अगर खाँसी के साथ खून आवे, तो कलेजे में विकार समझो।

(५) अगर उरःक्षत रोगी को खून की उल्टी होती हो और खून आना बन्द न होता हो तो दो तोले फिटकिरी को महीन पीसकर, एक सेर पानी में घोल लें और ऊपर से वर्फ भी मिला दें। इस पानी में एक कपड़ा भिंगो कर रोगी की छाती पर रखें। जब पहला कपड़ा सूख जाय, तो दूसरा भिंगो कर रखें। साथ ही बीहीदाने के लुआब में मिश्री मिलाकर, उसमें से थोड़ा-थोड़ा यही लुआब रोगी को पिलाते रहें। जब तक खून आना बन्द न हो, यह क्रिया करते रहें। बदन पर "नारायण तैल" या "माषादि तैल" की मालिश भी करते रहें। तेल की मालिश करने से सर्दी पहुँचने का खटका न रहेगा। एक काम और भी करते रहें, रोगी के शिरपर "चमेली का तेल" लगाकर सिर को गुलाब जलसे धो दें और शिर पर खश या कपड़े के पंखे की हवा करते रहें ताकि रोगी वेहोश न हो। इस उपाय से अनेक बार उरःक्षत वालों के मुँह से खून आना बन्द किया है।

(६) बबूल की कोंपल १ तोला, अनार की पत्तियाँ १ तोला, आँवला १ तोला और धनिया ६ माशे—इन सब को रात के समय शीतल जल में भिंगो दें और सबेरे ही मल, छान कर इसमें थोड़ी-सी मिश्री मिला दें। इसमें से थोड़ा-थोड़ा पानी दिन में तीन-चार बार पिलाने से मुँह से खून का आना अवश्य बन्द हो जायगा।

(७) गिलोय १ तोला और अडूसे की पत्तियाँ १ तोला—— इन दोनों को औटाकर छान लें और फिर समग अरबी ८ माशे पीसकर मिला और पिला दें। इस नुसखे से भी खून थूकना बन्द हो जाता है।

(८) ८० माशे चूके के बीज, पुराना धनिया ८ माशे, कतीरा ४ माशे, समग अरबी ४ माशे, सहँजना ४ माशे और माजूफल ४ माशे——इनको कूट-पीसकर टिकिया बना लें। इन में से आठ माशे खाने से खून थूकना बन्द हो जाता है।

नोट——अगर रोगी को दस्त भी लगते हों और दस्त बन्द करने की जरूरत हो, तो इस नुसखे में अढ़ाई रत्ती "शुद्ध अफीम" और मिला देनी चाहिये।

(९) समग अरबी, मुलतानी मिट्टी और कतीरा— बराबर-बराबर लेकर महीन पीस लें। फिर इस में से सात माशे चूर्ण खसखस और अदरक के रस में मिलाकर पीवें। इस उपाय से भी खून थूकना आराम हो जाता है।

(१०) अडूसे की सूखी पत्ती ६ माशे महीन पीसकर और शहद में मिलाकर खाने से मुँह से खून थूकना अवश्य आराम होता है।

# हिन्दू उपासनापद्धति और राजयक्ष्मा

आयुर्वेदाचार्य, डा० लालजी सहाय, ए० एम० एस०

परतन्त्रता के अभिशाप-स्वरूप भारतवर्ष में ज्यों-ज्यों निर्धनता, निर्बलता और विलासिता बढ़ती गई, त्यों-त्यों राजयक्ष्मा बीमारी ने भी दिनोंदिन तरक्की की। बड़े-बड़े नगर तो इसके केन्द्रस्थान बन गए हैं। कलकत्ता, बम्बई, कानपुर जैसे बड़े नगरों में हजारों की संख्या में लोग इसके चंगुल में फँसे हैं। इसका कारण यदि एक वाक्य में पूछा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि 'हमारा कृत्रिम जीवन ही इस रोग का मुख्य कारण है।' ज्यों-ज्यों हम बाह्य-सुखों की खोज में प्रकृति से दूर होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों हमारा जीवन दुःखपूर्ण और असंयमशील होता जा रहा है। ऋषि-प्रणीत अपनी जीवनचर्या को हम भूल गए हैं। सूर्योदय के पहले शय्यात्याग, प्रातःस्नान, प्राणायाम, हवन आदि नित्य किए जानेवाले अपने कर्म हमें अब याद नहीं रहे। "ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमुपाघ्नत।" मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करनेवाले इस सूत्र पर हमारा विश्वास अब नहीं रहा है। ब्रह्मचर्य और तप द्वारा ईश्वर से साक्षात्कार करना सहस्रों में से किसी एक का जीवन लक्ष्य रह गया है।

संसार में ईश्वर-उपासना की अनेक पद्धतियाँ हैं। किन्तु सभी में ईश्वर के स्मरण और जप का सामान्य विधान हैं। विश्वास की दृढ़ता और मानसिक शक्ति के लिए ये ही दो क्रियाएँ प्रधान हैं। इनके सहायक-रूप में, जिसे पूर्व-कर्म की संज्ञा दी जाती है, प्रत्येक सम्प्रदाय वा मत की अलग-अलग विधियाँ हैं। हिन्दू उपासना पद्धति, जो प्रस्तुत लेख का विषय है, के दो प्रमुख भेद हैं। (१) साकार, और (२) निराकार। दोनों में ध्यान एवं जप-प्रधान कर्म के अतिरिक्त कुछ पूर्व-कर्म करना पड़ता है, यथा—हवन, प्राणायाम, धूप-दीप, आरती, चरणामृत या पंचामृत सेवन, नैवेद्य आदि।

प्रस्तुत छोटे से लेख में उपासना के इन पूर्व-कर्मों में राजयक्ष्मा की बीमारी को दूर भगाने की कहाँ तक शक्ति है, इसी पर आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विचार करने का मेरा उद्देश्य है। इसके अन्तर्गत (१) जीवाणुघ्न द्रव्यों को अग्नि में जलाकर उसके धूम्र को नासिका-रन्ध्र और रोम-छिद्रों द्वारा ग्रहण करना, यथा—हवन, धूप, आरती, (२) फुफ्फुस में शुद्ध वायु को ले जाकर रोकना और पुनः धीरे-धीरे निकालना, यथा—प्राणायाम, शंख बजाना, प्रार्थना व भजन गाना, (३) मुख द्वारा सेवन, यथा—पंचामृत व चरणोदक पान, नैवेद्य ग्रहण करना। इन तीनों शीर्षकों के अन्तर्गत अपना विचार सीमित रखना पाठकों के लिए अधिक सुगम होगा।

(१) **अग्नि में जलाकर**—इसमें रोगनाशक औषधियों को विधिपूर्वक अग्नि में जलाते हैं और उससे उत्पन्न हुई गैस को श्वास और रोम-छिद्रों द्वारा नित्य प्रति रोगी के शरीर में प्रवेश कराते हैं। जीवाणुनाश के लिये इससे बढ़ कर कोई उपाय नहीं है। यह बहुत प्राचीन काल का अनुभव है। आजकल भी इसके प्रयोग से अनेक हताश रोगी जीवन लाभ कर चुके हैं।

**हवन की प्रधानता**—सभी विद्वान जानते हैं कि सूक्ष्म में जो शक्ति है, वह स्थूल में नहीं। स्वर्ण का १ रत्ती का टुकड़ा किसी को खिलाने से कोई लाभ नहीं होता है। किन्तु; उसी को यदि सूक्ष्म करके वर्क बनाकर खिलाया जाय तो पुष्टिकर होता है और यदि उस को भस्म बना कर दिया जाय तो १-१ चावल की मात्रा से थोड़े ही दिनों में चेहरे पर लाली, शरीर में बल, मन में उत्साह उत्पन्न होकर वृद्ध भी युवा सदृश कार्य करने में समर्थ बन जाता है।

प्राचीन ऋषिगण इस बात को अच्छी तरह जानते थे। यही कारण है कि जिस भस्मौषधि में जितना ही अधिक पुट दिया जाता है, वह उतना ही अधिक गुणकारी समझा जाता है। सहस्र पुटी अभ्रक भस्म सब से अधिक प्रशस्त माना जाता है। होमियोपैथी में भी इसी आधार पर औषधियों की पोटेंसी तैयार की जाती है और जिन औषधियों का अति शीघ्र प्रभाव डालना अभीष्ट होता है,




उन्हें खिलाने के स्थान में सुंघाते हैं। सुंघाने की अपेक्षा भी जली हुई ओषधि का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है।

एक मिर्च सूँघने से कुछ न होगा। किन्तु, कूटने से पास बैठे लोगों को खाँसी आवेगी। परन्तु उसको आग में जलाने पर दूर-दूर तक के मनुष्य खाँसने लगेंगे। इसका कारण यह है कि उसके परमाणु बहुत सूक्ष्म हो गए हैं, अतः उसकी शक्ति बढ़ गई। इस रोग के जीवाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि यदि २५००० जीवाणु एक कतार में रखे जावें तो करीब १ इंच स्थान घेरेंगे। यदि उनको तौला जाय तो १ अरब जीवाणु मिलकर चावल के एक दाने के बराबर होंगे। इतनी सूक्ष्म वस्तु पर स्थूल कणवाली ओषधियों की बड़ी मात्राओं की पहुँच ही दुस्तर है। जीवाणुओं को समाप्त करना तो दूर की बात रही। यही सोच कर लोग जीवाणु तक पहुँचना तो असाध्य समझते हैं और विशेष ध्यान शरीर की प्रतिकारक शक्ति बढ़ाने की ओर देते हैं। परन्तु ओषधियों का अत्यन्त सूक्ष्म भाग, जो हवन की अग्नि द्वारा छिन्न-भिन्न हुआ है, जीवाणुओं तक श्वास द्वारा बड़ी आसानी से पहुँच जाता है और उनको नष्ट करने में सफल होता है। इसीलिए हवन जीवाणु-नाश के लिए सरल उपाय है।

(२) पदार्थ विद्या से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि किसी भी वस्तु का अभाव नहीं होता, केवल रूपान्तर हो जाता है। गर्म करने से घन पदार्थ द्रव में परिणत हो जाता है। पुनः अधिक ताप देने से वह द्रव गैस में बदल जाता है लेकिन उस पदार्थ का नाश नहीं होता। रूपान्तर भेद से भिन्न-भिन्न नाम दिए जाते हैं।

अब जो ओषधि मुख द्वारा खाई जाती है, वह रस-रक्त बनने के बाद क्षय रोगी के फुफ्फुस तक पहुँच कर अपना प्रभाव दिखलावेगी, लेकिन अग्नि में जलाई हुई ओषधि श्वास द्वारा अत्यन्त शीघ्र फुफ्फुस तक पहुँच कर अपना कार्य करेगी। ताप के कारण ओषधि के परमाणु सूक्ष्म हो जाने से यह प्रभाव स्थायी भी होगा। उदाहरण के लिये गुग्गुल को ही लीजिए। आयुर्वेद में जीवाणु-नाश के लिये इसे बहुत उपयोगी बताया गया है। लेकिन इसका जब मुख द्वारा प्रयोग कराया जाता है, तब इसका जीवाणु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी को अग्नि में जलाने पर जब इसके परमाणु बहुत सूक्ष्म हो जाते हैं, यह बहुत शीघ्र लाभप्रद होता है। सूक्ष्म परमाणु श्वास द्वारा सीधे फुफ्फुस के विकृत सेलों तक पहुँचते हैं और वहाँ पर शीघ्रतर अपना प्रभाव दिखलाते हैं।

(३) अन्वेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जितने प्राकृतिक पदार्थ हैं, उनके सूक्ष्म परमाणु हर समय गतिशील रहते हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष में वे दृष्टिगोचर नहीं होते। हमारे मनुष्य शरीर, कोठी की दीवाल, मेज, कुर्सी इत्यादि का प्रत्येक परमाणु गति करता रहता है। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के पहले मंत्र में संसार को "जगत्यां जगत्" कह कर इसी नियम को बताया गया है। यह गति भी ऊटपटांग नहीं, बिलकुल नियमपूर्वक होती है। प्रत्येक परमाणु की गति सदा समान नहीं होती। किसी की गति एक दूसरे के समान होती है और किसी की एक दूसरे के प्रतिकूल। प्रकृति का नियम है कि दो समान वस्तुएँ सदा परस्पर एक दूसरे को भगाती हैं। अतः जिन वस्तुओं के परमाणु एक-सी गति करते हैं, उनमें परस्पर आक्रमण होता है और विरुद्ध गति वाले एक दूसरे को दूर भगाते हैं।

हम देखते हैं कि एक ही श्रेणी में एक साथ पढ़नेवाले कई विद्यार्थियों में से किन्हीं दो में विशेष मित्रता हो जाती है, शेष में वैसी नहीं होती। रेल में सैकड़ों यात्री साथ-साथ यात्रा करते हैं, पर उनमें से किन्हीं दो में ऐसी घनिष्टता हो जाती है जो जीवन पर्यन्त निभती है। किन्हीं पति-पत्नियों में बहुत अधिक प्रेम होता है जब कि कुछ अन्य एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यह सब इसी नियम के आधार पर हैं। जिन के स्वभाव आदि के परमाणु जैसी गति करते हैं, उसी गतिवाले रोग या स्वास्थ्य के परमाणुओं का उसकी ओर खिंचाव हो जाता है और जो उसके विपरीत होते हैं, वे दूर भागते हैं। इसी नियम के अनुसार राजयक्ष्मा के जीवाणु भी उसी मनुष्य पर अधिक आक्रमण करते हैं, जिनके भीतर रोगों को ग्रहण करनेवाली शक्ति विद्यमान है। इसके विपरीत, जिस व्यक्ति के भीतर राजयक्ष्मा-नाशक लौंग, गुग्गुल, गिलोय आदि के परमाणु विद्यमान हैं, उनपर

वे आक्रमण करेंगे ही नहीं और यदि करेंगे भी तो निषेधक-शक्ति द्वारा विष का प्रभाव शीघ्र नष्ट हो जावेगा। जो लोग स्वस्थ अवस्था में नित्यप्रति हवन करते हैं, उन पर आक्रमण हो ही नहीं सकता।

युक्तियों के पश्चात् हवन यज्ञ की प्रधानता के विषय में कुछ प्रमाण तथा अनुभव उचित जान पड़ता है।

## (१) वेद का प्रमाण

मुंचामि त्वां हविषा जीवनाय कम जात यक्ष्मा दुत राजयक्ष्मात्। ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राणी प्रमुक्त मेनम्। अ० का० ३, अनु० ३, सूक्त ११, मंत्र १।

हे व्याधिग्रस्त! तुझ को सुख के साथ चिरकालतक जीने के लिए गुप्त राजयक्ष्मा रोग से और सम्पूर्ण प्रकट राजयक्ष्मा रोग से आहुति द्वारा छुड़ाता हूँ। जिस रोग से यह प्राणी ग्रसित है, उस रोग से वायु तथा अग्नि-देवता इसको अवश्य छुड़ाएँ।

इससे स्पष्ट होता है कि वेद इस प्रकार के राजयक्ष्मा की चिकित्सा, चाहे रोग प्रकट हुआ हो या गुप्त हो, वायु और अग्नि द्वारा (हवन द्वारा) रोग से छुटने का आदेश करते हैं। इससे अगला मन्त्र इस प्रकार है।

यदिक्षितायुर्यदि वा परेतो यदि नृत्यरन्तिकं नीत एव।
तत्रा हरामि निकृन्तेरूपस्थादस्यार्ष मेनं शत शारदाय॥

यदि रोग के कारण न्यून आयुवाला हो, अथवा संसार के सुखों से दूर हो गया हो, चाहे मृत्यु के निकट पहुँच चुका हो, ऐसे रोगी को भी महारोग के पास से छुड़ाता हूँ। इस रोगी को सौ शरद-ऋतुओं तक जीने के लिए प्रयत्न किया है।

इससे यह विदित होता है कि खराब से खराब अवस्था का रोगी, जिसे चिकित्सक लोग असाध्य कह देते हैं, हवन यज्ञ से अच्छा हो सकता है।

## (२) चरक का प्रमाण

प्रयुक्तया यथा चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुराजितः।
तां वेद विहितामिष्टमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥

च० चि० अ० ८

जिस यज्ञ के प्रयोग से प्राचीनकाल में राजयक्ष्मा रोग नष्ट किया जाता था, आरोग्य चाहनेवाले मनुष्य को उसी वेदविहित यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये।

प्रतिश्याय, कास तथा क्षयजकास के लिए धूमन का प्रयोग बताया गया है।

शिरसः पीड़ने श्रावे नासाया हृदि ताम्यति।
कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत्। चरक

## (३) होमियोपैथिक मत

होमियोपैथिक चिकित्सा के आविष्कर्ता श्री हेनिमैन साहब अधिक निर्बल रोगियों को ओषधि खिलाने के स्थान में केवल ओषध सुंघाने का परामर्श देते हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आरगैनान आफ़ मेडिसन' की १९० धारा में वे लिखते हैं--"मेदे के अतिरिक्त जिह्वा और मुख में ऐसे भाग हैं, जो ओषधि के प्रभाव को शीघ्र ग्रहण करते हैं, किन्तु नाक का भीतरी भाग भी शीघ्रता से प्रभावको ग्रहण करता है। सबसे अधिक ओषधि का प्रभाव सूँघने और श्वास लेने से होता है।"

यदि हेनिमैन साहब के समय में आज की तरह जर्मनी में यज्ञ का प्रचार होता तो अवश्य ही वे उसे चिकित्सा का प्रधान अंग बनाते।

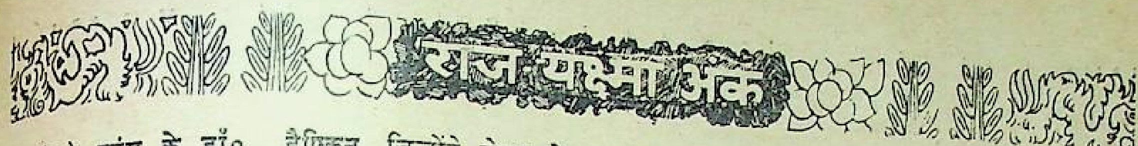
## (४) एलोपैथिक मत

पाश्चात्य डॉक्टर एलोपैथिक मतानुसार राजयक्ष्मा के रोगी को क्रीओजोट और इक्यूलिप्टस तैल इत्यादि सुंघाते हैं। इसका प्रभाव तत्काल होता है। क्रीओजोट खिलाया भी जाता है, लेकिन उसका प्रभाव उतना शीघ्र नहीं होता। ओषधि के सूक्ष्म परमाणु सीधे फुफ्फुस में पहुँच कर अपना शीघ्र प्रभाव करते हैं। लेकिन उनमें वह शक्ति नहीं कि स्थायी प्रभाव रख सकें, जैसा कि हवन अग्नि से छिन्न-भिन्न हुई ओषधि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु प्रभाव रखने में समर्थ होते हैं।

## कुछ विद्वानों की राय तथा अनुभव

(१) **कविराज पं० सीतारामशास्त्री**--"मैंने अपने कई वर्षों की चिकित्सा के अनुभव से निश्चय किया है कि जो महारोग ओषधि भक्षण करने से दूर नहीं होते वे वेदोक्त यज्ञों के द्वारा दूर हो जाते हैं।"

(२) **फ्रांस के विज्ञान-वेत्ता प्रो० टिबलर्ट की राय**--"जलती हुई खाँड के धुएँ में वायु को शुद्ध करने की बड़ी शक्ति है। इससे हैजा, राजयक्ष्मा, चेचक आदि के विष शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।"




(३) **फ्रांस के डॉ० हैफिकन**, जिन्होंने चेचक के टीके का आविष्कार किया है, कहते हैं "घी जलाने से रोग के कृमि मर जाते हैं।"

(४) **'केमिकल प्रापरटीज' की राय**--"जायफल, जावित्री, बड़ी इलायची, सूखा चन्दन इत्यादि अग्नि में जलाने से उसके सक्रिय भाग ज्यों के त्यों रहते हैं या सूक्ष्म हो जाते हैं। पहले पहल इनके सुगन्धित गैल गैस बनकर निकलते हैं। हवन गैस में ये चीजें अपने असली रूप में मिलती हैं। अग्नि इन चीजों को गैस बना देती है। उड़नेवाले तेलों के परमाणु एक बटा दस हजार से दस करोड़ सें० मि० व्यास वाले देखे गये हैं। अतः हवन में इन चीजों के गुण बहुत बढ़ जाते हैं और ये आसानी से जीवाणुओं का नाश करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साकार व निराकार उपासना में किये जानेवाले हवन, आरती, धूप, दीपादि कर्म जिनमें हम घृत, कपूर, दशांग, गुग्गुल तथा वेदोक्त अन्य हवन वनस्पतियों को अग्नि में जलाकर उनके धूम्र का सेवन करते हैं, हमारे फेफड़े के रोगों को दूर करने में अत्यधिक समर्थ हैं।

## फुफ्फुस में शुद्ध वायु का प्रवेश और निर्गम

हम देखते हैं कि शरीर के किसी भी अंग को पुष्ट रखने के लिये व्यायाम और आहार इन दोनों बातों की आवश्यकता होती है। जिस अंग से आप अधिक व्यायाम करेंगे, वह अधिक पुष्ट होगा। बढ़ई को देखिए। उसके हाथ की माँसपेशियाँ बहुत पुष्ट होती हैं। चूंकि वह अपने सब अंगों का सम्यक् व्यायाम नहीं करता, इसलिये उसके सब अंग उतने पुष्ट नहीं होते, जितने उसके हाथ। हमारे पूर्वजों ने फेफड़े के व्यायाम के लिए अनेक सरल साधन ढूंढ निकाले हैं और उनका सम्बन्ध हमारी दैनिक उपासना से जोड़ दिया है। राजयक्ष्मा के जीवाणुओं का आक्रमण विशेषतः फुफ्फुस पर ही होता है, इसलिए इस अंग को पुष्ट रखना दीर्घ जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है। प्राणायाम, शंख द्वारा शब्द करना, भजन गाना, फुफ्फुस-व्यायाम की प्रतिक्रिया हैं। इससे इस अंग को व्यायाम और आहार दोनों मिलता है। आइए, वैज्ञानिक आधार पर इन क्रियाओं की सत्यता को तौला जाय। इसके लिये फुफ्फुस की रचना और क्रिया पर विचार करना होगा।

फुफ्फुस छोटे-छोटे वायु के थैलों का बना हुआ होता है। ये वायुकोष संख्या में असंख्य होते हैं। इनकी दीवाल पतली झिल्ली की बनी होती है, जिसमें असंख्य रक्त-केशिकाएँ फैली होती हैं। ये रक्त-केशिकाएँ ही वायु के शोधन में प्रधान कार्य करती हैं। रक्तगत अशुद्ध वायु जिसमें कार्बन डाइ-आक्साइड की मात्रा अधिक होती है, इन केशिकाओं द्वारा फेफड़े की दीवाल तक पहुँचता है। यहाँ पर वायु कोषों में हमारे श्वास की क्रिया द्वारा शुद्ध वायु, जिसमें प्राणवायु (आक्सीजन) की मात्रा अधिक होती है, पहुँचता है। यहाँ शुद्ध वायु, वायुकोषों में कुछ क्षण रुक कर, रक्त-केशिकागत कार्बन डाई-आक्साइड गैस को खींच लेता है और अपना आक्सीजन गैस रक्त-केशिका में भर देता है अर्थात् यों कहिए कि स्वयं अशुद्ध होकर प्रश्वास द्वारा वह बाहर निकल आता है। शुद्ध वायु जीवन के लिए आवश्यक है। इसके ग्रहण की क्रिया फुफ्फुसगत वायुकोषों की क्षमता पर प्रधानतया निर्भर करती है। ये वायु -कोष जितने बड़े होंगे, उतना ही अधिक शुद्ध वायु बाहर से लेकर शरीर की आवश्यकता की पूर्ति सरलता से कर सकेंगे।

हमारी मान्यता है कि विधाता के यहाँ से हमारा श्वास गिन कर मिलता है। इन श्वासों को हम जितना अधिक संभाल कर रखेंगे, कम खर्च करेंगे, उतना ही अधिक अपनी आयु की वृद्धि करेंगे। जितना अधिक फेफड़ा स्वस्थ रहेगा, उतना ही कम हमें श्वास-प्रश्वास की क्रिया करनी होगी। फेफड़े का स्वास्थ्य प्रधानतया उसके वायुकोषों की शक्ति पर निर्भर करता है। अतः प्राणायाम आदि की क्रियाएँ हमारे आयुष्य और आरोग्य के लिए नितान्त आवश्यक हैं।



# तपेदिक के रोगी को आनुभविक सलाह

वैद्य पु० वि० धामणकर, आयुर्वेदभूषण

क्षय-रोगियों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनका बल और पुष्टि किसी भी कारण से कम न हो। इसके लिए श्रम और लंघन बिलकुल टाल देना चाहिए।

बल व पुष्टि अधिकाधिक प्राप्त करने और सावधानी से उसका व्यय करने पर ध्यान देना चाहिए।

अनिवार्य कारण के बिना श्रम और अपच के बिना लंघन कदापि नहीं करना चाहिये।

क्षय रोगी अपने बल व पुष्टि की इस प्रकार रक्षा करे, जिस प्रकार बहुत कंजूस साहूकार अपने धन की रक्षा करता है।

बल व पुष्टि को बढ़ाना और उसकी रक्षा करना क्षय रोगी का प्रधान कर्तव्य होता है।

इसके लिए भूख और मलशुद्धि--इन दो क्रियाओं का उचित मात्रा में होना जरूरी है।

भूख बढ़ाने के लिए खट्टे, तिक्त और तैलयुक्त पदार्थों का उपयोग बन्द करें।

ऐसी चीजों का सेवन अल्प मात्रा में भी नहीं करें. जिससे अजीर्ण हो।

शौचके लिए विरेचन न लें। शौचशुद्धि के लिए जरूरत होने पर मात्राबस्ती (पिचकारी) ले लें। मगर वह भी सिद्ध तैल का हो।

पेट में गुबारा उत्पन्न करनेवाला पदार्थ सेवन न करें। यदि पेट में गुबारा उत्पन्न हो गया हो, तो सौवर्चल लवण लें।

अपच और अतिसार पैदा करनेवाले पदार्थों का बिलकुल सेवन न करें।

आहार-विहार में तब तक परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं, जब तक भूख अच्छी लगती हो और शौच साफ और बँधा हुआ होता हो और मात्र इस आहार-विहार से बल और पुष्टता का भी संरक्षण और संबर्धन होता रहे।

क्षय रोगी को कम-से-कम आठ घंटे आराम की नींद लेनी चाहिए। नींद न आने के कारण की बारीकी से खोज कर उसे तुरन्त दूर करें। नींद न आने से रोग जोर पकड़ता है।

मुलाकात करने के लिए आगत लोगों से अपने रोग की कहानी नहीं कहें या अन्य बीमारों की कहानी नहीं सुने।

कोई भी नवीन लक्षण प्रकट हुआ हो, तो वह तुरन्त लिख रखें और प्रति दिन जाँच के वक्त चिकित्सक को अवश्य ही बताएँ। कोई भी लक्षण वैद्य से न छिपाएँ और झूठा बहाना भी न करें।

तेज वायु का झोंका, कड़ी धूप का उत्ताप और बरसात की झड़ी से अपने अंग को बचावें।

मंद पवन, हल्की धूप और ओस के छींटे का आल्हाद के साथ सेवन करें।

शारीरिक बल से मनोबल श्रेष्ठ है। इसका लाभ, संवर्द्धन और संरक्षण उपास्य देवता के आराधन से साध्य होता है। अतः उपासना ही उत्कृष्ट साधिका है--यह ध्यान में रख कर उसको दृढ़ता से जारी रखें।

धीरे और आहिस्ते बोला करें तथा मन ही मन पुस्तक का अध्ययन करें।

दिमाग पर खिंचाव डालनेवाला, गहन या कामोद्दीपक ग्रन्थ न पढ़ें। लघुवाङ्मय भी इतना ही पढ़ें, जिससे आँखों पर खिंचाव न पड़े।

केवल मनोरंजन के उद्देश्य से ही वाचन-मनन-पठन या भाषण करें।

किसी भी विषय पर बहस करने की चेष्टा न करें।

बीच बीच में आँखें मूँद कर आराम से लेटें।

शारीरिक, मानसिक, वाचिक बातें तबतक ही करें, जब तक वे सुख संवेदक हों और हर हालत में ब्रह्मचर्य का पालन करें।

अग्निमूलं बलं पुंसां रेतोमूलं च जीवितम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन अग्निं शुक्रं च रक्षयेत्॥
--चरक संहिता

(शेषांश १६२ पृष्ठ पर)

# क्षय में विश्राम का महत्व

श्री कुंवरजी खेतशी पारेख

'क्षय' तथा 'शोष' राजयक्ष्मा के इन पर्यायों से ही सूचित है कि शरीर धातुओं का क्षय इस रोगराज का मूल है। यह क्षय जिन कारणों से होता है, उनके परिवर्जन के साथ क्षीण धातुओं की पुष्टि के अन्य भी उपाय शास्त्रों में वर्णित और लोक में प्रचलित हैं। इनमें एक संपूर्ण शारीर-मानस विश्राम है। आयास (स्ट्रेस) को चरक ने सर्व अपथ्यों से बढ़कर कहा है—**आयासः सर्वापथ्यानाम्** च० सू० २५।४०। स्वल्पमात्र आयास का कितना प्रभाव क्षय पर पड़ता है तथा विश्रान्ति, स्नेहार्द्र परिचर्या एवं सतत प्रोत्साहन इस रोग के निवर्तन में कितने उपयोगी हैं, यह बात इस लेख से पाठकों को विदित होगी। लेख **प्रबुद्ध जैन** के जून, १९५२ के अङ्क से लिया गया है—स० संपादक

पूज्य गांधी जी के साथ अपने संसर्ग को मैं अपने जीवन की धन्यता का प्रसंग मानता हूँ। यों मैं उनका पुत्र-जामाता हूँ, इस वस्तु को व्यक्तिगत रूप से मैं गौरव का निमित्त मानता हूँ, तथापि यहाँ मैं उसकी बात नहीं कर रहा हूँ। परन्तु मेरे क्षय रोग के समय गांधीजी का सान्निध्य मुझे मिला और उन्हीं के कारण मैं जीवित रहा, इस वस्तु को मैं धन्यता कह रहा हूँ। कहना योग्य भी है। पूज्य गांधी जी अपने सामान्य व्यवहार में कैसा वर्त्तन रखते थे और उसमें भी उनकी महान् विभूति का कैसा दर्शन होता था, इसी वस्तु से सम्बद्ध प्रसंग का आलेखन मैं यहाँ करना चाहता हूँ।

गत अठारह वर्षों से मैं मुंबई रहता हूँ तथा झंडू फार्मेसी में कार्य करता हूँ। सन् १९३९ में पैंतीस वर्ष की वय में मेरा शरीर क्षीण होने लगा। भार घटता जाता था। मित्रों की सम्मति और आग्रहवश मैंने सर हरकिशनदास हॉस्पिटल में अपनी शरीर-परीक्षा कराई। उसमें वाम फुफ्फुस में क्षय का आक्रमण होने का निदान हुआ। डॉक्टरों ने मुझे क्षय-रुग्णालय में प्रविष्ट होने और ए. पी. लेने की सलाह दी। ए. पी. या वायु के इंजेक्शनों को न्यूमोथॉरेक्स ट्रीटमेण्ट भी कहते हैं।

मैं और मेरे स्वजन घबरा गए। अपने रोग की बात मैंने गांधीजी को लिख भेजी और उनसे सलाह माँगी कि मुझे क्या करना चाहिए और कहाँ जाना चाहिए? उनकी ओर से उत्तर मिलने के पूर्व ही कतिपय स्नेहियों के आग्रह से मैं मीरज चला गया। मीरज की जलवायु क्षयरोगियों के लिए अच्छी मानी जाती है। ग्राम से दो-एक मील दूर वालनेसवाड़ी में क्षय के आरोग्यभवन (सेनेटोरियम) में प्रविष्ट होने का उद्यम किया, परन्तु वहाँ स्थान रिक्त न होने से डॉक्टरों ने बाहर ही रह कर ए. पी. लेने की सलाह दी। ग्राम में भी क्षयरोगियों को स्थान सुलभ न था, अतः मैं पत्नी समेत यथाकथंचित् धर्मशाला में रहने लगा। अपनी कठिनाइयों की सूचना मैंने गांधीजी को दी। उत्तर में उन्हों ने लिखा—"मैंने तो तुम्हारे लिए नागपुर में तैयारी कर रखी थी। नागपुर में आरोग्यभवन नहीं है, पर क्षय के डॉक्टर कुशल, अनुभवी और परमार्थी हैं। बालकोबा और मेथ्यु (दो पुराने आश्रमवासी भाइयों) का उपचार इन्होंने ही किया था। परन्तु तुम मीरज गए, तो उतावली करके लौट न आने का तार दिया था। दरिद्रों को सामान्य कठिनाई भोगनी ही पड़ती है। यह सब समझा कर वहीं रहने का प्रोत्साहन दिया था। अब धीरता से अन्य कठिनाइयाँ आवे तो उनका निवारण कर लाभ होता हो तो लो। न हो तो तत्काल लिखना। परिणाम की सूचना देते रहना। बच्चों को वहाँ न बुला लेना। बापू के आशीर्वाद, ८।१०।३९। सेवाग्राम, वर्धा,"

मीरज मैं एकाध मास रहा, पर योग्य उपचार के अभाव में मेरे रोग में कुछ सुधार न हुआ। अन्त को गांधीजी ने मुझे वर्धा बुलाया और लिखा--"तुम्हें जब भी

आना हो, आ जाओ। निवास वर्धा-सेवाग्राम के मध्य ही रखूंगा। बालकृष्ण को रखा था वहाँ। मेरे यहाँ तो इतनी तंगी है कि तुम्हारा दम घुटेगा। पर यह सब तो तुम्हारे आने पर देखा जायगा। निष्णात डॉक्टर को दिखाने के लिए तुम्हें नागपुर भेजना पड़ेगा। इस प्रकार यहाँ दो तो अच्छे हुए, तीसरे तुम होगे। रामी के आने की आवश्यकता नहीं है, पर आए तो विप्रतिपत्ति नहीं। तुम दोनों जो ठीक समझो वैसा करो। वहाँ अनुकूलता न हो तो इस ओर आने में प्रमाद न करना। बापू के आशीर्वाद, सेवाग्राम, वर्धा २६-१०-३९।"

बापू का पत्र पढ़ कर मैं निर्भय हो गया और हमने वर्धा जाने की तैयारी कर उसकी सूचना भेज दी। जिस दिन हम वर्धा पहुँचे, उसी दिन प्रातः बापूजी वायसराय से मिलने दिल्ली जाने वाले थे। अतः वे डॉ० सुशीला नय्यर और प्यारेलाल जी के साथ हमें स्टेशन पर ही मिले। हमने पाद-स्पर्श किया। बापूजी ने मेरा हाथ पकड़ कर हिलाया। सामान्यतया वे घूंसा मारते थे, पर मैं उसे सहन करने की स्थिति में न था। वे दिल्ली से लौटें तबतक संभल कर रहने का निर्देश मुझे दिया और हमें आश्रम जाने को विदा किया।

आश्रम में पूज्य बा इत्यादि थे। उन्होंने उमंग के साथ हमारा स्वागत किया। पूज्य बा को मेरी बहुत चिन्ता होती थी। हम वहाँ पहुँचे कि उन्हें निश्चिन्तता हो गयी। मुझे भी सांत्वना मिली। शुरू में मेरे रहने की व्यवस्था बापूजी ने आश्रम से दो-एक मील दूर जहाँ बालकोबा को रखा था, वहीं की थी। सायंकाल हमें वहीं ले जाया गया। पूज्य बा तथा आश्रम के भाई-बहन हमारी स्नेहभरी संभाल रखते थे। परन्तु दुर्भाग्य से मुझे दूसरे ही दिन ज्वर हो आया और बेचैनी लगने लगी। रोग के आरम्भ में मुझे ज्वर बहुत मन्द रहता था, कास भी न्यून था। उनका वेग बढ़ने लगा। पूज्य बा घबराईं। उन्होंने नगर के अस्पताल से डॉक्टरों को बुलवाया। डॉक्टरों ने परीक्षा कर मुझे विभिन्न औषधें दीं। यथा-तथा मैंने थोड़े दिन बिताए। पाँच-छः दिन बीतते ही बापूजी दिल्ली से लौट आए और उसी समय सायं डॉ०सुशीला बहन को उन्होंने मेरे पास भेजा। वे मेरी परीक्षा कर गयीं। अगले दिन प्रातः उनके साथ बापूजी ने पत्र मेरे नाम से भेजा। उसमें लिखा था--"मैं तीन दिन देर से आया और तुम तो ज्वर को निमन्त्रण दे बैठे। आज तो मेरा 'हरिजन' का दिन है। अतः आ न सकूँगा। साथ ही मौन भी है। तुम पूरा विश्राम नहीं लेते। विश्राम पूर्ण लेना चाहिए। सुशीला बहन कहें सो सब करो। उसने मुझे रात को सब कहा है। विश्राम लेने से ज्वर जाएगा ही। पीछे नागपुर ले जाना शक्य होगा। कुछ असुविधा तो नहीं है न? हो तो सुशीला बहन को कहना। मुझे लिखना। कल तो मिलूँगा ही। बापू के आशीर्वाद. ६-११-३९।"

अगले ही दिन प्रातः भोर होते बापूजी डॉ० सुशीला बहन के साथ मेरी झोंपड़ी पर आ पहुँचे। मेरी दशा देख मुझे एकान्त में दूर छोड़ देना उन्हें उचित न लगा। अपरंच, इतनी दूर वे भी यदा-कदा आ न सकते थे। अतः पुनः मुझे आश्रम ले जाया गया और आश्रम में ही एक ओर किनारे मेरे लिए स्वतन्त्र रहने की व्यवस्था करने लगे। इस प्रकार बापूजी स्वयं मेरे लिए इतना कष्ट उठा रहे हैं यह देख मुझ से विनय का कुछ प्रदर्शन हो गया। --"बापू जी, आप स्वयं मेरे लिए इतना कष्ट क्यों कर रहे हैं? मेरी व्यवस्था तो हो रहेगी।" मेरे मुख से निकल गया। बापूजी ने विनोद में उत्तर देते हुए कहा--"तुम जामाता (दामाद) हो कर रोगी दशा में यहाँ आए, इसलिये मुझे कष्ट उठाना ही चाहिए न? दामाद तो सब को कष्ट देते ही हैं न?" यह सुन पास ही खड़ी बा तथा अन्य सब हँस पड़े। मैं भी खूब ही हँसा। पीछे बापूजी ने कहा --"इस रोग में तुम्हें हँसना भी अधिक न चाहिए।"

अगले दिन से पूज्य बापूजी की देखरेख में मेरी परिचर्या शुरू हुई। रहने का स्थान सब ओर से खुला था। ऊपर ही छप्पर था। मुझे पूर्ण विश्रान्ति मिले इस, दृष्टि से मेरी शय्या के समीप ही वेगोत्सर्ग इत्यादि की भी व्यवस्था की गयी थी। मुझे विस्तर से उठने की खास मनाही थी। खाना-पीना सब विस्तर पर बैठे-बैठे ही। मीरज में मैं जिस प्रकार का विश्राम लेता था, उससे भिन्न प्रकार का यह विश्राम था। इस रोग में रोगी संपूर्ण विश्रान्ति ले तभी स्वस्थ हो सकता है। इस विश्रान्ति की व्याख्या बापूजी




ने मेरे आगे यों की—"तुम्हें सम्राट् के समान पड़े रहने का अभ्यास करना चाहिए। खाने में भी कोई चम्मच से खिलाए और तुम्हें संतोष प्रतीत हो तो तुम्हें हाथ हिलाने का भी कष्ट न करना चाहिए। मक्खी उड़ाने को भी तुम्हें हाथ हिलाना न चाहिए। इसका नाम है पूर्ण विश्रान्ति।" आवश्यकता न हो तो बोलने का भी मुझे निषेध था। किसी को बुलाना हो इस प्रयोजन से मेरे पास एक घंटी रखी गयी थी। इस प्रकार के विश्राम से मुझ में तत्काल परिवर्तन होने लगा। मेरा ज्वर दूर होने लगा और मैं ठीक-ठीक भोजन लेने लगा। नागपुर से डॉ० डेविड को मेरी परीक्षार्थ बुलाया गया था। उनकी सलाह थी कि मेरा आरोग्य कुछ सुधरे तो उनकी क्लिनिक में जा कर ए. पी. ले लूँ। परन्तु बापूजी ने मुझपर अपना प्रयोग चालू रखा और उसमें दिन-दिन सिद्धि दीखने लगी। संपूर्ण विश्राम से और सादे, सात्त्विक अन्नपान से मेरा ज्वर पूर्णतया उतर गया और मुझ में अच्छी स्फूर्ति आने लगी।

प्रतिदिन प्रातः बापूजी डॉ० सुशीला बहन के साथ मेरा निरीक्षण करने को आते थे। संपूर्ण विश्राम के प्रयोजन से विनय के लिए भी शय्या से उठने की मुझे मनाही थी। अतः बिस्तर पर जरा बैठा होता तो भी बापूजी को दूर से आता देखकर तत्क्षण लम्बी तानकर सो जाता। एक दिन बापूजी से मैंने पूछा—"मुझे दाढ़ी बनाने की अनुज्ञा (इजाजत) दें तो अच्छा।" तो बापूजी ने कहा—"अभी तो तुम्हें पञ्चकेश बढ़ाने चाहिए।" बात मुझे जँची नहीं। एक दिन मध्याह्न को पत्नी से मैंने अपना हजामत का सामान मँगाया। उसने बापूजी की अनुमति बिना देने में आनाकानी कर अन्त में दिया। पीछे शय्या पर बैठे-बैठे तकिये का आश्रय ले मैंने हजामत की क्रिया निपटानी शुरू की। परन्तु उसमें श्रम प्रतीत होने के कारण सायं काल कुछ ज्वर चढ़ने लगा। मैं समझ गया, मुझे ठीक बोध मिल गया। परन्तु किसी को कहा भी न जा सकता था। सायंकालिक भोजन यथाकथंचित् पूरा कर मैंने चादर तान ईश्वर का नाम लेते सारी रात आराम में बिताई और उसकी कृपा से प्रातः कठिनाई से ठिकाने आया। बापूजी की मैंने यह बात न की उसका मुझे पश्चात्ताप हुआ। परन्तु विश्राम का महत्त्व मैं ठीक-ठीक समझ गया।

इस रोग में विश्राम के साथ अन्य महत्त्व की वस्तु आहार है। बापू ने उसकी भी व्याख्या की। आहार सादा, सात्त्विक और पोषक होना चाहिए। ताजा दूध, मक्खन, फल, ताजे शाक इत्यादि छूट से लेने चाहिए। गरम मसाले और तली हुई वस्तुएँ अहित हैं। परन्तु लहशुन का प्रयोग किसी भी रूप में चालू रखना चाहिए। उससे लाभ होता है। आश्रम के सादे और सात्त्विक भोजन के साथ ताजा दूध, मक्खन और फल इत्यादि यथेष्ट परिमाण में लेने से मेरा भार ठीक-ठीक बढ़ता जा रहा था। भार प्रति सप्ताह तौलने का क्रम रखा गया था।

तीसरी महत्त्व की वस्तु थी, शुद्ध जल-वायु। शुष्क, खुली और ताजी वायु से फुप्फुसों को विश्राम मिलता है। सीलवाले और अन्धेरे स्थान में रहने से फुप्फुसों को बहुत हानि होती है। अप्राकृत वायु और प्रकाश में अधिक समय रहना भी श्रेयस्कर नहीं।

क्षयरोगी को निसर्ग-सिद्ध उपचारों से स्वस्थ होने के लिए उक्त तीन वस्तुओं की अत्यावश्यकता है, यह बात बापूजी ने मुझे समझायी और इस रीति से मेरी प्रकृति में सत्त्वर सुधार वे उत्पन्न कर सके। ज्यों-ज्यों मेरा भार बढ़ता जाता था त्यों-त्यों मुझे घूमने-फिरने आदि की छूट मिलती जाती थी। मुझे कोई औषध लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। तथापि डॉ० सुशीला बहन के अनुरोधवश थोड़े गोल्ड के और थोड़े केल्शियम के इंजेक्शन क्रमशः मुझे दिए गए। उसके अनन्तर आज तक मैंने किसी प्रकार का औषध लिया नहीं है। ए. पी. लेने की भी मुझे कभी आवश्यकता नहीं हुई। स्वस्थ होने के चारेक मास पीछे सुशीला बहन मुझे नागपुर के डॉ० डेविड के पास ले गयीं। मुझे आरोग्य देख डॉ० डेविड को अत्यन्त संतोष हुआ। मुझे किसी प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है, उन्होंने कहा। साथ ही ग्रीष्म ऋतु में किसी अच्छे स्थान पर रखने की सलाह दी। परन्तु बापूजी का उद्देश्य मुझे यथासंभव ग्राम में ही रखने का था, अतः नागपुर

से कुछ दूर छिंदवाड़ा में मुझे तथा बालकों को रखा गया। वहाँ हम दो मास रहे। पर, उष्णता का प्रभाव मुझे अधिक प्रतीत होने से हम दोनों को पंचगनी भेजने की व्यवस्था बापूजी ने की। पंचगनी में वाडीलाल साराभाई आरोग्य-भवन में मैं चारेक मास रहा। वहाँ मेरी प्रकृति में बहुत सुधार हुआ। चौमासा लगभग समाप्त होने पर मैं पुनः वर्धा बापूजी के समीप गया। मुझे पुनः नागपुर के डॉ० डेविड के यहाँ श्री प्यारेलालजी के साथ भेजा गया। उस काल मेरा आरोग्य संतोषप्रद देख डॉक्टर को सानन्दाश्चर्य हुआ और मुझे मुक्ति मिली।

इसी अवधि में महाराष्ट्र के एक विद्वान् परचुरे शास्त्री महाकुष्ठ (लेप्रसी) से पीड़ित हो अपनी अन्तिम स्थिति में पूज्य बापूजी की शरण में आए थे। उनको आश्रय देते हुए बापूजी ने कहा—"क्षय-ग्रस्त जामाता को जब मैं आश्रय दे सकता हूँ, तो आपका प्रत्याख्यान कैसे कर सकता हूँ? उसकी देख-रेख तो बा आदि करते ही हैं, पर आपकी संभाल कौन लेगा?" यों कह शास्त्री जी को उन्होंने अपने निकट ही रखने की व्यवस्था की और उनकी शुश्रूषा का भार अपने माथे लिया। स्व० महादेवभाई ने अपने एक लेख में यह बात लिखी है।

पूज्य बापूजी ने जो मेरी परिचर्या की सो केवल स्वजन रूप में नहीं, परन्तु अपना आपद्धर्म मान कर की थी। कौटुम्बिक सम्बन्ध तो उन्होंने कब से छोड़ दिए थे। यत्सत्यं, अपने सहकारियों और आश्रमवासियों को ही उन्होंने अपना स्वजन माना था। अतः जब पूर्ण स्वस्थ होकर मुंबई आने के लिये उनकी अनुमति लेने गया तो अपना सिद्धान्त समझाते वे बोले—"तुम जानते हो, मैं जनता के पैसे से आश्रम चलाता हूँ। अतः स्वजन के रूप में तुम्हारा व्यय मैं आश्रम पर डालूँ यह उचित नहीं। सो तुम्हारे रोग पर जो व्यय हुआ हो उसका आंकड़ा तुम ले जाओ और उसके चुकाने की व्यवस्था करो।"

बापूजी की महत्ता मैं भलीभाँति समझ गया। उन्होंने मुझे जो नवजीवन दिया उसके अनुपात में मेरे रोग पर व्यय, जो लगभग पाँच सौ रुपये थे, नगण्य था। हमारे वैद्य जुगतरामभाई ने* उसको चुका देने की व्यवस्था की और उससे बापूजी को बहुत संतोष हुआ।

पूज्य बा, बापूजी और आश्रमवासी भाई-बहनों ने मेरी रुग्णावस्था में जो शुश्रूषा की वह वस्तुतः अमूल्य थी। मैं उसे आमरण भूल न सकूंगा।

**अनु० वैद्य रणजितराय**

*—झंडु फार्मेसी के एक मालिक। लेखक इस फार्मेसी के ही एक कार्यकर्त्ता थे।

---

शेषांश ]

## तपेदिक के रोगी को आनुभविक सलाह

[ पृष्ठ १५२ का

अपने को कौन चीज अनुकूल या प्रतिकूल है, किन चीजों को कितनी मात्रा में और कब लेवें, ये बातें खुद बीमार ही सोच-विचार कर निश्चित करे।

### क्षय रोगी का आहार

**दूध**—बकरी के दूध में क्षय के कीटाणु नहीं हुआ करते। इसमें क्षय-कीटाणु बढ़ते भी नहीं हैं। अन्य सभी दूधों की अपेक्षा इसमें कैल्शियम अधिक मात्रा में मिलता है। यह द्रव्य शरीर में अच्छी तरह और बहुत परिणाम में फैल जाता है। अतः क्षयी व्यक्ति केवल बकरी के दूध पर ही रहे, तो अच्छा। यह दूध ताजा मिले, तो सर्वोतम है। ठंडे दूध को उबालकर लें। **घी**—भेंड़ का ताजा घी लें। इसमें शरीर में चर्बी बढ़ाने का गुण ज्यादा है। यह बड़ा पुष्टिकारक व बलवर्धक है। **मक्खन**—भैंस का या गौ का मक्खन लें। ताजा मक्खन पचने में हल्का होता है। इससे भूख भी बढ़ती है और वजन बढ़ने में मदद मिलती है। मछली का तैल भी वैसा ही है। यह सबसे अधिक और जल्द वजन बढ़ाता है।

**छाछ**—मीठा और ताजा लें। यह हलका होता है और अग्नि को अच्छी तरह प्रदीप्त करता है। इससे भूख भी खूब लगती है।

**मांस**—बकरी के मांस का शोरवा और सूप उत्तम है।

**फ़ल**—मुनक्का, खजूर, पिस्ते, जर्दालू, कटहल, अखरोट, आम, केला, ताड़ के फल, नारियल का दूध, आँवला, द्राक्षा, आलूबुखारा, कूष्मांड, ककड़ी, संतरे, मोसंबी, अमरूद आदि मीठे फल सर्वोत्तम हैं।

**कंद**—प्याज, कोबारुत, सूरन, अरवी के कंद, बिलाईकंद, बीट।

**मूल**—कोमल मूली।

**तरकारियाँ**—सहजन, सलगम, गोभी, ग्वार वथुआ, आवीलोना, चौलाई।

**धान्य**—पुराना गेहूँ व चावल, मूँग, अरहर और उनका उबाला हुआ पानी।

**सालन**—प्याज का भुर्ता, टमाटर का भुर्ता, नींबू का पुराना अचार, जीरा, आमले की चटनी, कँथ का सार।

**वर्ज्य**—नारियल, राई, डालडा घी, हींग, कुंदरू, कड़ुए, कसैले, खट्टे, तैलयुक्त व तले हुए पदार्थ, क्षार, रूखा अन्न, पान (बीड़ा), श्रम, जागरण, व्यवाय, विरेचन, मलमूत्रादि आवेगों का अवरोध, अंजन, स्वेदन, साहस का काम। (भिषक् से)

# क्षयरोग की चिकित्सा

कविराज डा० आशानन्द पंचरत्न, आयुर्वेदाचार्य, एम० बी०, बी० एस०, बी० एस-सी० ए०

आयुर्वेद-मत के अनुसार क्षयरोग पर अनेक महानुभाव लेख भेजेंगे। मैंने यही उचित समझा कि पाश्चात्य-मत का सिद्धान्त पाठकों के सम्मुख रखूँ, जिससे पाठक स्वयं तुलना कर सकें और उचित चिकित्सा में प्रवृत्त हों। मेरा अनुभव है कि वस्तुतः यदि आयुर्वैदिक औषधियों का उपयोग, क्षयरोग के आक्रमण और बचाव के साधनों को समझ कर, किया जाय तो बहुत लाभ होता है। क्षयरोग की चिकित्सा को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके निदान और सम्प्राप्ति को समझा जाय। अतः पहले संक्षेप में उनका वर्णन किया जायगा।



लेखक

**प्रसार**

क्षयरोग विशेष प्रकार के कीटाणुओं से उत्पन्न होता है, जिनको साधारणतया टी० बी० (बैसिलस ट्यूबर्कुलोसिस) कहते हैं। ये कीटाणु क्षय-पीड़ित रोगी के थूक में रहते हैं। सामान्यतः इस रोग का प्रसार भी राजयक्ष्मा के रोगी के थूक द्वारा ही होता है। इस थूक में असंख्य कीटाणु होते हैं। यह थूक शुष्क होकर धूल के साथ मिल जाता है। क्षय-कीट से परिपूर्ण कण वायु में उड़ते हुए अन्य व्यक्तियों के शरीर में जाकर रोग उत्पन्न करते हैं।

यों तो वायु में असंख्य कीट उड़ते-फिरते हैं और अनेक मनुष्य वह वायु अन्दर लेते हैं, परन्तु सब को क्षय-रोग नहीं होता, किसी-किसी को ही होता है। जो पहले से दुर्बल हों, जिन्हें जीर्ण कास हो अथवा जो किसी अन्य व्याधि से पीड़ित हों, जो संकीर्ण गलियों में स्वच्छ-वायु एवं सूर्य-प्रकाश से रहित मकानों में रहते हों, उनको ही होता है। जो खुले मकानों में रहते हैं, स्वच्छ वायु और सूर्य-प्रकाश का सेवन करते हैं, उनको क्षयरोग नहीं हो पाता। कीटाणु फुफ्फुस में प्रविष्ट होकर एक स्थान में बैठ जाते हैं और वहाँ पर गर्त्त (गण्ड) बना लेते हैं। यहाँ से क्षय-कीटों का विष रक्त में मिलकर ताप, दुर्बलतादि उत्पन्न कर देते हैं।

**क्षय-गण्ड की बनावट**

केन्द्र में एक बहुत बड़ी सेल होती है, जिसमें अनेक मीणियाँ होती हैं। इस सेल में क्षय-कीट बहुत अधिक मात्रा में होते हैं। वस्तुतः बहुत-सी सेलें मिलकर एक सेल बनी होती है, अतः उसमें अनेक सेलों की मीणियाँ होती हैं और अनेक क्षय-कीट होते हैं। इस सेल के इतस्ततः छोटी-छोटी अन्य सेलों की बहुत-सी तहें होती हैं। ज्यों-ज्यों ये सेलें ऊपर को होती जाती हैं, त्यों-त्यों चपटी

होती जाती हैं। ये बाहर की ओर लम्बी-लम्बी, चपटी-चपटी तन्तुओं के समान होती हैं। सबसे बाहर वही सौत्रिक तन्तुओं का रूप धारण कर लेती हैं। या यों समझिए कि सौत्रिक तन्तुओं के आवरण में गोल सेलें होती हैं। सबसे अन्दर की ओर बहुमींगीयुक्त सेल होती है, जो क्षय-कीटों से परिपूर्ण होती है। इसे देखने पर यही प्रतीत होता है कि प्रकृति दुर्ग बनाकर क्षय-कीटों को उसमें बन्द रखना चाहती है। इन गण्डों में रक्तवाहिनियाँ नहीं होतीं, जिससे उनमें रक्त नहीं जा पाता। बाहर से रक्त से चूकर लसीका जाती है और गण्ड के सेलों का पोषण करती है।

रोग-वृद्धि की अवस्था में अन्दर की सेलें शनैः-शनैः गलने लगती हैं और पूय बन जाती है। इस पूय में असंख्य क्षय-कीट होते हैं। यही पूय थूक से मिलकर बाहर निकलती रहती है। जब तक गण्ड गलता-फटता नहीं, थूक में क्षय-कीट नहीं आते। रोग-शान्ति की अवस्था में गण्डों के बाहर सौत्रिक तन्तुओं की दीवार में खटिक कण ( Calcium salt deposit) बैठने लगते हैं। शनैः-शनैः गण्ड के चारों ओर तथा गण्ड के अन्दर खटिक लवण बैठ जाते हैं और सारी ग्रन्थि (गंड) अश्मवत् खटिक-मय हो जाती है। इसके अन्दर रक्त-रस (लसीका) नहीं जा पाते और अन्दर के क्षय-कीट आहारहीन हो कर शनैः-शनैः मर जाते हैं। क्षय-कीट महाप्राण हैं। इनके मरते-मरते भी २-४ वर्ष लग जाते हैं। यदि खटिक कण पूरी तरह से न बैठें, तो कुछ-न-कुछ आहार (लसीका) क्षय-कीटों तक पहुँच ही जाता है और वे अर्ध जीवित अवस्था में बने रहते हैं तथा अनुकूल परिस्थिति मिलने पर पुनः बढ़ कर रोग उत्पन्न कर देते हैं। यही कारण है कि राजयक्ष्मा के रोगियों में सामान्यतया रोग शान्त होने पर भी आजीवन रोग होने का भय बना ही रहता है।

### लक्षण

राजयक्ष्मा के पाँच रूप हैं--

(१) तीव्र श्वसनक राजयक्ष्मा (Acute Lobar Pneumonic phthisis)--इसमें लोबर न्यूमोनिया जैसे लक्षण होते हैं।

(२) तीव्र फुफ्फुस प्रणाली प्रादाहिक राजयक्ष्मा अर्थात् तीव्र ब्रांको न्यूमोनिक राजयक्ष्मा (Acute Broncho Pneumonic phthisis)--इसमें ब्रांको न्यूमोनिया के लक्षण होते हैं।

(३) जीर्ण ब्रांको न्यूमोनिक राजयक्ष्मा (Chronic Broncho Pneumonic phthisis)--यही रूप प्रायः पाया जाता है। इसीको सामान्यतया राजयक्ष्मा, ट्यूबर्कुलोसिस या थाइसिस तथा यूनानी में तपेदिक या सिल कहते हैं।

(४) जीर्ण सौत्रिक तन्तुमय राजयक्ष्मा (Chronic fibroid phthisis)--यह अनेक (१०-१५-२०) वर्षों तक चलता है। खाँसी सदा बनी रहती है। कभी मंद ताप हुआ, कभी चला गया। क्षय के विशेष लक्षण स्पष्ट नहीं होते। दक्ष वैद्य छाती की परीक्षा से रोग का ज्ञान कर लेते हैं, अन्यथा छाती की एक्स-रे परीक्षा से स्पष्ट होता है।

(५) सार्वत्रिक राजयक्ष्मा (Miliary Tuberculosis)--फुफ्फुसों में सर्वत्र सूक्ष्म-सूक्ष्म गण्ड पाये जाते हैं। तीव्र ताप रहता है। वैद्य प्रायः इसे टाइफाइड (आन्त्रिक) ज्वर समझते हैं। यह आशुकारी रोग है। शीघ्र ही बढ़ कर रोगी का प्राण हरण कर लेता है। इसमें लोबरवत् और ब्रांकोवत्--दोनों प्रकार के लक्षण फुफ्फुसों में विद्यमान होते हैं। यहाँ सब लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन करना शक्य नहीं है। पाठक इसे निदान की अन्य पुस्तकों में पढ़ सकते हैं।

जहाँ ये क्षय-कीट होते हैं, वहाँ विष उत्पन्न होता है। यही विष रक्त में लीन होकर विभिन्न लक्षणों को उत्पन्न करता है। यदि यह सम्भव हो कि विष को स्थानबद्ध कर लिया जाय और रक्त में न मिलने दिया जाय, तो लक्षण उत्पन्न नहीं होंगे। यद्यपि ऐसा होना सर्वथा सम्भव नहीं; तथापि यदि रुग्ण स्थान को अकर्मण्य कर दिया जाय, तो वहाँ रक्त-संचार कम हो जायगा, विष भी कम लीन होगा और लक्षण भी कम तीव्र होंगे।

राजयक्ष्मा के विशेष लक्षण इसी एक अर्ध श्लोक में निहित है--

"क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः।"

--मा० निदान

अर्थ--क्षयरोग में सब धातु (रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र) शनैः-शनैः क्षीण होने लगते हैं। परिणामतः रोगी दिन-दिन क्षीण होता चला जाता है।

चरक ने चिकित्सा-स्थान में लिखा है कि "अश्नतस्त्वापि बलभांस परिक्षयः"--सब कुछ खाते-पीते हुए भी रोगी का मांस (शरीर) और बल (शक्ति) क्षीण होता जाता है।

इसके अतिरिक्त कास, ज्वर, परिस्वेदन और रक्त-पित्त के लक्षण बहुत जरूरी हैं। सब रोगियों में प्रतिदिन बढ़नेवाली क्षीणता, कास, ज्वर और अनियमित स्वेद--ये लक्षण तो होते ही हैं, नाड़ी की गति भी तेज होती है। थोड़ा-सा श्रम करने पर भी नाड़ी की गति बहुत बढ़ जाती है। ये चारों लक्षण अवश्यमेव होते हैं। रक्त-पित्त यक्ष्मा का विशेष लक्षण है। परन्तु यह हर रोगी में नहीं होता, किसी-किसी में होता है। कभी-कभी तो यह इतना भयानक होता है कि इससे रोगी की मृत्यु तक का भय रहता है।

नोट--रोग-निदान के लिए विस्तृत लक्षणों का जानना जरूरी है। यहाँ केवल वे ही लक्षण दिये गये हैं, जिनका सम्बन्ध चिकित्सा से है।

## चिकित्सा

हम ऊपर लिख आये हैं कि यह रोग उन्हीं को होता है तथा उनमें ही वृद्धि पाता है, जो सूर्य-प्रकाश और स्वच्छ वायु का सेवन नहीं करते तथा आहार-विहार आदि स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना करते हैं। रोग हो जाने पर प्रकृति रोग के शमन का स्वयं यत्न करती है। शरीर में क्षय-कीटों के चारों ओर प्रकृति सौत्रिक तन्तुओं का दुर्ग बनाकर उसमें खटिक कण बिठाती है, ताकि आहार न मिलने पर वे कीट स्वतः मर जायँ।

क्षय के विष को उदासीन करने के लिए समस्त शरीर की सेलें प्रतिविष बनाती हैं। इस कार्य के लिए सूर्य-प्रकाश, स्वच्छ वायु, विश्राम और पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है। वास्तव में शरीर की सेलों और कीटाणुओं में युद्ध होता है। इस समय हमारा कर्तव्य है कि हम शरीर की सहायता करें। इसमें रोगी और चिकित्सक का पूरा-पूरा सहयोग आवश्यक है।

यह ध्यान रहे कि अन्य सब ओषधियाँ और क्रिया निष्फल है, यदि निम्नोक्त चार बातों को पूर्णरूपेण समझकर इनपर पूरा-पूरा ध्यान न दिया जाय। अर्थात् (१) सूर्य-प्रकाश, (२) स्वच्छ वायु का नियमपूर्वक व विधिपूर्वक सेवन, (३) विश्राम और (४) पौष्टिक आहार।

## ओषधि-चिकित्सा ( आयुर्वैदिक औषधियाँ )

इस रोग में स्वर्ण का स्थान सर्वोत्तम है। स्वर्ण के योगों को यक्ष्मा की चिकित्सा में विशेष महत्त्व दिया गया है। यदि उपरिलिखित साधारण प्राकृतिक चिकित्सा के साथ स्वर्ण-योग दिये जायँ, तो अद्भुत लाभ होता है। प्रायः निम्नलिखित ओषधियों में से कोई एक ओषधि दी जाती है--

(१) स्वर्णवसन्त मालती रस--यह अन्त्रक्षय और राजयक्ष्मा दोनों में लाभ करता है।

(२) सर्वांग सुन्दर रस--राजयक्ष्मा में अधिक उपयोगी है।

(३) राजमृगांक रस।

(४) काञ्चनार अभ्र।

(५) बृहत् लक्ष्मीविलास रस--यह ओषधि विशेष कर राजयक्ष्मा की पूर्वावस्था में, जहाँ प्रतिश्याय रहता हो, विशेष लाभ करती है।

(६) जयमंगल रस--राजयक्ष्मा में यदि अतिसार साथ हो और पतले दस्त आते हों।

(७) चतुर्मुख रस--राजयक्ष्मा के साथ यदि श्वास, पाण्डुरोग अथवा वातिक लक्षण साथ हों।

(८) हेमगर्भ रस--तब देना चाहिए, जब श्वास भी साथ हो।

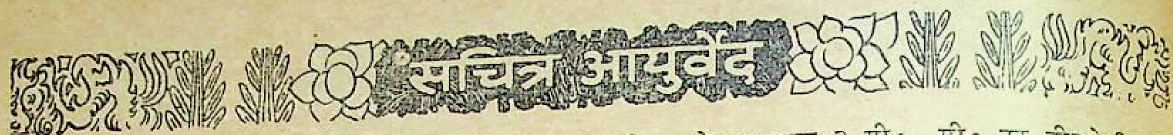
इन सबकी मात्रा आधी रत्ती से एक रत्ती तक है। इनमें निम्नोक्त कोई एक दवा ४ रत्ती मिला लें--

शृंगभस्म--जब खाँसी अधिक हो।

प्रवाल पिष्टी--जब दाह हो या रोगी उष्णता का अनुभव करे।

कुलीर अस्थि भस्म--जब पसीना अधिक आता हो।

श्वेता भस्म--रक्त-पित्त युक्त राजयक्ष्मा में बहुत




उपयोगी है, अर्थात् जहाँ रक्तष्ठीवन साथ हो रहा हो।

अभ्रक भस्म यदि सहस्रपुटी मिले, तो बहुत उत्तम है, अन्यथा शतपुटी तो अवश्य होनी चाहिये। यह संताप और शक्ति के लिए बहुत लाभदायक है। इसको भी साथ मिला कर दें।

मात्रा—आधी रत्ती से एक रत्ती।

नं० एक, दो और तीन में से एक-एक मिलाकर दिन में दो बार मधु या मक्खन से या दोनों को विषम मात्रा में मिलाकर देना चाहिए। इनके साथ-साथ च्यवनप्राश, वासावलेह या अमृतप्राश घृत दूध के साथ दिन में दो बार देना चाहिये। इन ओषधियों को मधु के स्थान पर अनुपान के रूप में भी प्रयोग में ला सकते हैं। यदि कास बहुत अधिक हो और तंग करे, तो दशमूलादि घृत ६ माशा से १ तोला तक दूध के साथ दिन में दो-तीन बार देने से विशेष लाभ होता है।

रक्त-पित्त (रक्तष्ठीवन) के लिए शुद्ध लाक्षा १॥ माशा और श्वेतामात्र २-३ माशा ठण्डे जल से दिन में ३-४ बार देने से विशेष लाभ होता है। केवल पानी अथवा शर्बत अंजबार से भी दे सकते हैं। लोध्रपठानी, शतावरी, नागकेशर और श्वेत चन्दन समभाग का चूर्ण २-३ माशा ठण्डे पानी से दें।

## एलोपैथिक ओषधियाँ

सामान्य प्राकृतिक सूर्य-प्रकाश, स्वच्छ वायु, विश्राम तथा पौष्टिक आहार-चिकित्सा के साथ ही ओषध-चिकित्सा लाभ करती है; अन्यथा सब व्यर्थ है। डाक्टरी में यक्ष्मा के लिए हाल में तीन विशेष ओषधियों का आविष्कार हुआ है। उनका वर्णन आगे आयगा। पहले हम साधारण ओषधियों का वर्णन करते हैं—

(१) मछली का तैल (Cod liver oil)—इसमें विटामिन ए और डी ही विशेष उपयोगी है। अतः मछली के तैल की अपेक्षा उनका प्रयोग आजकल अधिक होता है।

(२) कैल्शियम साल्ट्स—आजकल विटामिन्स और कैल्शियम दोनों को मिलाकर देते हैं। उनमें से कुछ के नाम नीचे देते हैं—

(१) Osteo Calcium गोलियाँ अथवा मांसान्तर्गत इन्जेक्शन द्वारा २ सी० सी० हर तीसरे दिन या गोलियाँ भी दे सकते हैं। Colloidal Calcium with ostelien (glaxo) यह इन्जेक्शन द्वारा प्रयुक्त होती है।

(२) Colloidal Calcium with vitamin D नं० १ के अनुसार।

(३) Polyvil Calcii (B. C.) गोलियाँ

(४) Cal-de-Vil गोलियाँ

(५) Colezol B. R. B. गोलियों के रूप में प्रयुक्त होती है। अथवा केवल कैल्शियम के योग से भी दे सकते हैं। इनकी मात्रा शीशीपर लिखी रहती है।

(I) Calcima (cipla), (II) Kalazana (wulfia), (III) Calcinol ((Rapt), (IV) Kalzuin (P. C. W) और (V) Calcisol (C. D. C) प्रभृति अनेक ओषधियाँ और भी मिलती है। सबसे सस्ती और पर्याप्त लाभदायक ओषधि कैल्शियम ग्लूकोनेट (Calcium Gluconate) या (Calcium Lactate) की ५-५ ग्रेन की गोलियाँ दिन में ३ बार दूध या पानी के साथ दें।

## स्वर्ण-चिकित्सा

पाश्चात्य चिकित्सा में आजकल, जब से नवीन ओषधियों का आविष्कार हुआ है, इसका प्रयोग बन्द हो गया है। वैसे भी ये स्वर्णोषधियाँ आयुर्वेदीय स्वर्ण ओषधियों का मुकाबला नहीं कर सकती। अतः उनका वर्णन व्यर्थ समझ कर नहीं किया जायगा। नीचे उन विशेष ओषधियों का वर्णन किया जाता है, जिनका हाल में ही आविष्कार हुआ है तथा जो विशेष लाभदायक भी हैं।

(१) स्ट्रेप्टोमाइसिन (Streptomycin)—निश्चय ही इस ओषधि ने क्षय-चिकित्सा में एक नवीन अध्याय जोड़ दिया है। यह बहुत उपयोगी ओषधि है। आरम्भ में यह भय था कि इसके प्रयोग के कुछ काल बाद क्षय-कीट (टी० बी०) दृढ़काय (Resistant) हो जाते हैं। यदि इस ओषधि से लाभ न हो, तो उन कीटों पर किसी ओषधि का प्रभाव नहीं होता और रोग असाध्य हो जाता है। परन्तु अब आगे लिखी जानेवाली ओषधियों के उपयोग से वह भय जाता रहा। हाँ, यह समझ लेना परमावश्यक है कि उनका उपयोग कहाँ होता है।

वैसे तो हर प्रकार के क्षय में यह उपयोगी औषधि है; परन्तु निम्नोक्त दशाओं में इस का बड़ा महत्व है--

(१) नवीन क्षय में।

(२) जब रोग शीघ्रातिशीघ्र बढ़ता जाय और अन्य किसी चिकित्सा का उस पर कोई असर न हो।

(३) जब राजयक्ष्मा के साथ-साथ अन्य उपद्रव भी उपस्थित हों, यथा--(क) शीर्षावरण-क्षय (Tubercular meningitis), (ख) अस्थि-क्षय (Tuberculosis of bones) और (ग) गण्डमाला, अपची इत्यादि ( Tuberculosis of glands)। वस्तुतः स्ट्रेप्टोमाइसिन के आविष्कार से पूर्व शीर्षावरण क्षय की कोई चिकित्सा ही न थी। यह रोग घातक था। अब इस औषधि का तथा इसके साथ अन्य औषधियों के प्रयोग से लगभग ७० प्रतिशत रोगी बचाये जा सकते हैं।

(४) सार्वत्रिक क्षय (Miliary Tuberculosis)-- यह रोग भी शीर्षावरण क्षय की भाँति असाध्य व आशु-घातक था। अब नये आविष्कारों से बहुत कुछ आशा बंध चुकी है।

**स्ट्रेप्टोमाइसिन की मात्रा और उपयोग**--आधा ग्राम दो बार दिन में या १ ग्राम १ बार दिन में मांसान्तर्गत इंजेक्शन द्वारा। इस औषधि की आधा ग्राम या १ ग्राम की शीशी मिलती है। इसमें इन्जेक्शन देते समय ३ सी० सी० रीडिस्टील्ड वाटर ( Redistilled water) डाल कर घोल लें और तत्काल इन्जेक्शन दे दें।

(२) पास (P A S)--इसका पूरा नाम पारा-एमीनो-सैलिसिलिक एसिड (Para-amino Salicylic-Acid) है।

**मात्रा**--१५-२० ग्राम को ४ भागों में विभक्त कर (अर्थात् ४-५ ग्राम प्रति बार) पानी के साथ ४ बार दिन में दें। इस से भूख के बन्द होने की आशंका रहती है। यदि जी मिचलाये या भूख बन्द हो जाय, तो इसकी मात्रा कम कर दें अथवा बन्द ही कर दें। यह औषधि स्वतः अकेली नहीं, परन्तु स्ट्रेप्टोमाइसिन के साथ देने से बहुत लाभकारी सिद्ध होती है और स्ट्रेप्टोमाइसीन का लाभ भी बढ़ जाता है।

(३) आइसोटिनिक एसिड हायड्रोजाइड--(Isotinic acid Hydrozide) इसको संक्षेप में आइसोनियोजिड (Isoneozid) कहते हैं।

मात्रा--५० मिली ग्राम (50 mgs) चार बार दिन में। अथवा १०० मिलीग्राम (100 mgs) दो बार दिन में। यह भी पासा की तरह अकेले लाभ नहीं करती, बल्कि स्ट्रेप्टोमाइसिन के साथ देने से ही पूर्ण लाभ करती है। साथ ही स्ट्रेप्टोमाइसीन के लाभ को बहुत बढ़ा देती है। यह पास की अपेक्षा अधिक उत्तम है। पास और इसको एक साथ नहीं देना चाहिए। प्रत्युत् स्ट्रेप्टोमाइसिन को पास या आयोनियोजिड् के साथ प्रयोग करना चाहिये, अकेले नहीं। यदि स्ट्रेप्टोमाइसिन अकेली प्रयुक्त की जाय, तो थोड़ा लाभ करके पुनः व्यर्थ हो जाती है और क्षय-कीट (टी० बी०) भी बहुत दृढ़ हो जाते हैं। दूसरी कोई औषधि उन पर काम नहीं करती। दूसरे शब्दों में, रोग असाध्य रूप धारण कर लेता है।

यदि इसके साथ पास अथवा आइसोनियोजिड दिये जायें, तो अधिक और स्थाई लाभ होता है तथा क्षय-कीट दृढ़ नहीं हो पाते। उत्तम तो यह है कि पहले ३-४ सप्ताह स्ट्रेप्टोमाइसिन और पास दें। पश्चात् स्ट्रेप्टोमाइसिन और आइसोनियोजिड दें। तीनों कभी इकट्ठा नहीं देना चाहिए। इसका ध्यान रखें कि ४० दिन में अवश्य और पर्याप्त लाभ हो जाता है। यदि आवश्यकता हो, तो २० दिन बन्द करके पुनः उन औषधियों का उपचार करें। यदि ४० दिन में लाभ न हो या अमुक दशा तक लाभ होकर पीछे लाभ होना बन्द हो जाय, तो समझ लेना चाहिए कि यह औषधि उस रोगी के लिए बेकार है।

### राजयक्ष्मा की शल्य चिकित्सा

शल्य चिकित्सा का उद्देश्य केवल एक ही होता है कि रुग्ण फुफ्फुस को अकर्मण्य अर्थात् निश्चल बना दिया जाय, जिस से उस पार्श्व का फुफ्फुस कार्य-रहित हो जाय। साधारण क्षय अथवा क्षय के आरम्भ में केवल विश्राम ही पर्याप्त है। यदि विश्राम से लाभ न हो, तो फुफ्फुसों को अकर्मण्य करने की चिकित्सा करनी चाहिए। अकर्मण्य करने के कई तरीके हैं। सब से अधिक उपयोगी और प्रायः प्रचलित तरीका फुफ्फुसावरणों में वायु का भरना है। इसको आर्टिफिसियल न्यूमोथोरेक्स (Artificial

Pneumothorax) कहते हैं। इसका अर्थ है बाहर से छाती में वायु भरना।

फेफड़े के बाहर दो आवरण होते हैं। इसे यों समझिये कि कला की एक थैली चारों ओर से बन्द होती है। ऐसी दो थैलियाँ हैं। एक थैली दायें फुफ्फुस के ऊपर है और एक बायें फुफ्फुस के ऊपर। इनमें वायु आदि कुछ भी नहीं होता। इनके रिक्त रहने के कारण फेफड़े को फैलने का अवसर प्राप्त होता है। इनमें वायु भरने से फेफड़े सिकुड़ जाते हैं और फैलते नहीं। इनमें न तो वायु आता है और न जाता ही है। अर्थात् वे अकर्मण्य हो जाते हैं। इनमें वायु भरने की क्रिया को आर्टिफिसियल न्यूमोथोरेक्स कहते हैं।

आर्टिफिसियल न्यूमोथोरेक्स के प्रयोग से निम्न लाभ होते हैं--

(१) विष (टी० बी० विष) का संचार बहुत कम हो जाता है।

(२) रोग वहीं रुक जाता है, आगे प्रसार नहीं हो पाता।

(३) यदि कोई गर्त्त बन चुका हो, तो उसका बनना बन्द हो जाता है।

(४) थूक में टी० बी० यदि न जाते हों, तो नहीं रहते और आने बन्द हो जाते हैं।

(५) यदि रक्तष्ठीवन बारम्बार हो और रुके नहीं, तो इससे बन्द हो जाता है।

(६) रोग शीघ्र शान्त हो जाता है। चिकित्साकाल बहुत कम हो जाता है।

(७) मधुमेही को यदि राजयक्ष्मा हो जाय, तो इस उपाय के अतिरिक्त और कोई चिकित्सा नहीं।

(८) गर्भावस्था में यदि राजयक्ष्मा हो जाय, तो भी इसी उपाय का आश्रय लेना चाहिए।

(९) राजयक्ष्मा के साथ अस्थि, सन्धि, अंगादि किसी स्थान का क्षय हो, तो भी इसी पद्धति का आश्रय लेना चाहिए।

विधि--कृत्रिम वायु भरने की विधि का वर्णन इस लेख की सीमा से बाहर है। बिना सीखे इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। यहाँ पर केवल वायु कितना, कब-कब तथा कितने समय तक भरना चाहिए--इन बातों का ही उल्लेख किया जाएगा।

### वायु कितना और कब-कब भरना चाहिए ?

सामान्यतया एक समय २५०-३०० सी० सी० भरना चाहिए। ३५० सी० सी० अधिक न भरें। भरते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि फुफ्फुसावरणों में दबाव (pressure) सदा वियोग में (minus) रहे। सामान्यत: यह ५ से १० तक रहता है। पहले दिन २५०-३०० सी० सी० वायु भरें। दूसरे दिन भी इतना ही। फिर दो दिन बाद। इसके बाद एक-एक सप्ताह बाद। कभी - कभी ३-४ बार हर दूसरे दिन वायु भरना पड़ता है। प्रायः २ बार १-१ दिन बाद और २ बार दो दिन बाद। तत्पश्चात् हर सात दिन बाद वायु भरें, जब तक कि सारा फुफ्फुस संकुचित न हो जाय। संकुचित होने के बाद इसके मध्य के समय को लम्बा करते जायें। पहले १०-१० दिन बाद और फिर २-२ सप्ताह बाद और क्रमशः ३-३ तथा ४-४ सप्ताह बाद। फुफ्फुस को दो-तीन साल तक संकुचित रखना पड़ता है। कभी-कभी तो आजीवन वायु भरना पड़ता है। इसकी जरूरत निम्नोक्त अवस्थाओं में पड़ती है--(१) जब टी० बी० थूक में आजीवन आते रहें। (२) जब पुनः-पुनः रक्तष्ठीवन हो और (३) मधुमेही विशेष कर वृद्धावस्था में।

### उपद्रव

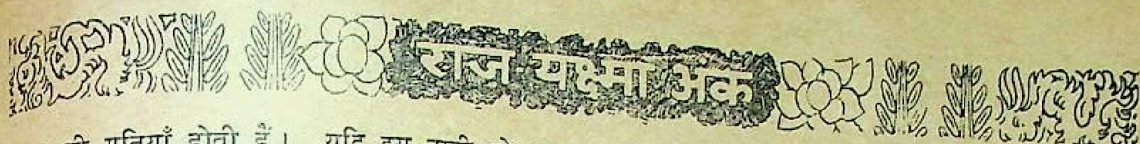
(१) जब फुफ्फुसावरणों की दोनों तहें जुड़ी हुई हों, तब वायु नहीं भरा जा सकता।

(२) किसी-किसी रोगी में फुफ्फुसावरणों में वायु भरने के लिए सुई डालते-डालते शॉक (हृदयकार्यविरोध) से मृत्यु हो जाती है। यदि सुईवाले स्थान को सम्मोहन क्रिया से सुन्न कर लिया जाय, तो यह उपद्रव नहीं होता।

(३) कभी-कभी फुफ्फुसावरणों में तारल्य उत्पन्न हो जाता है। तारल्यावस्था में आगे वायु का भरना बन्द करना पड़ता है।

(४) असावधानी से संक्रमण (ज्वरादि) हो जाने का भय रहता है।

फुफ्फुसों को जानेवाली नाड़ी (Phrenic nerve) को काट देते हैं या कुचल देते हैं। इसी नाड़ी के बल पर



फुफ्फुस की गतियाँ होती हैं। यदि इस नाड़ी को काट दिया जाय, तो फुफ्फुसों का अधोभाग सर्वदा के लिये निश्चल अर्थात् अकर्मण्य हो जायेगा। यदि कुचल दिया जाय, तो ६ मास तक फुफ्फुस का अधोभाग निश्चल रहता है। काट डालने की अपेक्षा कुचलनेवाली क्रिया अधिक श्रेयस्कर है। नाड़ी को काटने या कुचलने से फेफड़े का अधोभाग निश्चल हो जाता है। अतः जब रोग फेफड़े के नीचे के भाग में हो, तब इसका प्रयोग होता है। इस विधि का प्रयोग तब होता है, जब वायु भरा न जा सके।

**उदरकला में वायु का भरना** ( Pneumoperitoneum )—उदरकला में वायु बिल्कुल उसी प्रकार अर्थात् १-१ दिन, २-२ दिन और ७-७ दिन बाद भरा जाता है। भरने का क्रम बिलकुल फुफ्फुसावरण जैसा ही है। यह क्रिया केवल फेफड़े के अधोभाग को विशेष कर बाएँ फुफ्फुस के अधोभाग को संकुचित करने के लिए प्रयुक्त होती है। इसका प्रयोग तभी किया जाता है, जब छाती में वायु न भरा जा सके। यह एक प्रकार से नं० २ विधि का स्थानापन्न है। इसका प्रयोग बहुत कम होता है।

रुग्ण पार्श्व के ओर की पर्शुकाओं (पसलियों) को काट कर निकाल देना चाहिए। इसको थोरेकोप्लास्टी (Thoracoplasty) कहते हैं। यह शल्यकर्त्ता (सर्जन) के अधिकार में है। ऊपर की ३–४ पर्शुकाएँ निकाल डालते हैं या कभी-कभी ५, ६, ७, ८ या १० पर्शुकाएँ निकाल डालते हैं। इससे फुफ्फुस सर्वदा के लिए पूर्णरूपेण निष्क्रिय हो जाता है। यह क्रिया फुफ्फुस-संकोचन क्रिया का अन्तिम पग है।

उपरिलिखित अन्य किसी क्रिया से जब कुछ भी लाभ न हो, तो इससे फुफ्फुस का अवश्यमेव स्थायी संकोच हो जाता है। इस क्रिया को युवावस्था में (३१-४५ वर्ष की आयु तक) किया जाता है।

इन सब क्रियायों के साथ-साथ क्षयरोग की साधारण चिकित्सा तथा स्ट्रेप्टोमाइसिन आदि की चिकित्सा करनी पड़ती है। पहले लिख चुके हैं कि रोग की मृदु अवस्था अथवा आरम्भ में केवल विश्राम—काय-चिकित्सा—से रोग ठीक हो जाता है।

**बी० सी० जी० वैक्सीन (B. C. G. Vaccine) द्वारा राजयक्ष्मा की प्रतिशोधक चिकित्सा—**

बी०=वैसीलस (कीटाणु) सी० और जी० आविष्कर्त्ताओं के नामों का संकेत है। सी०—कैल्मेट (Calmette) और जी०—ग्यूरिन (Guerin) को दर्शाते हैं। इन दोनों महाशयों ने १५ वर्ष तक ट्यूबर्क्यूलर वैक्सीन पर काम करने के बाद यह वैक्सीन निकाला। इस वैक्सीन में अति मृदु (अल्प) शक्तिवाले क्षय-कीट (टी० बी०) होते हैं, जो मनुष्य-शरीर में जाकर क्षयरोग तो उत्पन्न नहीं करते, प्रत्युत् क्षयरोग के विपरीत प्रतिविष उत्पन्न करके रोग से बचाने का साधन बनाते हैं। जैसे शीतला के टीके से शीतला नहीं होती, उसी प्रकार इस वैक्सीन के इन्जेक्शन से क्षयरोग नहीं होता।

बड़े-बड़े नगरों में २५ वर्ष की आयु से पूर्व ही बहुत से पुरुषों में टी० बी० के कीटाणु जाकर क्षयरोग का मृदु आक्रमण कर देते हैं, जिससे रोग तो नहीं होता—साधारण-सा ज्वर या कास होकर ठीक हो जाता है। पुरुषों में अलबत्ता क्षय के विरोध में प्रतिविष ( anti-bodies ) उत्पन्न हो जाते हैं, जो उस व्यक्ति में क्षयरोग नहीं होने देते। जिनमें ऐसा प्रतिविष पहले उपस्थित न हो, उनको ही बी० सी० जी० वैक्सीन दिया जाता है। जिनमें पहले क्षयरोग के कीटाणु नहीं गये, उनमें एतदर्थ पहले एक टीका लगा कर देखते हैं कि उनको कभी क्षय का मृदु आक्रमण हो चुका है; अर्थात् उनमें प्रतिविष पहले से उपस्थित हैं या नहीं। यदि है, तो टीकेवाला स्थान फूल जाता है। उनको बी० सी० जी० का दूसरा टीका नहीं करते। यदि पहली परीक्षा का टीका नहीं फूला तो यही अर्थ निकालते हैं कि उनके भीतर क्षय-कीट नहीं गये—उनमें क्षय का प्रतिविष नहीं—उनमें क्षय-रोग को रोकने की शक्ति नहीं। ऐसे व्यक्तियों को राजयक्ष्मा होने का बहुत भय रहता है। अतः उनको बी० सी० जी० वैक्सीन का टीका पुनः देते हैं। इस विधि से राजयक्ष्मा बहुत रुक गया है। वस्तुतः रोग न होने देना ही चिकित्सक का सर्वप्रथम ध्येय होना चाहिये।

# प्रमिताशनजन्य अस्थिक्षय : अस्थिभंग-चिकित्सा

वैद्य विन्दुमाधवशास्त्री पण्डित

आधुनिक पश्चिमात्य चिकित्सकों को चक्कर में डाल देनेवाले और आयुर्वेदीय विचारसारणी के अनुसार निदान-चिकित्सा की व्यवस्थित संगति के अनुकूल, आधुनिक चिकित्सकों को भी मार्ग-दर्शक हो सकनेवाले एक रोगी की निदान-चिकित्सा नीचे विस्तार के साथ दी जा रही है।

"साहसं वेगसंरोधः शुक्रौजः स्नेहसंक्षयः।
अन्नपानविधिस्त्यागः चत्वारस्तस्य हेतवः।"

ऊपर राजयक्ष्मा, क्षय तथा शोष संज्ञा से पहचाने जानेवाले रोग के चार कारण बतलाए गए हैं। प्रस्तुत रोगी पर उनमें से वेगसंरोध और अन्नपान-विधि-त्याग—यह दो कारण घटित हुए थे और शरीर के शुक्र, ओज तथा स्नेह के संरक्षण-संवर्धन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। उसमें साहस का नाम भी नहीं था।

## दोष-प्रकृति-विचार

रोगी का जीवनक्रम इस प्रकार रहा है—सन् १६१६ के लगभग उसने गणित में बी० ए० (ऑनर्स) पास किया और अविवाहित रहकर राष्ट्रीय शिक्षा के कार्य में अपना जीवन लगा दिया। उसकी विवाहिता भाभी और बाद में माँ भी क्षय रोग से दिवंगत हुई थीं। आयुर्वेद में जिसको वात-प्रकृति कहा गया है, अधिकतर उसके ही लक्षण उनमें प्राप्त होते थे।

## वातप्रकृति के लक्षण

निद्रित अवस्था में उसकी आँखें खुली रहती थीं और वह तेजी से चलता था। बोलने में वह ऊबता नहीं था। भोजन के समय ही पानी पीता था। शरीर रूक्ष था। पसीना नहीं आता था। मीठे और खटमिठ्ठे पदार्थों के प्रति अधिक रुचि थी। छुटपन में खटमिट्ठी बहुत अच्छी लगती थी। दाल-भाजी में डाले हुए नमक के अलावा भी वह भोजन के समय अधिक नमक लेता था। कटु रसवाली भाजियाँ, सुपारी आदि उसे अच्छी नहीं लगती थीं। गरम पानी से स्नान करना उसे प्रिय था। उसे ६ घंटे नींद आती थी, यानी निद्रा की कमी थी। गान के प्रति प्रेम था। गर्मी सहन नहीं होती थी। कफ का विकार कभी नहीं हुआ था।

## विपरीत आहार का कुफल

इस प्रकार इस वात-प्रकृति व्यक्ति के जो आहारादि एवं वातशामक उपचार होने चाहिए थे, वे कुछ ज्ञानतः और कुछ अज्ञानतः सम्भव नहीं हुए। वात-दोष का शमन करने के लिए स्निग्ध व बृंहणामक जीवनक्रम



यह चित्र लेखक का नहीं, लेखक द्वारा चिकित्सित **अस्थि-भंग के रोगी श्री पी० डी० कुलकर्णी** का है। इस लेख में आपके ही चिकित्साक्रम का विशद वर्णन है। तीरवाला निशान अस्थिभंग-स्थान को प्रदर्शित करता है।

होना चाहिए। इसकी जानकारी न होने के कारण विपरीत आचार घटित हो गया और उसका परिणाम अस्थि-मज्जा-धातु क्षीण होने के रूप में हुआ।

## प्रकृति के अनुरूप आहार जरूरी

वात, पित्त और कफ-प्रकृति के मनुष्यों के लिए नित्य सेवन करने योग्य वस्तुएँ अलग-अलग हैं। उनके सिद्ध-

कल्प अलग है और उनके सेवन का परिमाण या मात्रा भी अलग है। पर हम वैद्यों को इस सिद्धान्त का स्मरण नहीं रहता।

### अल्पाहार का परिणाम

साधारणतया व्यवहार में यह कहा और सिखाया जाता है कि अधिक खाने-पीने से ही रोग होते हैं, अतएव दो ग्रास कम खाना अच्छा है। इससे प्रकृति अच्छी रहती है। इसके अनुसार यह कहने और शिक्षा देनेवाले लोग हमेशा दो निवाला कम खाते हैं। वात-प्रकृति मनुष्य को नपा-तुला (प्रमित) भोजन नहीं करना चाहिए। उनको अपने आहार में कुछ गुरू (पचने में भारी) द्रव्य अवश्य सेवन करना चाहिए--यह बात उस व्यक्ति को ५७ वें वर्ष पर्यन्त किसी डॉक्टर-वैद्य तथा समाज या परिवार के किसी बुजुर्ग व्यक्ति ने नहीं बताई थी। वह शिक्षक, अपने आरोग्य के लिए, हमेशा दो ग्रास कम खाता था। सादी रोटी-अमटी (चने की दाल), शाक-फुलके, कुछ भात, यही उसका आहार था। उसे दूध पीने का कोई अनुभव ही नहीं था; अन्य भारी पौष्टिक पदार्थों का नाम लेना भी व्यर्थ है।

### ठंडे पदार्थों का सेवन

वह लगभग ३०-३५ वर्षों से ठंडे जल से स्नान किया करता था। गरम भोजन करने का अवसर उसे बहुत ही कम मिलता था। वह बहुधा ढँक कर रखा हुआ ठंडा भोजन ही किया करता था। उसे नींद कम आती थी। प्रातः नींद खुलते ही शौच जाने की उसकी आदत नहीं थी। जल्दी स्नान करना उसे भला नहीं लगता था और स्नान के पूर्व शौच जाने का नियम-सा था। वह भोजन निश्चित समय पर नहीं करता था; काम खत्म करके सुविधा से खाया करता था। शरीर में तैल मलने की छुटपन से ही उसकी आदत नहीं थी।

### रोग और वजन

सन् १९१६ से १९१८ के बीच उसे पूना में मलेरिया ज्वर आता रहा। उसका उपचार था लंघन। १९२० से '२४ के अप्रैल तक उसके शरीर में शीतपित्त के चकत्ते उठ आया करते थे। वह मूँगफली का कच्चा तैल खाया करता था। सन् १९२४ से १९२९ तक उसे कोई रोग नहीं हुआ। १९२९ में जब ज्वर आया, तब वजन १२८-१३० पौंड था।

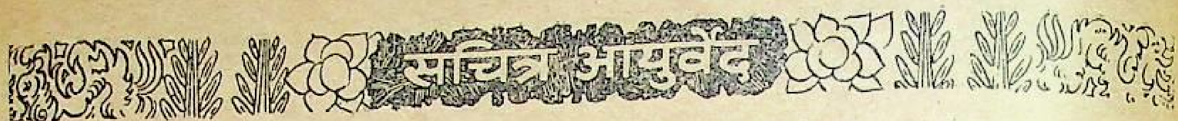
१९३० से १९४२ पर्यन्त शरीर में अशक्तता मालूम होती रही। डॉक्टर कैलशियम, लिवर विटामिन्स आदि के इन्जेक्शन देते रहे। सन् १९३० में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय पढ़ाने का उसका काम बन्द हो गया था। इसके कारण उसका वजन १४० पौण्ड हो गया। उसकी लम्बाई ५ फीट ९ इंच थी। १९४० के पश्चात् वजन में कमी होती गई। सन् १९४२ में, जबलपुर जेल में, पहले ११८ पौंड उसका वजन था, छूटने पर ११२ पौण्ड रह गया। जेलमें कैदियों को डिसेण्ट्री की व्याधि हो जाती थी। अपने को उससे बचाने के लिए वह भोजन कम किया करता था।

### पीठ के दर्द से आरम्भ

वर्तमान रोग का प्रारंभ १९५२ के जनवरी मास में हुआ। उस समय, पीठ की रीढ़ के अगल-बगल का जो खड़ा स्नायु भाग हैं, वह पारी-पारी से दुखा करता था। डॉक्टर उसे 'मायोसाइट्स' कहते थे और उसी का उपचार करते थे। १९५१ की जनवरी में उसे इन्फ्लुएंजा, पसली का दर्द, खाँसी आदि हो गयी और ठंड सहन करने की शक्ति जाती रही। सन् १९५२ में हरद्वार जाने पर उसे ज्वर आने लगा। खाँसी प्रातःकाल आती थी। कफ नहीं निकलता था। उसने, उस समय और पहले भी, शक्ति के लिए लिवर के इंजेक्शन लिये। बाएँ पांव की जाँघ में दर्द होने लगा और ऊपर से सूजन भी मालूम होने लगी। इसके लिए उसको स्ट्रेप्टोमाइसिन आदि के २२ इंजेक्शन दिए गए। यह सन् १९५३ की जनवरी से अप्रैल के बीच की बात है।

### बम्बई का डाक्टरों का मत

इन सब उपचारों का कोई लाभ उसे नहीं हुआ। ज्वर नहीं था, परन्तु जाँघ का दर्द बढ़ रहा था। इसलिए सन् १९५३ की ३ मई को बम्बई जाकर वहाँ के योग्यतम फिजीशियनों तथा सर्जनों को उसने दिखाया। ऐक्सरे लिए गए। एक्सरे-चित्र-परीक्षक ने रिपोर्ट दी--'केन्सर सेकन्डरीज'। डॉक्टरों के सामने प्रश्न था कि 'क्षय है या केन्सर ?' इसलिए उन्हों ने रोगी को




'बाम्बे हॉस्पिटल' नामक अर्थात् नवीन रुग्णालय में प्रविष्ट कराके १२ फोटो लिए। दर्दवाले भाग की हड्डी का टुकड़ा निकाल कर उसकी परीक्षा (बायोप्सी) की गई।

### मल्टिपल मायलोमा

टाटा और गज्जर लेबोरेटरियों ने रोगी के रक्त, मूत्र, हड्डियाँ आदि की परीक्षा करके यह निर्णय दिया कि यह रोग ट्यूबरकुलोसिस अथवा केन्सर न होकर 'मल्टिपल मायलोमा' है। इस रोग में हड्डियों के बीच की मज्जा सूखकर उसमें व्रण हो जाता है। हड्डियाँ दुबली हो जाती हैं। जली हुई हड्डी के कोयले की तरह शरीर की हड्डियाँ जालीदार तथा जीर्ण हो जाती हैं और शरीर की कौन सी हड्डी कब टूट जायगी, इसका कुछ ठीक नहीं रहता। यह बहुत ही कम होनेवाला रोग है। इसलिए ठीक इसका उपचार भी ज्ञात नहीं है। इसके—

Malignant—Fast spreading.
,, —Slow ,,
Benignant—Fast ,,
,, —Slow ,,

ये चार प्रकार हैं। डॉक्टरों ने यही बताया। आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में इसका वर्णन नीचे लिखे अनुसार है—

This disorder should be considered a verient of plasmocytoma with osseous involvement. It may be defined as a malignant plasmocytoma arising in the bone marrow which tends to occur in persons after the fifth decade. It is usually characterized by pain in the back and weakness. Destructive osseous lesions involving especially the bones of the trunk. Pathological fractures a normocytic anaemia of moderate degree and presence in many cases of peculiar type protein (Bence Jones) in the urine, prognosis and treatment. The disease always terminates fatally.

### लाक्षणिक चिकित्सा

सन् १९५३ की पहली जुलाई के सायंकाल रोगी को मैंने देखा। रोगी हाथ में छड़ी लेकर चलता था। उसकी बाईं जाँघ में पुनः दर्द होने लगा था। बम्बई में दर्द कुछ कम हो गया था। रोगी से रोग के कारण पर बातचीत हुई। वात-प्रकृति होते हुए भी नित्य दो ग्रास कम खाना (प्रमिताहार), आहार में उरद की-सी पौष्टिक दाल व अन्य स्निग्ध द्रव्य का न होना (स्नेह संक्षय)—इस रोग का कारण निश्चित करके उसके अनुसार आहार-द्रव्यों में परिवर्तन तथा ओषधि की योजना करने का मैंने निश्चय किया।

### अस्थि भंग

तारीख २ जुलाई के दोपहर में १२ बजे, स्पंजिंग के बाद धोती बदलकर रोगी खाट पर बैठ रहा था कि जाँघ (दर्दवाली जगह) से उसका बायाँ पैर टूट गया। साथ ही पीठ के पीछे टेकते समय उसका दाहिना हाथ भी कलाई की जगह से टूट गया। ज्वर आदि किसी प्रकार का उपद्रव न होते हुए भी सहज ही शरीर की दो बड़ी हड्डियाँ टूटकर, एक पर और एक हाथ का लुंज हो जाना, एक भयंकर घटना थी। टूटी हुई हड्डियों की चुभन से रोगी को असह्य वेदना हो रही थी। तुरन्त ही रोगी को सिविल हॉस्पिटल में ले जाकर दाहिने हाथ पर प्लास्टर किया गया। बाएँ पैर को लकड़ी की पट्टियाँ बाँधकर सीधा रखा गया। डॉक्टर ने कहा कि जब शरीर के किसी भाग की हड्डियाँ इस प्रकार टूट जाती हैं, तब समझा जाता है कि रोगी थोड़े दिनों का मेहमान है। एलोपैथी में इसके लिये कोई उपचार नहीं है। इसलिए आगे इस रोगी का आयुर्वेदीय पद्धति से उपचार आरम्भ किया गया और उसमें भी वात-दोष-हारक आहार-विहार पर मुख्यतया जोर दिया गया। वह इस प्रकार था—वात-काल प्रभात में जल्दी ही शुरू हो जाता है—२ बजे से ६ बजे तक। इसलिए रोगी को सवेरे ३ बजे कोको पेय, ८ बजे डबल रोटी और दूध, १० बजे पका आम, दोपहर में १२ बजे भोजन दिया जाने लगा। भोजन में भिंडी का शाक, उड़द की दाल और दही, रोटी, घी, लोनी-सहित मट्ठा (स्निग्ध तक्र), तथा दिन में ३ बजे




मोसंबी का रस दिया जाने लगा। सायंकाल ७ बजे ऊपर लिखे अनुसार भोजन की व्यवस्था हुई।

आयुर्वेद-सेवा-संघ की ओर से रोगी के लिए पौष्टिक आहार-कल्प आगे लिखे अनुसार भेजा गया था और वह मार्च सन् १९५४ के अन्त तक चलता रहा। वह इस प्रकार था—१० तोला महामाष तैल (भैषज्य रत्नावली, पृष्ठ ५९३), २० तोला बला तैल (शारङ्गधर-संहिता, खण्ड २, अ० ९), २० तोला नारायण तैल (भारत-भैषज्य रत्नाकर, ३५०३), इनका मिश्रण पीने के लिए, वस्ति के लिए और अभ्यङ्ग (मालिश) के लिए व्यवहार में लाया जाता था। पीने के लिए—१ चम्मच तैल (टी-स्पून), १ घूंट दूध तथा १ चम्मच चीनी में घोंटकर, भोजन से आधा घंटा पहले दोनों बार और ४२ रत्ती सिद्ध लक्ष्मी-विलास (रसयोगसार, पृ० २४०), २१ रत्ती अभ्रक भस्म (५०० पुटी) सवा पांच तोला विदार्यादि चूर्ण (सिद्धयोग संग्रह) का मिश्रण करके, ३ माशा १।। रत्ती की पुड़िया बनाकर, प्रातः सायं एक-एक पुड़िया महास्नेह या जीवनसर्पि में दी जाती थी।

रात्रि को सोते समय देने के लिए च्यवनप्राश तथा अश्विनीप्राश (कूष्माण्डक रसायनम्) दो-दो तोला अदल-बदल कर देने की व्यवस्था की गई थी। दोनों बार भोजन के पश्चात् द्राक्षारिष्ट १ औंस दिया जाता था।

## सिद्ध तैल मिश्रण वस्ति

वस्ति के लिए उपर्युक्त तैल मिश्रण का व्यवहार किया जाता था। सायंकालिक वात-काल में, अथवा रात को सोने से पहले, १ तोला सिद्धतैल की पिचकारी (मात्रा-वस्ति) दी जाती थी। यह तैल रात-भर अँतड़ियों में (गुद-काण्डों में) रहता था। इसलिए रात्रि के समय शौच का वेग नहीं होता और प्रातः बिना कष्ट के शौच साफ हो जाता था।

## औषध देने का दृष्टिकोण

ऊपर लिखी ओषधें देने का दृष्टिकोण यह था कि वात-प्रकृति व्यक्ति को शुद्ध वात-दोष की वृद्धि के कारण अस्थि-भंग रोग हुआ था। मांस-मेद तथा मज्जा-शुक्र, इन अस्थि धातु के इधर-उधर धातुओं की स्वाभाविक वृद्धि, तत्समान द्रव्य देकर करने की यह योजना है। महामाष तैल में उरद, मांस, दूध तथा तिल तैल—यह चार मांस-मेद द्रव्य हैं। इसके अलावा जीवनीयगण, कौंच के बीज तथा असगंध के ऐसे कल्प-द्रव्य हैं।

## मांस तथा माष तैल का उपयोग

बला तैल और नारायण तैल बृंहण एवं वातशमन के लिए प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु इन में मांस तथा माष का योग नहीं है। इसलिए इन्हें महामाष तैल के साथ दिया गया था। नारायण तैल और महामाष तैल को तैयार करने में जो दूध काम में लाया जाता है, उस दूध में निहित घी, इस सिद्धस्नेह—तैल—में आ ही जाता है। अतएव इस सिद्ध तैल की केवल तैल संज्ञा भ्रमोत्पादक है। असल में यह यमक स्नेह (तैल-घी का मिश्रण) है। इस प्रकार यह सिद्ध यमकस्नेह (तैल-घी का मिश्रण) अन्तर्बाह्य व्यवहार में लाया गया।

## महास्नेह का निर्माण

तैल, घी, वसा, मज्जा—इन चार स्नेहों को महा-स्नेह कहा जाता है। वह भी उस समय हमारे पास तैयार था और वह दिया गया। बकरे के सिर-पैर की हड्डियों को खूब उबालकर उसके छाने हुए रस (शोरबे) में तिल का तैल, घी और शार्क लिवर तैल समान भाग में मिलाकर काढ़ा-सा कर लिया और इस प्रकार महास्नेह का प्रतिनिधि तैयार किया गया।

## मांस सर्पि तथा जीवनसर्पि

राजयक्ष्मा चिकित्सा में मांससर्पि व जीवनीय गणों से सिद्ध किया हुआ घी व्यवहार करने के लिए कहा गया है। बकरे के मांस तथा जीवनीयगण के साहाय्य से तैयार किये हुए घृत (जीवनसर्पि) इस रोगी को लगभग डेढ़ सेर (१२० तोला) दिया गया।

## सिद्ध लक्ष्मीविलास

उपर्युक्त सर्व वल्य स्नेह ओषध के रूप में दिये जाने पर भी आहार-द्रव्यात्मक ही थे। ओषधि की भाँति दिए गए सिद्ध लक्ष्मीविलास में सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, कांतलौह, तीक्ष्णलौह, मंडूर, अभ्रक, वंग, नाग, प्रवाल और मौक्तिक-यह सब धातुपौष्टिक भस्में हैं। शीतकाल होने के कारण उसके साथ दिया गया रससिंदूर भी वातजन्य-स्रोतोरोध-नाशक, तथा सर्व भस्मों के शोषण को सहायता करनेवाला




है। त्रिकटु, त्रिफला तथा चतुर्जात से भावित स्नेह के पचन को भी इस ओषधि से सहायता ही मिलेगी। रसायन, बाजीकरण प्रकरण के विदार्यादि चूर्ण तथा अभ्रक भस्म देने का उद्देश्य मज्जा और शुक्र धातु को बल देकर अस्थि-वृद्धि करना था।

## मांस-कल्प पर जोर

क्षय चिकित्सा में मांस-कल्प देने पर विशेष जोर दिया गया है। 'मांसम् एव अश्नतः युक्त्या'–युक्ति पूर्वक मांस देकर ही क्षय रोग को जीतना चाहिए। चिकित्सा के इस तत्त्व को इस शाकाहारी रोगी पर व्यवहृत करने की दृष्टि से ही महामाष तैल, जीवन (मांस) सर्पि, महास्नेह इत्यादि कल्प कटाक्ष से व्यवहार में लाये गए और उनसे लाभ भी निश्चित रूप में हुआ। जिस समय, चार महीने बाद, प्लास्टर अलग करके देखा गया, तो डॉक्टरों की मंडली चकित रह गई। उन की कल्पना यह थी कि पहले वाला प्लास्टर ढीला पड़ जाने पर पुनः दूसरा प्लास्टर लगाना होगा। परन्तु इसकी आवश्यकता ही नहीं हुई तथा हाथ और पैर की टूटी हड्डियाँ जुड़ गईं। अस्थि-भंग के ५ महीने बाद––दिसम्बर में यह रोगी पहले टूटे हुए हाथ से भोजन करने और पत्र लिखने लगा। उसके अक्षर पहले के समान ही साफ-सुथरे थे। जनवरी से अप्रैल तक, रोगी ने प्रति दिन तीन घण्टा अध्यापन किया। रोगी की प्रकृति अब सुधर गई ह और वजन भी बढ़ गया है। पुनः एक्सरे लेना है परन्तु वह इस समय अपने गांव में है और केवल एक्सरे के लिए आने को वहाँ के डाक्टर और जिले के सिविलसर्जन मना करते आ रहे हैं। इस महीने शहर में जाकर अध्यापक महाशय नया एक्स-रे लेंगे।

## कारण की ओर लक्ष्य जरूरी

इस रोगी की चिकित्सा का सविस्तार वर्णन करने का हेतु यह है कि आयुर्वेद में क्षय के जो कारण––अन्न-पान-विधि-त्याग, शुक्रौजः स्नेहसंक्षयः तथा वेगसंरोध––दिए गए हैं, वे घटित होते हैं। उनकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए। दो-ग्रास कम खाना (प्रमिताशन) एवं प्रकृति के अनुरूप आहार-द्रव्यों का सेवन न करना, यह रोग-कारण उपेक्षणीय नहीं हैं।

क्षय-चिकित्सा में अस्थिवर्द्धक उपाय करने के बदले मांस-मेद-मज्जा-शुक्र अस्थिधातुओं के अगल-बगल के धातु स्वस्थ करने के उपायों से स्थायी परिणाम होता है। केवल मांस, मक्खन, घी, दूध आदि न देकर, दूध-मांस––सिद्धघृत––महास्नेह तैल देने से अधिक स्थायी परिणाम होता है। यमक स्नेह का अभ्यंग, वस्ति, पान, नस्य आदि सब प्रकार से किया गया उपयोग, अस्थि-धातु बलवान् करने के लिए बहुत उत्तम सिद्ध होता है।

## मृत्यु के मुख से वापस

जो रोग एलोपैथी की समझ में नहीं आया कि यह कैसे होता है, वह रोग दोषप्रकृति-विचारों से समझ लिया गया। इसलिए तुरन्त उसका उपचार शुरू किया गया। वह सफल हुआ और रोगी मृत्यु-मुख से निकल आया।

राजयक्ष्मा, क्षय, शोष आदिके रोगियों की चिकित्सा करते हुए आयुर्वेदीय छोटे-छोटे ; किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्रों की ओर दुर्लक्ष्य नहीं रहना चाहिए। मेरा विश्वास है कि वे सब सूत्र हमें विकट अवसर पर मार्ग-दर्शन कराने में समर्थ हैं।

---

# यक्ष्मा-चिकित्सा में सूर्य-किरणों का प्रभाव

हमारे प्राचीन-शास्त्रों में सूर्य को भगवान कहा गया है। वस्तुतः सूर्य ही हमारी पृथ्वी का पिता है। सारे ग्रह-उपग्रह सूर्य से ही उत्पन्न हुए हैं और सूर्य के कारण ही संसार की सारी सृष्टि हुई है। सूर्य के प्रकाश से ही विश्व की सारी सृष्टि जीवन पाती है। हम देखते हैं कि छाया में लगाये गये पौधे सूर्य का प्रकाश नहीं पाने के कारण पीले पड़ जाते हैं। अनेक पौधे ऐसे होते हैं, जो सूर्य का प्रकाश नहीं मिलने पर फल ही नहीं देते। हमारे भोजन के मुख्य पदार्थ, फल, अनाज आदि धूप से ही पकते हैं। फलों, शाक-सब्जियों आदि में सूर्य ही विटामिन उत्पन्न करता है। हमारी पृथ्वी सूर्य से ही वे पोषक-तत्त्व प्राप्त करती है और हमारे भोज्य पदार्थों में पृथ्वी से वे पोषक-तत्त्व आते हैं।

स्वास्थ्य, सुख और सौभाग्य प्रदान करने में सूर्य सर्व-प्रमुख अंश ग्रहण करता है। सूर्य की रोशनी रोग-जीवाणुओं का नाश करती है। जिस घर में सूर्य की रोशनी नहीं पहुँचती, वहाँ सीलन रहने लगती है और रोग-कीटाणुओं को बढ़ने का मौका मिल जाता है। ऐसे घरों में वास करने वाले व्यक्ति इसी कारण अधिक अस्वस्थ रहते हैं और उनपर नाना प्रकार के रोगों का अक्सर आक्रमण हुआ करता है।

मानव-शरीर पर सूर्य-किरणों का आश्चर्यजनक प्रभाव होता है। इससे स्वास्थ्य बढ़ाने वाले तत्त्वों की अभिवृद्धि होती है तथा शरीर का रंग निखरता है। उचित मात्रा में सूर्य की रोशनी मिलने से बच्चे सुन्दर, स्वस्थ और मजबूत बनते हैं। हमारे शरीर पर सूर्य की किरणें पड़कर विटामिन डी० और ई० उत्पन्न करती हैं। इससे बच्चों का अस्थि-दौर्बल्य (रिकेट्स) रोग दूर हो जाता है।

यह मानव-स्वभाव है कि आसानी से उपलब्ध वस्तुओं को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। सूर्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। सूर्य की रोशनी हमें ईश्वर ने इतनी अधिक मात्रा में दे रखी है कि हम उसके महत्त्व की उपेक्षा करने लगे हैं। हम अपने बदन को कपड़ों से हमेशा ढँके रहते हैं और सूर्य की रोशनी से बदन को बचाने की कोशिश करते हैं। हम ऐसा समझने लगे हैं कि सूर्य की रोशनी की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन हमारा यह ख्याल बिलकुल गलत है। सूर्य की रोशनी हमारे शारीरिक स्वास्थ्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक है।

यक्ष्मा की चिकित्सा के लिए सूर्य की रोशनी अपरिहार्य है। इस सम्बन्ध में प्राचीन आयुर्वेद-शास्त्र में कहा गया है कि गान-वाद्य आदि कर्णप्रिय शब्दों को सुनने से, परमात्मा की स्तुति करने से, आनन्द और आश्वासनदायक वार्तालाप से, गुरु-सेवा से, ब्रह्मचर्य से, दान से, तपस्या से, सत्य-आचार से, रविमण्डल की सेवा से एवं वैद्य-विप्रों की सेवा से राजरोग निवृत्त होता है। यहाँ रविमण्डल की सेवा का अर्थ सूर्य-किरण से चिकित्सा ही है।

चिकित्सा-शास्त्र में रश्मि-चिकित्सा का विशेष स्थान है। आधुनिक चिकित्सक भी अनेक रोगों की चिकित्सा में पराकासनी रश्मियों (अल्ट्रा-वायलेट रेज) का उपयोग करते हैं। आकाश में व्याप्त सूर्य की किरणों में उक्त पराकासनी रश्मियाँ अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं। शरीर की वृद्धि जब रुक जाती है या शरीर का ठीक-ठीक जब पोषण नहीं होता, तो पराकासनी रश्मियों द्वारा चिकित्सा करने से शरीर का वजन बढ़ता है, तीव्र गति से शरीर का विकास होता है, रक्त में खनिज लवण पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होते हैं, शरीर की ग्रन्थियों के कार्य में काफी उन्नति हो जाती है और स्वास्थ्य-वर्द्धक रसों का निर्माण पूर्ण परिमाण में होने लगता है। इसके साथ रोग कीटाणुओं का नाश करने की शक्ति भी काफी बढ़ जाती है।

वैज्ञानिक अनुसन्धानों से सिद्ध हुआ है कि शरीर जब प्रकाश को सोख लेता है, तो पाचन-शक्ति में वृद्धि हो जाती है। यक्ष्मा-रोग में प्रधानतः पाचन क्रिया ही बिगड़ती है। इसलिये पाचन क्रिया को सुधारने के लिए प्रकाश की सर्वाधिक आवश्यकता है।

सूर्य की किरणें हमारे शरीर के चर्म को छेदकर भीतर

पहुँचती हैं और शरीर के सभी अंगों को बल देती हैं। सूर्य-किरणों के शरीर में प्रवेश करने के परिणाम स्वरूप प्रोटीन और शक्कर आदि को पचाने के लिये शारीरिक क्रिया आरम्भ हो जाती है तथा पाक-प्रणाली को बल और उत्तेजना मिलती है।

शरीर के विकास और स्वास्थ्य तथा पाचन क्रिया को ठीक रखने के लिए विटामिन तथा शरीर की ग्रन्थियों के रस की आवश्यकता होती है। सूर्य प्रकाश भी यही कार्य करता है। अतः शरीर के विकास और स्वास्थ्योन्नति के लिये विटामिन, रस और प्रकाश तीनों अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके बिना शरीर का स्वस्थ रहना असम्भव है। इसलिए कुछ देर धूप में नंगे वदन या कम-से-कम कपड़े के साथ बैठना बहुत जरूरी है। हमारे शरीर के चर्म की बनावट ऐसी है कि सूर्य की रोशनी आसानी से छनकर शरीर के भीतरी अंगों में प्रवेश करती है तथा शरीर में सुख और स्वास्थ्य वर्द्धक परिवर्त्तन करती है। सूर्य-किरणों से हमारे शरीर में विटामिन 'ए' का निर्माण यद्यपि नहीं होता, तथापि हमारे शरीर के यन्त्रों में कुछ ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि अल्प मात्रा में ही विटामिन 'ए' रहने पर हम उससे बहुत अधिक लाभान्वित हो सकते हैं। इससे ही हमारे शरीर की रोग-निवारक शक्ति अत्यधिक मात्रा में बढ़ती है।

धूप में नंगे वदन होकर कुछ देर तक कड़वे तेल की मालिश करनी चाहिये और इसके बाद कुछ देर तक धूप में बैठे रहना चाहिये। तत्पश्चात् ठंडे जल से बदन को अच्छी तरह रगड़कर स्नान करना चाहिये। इससे स्वास्थ्य में अद्भुत वृद्धि होती है, शरीर का रंग निखर आता है, बदन सुर्ख हो जाता है और रोग-निवारक शक्ति बढ़ जाती है। चमड़ा मुलायम और सुन्दर हो जाता है तथा शरीर में सौन्दर्य और कान्ति आती है। दुर्बल व्यक्तियों को सूर्य-स्नान के पश्चात् उष्णजल से स्नान करना चाहिये।

क्षय के कीटाणुओं पर सूर्य-किरणों का बड़ा ही गुणकारी प्रभाव होता है। एक कीटाणु-विशेषज्ञ ने एक बार दो चूहों में क्षय के कीटाणुओं को प्रविष्ट कराया। इनमें से एक चूहे को अँधेरे कमरे में तथा दूसरे को खुले, प्रकाशमय स्थान में रखा गया। अंधकार में रहनेवाले चूहे में कुछ दिनों के बाद ही क्षय रोग के लक्षण प्रकट हो गये, लेकिन सूर्य की रोशनी में विचरण करने वाले चूहे पर क्षय के कीटाणुओं का कोई प्रभाव नहीं हुआ। एक अन्य कीटाणु-विशेषज्ञ ने एक यक्ष्मा-रोगी का क्षय-कीटाणुओं से पूर्ण बहुत-सा कफ छः घण्टे तक धूप में रखा। इसके बाद उस कफ की परीक्षा की गयी तो उसमें एक भी कीटाणु जीवित नहीं मिला।

सूर्य-किरणों का स्वास्थ्य-वर्द्धक प्रभाव क्षय-रोगियों पर ही नहीं, वरन् प्रायः सभी रोगों के रोगियों पर पड़ता है। स्वास्थ्य-संवर्द्धन में सूर्य-किरणों का और भी अनेक ढंग से उपयोग किया जाता है। विविध रंगों की शीशियों में पानी भरकर धूप में दो-तीन घण्टे रखने के बाद उस जल का उपयोग किया जाता है। इस जल में रोग-नाश की अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है। विभिन्न रंगों के शीशे से छनकर सूर्य की किरणें शरीर पर पड़ती है और रोग नाश में विलक्षण प्रभाव दिखाती हैं। किसी औषधि से अच्छे नहीं होनेवाले घाव——नासूर भी विशेष रंग के शीशे द्वारा सूर्य की रोशनी डालने से अच्छे हो जाते हैं।

सूर्य की किरणों और प्रकाश से ही हम अधिक लाभ उठाते हैं; उसके उत्ताप से नहीं। अतएव, तेज धूप में नंगे वदन रहना उचित नहीं है। तेज धूप लेने से शारीरिक शक्ति क्षीण होती है। प्रातःकाल और सायंकाल की धूप अधिक लाभदायक होती है। लेकिन, जो व्यक्ति तेज धूप बर्दाश्त कर सकते हैं और जिन की तन्दुरुस्ती अच्छी है, वे चाहें तो तेज धूप भी ले सकते हैं।

यक्ष्मा के रोगी के लिये धूप और शुद्ध वायु आवश्यक है। सूर्य-स्नान के बिना यक्ष्मा-रोग से मुक्ति कदापि सम्भव नहीं। दुर्बल रोगी स्वभावतः नंगे वदन धूप और हवा में आने से डरते हैं। लेकिन, डर की कोई बात नहीं। धूप और हवा तो हमारे सबसे बड़े मित्र हैं। इनको वर्दाश्त करने की धीरे-धीरे आदत डालनी चाहिये।

बहुत से कमजोर रोगी खुली हवा भी बर्दाश्त नहीं कर पाते। उनके लिये भी प्रातः कालीन या सायंकालीन सूर्य की किरणें लाभदायक होती हैं।

# राजयक्ष्मा में पथ्यापथ्य

साहित्यभूषण डा० एम० पी० रंजन, पुराणरत्न, व्याकरणशास्त्री

राजयक्ष्मा एक ऐसा भयंकर एवं दुष्ट रोग है, जिससे रोगी की स्फूर्ति एवं जीवनी-शक्ति का क्रमिक एवं निरन्तर ह्रास होता रहता है; फलतः वजन का घट जाना तो स्वाभाविक ही है ! यद्यपि इस रोग की उत्पत्ति संक्रामक रूप से धीरे-धीरे होती है, किन्तु; यह रोगी के स्वास्थ्य को इस प्रकार नष्ट कर देता है कि उसमें रोग से लड़ने की शक्ति ही शेष नहीं रह जाती--बिल्कुल नष्ट हो जाती है अथवा आवश्यकता से अधिक कम रह जाती है। अतः वर्तमान समय में जब कि इस रोग की विभीषिका क्रमशः बढ़ती ही जा रही है एवं देश के सामने भोजन की समस्या विकट रूप से उपस्थित है, इस विषय पर कुछ विचार करना असंगत नहीं होगा।

वैसे तो राजयक्ष्मा की उत्पत्ति के अनेकों कारण हैं, मगर 'मिथ्या आहार-विहार' का स्थान उनमें सर्वोपरि है। आर्थिक दुरवस्था के कारण आज गरीब या मध्यम वर्ग 'सन्तुलित एवं पर्याप्त भोजन' का प्रबन्ध नहीं कर पाता, फलतः उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिये उनके भोजन में आवश्यक तत्त्वों की कमी होना स्वाभाविक है और तब रोग-निवारण-शक्ति की कमी से इस भयंकर रोग का प्रादुर्भाव भी सरल है। उचित भोजन के अभाव में वे इसके चंगुल में आसानी से फँस जाते हैं। इसे प्रकृति की विचित्रता कहिये अथवा विधि की विडम्बना कि एक ओर जहां अन्नाभाव से गरीब और मध्यम वर्ग के प्राणी समुचित भोजन की व्यवस्था नहीं कर पाते, वहीं दूसरी ओर धनी वर्ग अप्राकृतिक भोजन, मादक द्रव्य एवं अत्यधिक मैथुनादि में लिप्त होकर अपना सर्वस्व गँवा देते हैं।

जीवनी-शक्ति एवं स्फूर्ति के ह्रास होने पर आवश्यक है कि सुपाच्य एवं उत्तम भोजन द्वारा नष्ट तत्त्वों की पूर्ति अविलम्ब कर दी जाय। वैसे तो भोजन का सम्बन्ध प्रत्येक रोग से है, मगर इस रोग में इसका स्थान चिकित्सा के समकक्ष है। अतः इस रोग में पथ्यापथ्य का निरूपण होना उचित है।

यह कोई आवश्यक नहीं कि क्षय रोगी को किसी खास किस्म का ही भोजन दिया जाना चाहिये। भोजन के चुनाव में इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये कि रोगी का पथ्य पौष्टिक, शुद्ध, स्वादिष्ट, सुपाच्य, सन्तुलित, सुसिद्ध एवं पर्याप्त हो। भारी भोजन से हमेशा बचना चाहिये। सुस्वादु, हल्का एवं सुपाच्य भोजन सभी को पसन्द होगा।

इस प्रकार का चुना हुआ भोजन सिर्फ विटामिन (खाद्योज) अथवा खनिज लवणों से ही परिपूर्ण न होगा, बल्कि उसमें सभी आवश्यक पोषकतत्त्वों का उचित मात्रा में समावेश भी रहेगा। उदाहरण स्वरूप मनुष्य के नित्य के भोजन में ६० ग्राम प्रोटीन, १६० ग्राम फैट (वसा) एवं २२० से २५० ग्राम तक कार्बोहाइड्रेट का रहना आवश्यक है। ऐसे भोजन का कुल कैलोरी (उष्णांक) ३००० से ३५०० तक होना चाहिये। शारीरिक परिश्रम करने वाले मजदूरों के लिये ४००० कैलोरी तक की आवश्यकता हो सकती है। साधारणतः प्रतिदिन २५०० कैलोरी प्रदान करने वाले भोजन के साथ यदि ६० ग्राम प्रोटीन का व्यवहार किया जाय तो काम चल सकता है।

'अत्यधिक भोजन करने से ही शरीर बलवान् होता है' यह एक भ्रम है। इस गलत धारणा के कारण बहुत से नये रोगों का प्रादुर्भाव होता है। हमारा ध्येय अल्पाहारी बनने का होना चाहिये। जबर्दस्ती या जरूरत से ज्यादा भोजन से हमेशा बचना चाहिये, वर्ना लाभ के बजाय हानि ही होती है। इससे 'बेज़ल मेटाबोलिक रेट' के बढ़ने की आशंका बनी रहती है। श्वास-क्रिया पर भी इसका प्रभाव पड़ता है, फलतः श्वास का वेग तीव्र हो जाता है। चूंकि भोजन की मात्रा पूर्णतः रोगी की पाचन-शक्ति पर ही निर्भर है, अतः रोगी के शरीर-संचालन एवं व्यक्तिगत अनुपान से ही भोजन दिया जाना चाहिये। पाचन-शक्ति के अनुसार ही भोजन देना उचित है। रोगी की रुचि एवं भूख के अनुसार ही भोजन की मात्रा बढ़ानी

चाहिये। याद रहे, गर्मी में भूख कम लगती है और जाड़े में ज्यादा।

साधारणतः दो बार के मुख्य भोजन के साथ यदि चार चार घण्टे के अन्तर पर दूध, फल, मेवा या मक्खन आदि लिये जायें तो ठीक रहता है। सुबह में हल्का नाश्ता, दोपहर में भोजन, ३ बजे के करीब हल्का नाश्ता और ठीक सूर्यास्त के समय रात्रि का भोजन एवं सोने से पहले एक गिलास गर्म दूध काफ़ी है।

सच पूछिये तो हमारे भोजन के मुख्य आधार-स्तम्भ दो ही हैं—दूध और रोटी। दूध हमेशा शुद्ध और ताजा रहना चाहिये। बहुत देर तक इसे औंटना भी नहीं चाहिये, वर्ना उसके स्वाद और पौष्टिक तत्त्वों के नष्ट होने की सम्भावना रहती है। भोजन में घी, मक्खन और दूध पर्याप्त मात्रा में अवश्य रहे, मगर अत्यधिक सेवन से लाभ के बदले हानि ही होती है। यथासम्भव टीन या डब्बों के मक्खन का व्यवहार नहीं करना चाहिये। मिल सके तो हमेशा ताजा मक्खन ही खाना चाहिये, क्योंकि इससे रोगी की शक्ति और वजन में वृद्धि होती है। कॉड-लिवर ऑयल से यह कम गुणकारी नहीं होता। फलतः निरामिषों के लिये यह विशेष रूप से उपयोगी है।

अलग से प्रोटीन पाने के लिये मांस, मछली, अण्डे या 'सैण्डविच' भी दिये जा सकते हैं। चोकरदार आटे की रोटी से पेट हमेशा साफ रहता है, भूख खुल कर लगती है और कब्जियत नहीं हो पाती। पत्ते वाले शाक एवं हरी तरकारियों के नियमित प्रयोग से विटामिन (खाद्योज) एवं खनिज लवण यथेष्ट परिमाण में मिलते हैं। बढ़िया से तैयार किया गया 'सलाद' भी नाश्ते के दो घण्टे बाद अथवा दोपहर के भोजन के साथ चल सकता है। अम्लांश रहने के कारण कैल्शियम-ग्रहण में यह बाधा पहुँचा सकता है। रात में तो इसका सेवन भूल कर भी नहीं करना चाहिये, वर्ना उदर सम्बन्धी उपद्रवों के पैदा होने की सम्भावना रहती है।

खट्टे फलों के इच्छानुसार सेवन से विटामिन 'सी' प्रचुर मात्रा में मिलती है जो कि रक्त-वाहिनी नलिकाओं के पोषण में सहायता पहुँचाती है। कागजी नीबू, नारंगी एवं आंवले को तो इसका प्रचुर स्रोत ही समझना चाहिये। रोगाक्रान्त स्थानों की क्षति-पूर्ति यह शीघ्रता से करता है।

अत्यन्त उपयोगी होने पर भी 'कॉड-लिवर-आयल' यानी मछली के तेल का प्रयोग हिसाब से करना चाहिये। तेज ज्वर वाले (संध्या समय ज्वर बढ़ने पर) अपच या जी मिचलाने की शिकायत वालों अथवा मांस-मछली एवं अण्डे आदि से परहेज रखने वालों को इसका सेवन नहीं करना चाहिये। चूंकि मांसाहार की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, अतः निरामिषों को व्यर्थ उसके सेवन पर जोर भी नहीं देना चाहिये। कच्चे अण्डे, तेल या घी में तल कर बनाई हुई चीजें जैसे 'आमलेट' या 'कटलेट' के पचने में दिक्कत हो सकती है। अतः अण्डे को सिझा कर ही देना चाहिये। अण्डे को यदि काफ़ी देर तक पानी में खौला दिया जाय तो वह भीतर से जम जायगा। बाद में उसे छील कर एवं छोटे-छोटे टुकड़े कर नमक, मिर्च के साथ खाने से यह हल्का, स्वादिष्ट एवं सुपाच्य रहेगा।

नित्य के भोजन में कार्बोहाइड्रेट, ताजे फल तथा हरी तरकारियाँ अवश्य रहनी चाहिए। मांसाहारियों को रोजाना कम से कम दो-चार अण्डे तथा रुचि के अनुसार मांस या मछली अवश्य देना चाहिए। इसके अलावा रोगियों को एक से दो सेर तक दूध एवं आधा से एक छटाँक तक मक्खन भी जरूर दिया जाना चाहिए। कुछ रोगी दूध नहीं पचा सकते क्योंकि, गैस पैदा होने के कारण अथवा अधिक दस्त होने से कई तरह के उदर सम्बन्धी रोग एवं उपद्रव उठ खड़े होते हैं। ऐसे रोगियों को लपसी देनी चाहिये। खौलते हुए दूध में साबूदाना, बार्ली या आटे को मिला कर लपसी जैसा बना डालिए। रोगी इसे बड़े शौक से खाना चाहेंगे। दस्त होने की हालत में ताजा दही, छेना या मट्ठा दिया जा सकता है।

एक से दो चम्मच (धीरे-धीरे बढ़ाते हुए आठ चम्मच तक) कॉड-लिवर-आयल को दूध में मिलाकर यदि दिन में दो बार दिया जाय तो आसानी से पचने लायक एवं पर्याप्त मात्रा में स्नेह (फैट), बिटामिन 'ए' एवं 'डी' मिलता है। दुर्बल रोगियों के लिए तो यह बड़ा ही हितकर है, भूख जगाने के लिए, भोजन से ५-१० मिनट पहले, रोगी को २-४

चम्मच अल्कोहल पानी के साथ हल्का कर दिया जा सकता है।

पेट की सफाई पर हमेशा ध्यान रखना चाहिए। इस रोग में कब्जियत ही दुश्मन नहीं, बल्कि दस्त की अधिकता तो और भयावह एवं मारात्मक है। दस्त अधिक होने पर फौरन कब्जियत पैदा करनेवाला भोजन जैसे बार्ली का पानी, नारंगी या टमाटर का रस, पका हुआ केला, महीन और खूब गलाया हुआ भात, ताजा दही, पपीता तथा कच्चे केले की तरकारी आदि देनी चाहिए। बेहतर हो कि इन दिनों रोगी को उपवास ही कराया जाय ताकि अंतड़ियाँ धुल जायँ एवं शरीर में रोग से लड़ने की प्रतिरोधक-शक्ति पैदा हो।

नियत समय पर भोजन करने की आदत बड़ी हितकारी होती है। दिन भर कुछ-न-कुछ बकरी की तरह खाते रहना असभ्यता का चिह्न है। भोजन से आधा घंटा पहले या बाद में आराम करने से भूख बढ़ती और पाचन में मदद मिलती है तथा अंतड़ियों को भी आराम मिलता है। भोजन को हमेशा भली-भाँति चबाकर खाना चाहिये ताकि पेट पर अनावश्यक भार न पड़ सके। जहाँ तक सम्भव हो ताजा भोजन ही खाना चाहिए। भोजन न अधिक गर्म हो और न अधिक ठंढा। निर्बल रोगियों को काफी रात बीतने पर भारी भोजन नहीं करना चाहिए।

इन्हीं बातों को दृष्टि में रखते हुए नीचे कुछ ऐसे भोजनों के नमूने पेश किये जाते हैं जो कि सर्वथा आदर्श न होते हुए भी उचित भोजन के चुनाव में सहायक होंगे :—

### (क) अमीरों के लिए

१. **नास्ता (७ बजे सुबह)**—विस्कुट या पावरोटी, टोस्ट के टुकड़े (मक्खन लगाए हुए), दूध आधा सेर, मक्खन आधा पाव (मिश्री या चीनी के साथ), दो अण्डे, ताजे फल जैसे सेव, नारंगी, नाशपाती, बेदाना, अंगूर, आम, केला, वगैरह। चिरौंजी, किशमिश, अखरोट, पिस्ता चिलगोजा वगैरह सूखे मेवे।

२. **दोपहर का भोजन (१२ बजे)**—महीन पुराने चावल का भात, चोकरदार आटे की रोटी, या चपाती, मूँग या चने की दाल, मांस या हरी तरकारियों का रस, मांस-मछली या अण्डे की चीजें, सलाद, छेना की मिठाइयाँ, खोआ या रबड़ी।

३. **नास्ता (३ बजे शाम)**—सुबह के जैसा। इच्छा या आदत हो तो काफी दूध दे कर बनाई हुई हल्की चाय या कॉफी अथवा 'ओवल्टीन', पका हुआ केला, अमरूद या अन्य मौसमी फल।

४. **रात का भोजन (६ बजे शाम)**—दोपहर जैसा।

५. **सोने के समय (१० बजे रात)**— आध सेर गर्म दूध।

### (ख) गरीबों तथा मध्य वर्ग के लिए

१. **सुबह का नास्ता**—चावल का भूजा या धान का लावा (खील), पका हुआ केला (छोआ, गुड़ या राब के साथ), दो तोला शहद, लाल-लाल कच्चे टमाटर, एक प्याला गर्म-ताजा दूध, अंकुरे हुए मूँग या चने (अदरख के साथ), ताजे फल जैसे—पपीता, बेल, आम, केला, अमरुद, ककड़ी खीरा, गाजर, वगैरह; हरी तरकारियाँ जैसे पालक शाक, गोभी का फूल इत्यादि; नींबू अथवा सिरका में भिगोये हुए प्याज अथवा टमाटर के टुकड़े।

२. **भोजन**—चावल (तीन छटाँक से पाव भर), दाल आधा पाव, चोकरदार आटे की रोटी आधा पाव, सलाद अथवा हरी तरकारियाँ (डेढ़ पाव), मांस या मछली (आधा पाव), दही (आधा पाव), घी (आधी छटाँक), पुदीना या आँवले की चटनी।

३. **शाम का नास्ता**—सुबह के जसा।

४. **रात का भोजन**—दोपहर जैसा।

### (ग) आदर्श आहार

१. **सुबह ७ बजे**—चार विस्कुट या टोस्ट, आध पाव मक्खन, एक पाव रोटी, दो तोले मधु से।

२. ६ बजे—उबाले हुए अण्डे २, एक सेर दूध, आधा पाव ताजे फलों का रस।

३. ११ बजे—मुलायम (महीन और पतले चावल का भात) ऽ≡ से ऽ।, मूँग या चने की दाल ऽ=, चोकरदार आटे की रोटी ऽ=, घी ऽ-, सलाद ऽ।., हरी तरकारियाँ जैसे गाजर, गोभी, पालक, टमाटर, परवल आदि ऽ।., मांस या मछली ऽ=, ताजा दही ऽ=, मिश्री, चीनी या शक्कर के साथ, मांस या तरकारी का रस (शोरवा) ऽ=, चटनी (कच्चा लहसुन, प्याज, अदरख, आँवले, पोस्ता या पुदीने की) कच्चे प्याज अथवा टमाटर के टुकड़े सिरका या कागजी नीबू के रस के साथ लें।

# राजयक्ष्मा रोगी की परिचर्या और पथ्य

कविराज श्री कालिदास चट्टोपाध्याय, वैद्यशास्त्री

विनाऽपि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते ।
नतु पथ्यविहीनानाँ भेषजानां शतैरपि ।।

औषध-सेवन न करके भी, केवल पथ्य से रोग अच्छा हो जाता है। किन्तु, पथ्य का पालन नहीं करने वाले रोगी सैकड़ों औषधों से भी नीरोग नहीं हो सकते । रोगमुक्ति के लिए औषध की तरह पथ्य और परिचर्या की व्यवस्था विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसलिए केवल चिकित्सक ही नहीं, रोगी, परिचारक व परिवार के सब लोगों का इस विषय में अच्छा ज्ञान होना विशेष वाञ्छनीय है।

कित् धातु में सन् प्रत्यय करके 'चिकित्सा' शब्द निष्पन्न हुआ है। कित् धातु का अर्थ रोग-अपनयन (Removal of disease) है। जिस क्रिया के अवलम्बन से रोग-मुक्ति की चेष्टा की जाती है, उसे चिकित्सा कहते हैं। इसलिये पथ्य-परिचर्या, चिकित्सा के अङ्गीभूत है।

इस लेख में संक्षेपतया राजयक्ष्मा रोगी के पथ्य व परिचर्या के विषय में ही कुछ बतलाया जायगा। इससे अधिक अवस्था-विशेष में विद्वान् चिकित्सक ही रोगी को विशेष ज्ञान कराएँगे।

राजयक्ष्मा रोगी की चिकित्सा के लिए आजकल सर्वत्र सेनेटोरियम या यक्ष्मी-निवास की स्थापना हुई है। यह रोग दो-चार सप्ताह में ठीक होने वाला नहीं है। इसमें महीनों लग जाते हैं। रोगी बीच-बीच में ऐसा अच्छा हो जाता है, मानो जीविका-अर्जन का कार्य करने की सामर्थ्य उसमें आ गई हो। इसलिए इस अवस्था में दीर्घकाल तक रोगी को सेनेटोरियम में रखना भी समुचित नहीं है। इसके सिवा सेनेटोरियम–चिकित्सा सर्वसाधारण के लिए सुविधाजनक भी नहीं होती। समस्त यक्ष्मा रोगी को सेनेटोरियम में स्थान कमी के कारण जगह मिलना भी कठिन है। दूसरे, सेनेटोरियम या यक्ष्मी-निवास सुदूर स्थान में होते हैं। अतः आने-जाने, खाने-पीने और यक्ष्मी-निवास में रहने का व्यय-भार भी सभी रोगी उठा नहीं सकते। इस रोग का प्रकोप विशेषकर मजदूर या निम्नवर्ग में ही होता है। साधारणतया स्वस्थ अवस्था में ही जो लोग खुली आबोहवा से पूर्ण स्थान में नहीं रह सकते और पुष्टिकर भोजन ग्रहण नहीं कर सकते, वे रोगी के लिए भला क्या अतिरिक्त व्यय कर सकते हैं? इसलिए स्वास्थ्य निवास गृह (Home Sanatorium) की शरण के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

गाँव में वासगृह से दूर, रोगी के लिए अलग कमरा या कुटीर और शहर में छत पर या मकान में अलग कमरा होना उचित है। रोगी का कमरा-बिछौना प्रभृति खूब साफ व सुन्दर होना चाहिये। सुबह-शाम घर में सुगन्धित धूप जलानी चाहिये। बिछौना व ओढ़ने के वस्त्रों में सेन्ट या इत्र आदि देकर रखना चाहिये। फूल भी रखें। सारांश में, जिससे रोगी का मन प्रफुल्लित रहे, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। रोगी को खुली हवा में शय्या पर विश्राम करना चाहिये। नित्य अच्छी तरह सुबह-शाम दन्तधावन करके कुल्ला करना चाहिये। अधिक ज्वर न रहे तो रोज स्नान किया जा सकता है, अन्यथा गरम जल में वस्त्र भिंगो कर शरीर पोंछ लेना ही ठीक है। स्नान करने से पहले नित्य-प्रति आयुर्वेदोक्त "महाचन्दनादि तैल" 'वासाचन्दनादि तैल' या 'महालाक्षादि तैल' की सम्पूर्ण शरीर में मालिश करना विशेष लाभप्रद है। साथ-साथ उपयुक्त पथ्य की व्यवस्था होने से राजयक्ष्मा रोगी की चिकित्सा सुसाध्य हो जाती है।

यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि परिचर्या करने वाले को अपने स्वास्थ्य के प्रति हमेशा ध्यान रखना चाहिये। यक्ष्मा रोगी की सेवा करने से ही यक्ष्मा हो जायगा, ऐसी कोई बात नहीं है। फिर भी प्रकृतिदत्त रोग-प्रतिरोधक शक्ति सब लोगों में समान नहीं रहती है। इसलिए अधिक काल तक रोगी के निकट रहकर सेवा करने से रोग-बीजाणु प्रवेश कर प्रकृतिदत्त बल

(Vitality) का ह्रास करते रहते हैं। इसलिए एक व्यक्ति को बहुकाल पर्यन्त सेवा नहीं करनी चाहिये।

रोगी का बर्तन, बिछौना, कपड़ा, कमीज, गंजी आदि गरम जल में धोकर व्यवहार में लाना चाहिये। यदि गरम जल से धोना संभव न हो तो २ प्रतिशत लाइशोल लोशन((Lysol Lotion) में २४ घंटा भिगो कर काम में लाया जा सकता है। परिचर्याकाल में रोगी और उसके परिवार वालों तथा मित्र-बान्धवों को यह विश्वास कभी नहीं कर लेना चाहिए कि यक्ष्मा हो गया है, नहीं तो रोगी नहीं बचेगा।

चरक–चिकित्सा स्थान में––"दृष्ट्वारिष्टोऽपि जीवति" इस तरह के अनेकों दृष्टान्त हैं कि चिकित्सा से आरोग्य होकर रोगी २०-२५ वर्ष तक कठोर परिश्रम करके भी अभीतक जी रहे हैं। रोगी के मन में प्रचुर साहस का संचार कराना चिकित्सक व आत्मीय स्वजनों का कर्त्तव्य है।

**पथ्य**

राजयक्ष्मा रोगी का प्रधान लक्षण है––शरीर का क्षय। शरीर दिन-पर-दिन सूखता जाता है। मांस का क्षय हो जाता और रक्त की कमी हो जाती है। आखिर में अस्थियाँ भी सूखने लगती हैं। इसलिए पर्याप्त परिमाण में पुष्टि-कर आहार से क्षय-निवारण करना तुरन्त आवश्यक हो जाता है। खाद्य का जल्दी परिपाक हो व अग्निवल समान रहे, इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये। भोजन के बाद दिन में दो बार "अग्निमुख चूर्ण" या "भास्कर लवण" सेवन करने से अग्निबल सम्वर्धित होता है।

यक्ष्मा रोग में मांस-क्षय ही अधिक होता है। मांस की क्षति-पूर्ति के लिए आयुर्वेद-शास्त्र में यक्ष्मा रोगी के पथ्य में नाना प्रकार के मांस की व्यवस्था है।

शरीर-पुष्टि के लिए मांस जैसा उपयोगी है, वैसा और कोई खाद्य नहीं है। मांस के द्वारा शरीर की अन्यान्य धातुओं की अपेक्षा मांस ही अधिक बढ़ता है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी क्षय रोगी के लिए प्रोटीन (Protein) बहुल ही पथ्य की व्यवस्था करता है। शरीर की पुष्टि व रक्त के प्रोटीन भाग की वृद्धि कर लेने से, रोगी को नीरोग करना सुसाध्य हो जाता है। चरक-संहिता में जिन नाना प्रकार के मांसों के व्यवहार का वर्णन है उनमें–– बकरा, कपोत, कुक्कुट, तीतर, खरगोस आदि के मांस का नाम उल्लेखनीय है।

बकरा व पक्षी का मांस लघु (हल्का) व उष्ण होने से यक्ष्मा रोगी के लिए सबसे अच्छा है। खाद्य के साथ परिपूरक के रूप में मांस-रस युक्त औषध ; यथा––"छाग-लाद्य घृत" "अजापञ्चक घृत" 'सर्पिगुड़' इत्यादि के सेवन से औषध व पथ्य दोनों का कार्य एक साथ होता है।

मांस के सिवाय स्नेह, शर्करा व विटामिन यथोपयुक्त मात्रा में दैनिक खाद्य के साथ लेना चाहिए। प्रतिदिन ११० से १२५ ग्राम प्रोटीन, १०० ग्राम स्नेह पदार्थ, ४०० से ४५० ग्राम शर्करा एवं पर्याप्त परिमाण में विटामिन ए. सी० व डी. ३००० से ३५०० केलोरी दैनिक खाद्य में होना चाहिए। ग्रन्थिशोष (Glandular T. B.) एवं अन्त्रक्षय (Intestinal T. B.) रोगी के लिए विटामिन ए० एवं डी० विशेष उपयोगी है। विटामिन (Ascorbic Acid) रोग को अच्छा करने की क्षमता-वृद्धि में सहायता करता है। कमलानीबू व कागजीनीबू में विटामिन सी० यथेष्ट परिमाण म मिलता है। नीचे यक्ष्मा रोगी की साधारण खाद्य-तालिका दी जाती है।

**प्रातः ७ बजे**––मक्खन, पावरोटी, अण्डा, हलुआ, दूध इत्यादि।

**मध्याह्न ११-१२ बजे व रात ८ बजे**––भात, रोटी, दाल, सब्जी, मछली, मांस, दही, दूध, इत्यादि (मांस के साथ दूध पीना विरुद्ध है इसलिए, मध्याह्न भोजन में मांस रहे, तो उसके साथ दही लेना अच्छा है।)

**शाम ४-५ बजे**––मेवा, ताजाफल, सन्देश, दूध इत्यादि।

**दैनिक खाद्य का परिमाण***

| | |
|---|---|
| चावल या आटा | १० औंस |
| पावरोटी | २ औंस |
| दाल | २ औंस |
| मांस-मछली | २–२ औंस |

(यदि मांस न दिया जाय, तो मछली ४ औंस दे)

* पश्चिम बङ्ग सरकार द्वारा परिचालित कचरा-पाड़ा स्थित यक्ष्मा-अस्पताल में व्यवहृत होनेवाले खाद्य।

| | |
|---|---|
| दूध | २४ औंस |
| अंडा | १ ,, |
| फल | २ ,, |
| सन्देश या अन्य कोई छेने की मिठाई | २ ,, |
| मक्खन | आधा औंस |
| घृत या तैल | २ औंस |
| चीनी | २ औंस |
| आलू | ६ औंस |
| ताजी सब्जी | ८ औंस |
| पाती नीबू | १ |

लवण तथा मशाला आवश्यकतानुसार दें।

## दैनिक खाद्य तालिका

साधारण चावल १२ औंस, पाव रोटी ४ औंस, दाल २ औंस, मक्खन आधा औंस, सरसों का तैल २ औंस, चीनी २ औंस, चाय आधा औंस, नमक १ औंस, मसाला आधा औंस, प्याज १ औंस, लहसुन ८ वाँ भाग $\frac{1}{8}$ औंस, कागजीनीबू आधा औंस, बड़ी मछली ३॥ औंस, मांस ५ औंस, गाय का घी अष्टमांश औंस, आलू ६ औंस, सब्जी १४ औंस, दूध २० औंस, मुरगी का अंडा १, सिंगापुर का केला १, चटनी १ औंस। इस तरह आनुमानिक दैनिक व्यय २॥) रुपये होते हैं।

## निरामिष भोजियों की खाद्य-तालिका

चावल १२ औंस, पावरोटी ४ औंस, मक्खन १ औंस, सरसों का तैल २ औंस, चीनी ३ औंस, चाय चौथाई औंस, नमक १ औंस, मसाला आधा औंस, कागजी नीबू आधा, गाय का घी अष्टमांश औंस, सब्जी १ पौंड, आलू ६ औंस, दूध १२ औंस, फल ३, सिंगापुर का केला १, चटनी १ औंस, (आनुमानिक दैनिक व्यय—२॥)।

## हलका भोज्य पथ्य (Soft diet )

पुराना चावल १२ औंस, पावरोटी २ औंस, छोटी मछली ३ औंस, मुर्गी का अंडा १, सिद्ध आलू ४ औंस, दूध, २४ औंस, चीनी २ औंस, पियाज १ औंस, अद्रक आधा औंस, गाय का घी चौथाई औंस, सब्जी सिद्ध ८ औंस, फल २, नमक १ औंस, सरसों का तैल १ औंस, टमाटर की चटनी १ औंस, (आनुमानिक दैनिक व्यय—२॥) रु०)

## तरल पथ्य (Liquid diet)

दूध, ४८ औंस, बार्ली २ औंस, चीनी ४ औंस, कागजी नीबू १, फल-४, डाव (नारियल) २। (आनुमानिक दैनिक व्यय—२॥)

उपर्युक्त खाद्य से दैनिक लगभग१२० ग्राम प्रोटीन, ४३० ग्राम शर्करा ((Carbohydrate), १०० ग्राम स्नेह, व आनुमानिक ३००० केलोरी उत्पन्न होता है।

निरामिष भोजी के खाद्य में दाल या दूध की मात्रा अधिक रहनी चाहिए। दूध यदि हजम न हो सके, तो दूध से मक्खन निकाल कर उसे पीना चाहिए। ऐसा दूध जल्दी हजम हो जाता है। पेप्टोनाइज्ड* दूध सहज में हजम हो जाता है।

रोगी को ज्वर तथा रक्तवमन हो, तो उसके लिए तरल या घन पथ्य की व्यवस्था करना उचित है। दूध, साबूदाना, बार्ली, हलुआ, मांसयूप† प्रभृति। प्रातः व सायंकाल "कूष्माण्डखण्ड" आधा तोला से एक तोला

---

### * पेप्टोनाइज्ड दूध बनाने की विधि

(क) १ पाइन्ट दूध को ५ औंस गरमजल में १ ड्राम Pancreatic Solution, , २० ग्रेन Bicarbonate of Soda एकत्र करके एनामेल के पात्र में (Sancapan) आग पर १४०° के उत्ताप तक (२० मिनट) रखना चाहिए। बाद में यथारीति ढक कर रख देना चाहिए, जिससे दूध जल्दी ठण्डा हो जाय। दूध जल्दी ठण्डा न होने से उसका स्वाद बिगड़ने की सम्भावना रहती है।

(ख) Fair child's Powder नामक औषधि के सम्मिश्रण से दूध पेप्टोनाइज्ड हो जाता है।

### † मांस-यूष तैयार करने की विधि

यूष के लिए बकरी के बच्चे का चर्बी रहित मांस को टुकड़ा-टुकड़ा करके अस्थि सहित लेना चाहिए। उसके बाद अल्पमात्रा में धनिया, हल्दी, नमक, तेजपत्ता, छोटी इलायची, दालचीनी देकर थोड़ी देर रखकर उसको गरम जल में छोड़, पात्र के मुख को ढँक दें। फिर इच्छानुसार थोड़ा-सा प्याज एवं लहसुन भी दे सकते हैं। जल जब खौलने लगे, तब आवश्यकतानुसार नमक डालकर बीच-बीच में ढक्कन को उतार कर देखते रहें कि जल अधिक तो नहीं सूख गया। यदि जल अधिक सूख गया हो, तो उसमें और थोड़ा गर्म जल मिला दें। एक पाव मांस को एक सेर जल में सिद्ध करने की विधि है। अग्नि का उत्ताप मृदु होना चाहिए। मांस को सम्यक् प्रकार से सिद्ध होने पर उतार लें। जरा ठंढा होने पर कपड़े से छानकर वह यूष रोगी को दें।

(ख) सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम्।
दाड़िमामलकोपेतं स्निग्धमाजरसं पिवेत्॥

की मात्रा में मधु के साथ देना चाहिए। ज्वर व रक्त वमन के स्वाभाविक अवस्था में आने पर पूरा पथ्य देना उचित है।

एक हजार ग्राम अर्थात् प्रायः एक सेर जल का उत्ताप १° डिग्री (Centigrade) बढ़ाने से उत्ताप का जो परिमाण हो; विज्ञान में उसको केलोरी माना जाता है। १ ग्राम प्रोटीन में ४ केलोरी, एक ग्राम कार्वोहाइड्रेट में ४ केलोरी और १ ग्राम फैट (चर्वी) में ९ केलोरी उत्ताप की सृष्टि होती है।

| खाद्यपदार्थ, | प्रोटीन, | स्नेहद्रव्य, | कार्बोहाइड्रेड. | केलोरी-नाप |
|---|---|---|---|---|
| बाजरा | ११·६ | ५·० | ६७·१ | ३३४ |
| ज्वार | ११·५ | १·७ | ८१·३ | ३८४ |
| भुट्टा | ६·३ | ३·९ | ६०·८ | ३०४ |
| चिउड़ा | ६·६ | १·२ | ७८·२ | ३५० |
| अरवा चावल | ६·१ | ·५६ | ७७·७ | ३५१ |
| उसना चावल कल का छँटा हुआ | ६·४ | ४· | ७९·१ | ३४६ |
| सूजी | ७:७ | ०·३५ | ८१०७ | ३६४ |
| गेहूँ का आटा | १३·९ | २·१ | ७१·४ | ३७१ |
| चना | १६·५ | २·० | ५९·७ | ३२३ |
| चने की दाल | १७·१ | ५·३ | ६१·२ | ३८५ |
| काली उड़द | २०·३ | ·४२ | ५७·८ | ३२६ |
| उड़द | २४·९ | १·० | ६०·१ | ३७३ |
| मूँग | १७·३ | ०·३५ | ५६·६ | ३३१ |
| मूँग की दाल | २४·० | १·३ | ६४·४ | ३८५ |
| मसूर की दाल | २५·१ | १·२ | ७०·६ | ३७१ |
| मटर की दाल | २४·५ | १·१ | ७१·३ | ३५४ |
| सोयाबीन | ४३·२ | २०·२ | २१·० | ४५३ |
| वथुआ | ४·७ | ०·४ | २·८९ | ३७ |
| सहजनकी फली | ६·७ | १·७ | १३·४ | ९६ |
| चने का शाक | ७·० | १·४ | ११·७ | ८७ |
| पुदीना-शाक | ४·५ | ०·६ | ७·६ | ५४ |
| नीमकी पत्तियाँ | ११·६ | ३·० | २१·२ | १५८ |
| प्याज की कली | ·९ | ·२ | ८·९ | ४१ |
| पालक शाक | १·९ | | ३·२ | २५ |
| वीट | १·४६ | | ९·६ | ४६ |
| गाजर | ०·३ | | ७·८५ | २५ |
| वड़ी प्याज | ·९ | | ६·५ | २५ |
| छोटी प्याज | १·७४ | ·१ | ५·२३ | ३४ |
| आलू | १·६ | | १५·५ | ७३ |
| | २·१२ | ०·२५ | २२·९ | १९१ |
| लालमूली | ·६ | ·०८० | ४·२ | २२ |
| करेला | ·९१ | ·२ | ३·२९ | १९ |
| वैंगन | ·७ | | १·८ | १६ |
| फूलगोभी | ११·४ | ०·३१ | ६·४ | ३४ |
| | १·५ | | ३·५ | ११ |
| | ३·५ | ·४ | ५·३ | ४० |
| ढेंढस | १·६ | ·२ | ४·५ | २९ |
| | | २·३ | ७·७ | ४१ |
| परबल | १·९३ | ·३ | १·९ | १८ |
| मटर की फली | ५·८ | | १३·२ | ६७ |
| | ७·२ | ·५७ | १९·८ | ११२ |
| चिंचिगा | ·५ | ·१३ | ४·० | २१ |
| टमाटर | ·९ | | २·५६ | १५ |
| सिंघाड़ा | ·७७ | ०·१ | १२·६ | ५८ |
| बादाम का तैल | १८·६ | ५३·५ | १०·५ | ६०० |
| मूँगफली का तैल | २४·६८ | ४०.१ | १५·९ | ३४९ |
| सरसों का तैल | २२·० | ३९·७ | २३·८ - | ५४१ |
| केला | १·३ | ·८५ | ३६·४ | १५६ |
| खजूर | २·० | + | ६७·३ | २७० |
| अंगूर | ·३६ | + | ८·२ | ४१ |
| सेव | ·२७ | + | ११·३ | ५० |
| | ·३ | ०·४ | १४·९ | ६४ |
| पका आम | ·५६ | १· | ११·८ | ५० |
| | ·७ | ·८९ | १७·२ | ७६ |
| कमला नीबू | ·५८ | + | १०·५ | ३८ |
| नासपाती | १·१८ | ·१ | १०·४ | ४६ |
| अनन्नास | ·४ | + | १२·० | ५० |
| अनार | ·६४ | ·५५ | १४·६ | ६५ |
| किसमिस | १·० | + | ७१·२ | २६९ |
| | २·३ | ०·४ | ७७·४ | ३२५ |

| खाद्यपदार्थ, | प्रोटीन, | स्नेहद्रव्य, | कारबोहाइट्रेड, | केलोरी-नाप |
|---|---|---|---|---|
| नीबू | ·८ | + | ७·८४ | ४३ |
| **दूध तथा उससे बननेवाले पदार्थ** | | | | |
| मक्खन | ८०·८ | + | २·५ | ७३३ |
| | ८५·१ | ०·४ | | ७९३ |
| मट्ठा | ०·४९ | ·५ | ०·४२ | २२ |
| छेना | २·२ | २ | ·०३ | ११४ |
| मलाई | १·८ | २०·० | २·३ | २०८ |
| | २·९ | ४२·० | ४·६ | ४०९ |
| दही | २·९ | २·९ | ३·३ | १५ |
| घी | | ९९·२ | | ९२२ |
| गाय का दूध | ३·३ | ३·६ | ४·६ | ६५ |
| बकरी का दूध | ३·३ | ४·२ | ४·७ | ७० |
| | ३·७ | ५·६ | ४·८ | ८६ |
| भैंस का दूध | ३·८५ | ७·०१ | ५·१ | १०० |
| **मांस** | | | | |
| वत्तख का मांस | ३·०४ | ५·९८ | ·१३ | ११० |
| मुर्गी | १९·२ | १·२२ | | १०७ |
| बकरे का मांस | २५·२ | ३·३ | | १३३ |
| भेंड़ का मांस | १३·३ | ११·८ | ·६५ | १८७ |
| उल्लू का मांस | २१·७ | १३·९ | | २१८ |
| **मछली** | | | | |
| फेसा | १८·४ | १·९ | | ९०.७ |
| मृगल | १९·५ | ०·८ | | ८५.२ |
| सोल | १६·२ | २·३ | | ८५.५ |
| मोरला | १८·० | ४·१ | | १०८.९ |
| पोठी | १८·१ | २·४ | | ९४.० |
| सिंगी | २२·८ | ·६ | | ९६.६ |
| पारस | १६·६ | ५·९ | | ११९.५ |
| लेटा | १९·४ | ·६ | | ८३. |
| कबई | १४·८ | ८·८ | | १३९.४ |
| फलुई | १९·८ | १·० | | ८८.२ |
| रेहू | १६·६ | १·४ | | ७९ |
| कतला | १९·५ | २·४ | | ९९.६ |
| डेंकी | १३·७ | १·१ | | ६४.७ |
| मांगुर | १५·० | १·० | | ६९.० |

| खाद्यपदार्थ, | प्रोटीन, | स्नेहद्रव्य, | कार्बोहाइड्रेड, | केलोरी-नाप |
|---|---|---|---|---|
| **अंडा** | | | | |
| वत्तख का अंडा | १३·१ | १३·७ | ०·५ | १८० |
| मुरगी का अंडा | ११·७८ | ११·५ | ·७ | १६३ |
| मुर्गी के अंडे की सफेदी | ९·० | + | ·८ | ३७ |
| अंडे की जर्दी | १३·५ | ३·० | ·७ | ३१० |
| | १६·३ | ३१·९ | १·३२ | ३५५ |
| कॉड मछली का तैल | | १००· | | ९०० |
| ह्वेल मछली का तैल | | १०० | | ९०० |

—o—

(१९० पृष्ठ का शेषांश)

(स) रेलगाड़ियों आदि में धूम्रपान करना, थूकना आदि

(द) होटलों, जलपानगृहों, रेस्तराँ आदि में व्यवहृत वर्त्तनों की अस्वच्छता।

(इ) नगरों में शुद्ध वायुहीन मकानों में वास करना और छोटे कमरों में अनेक व्यक्तियों का एकत्र रहना।

(फ) अज्ञान, दरिद्रता और सेनेटोरियमों की कमी के कारण वासगृहों में यक्ष्मा रोगियों को रखना।

(ग) यक्ष्मा के भूतपूर्व रोगियों के लिये निर्दिष्ट वासस्थान का अभाव। इससे वे रोगी स्वस्थ व्यक्तियों के साथ स्वच्छन्द भाव से घुल-मिल सकते हैं और रोग फैला सकते हैं।

यह सर्वजन विदित है कि हमारे देश में रोग के उपर्युक्त कारणों में क्रमशः वृद्धि हो रही है और उनको रोकने का अबतक कोई प्रयास नहीं किया गया है। ऐसी अवस्था में हमारे राष्ट्र के स्वास्थ्य की क्रमशः अवनति पर कोई आश्चर्य नहीं है। यदि बी० सी० जी० का ऐसी हालत में प्रचार किया गया और हमारे स्वास्थ्य की अवनति को रोकने की कोई चेष्टा नहीं की गयी तो, इसका परिणाम अत्यन्त हानिकारक होगा। हमारे देश की चालू अवस्था तथा सरकार के एलोपैथिक सलाहकारों की सलाह के कारण देश की जनता का रक्त विविध प्रकार के रोग-निरोधक टीकाओं और सुइयों से हमेशा मिश्रित होता रहता है।

आयुर्वेद में भी ऐसे कुछ बाहरी निरोधक उपायों का वर्णन है, लेकिन उनको प्रचलित करने के पूर्व प्रयोग और जाँच की आवश्यकता है। आयुर्वेद में रोगों की रोक-थाम तथा स्वास्थ्य को अक्षुण्ण रखने पर अत्यधिक जोर दिया गया है। इस सिलसिले में केन्द्रीय सरकार तथा चिकित्सक समुदाय से मेरा यह विनम्र अनुरोध है कि वे इस विषय पर मनोयोग पूर्वक विचार करें।

(जर्नल ऑफ आयुर्वेद से)

[ तृतीय खंड ]

## राजयक्ष्मा--प्रसार और प्रतिरोध

इस खंड के अधिकारी लेखक

वैद्य विनायकराव वापट, डॉ० भा० गो० घाणेकर, वैद्य दत्तात्रेय शास्त्री जलूकर, कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री, वैद्य मदनगोपाल, कविराज शिवशरण वर्मा, कविराज सत्यनारायण प्रसाद शास्त्री, वैद्य रवीन्द्र शास्त्री, डॉ० चन्द्रा के० गुप्ता, श्रीमती पद्मिनी-सेन गुप्ता, श्री बी० एम० करियप्पा, रेवरेण्ड आर० एम० बार्टन आदि-आदि

# बी० सी० जी० और आयुर्वेदीय मत से यक्ष्मा की रोक-थाम

वैद्य विनायकराव वापट, एल० ए० एम० एस०

यह सर्वजन विदित है कि भारत में यक्ष्मारोग भीषण रूप में फैला हुआ है और इस रोग के कारण होनेवाली मृत्यु संख्या में क्रमशः वृद्धि से काफी उद्वेग प्रकट किया जा रहा है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार प्रतिवर्ष औसत पाँच लाख व्यक्ति इस रोग से मृत्यु के शिकार होते हैं। भारत में यक्ष्मारोगियों की संख्या करीब २५ लाख है। इस रोग का विस्तार क्रमशः अधिकाधिक पैमाने पर होता जा रहा है, अतएव इस रोग के प्रसार को रोकने की दिशा में कार्यवाही करने की अविलम्ब आवश्यकता उत्पन्न हो गयी है।

हमारी केन्द्रीय सरकार ने विश्व-स्वास्थ्य-संगठन के यक्ष्मा - विशेषज्ञों की सलाह पर यक्ष्मा के प्रसार को रोकने की एक व्यवस्था की है, जो सर्वोत्तम निरोधक व्यवस्था समझी जाती है। इसका नाम बी० सी० जी० टीका है। इस टीका के उत्पादन के लिये गिण्डी नामक स्थान पर विश्व-स्वास्थ्य-संगठन के अधिकारियों के तत्वावधान में एक आधुनिक कारखाना भी स्थापित किया जा चुका है। इस टीका की गुणकारिता की काफी प्रशंसा हुई है। लेकिन, अनेक चिकित्सकों ने इस प्रणाली की सम्भावित खतरनाक प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में घोर आशंका भी प्रकट की है। बी० सी० जी० एक नई निरोधक प्रणाली है, और इसके परिणाम की सफलता के सम्बन्ध में किसी को दृढ़ विश्वास नहीं है। भारत के विभिन्न भागों में बी० सी० जी० टीका देने की व्यवस्था चालू हो गई है। लेकिन इसके सम्पूर्ण हानि-लाभों पर विचार और अन्तिम निर्णय के पूर्व व्यापक पैमाने पर टीका देने का प्रबन्ध समीचीन नहीं होगा। इस व्यवस्था को सामूहिक पैमाने पर आरम्भ करने के पूर्व हमें भारतीय जनता की शारीरिक गठन , शरीरिक शक्ति, जीवन-धारण के निम्नस्तर, अल्प आय, आब-हवा और सरकार के आर्थिक साधनों पर भलीभाँति विचार कर लेना होगा।

कुछ लोगों को ऐसी आशंका हो रही कि हमारी सरकार विश्व-स्वास्थ्य संघ के अधिकारियों की सलाहों का अन्धानुकरण कर इस प्रणाली को स्वीकार कर लेगी। किन्तु हम यदि किसी नई प्रणाली का प्रवर्तन करते हैं और उस प्रणाली का सम्बन्ध लाखों व्यक्तियों के जीवन से होता है, तो हमें उस प्रणाली की हानियों पर भी भली भाँति विचार कर लेना चाहिए। किसी रोधक उपाय को जारी करना काफी आसान है, लेकिन संयोगवश उसका परिणाम दुःखद हुआ, तो हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्य पर पड़नेवाले उसके बुरे प्रभावों को दूर करना अत्यन्त कठिन साबित होगा। इस लेख में दिखाने का प्रयास किया गया है कि इस नये प्रयोग के सम्भावित परिणामों पर हम क्यों नहीं विश्वास कर सकते हैं। इसके साथ ही आयुर्वेद में वर्णित एक निरापद, सुरक्षित और फलदायक निरोधक व्यवस्था के अपनाने की भी इसमें सलाह दी गई है।

**बी० सी० जी० का इतिहास**--इस टीका का पूरा नाम "बेसिलस कालमेट गुएरिन" हैं। इसका नामकरण इसके आविष्कारक यूरोपियन डाक्टर कालमेट के नाम पर हुआ है। यह टीका सर्वप्रथम १९२१ ई० में फ्रांस में प्रचलित हुई और इसके बाद अन्य यूरोपियन देशों तथा खासकर नारवे और स्वेडेन में इसका प्रचलन आरम्भ हुआ। पाँच वर्ष के कम उम्र के बच्चों में यक्ष्मा के कीटाणुओं का प्रवेश आसानी से हो सकता है और यक्ष्मारोग से आक्रान्त अपने अभिभावकों, निकट सम्बन्धियों के सम्पर्क में रहने के कारण बच्चों को यह रोग होने का भय अधिक रहता ह। कालमेट के कथनानुसार बी० सी० जी० का उपयोग पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों पर निरोधक व्यवस्था के रूप में आसानी से किया जा सकता है। इस टीका का प्रभाव दो से चार वर्षों तक रहता है। हाल में ऐसा पता चला है कि ४-६ वर्षों तक इस टीका का प्रभाव बना रहता ह। किन्तु सभी लोग इस से सहमत नहीं हैं।

**प्रणाली**--बी० सी० जी० से मानव-रक्त में जब यक्ष्मा-निरोधक तत्त्व प्रविष्ट होते हैं, तो उसकी कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हैं और उसके परिणामस्वरूप मानव-शरीर यक्ष्मा के आक्रमण को रोकने में समर्थ हो जाता है।

बी० सी० जी० का निर्माण विशेष-पद्धति द्वारा होता है और इसकी मात्रा अत्यन्त नियन्त्रित होती है, अतः इसके परिणाम-स्वरूप यक्ष्मारोग नहीं हो सकता। इस टीका के प्रभावों से मानव-रक्त के अभ्यस्त हो जाने के कारण नया संक्रमण होने पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। पाश्चात्य देशों में बी० सी० जी० का उपयोग व्यापक पैमाने पर हो रहा है और यह लाभदायक सिद्ध हो चुका है। बी० सी० जी० के समर्थकों का ऐसा कथन है।

### क्या बी० सी० जी० वस्तुतः यक्ष्मा निरोधक है ?

कुछ विशेषज्ञों का मत है कि बी० सी० जी० के समर्थकों द्वारा प्रस्तुत आँकड़े त्रुटिहीन नहीं हैं, अतएव उनपर भरोसा नहीं किया जा सकता। ब्रिटिश डॉक्टरों ने यूरोपियन डॉक्टरों के इन आँकड़ों को विश्वस्त नहीं माना है। इस पर काफी धैर्य के साथ विचार करने तथा प्रमाणों को संग्रह करने की आवश्यकता है। अतएव , हम भी इन आँकड़ों पर विश्वास नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में इस पद्धति को ग्रहण करना असामयिक होगा। अपने देश में व्यापक पैमाने पर इस का प्रचलन करने के पूर्व हमें धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए और इसके परिणामों से पूर्णतया अवगत होना चाहिये।

विश्व-स्वस्थ्य-संगठन के यक्ष्मा-विशेषज्ञ डॉ० जे० बी० मैकडूगल का कथन है कि बी० सी० जी० टीका पश्चिमी यूरोप के देशों में जितना सफल हुआ है, भारत में उसी रूप में उसकी सफलता सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि यूरोपीय देशों में यक्ष्मा निरोध के लिये अन्यसमान महत्व के उपयोगों का भी अवलम्बन किया जाता है। इस अधिकारी वक्तव्य को ध्यान में रख कर कोई व्यक्ति दृढ़ता पूर्वक ऐसा नहीं कह सकता कि बी० सी० जी० ही यक्ष्मा-निरोध का एकमात्र उपाय है।

### व्यावहारिक कठिनाइयाँ

"इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि बी० सी० जी० एक सजीव टीका है। इस के निर्माण के सात दिनों के अन्दर इसका उपयोग होना जरूरी है। इसके निर्माण में बड़ी कठिनाई होती है। इसको फलप्रद बनाने के लिये विशेष ज्ञान और विशेष दक्षता की आवश्यकता है। साधारण टीका लगानेवालों द्वारा यह टीका कदापि नहीं लगाया जा सकता। इसकी प्रतिक्रियाएँ ज्वर, ग्रन्थि-दाह, गिल्टियों में सृजन और घाव के रूप में होती है। इसके स्तर को निर्द्धारित करना भी बड़ा ही कठिन है। यदि जनता इसकी प्रतिक्रियाओं और इसके सजीवतत्वों से अवगत हो जाएगी, तो वह भयभीत होकर टीका लेने से इन्कार कर देगी। इसके साथ ही यह भी एक समस्या है कि सारी जनता या उसका कोई अंश यह टीका ले।

**—इण्डियन मेडिकल रेकर्ड, जून, ४८**

"इसमें अनेक असुविधाएँ हैं। सर्व प्रथम इसके एक टीका के बाद होनेवाला घाव काफी दुखदायक हो सकता है। टीका लेने के पाँच-छः सप्ताह बाद घाव होता है और कई मास रह सकता है। इस प्रणाली की यह सब से बड़ी त्रुटि है। कोई व्यक्ति निश्चित रूप से यह नहीं बता सकता कि बी० सी० जी० टीका का प्रभाव कब तक रहता है। कुछ व्यक्तियों का यह भी कथन है कि बी० सी० जी० टीका से यक्ष्मा निरोध होने का कोई वैध प्रमाण नहीं है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि मानव-शरीर पर यक्ष्मारोग का आक्रमण इसके कारण नहीं होगा।

**—हेनरी स्टुअर्ट, एम० डी०**

"इस टीका की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप होने-वाली किसी दुर्घटना के उत्तरदायित्व से अधिकारियों को मुक्त करने की लिखित स्वीकृति अभिभावकों से लेने की जो शर्त है, उस पर विचार करने की जरूरत है और इसके सुपरिणामों में विचारकों को स्वतः सन्देह होता है।

**—जर्नल आफ आयुर्वेद**

कलकत्ता मेडिकल कॉलेज के हृदय-रोग विशेषज्ञ डा० पी० के० सेन ने कहा है कि 'वस्तुतः बी० सी० जी० कदापि क्षयरोग का निरोधक न तो रहा है और न रहेगा।'

किन्तु हमारी केन्द्रीय सरकार ने उपर्युक्त तथ्यों के बावजूद ऐसा कहा है कि 'बी० सी० जी० की निरापदता इसके व्यावहारिक उपयोग से सिद्ध हो चुकी है।

**—आई० एम० धर०**

बी० सी० जी० के गुणों के सम्बन्ध में जब कि क्षयरोग-विशेषज्ञों का एकमत नहीं है और देश में इस पद्धति को प्रचलित करने के पूर्व काफी सोच-विचार और परीक्षण की आवश्यकता बतायी जा रही है, ऐसी

हालत में केन्द्रीय सरकार की उपर्युक्त विज्ञप्ति से क्या यह साबित नहीं होता कि वह विश्व-स्वास्थ्य-संगठन के अधिकारियों का अन्धानुसरण कर रही है? सरकार ने यक्ष्मा के कारणों तथा जनता की शक्तिहीनता को दूर करने में हमेशा उदासीनता दिखाई है, लेकिन उसने ऐसी एक सन्दिग्ध प्रणाली के प्रचलन में कोई आनाकानी नहीं की, जिसके परिणामों का बुरा प्रभाव होने की पूरी आशंका है।

**नई पद्धति अबतक प्रयोगात्मकरूप में**—बी० सी० जी० अबतक प्रयोगात्मक अध्याय में है। निश्चित रूप में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह सभी प्रकार के खतरे से मुक्त है और हमारे देश में इसका आशानुरूप परिणाम होगा। पाश्चात्य देशों की जनता के समान हमारे देशवासी स्वस्थ नहीं होते और हमारा खाद्य भी उनके समान पुष्टिकर नहीं होता। भारत की आब-हवा भी यूरोपियन देशों से भिन्न है तथा हमारे देश में क्षयरोग के निरोध तथा जनता की स्वास्थ्योन्नति के लिये पाश्चात्य देशों के समान श्रेष्ठतर कार्यवाहियाँ भी नहींकी जाती हैं, अतएव यह नहीं बताया जा सकता कि बी० सी० जी० टीका का दुष्प्रभाव कैसा होगा। प्रकृति सदा अपने ढंग से कार्य करती है। औषधिमात्र प्रकृति के कार्य में सहायता पहुँचाती है। निरोधक ओषधि भी यथासम्भव ऐसी ही होनी चाहिए कि प्रकृति के कार्य में उससे सहायता मिले। लेकिन प्रकृति के नियमों का यदि हम उल्लंघन करने लगें और अपना रास्ता अपनाएँ, तो हम कदापि संघर्ष में विजयी नहीं हो सकेंगे। प्रकृति के स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों की हम पिछले अनेक वर्षों से उपेक्षा कर रहे हैं और पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली का अवलम्बन करते हुए रोग-निरोधक के बाहरी उपायों पर ही निर्भर हैं। निरोधक टीका और सूई लेकर हम अपने को पूर्ण तया रोग-भय मुक्त मान लेते हैं और स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन करने लगते हैं। इसी कारण हमारे देशवाशियों का स्वास्थ्य दिनोंदिन अवनति की ओर जा रहा है। यदि बी० सी० जी० टीका की योजना को पूर्णरूप में कार्यान्वित किया गया तो हमारे राष्ट्र के कम से कम एक करोड़ स्वस्थ बच्चों पर यह अनिश्चित, सन्दिग्ध और खतरनाक प्रयोग किया जायगा। इस का अर्थ यह होगा कि विज्ञान के नाम पर हम एक करोड़ स्वस्थ बच्चों के रक्त में क्षयरोग के सजीव कीटाणुओं का संचार कर देंगे। यह कितना भीषण अपराध है। यदि इसकी कोई खतरनाक प्रतिक्रिया हुई, तो इसकी जिम्मेदारी किस पर होगी? भारत-सरकार के क्षयरोग-विशेषज्ञ और परामर्शदाता डा० वर्गीज बेंजामिन का कथन है कि बी० सी० जी० टीका में भारत को प्रथम तीन वर्षों में ६ करोड़ रुपये तथा परवर्ती वर्षों में ३ करोड़ रुपये खर्च करने होंगे।

**बी० सी० जी० का परिणाम**—डा० बेंजामिन का कथन है कि 'बी० सी० जी० टीका के परिणामस्वरूप २० वर्षों के बाद क्षयरोग जनित मौतों की संख्या ५ लाख से घटकर १ लाख हो जायगी। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि अन्य देशों में, जहाँ इस टीका का प्रयोग हुआ है, जनता के रहन-सहन का मापदण्ड भारतीय जनता की अपेक्षा काफी उन्नत है। इसके अलावा उन देशों में क्षय रोग के निरोध के लिए अन्य कार्यवाहियाँ भी व्यापक पैमाने पर हो रही हैं और बी० सी० जी० टीका के बिना भी इस रोग के प्रसार को नियन्त्रित रखा जा रहा है।

डॉ० बेंजामिन का यह वक्तव्य विचारणीय है। उन्होंने स्पष्टरूप में स्वीकार किया है कि अन्य देशों का रहन-सहन और आब-हवा हमारे देश से उन्नत है और अन्य उपायों से (बी० सी० जी० के बिना) इस रोग की रोक-थाम काफी अंशों में की गयी है। अतएव यदि हम अपने देशमें बी० सी० जी० का प्रचार करें और अन्य देशों के समान इसका सफल प्राप्त करना चाहें, तो यह आवश्यक है कि जनता के रहन-सहन के स्तर को समुन्नत किया जाय तथा अन्य क्षय-निरोधक उपायों को भी सुष्ठुभाव से ग्रहण किया जाय। सिर्फ बी० सी० जी० के प्रयोग से आशानुरूप फल नहीं प्राप्त हो सकता। केन्द्रीय सरकार ने इस पद्धति को अपनाकर विराट अर्थराशि और राष्ट्र के एक करोड़ बच्चों के स्वस्थ्य को खतरे में डाल दिया है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि भारत में क्षयरोग की रोक-थाम का मैं विरोधी हूँ। इस रोग के प्रसार को भी सम्भव उपायों से अवश्य रोकना चाहिए। लेकिन हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम इसके लिये सर्वोत्तम और निरापद उपाय का ही अवलम्बन करें।

**सतर्कता**—भारत जब पराधीन था, तब यहाँ के ब्रिटिश शासकों ने देशी चिकित्सा-पद्धति पर प्रायः प्रतिबन्ध-सा लगा रखा था। उन्हों ने भारतीय चिकित्सा-विज्ञान को सरकारी संरक्षण एवं प्रोत्साहन से बंचित कर दिया तथा पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति को देश में जबर्दस्ती प्रचलित किया एवं अधिकाधिक सुविधाएँ तथा संरक्षण प्रदान किया। वे नहीं चाहते थे कि भारत में देशी चिकित्सा-पद्धति कायम रहे, क्योंकि ऐसा होने पर उनके व्यापार को धक्का पहुँचने का भय था। उन्हों ने भारतीय चिकित्सा-विज्ञान का बिनाश करने की यथासाध्य चेष्टाएँ कीं। इस उद्देश्य से उन्हों ने सिर्फ ऐसे व्यक्तियों को सरकारी सलाहकार नियुक्त किया, जो देशी चिकित्सा प्रणाली को घृणा की दृष्टि से देखते तथा उसको अवैज्ञानिक बताते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे सिर्फ एलोपैथिक औषधियों को वैज्ञानिक औषधि कहा जाने लगा। सरकारी परामर्शदाता भी सरकार को सिर्फ पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के अवलम्बन की सलाह देने लगे। किन्तु, अब स्थिति पूर्णतया बदल गयी है। हमारा राष्ट्र स्वाधीन है हम रोग की रोक-थाम और चिकित्सा के लिए स्वेच्छानुसार सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक उपयोगी चिकित्सा-पद्धति का किसी भेदभाव के विना चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र हैं। प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धतियों के बीच किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि वास्तविक ज्ञान के मार्ग में ऐसी कोई बाधा नहीं है। हमें सर्वोत्तम चिकित्सा-पद्धति का ही चुनाव करना चाहिए, जो हमारी स्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल हो तथा अधिकाधिक निरापद भी हो। किन्तु खेद है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भी स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ है और अंग्रेज शासकों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित शासन-यन्त्र अबतक कायम है।

**सुझाव**—हमारा कर्तव्य सुस्पष्ट है। भारतीय चिकित्सा-विज्ञान के कुछ अनुभवी और ख्यातिप्राप्त विशेषज्ञों का विश्वास प्राप्त किया जाए और भारत में क्षयरोग के निरोध और चिकित्सा के सम्भव उपायों के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देने के लिये उक्त विशेषज्ञोंतथा वर्तमान अधिकारियों की एक कमेटी गठित की जाय। किसी नयी प्रणाली को सिर्फ इस कारण ग्रहण करना विवेकपूर्ण नहीं होगा कि पाश्चात्य देशों में वह प्रणाली लाभदायक सिद्ध हुई है। किसी पद्धति को सिर्फ इस कारण हमें अस्वीकार नहीं करना चाहिये कि वह पश्चिमी देशों से आयी है अथवा किसी पद्धति की सिर्फ इस कारण व्यर्थ प्रशंसा या सम्मान नहीं करना चाहिए कि वह स्वदेशी है। प्रत्येक पद्धति के गुणों और उपयोगिता पर विचार करना चाहिए। साथ ही सरकारी अफसरों को अपने मन से यह गलत धारणा दूरकर देनी चाहिए, कि भारतीय चिकित्सा-विज्ञान—आयुर्वेद-अवैज्ञानिक है। चोपड़ा कमेटी के रिपोर्ट से यह सिद्ध हो चुका है कि आयुर्वेदीय पद्धति पूर्ण-वैज्ञानिक है।

## आयुर्वेद के अनुसार यक्ष्मा-निरोध

इस सिलसिले में आयुर्वेद में वर्णित यक्ष्मा-निरोध के उपायों का संक्षेप में उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। इन उपायों के वैज्ञानिक पहलुओं को हृदयङ्गम करने के लिए आयुर्वेद के मतानुसार यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति के कारणों को जानना वांछनीय है। चरक का कथन है—

"साहसं वेगसंरोधः शुक्रौजः स्नेहसंक्षयः।
अन्नपानविधिस्त्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः॥"

अपनी प्राकृतिक शक्ति का अत्यधिक मात्रा में क्षय करना; १२ वेगों को रोकना, जिससे अनावश्यक तत्वों का शरीर से बाहर निकलना बन्द हो जाता है; शुक्र, ओज और स्नेह का अत्यधिक क्षय और खाद्य के नियमों की उपेक्षा करना; ये चार प्रधान कारण क्षयरोग की उत्पत्ति के हैं।

क्षयरोग के कीटाणु सारे विश्व में व्याप्त हैं और मानव शरीर हमेशा उनके सम्पर्क में आता है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार शरीर इलाकों की आधी से अधिक आबादी २० वर्ष की उम्र में ही इस रोग के कीटाणुओं से आक्रान्त हो जाती है और जीवन के किसी काल में सभी मानव इससे आक्रान्त होते हैं। किन्तु, इनमें कुछ ही व्यक्ति धीरे-धीरे रोगाक्रान्त होते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि कम से कम ८० प्रतिशत व्यक्ति स्वतः रोगमुक्त हो जाते हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यक्ष्मा के प्राथमिक आक्रमण के

बाद अधिकांश व्यक्तियों में पर्याप्त सुरक्षात्मक शक्ति उत्पन्न होती है और वे रोग के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना करने में समर्थ हो जाते हैं। यक्ष्मा के कीटाणुओं से आक्रान्त होने पर भी अधिकांश जनता इसी कारण यक्ष्मारोग से पीड़ित नहीं होती। प्रकृति ने प्रत्येक व्यक्ति को एक ऐसा रक्षा-कवच प्रदान कर रखा है, जो सभी प्रकार के ज्ञात और अज्ञात रोगों में मानव-शरीर को बचाता रहता है। प्रकृति के नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करने से इस रक्षा-शक्ति में वृद्धि की जा सकती है अथवा उसे आवश्यक अंश तक कायम रखा जात सकता है।

**रोग-उत्पत्ति के कारण**—यद्यपि आयुर्वेद ने भी कीटाणुओं को क्षयरोग का कारण माना है, फिर भी इसने उनको विशेष महत्त्व नहीं दिया है,। आयुर्वेद ने और भी गहराई में जाकर यक्ष्मा-रोग को उत्पन्न करनेवाले कीटाणुओं के विकास के मूलकारणों का पता लगया है। यहाँ यह बताया गया है कि रोग की वृद्धि में इन कारणों से किस प्रकार सहायता मिलती है।

१. **अत्यधिक श्रम**—श्रम करने पर शरीर के तन्तुओं का क्षय होता है और श्रम लगातार जारी रखने पर परिणाम अत्यन्त भीषण होता है। क्षतिग्रस्त तन्तुओं की पूर्ति के लिए यदि उचित रूप में विश्राम नहीं लिया जाय तो स्वभावतः शरीर के सभी अंग क्रमशः शिथिल हो जाते हैं और वे अपना कार्य-सम्पादन करने में असमर्थ हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप शरीर-क्षय आरम्भ होता है और क्षय-रोगाणुओं के आक्रमण को रोकने में शरीर विफल हो जाता है।

(२) **वेगों को रोकना**—वेगों को रोकने से शरीर के मल-पदार्थ बाहर नहीं निकल पाते। उक्त मल-पदार्थ शरीर में रह कर रक्त में मिल जाते हैं। इस से अपच, वदहजमी और क्षुधाहीनता उत्पन्न होती है।

(३) **खाद्य के नियमों का उल्लंघन**—खाद्य के नियमों का उल्लंघन करने से पाचन-शक्ति नष्ट होती है और इससे शरीर शक्तिहीन होने लगता है। उपर्युक्त तीनों कारणों से शरीर के तन्तुओं को आवश्यक पोषण नहीं मिलता है और रोगों का सामना करने की शक्ति क्रमशः घटने लगती है। इस समय यदि क्षय रोग के कीटाणुओं का आक्रमण हो, तो शरीर उनका सामना नहीं कर पाता और शरीर में कीटाणु पनपने लगते हैं। इसके बाद शरीर में रोग के सारे लक्षण धीरे-धीरे प्रकट हो जाते हैं।

(४) **अत्यधिक मैथुन**—अत्यधिक मैथुन करने से शुक्र का अधिक परिमाण में क्षय होता है और शरीर में दुर्बलता आ जाती है। इस समय भी यदि उसी मात्रा में मैथुन जारी रखा जाय और शक्ति-संचय करने का शरीर को मौका नहीं दिया जाय, तो शरीर के रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र की क्षति होती रहेगी और शरीर में रोग पनपने लगेगी।

**रोग-निरोध की प्राकृतिक क्षमता**—क्षयरोग के कीटाणु सर्वत्र व्याप्त हैं, अतएव उनका नाश सम्भव नहीं है। मानव-शरीर में जब किसी रोग के कीटाणु प्रविष्ट होते हैं तो मानव-रक्त के श्वेतकण उनके विरुद्ध युद्ध आरंभ करते हैं। यदि मानव-शरीर दुर्बल हुआ, तो रोग-कीटाणुओं की विजय होती है और यदि शरीर सबल या सम-शक्तिमान हुआ, तो वे रक्त-कण किसी भी रोग कीटाणु को पराजित करने में समर्थ हो जाते हैं। यह प्रकृति की देन है। प्राकृतिक नियमों का पालन कर मनुष्य सभी रोगों से मुक्त रह सकता है। आयुर्वेद में वर्णित स्वास्थ्य के नियम ही प्रकृति के नियम हैं। इन साधारण नियमों का पालन कर सभी रोगों को मनुष्य आसानी से दूर रख सकता है। ऐसी स्थिति में किसी संक्रामक रोग को रोकने के लिए मानव-रक्त में उनके कीटाणुओं को प्रविष्ट करना क्या वांछनीय हो सकता है? यह सच ह कि इस बाहरी कार्यवाही से कुछ अंशों में सुरक्षा मिलती है। किन्तु, जिस मनुष्य को रोग-निरोध-शक्ति बहुत कम है, उसको बी० सी० जी० टीका से क्या लाभ पहुँच सकेगा, यह बताना मुश्किल है। इस रोग से बचने का एक-मात्र उपाय यह है कि स्वास्थ्य के नियमों का सख्ती से पालन किया जाए। यदि हम कहें कि बी० सी० जी० टीका निरापद है और इस से हम रोग-भय मुक्त हो सकते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि विज्ञान के नाम पर गलत आश्वासन तथा मनुष्यों को स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन करने की खुली छूट दे रहे हैं। नीचे यह बताया गया है कि अपने दैनिक

जीवन में हम प्रकृति के नियमों का कैसा उल्लंघन करते हैं। और हमारे स्वास्थ्य की वर्तमान हीन दशा क्यों है। इस समय, जब कि हमारा स्वास्थ्य निम्नस्तर पर है, यदि बी० सी० जी० टीका का प्रचलन किया गया, तो उसके दुष्परिणामों और खतरनाक प्रतिक्रियाओं से बचना असम्भव सावित होगा।

**स्वास्थ्यहीनता के कारण**—निम्नलिखित कारणों से यक्ष्मारोग के विकास में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता मिलती है।

### (१) भोजन में असंयम

(अ) पोषक खाद्य का अभाव।

(ब) दूध, घी, मक्खन आदि का अभाव या कमी।

(स) भूख लगने पर चाय या काफी पीना, जिससे पाचनशक्ति घटती है।

(द) अत्यधिक मात्रा में चाय, कॉफी आदि पीना।

(इ) समय, आवश्यकता, स्थान आदि का ख्याल नहीं कर रसना-तृप्ति के लिए या बाध्य होकर अत्यधिक भोजन करना।

(फ) भोजन बनाने का अवैज्ञानिक ढंग।

(ग) भोजन बनाने के वैज्ञानिक ज्ञान का अभाव।

(इ) सभ्यता के नाम पर अनभ्यस्त खाद्यपदार्थों का खाना।

(ई) वनस्पति और अन्य स्निग्ध पदार्थों का उपयोग।

### (२) यौन विषयों में अत्यधिक अभिरुचि

(क) ग्राम-सड़कों और समाचारपत्रों में काम-वासना को उभाड़नेवाले चित्रों तथा लेखों का प्रकाशन।

(ख) समाचारपत्रों में कामोत्तेजक और स्तम्भक दवाओं का विज्ञापन तथा चिकित्सकों की सलाह के बिना उनका सेवन।

(ग) ऋतुस्राव करानेवाली या बन्द मासिक धर्म को फिर से खोलनेवाली ओषधियों का विज्ञापन।

(घ) यौन-सम्बन्धी उपयुक्त ज्ञान का अभाव।

(ङ) हस्तमैथुन आदि बुरी आदतों में छात्रों को डालनेवाली परिस्थितियाँ।

(च) अविवाहित नवयुवकों और नवयुवतियों को स्वच्छन्दरूप से आस पास में मिलने का मौका देनेवाली सामाजिक और राजनीतिक स्थितियाँ।

(६) विवहित दम्पति में काम-विज्ञान की उपयुक्त जानकारी का अभाव तथा अत्यधिक मैथुन।

### (३) अत्यधिक परिश्रम

(क) गरीबी के कारण और परिवार का भरण-पोषण करने के लिये अत्यधिक परिश्रम।

(ख) क्रीड़ा और व्यायाम के लिये छात्रों के स्वास्थ्य पर ध्यान न देकर उनका दल बनाना।

(ग) छात्रों को अत्यधिक विषयों की शिक्षा देना, जिससे उन के मस्तिष्क पर काफी बोझ पड़ता है।

### (४) (अ) अपर्याप्त व्यायाम

(क) शारीरिक परिश्रम, व्यायाम या खेल-कूद में भाग न लेकर बैठे-बैठे समय काटने की ओर छात्रों और नवयुवकों की अभिरुचि।

(ख) उपयुक्त व्यायामशाला और प्रशिक्षणों का अभाव।

(ग) घर के भीतर के खेलों (ताश, शतरंज आदि) में छात्रों और नवयुवकों की अभिरुचि।

### (४) (ब) वेगों को रोकना

(क) इस ज्ञान का अभाव कि वेगों को रोकना खतरनाक है।

(ख) आलस के कारण या अनुशासन के लिये बाध्य होकर वेगों को रोकना।

### (५) अन्य कारण

(अ) तम्बाकू का विभिन्न रूपों में सेवन।

(ब) सिनेमा-थियेटरों में अधिक समय गुजारना, निम्नलिखित कारणों से थियेटरों और सिनामाओं द्वारा रोगों का प्रसार होता है:—खुली और स्वच्छ हवा का अभाव तथा बहुसंख्यक दर्शकों की भीड़, जिनमें कुछ व्यक्ति यक्ष्मा रोग से आक्रान्त भी रह सकते हैं और वे अँधेरे में हमारे मुँह पर खाँस सकते हैं। अनेक दर्शकों की उपस्थिति के कारण वहाँ की हवा गन्दी हो जाती है और उसी हवा को हम साँस से अपने फेफड़े में पहुँचाते हैं।

(शेषांश १८४ पृष्ठ पर)

# यक्ष्मा-चिकित्सा से परहेज भला

सुश्री पद्मिनी सेन गुप्ता

पश्चिम बंगाल में यक्ष्मारोग के प्रसार को रोकने तथा रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ही उसकी चिकित्सा करने के लिए व्यापक पैमाने पर अभियान चलाया जा रहा है। पश्चिम बंगाल और खासकर कलकत्ते में विभिन्न संस्थाएँ क्षयरोग के विरुद्ध अभियान चला रही हैं। मात्र कलकत्ते में यक्ष्मा रोगियों की संख्या ५० हजार से अधिक है। किसी एक शहर में यक्ष्मा रोगियों की इतनी बड़ी संख्या वस्तुतः



**कुछ वर्ग की महिलाएँ मुँह ढँककर बाहर निकलती हैं जिससे फेफड़ों में स्वाच्छ वायु का प्रवेश नहीं हो पाता।**

उद्वेग का कारण है और जहाँ-तहाँ थूकने की जनता की आदत को ध्यान में रखकर यह आशंका दृढ़ होती है कि यह रोग अवश्य ही व्यापक पैमाने पर फैलेगा। अतएव, यह आवश्यक है कि प्रमोदालयों, दफ्तरों, सार्वजनिक यातायात—गाड़ियों और आम सड़कों पर थूकने के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की जाय। विदेशों में शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति मिलेगा जो आम रास्ते पर थूकता हो, लेकिन कलकत्ते में जहाँ-तहाँ थूकनेवाले सर्वत्र मिल जाते हैं। एक सिनेमा गृह में बैठकर थूकते हुए एक व्यक्ति को देख मैं दंग रह गयी। वह व्यक्ति निश्चय ही धनी रहा होगा, क्योंकि काफी अधिक मूल्य के आसन पर बैठा था। किसी मोटर बस या ट्रेन में जब कोई व्यक्ति थूकता है तो उसको तत्काल पकड़ कर कम से कम ५०) रु० जुर्माना किया जाना चाहिए।

यह सर्वमान्य है कि जनता के पूर्ण सहयोग के बिना इस सांघातिक रोग का निरोध सम्भव नहीं है। आम जगहों में थूकने के अभ्यास का दूरीकरण ही आवश्यक नहीं है, वरन वस्तियों और मकानों के मालिकों को भी यह निश्चित नियम बना लेना चाहिए कि वे अपने गृहों में गन्दगी तथा नमी नहीं रहने देंगे। छतों का टपकना, ना मकानों में नमी रहना तथा नालियों से सड़ांध निकलना बन्द किया जाय। खुली मोरियों के कारण रोग का प्रसार अत्यधिक होता है और सारे भारत में मोरियों की अवस्था प्रायः ऐसी ही है। हमें ज्ञात है कि म्युनिसिपालिटियों और कारपोरेशनों ने मोरियों के सुधार की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बना रखी हैं, लेकिन हम यह नहीं जानते कि उनकी योजनाएँ कहाँ तक अग्रसर हुई हैं।

## गृहिणियों का कर्त्तव्य

रहन-सहन की अपनी स्थिति में सुधार के लिए जब कि हम शासनाधिकारियों के मुखापेक्षी हैं, फिर भी मेरा ऐसा ख्याल है कि यक्ष्मा के प्रसार को रोकने के लिए गृहस्थों द्वारा बहुत कुछ किया जा सकता है। गृहिणियाँ यदि भोजन के सम्बन्ध में पूर्ण जागरूक रहें और अपने घरों में वायु एवं रोशनी के प्रवेश की व्यवस्था करें तो यक्ष्मा-निरोध में काफी मदद मिल सकती है। पुरानी रुढ़ियों का परित्याग किया जाना चाहिए। पर्दा-प्रथा का पूर्णतया उच्छेद अति आवश्यक है। कुछ वर्गों की महिलाएँ मुँह ढँक कर बाहर निकलती हैं और इस कारण उनके फेफड़ों में स्वच्छ वायु का प्रवेश नहीं हो पाता। मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के परिवारों की महिलाएँ अधिकतर घर की चहारदीवारियों से बाहर नहीं निकलतीं। स्वच्छ वायु के बिना कोई भी हृदय-रोग दूर नहीं हो सकता। अनेक हिन्दू विधवाएँ

भी हृदय-रोग से पीड़ित रहती हैं क्योंकि वे पौष्टिक भोजन नहीं कर पातीं और अधिकतर एक जून ही भोजन किया करती हैं। इसके अलावा उनको बिल्कुल निरामिष भोजन करना पड़ता है, जिससे उनका स्वास्थ्य गिरने लगता है और रोग का मुकाबला करने की उनमें ताकत नहीं रह जाती। यद्यपि विधवाएँ आत्मवलिदान करना अपना कर्त्तव्य समझती हैं, किन्तु यह हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि यक्ष्मा का रोगी इस रोग का अपने आसपास खतरनाक रूप में प्रसार कर सकता है। यक्ष्मा रोगियों से अस्पताल भरे पड़े हैं, अतएव नये रोगियों के लिये वहाँ जगह नहीं है। अक्सर ऐसा होता है कि इस रोग से किसी व्यक्ति के ग्रस्त होने की जानकारी उस समय प्राप्त होती है, जब कि वह रोग के अन्तिम अध्याय में पहुंच जाता तथा इस बीच अनेक स्वस्थ व्यक्तियों को रोग से आक्रान्त कर देता है। अतएव, देश के हित के लिए रोग-निरोध की व्यवस्था तथा जीवन के सम्बन्ध में विवेकपूर्ण दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

अक्सर अनावश्यक समारोहों में काफी अर्थ-व्यय किया जाता है। गृहिणियों के लिए वांछनीय है कि वे पौष्टिक भोजन, गरम वस्त्र तथा चिकित्सा की व्यवस्था के लिए अर्थ-संचय करें। यक्ष्मा रोग के निरोध के लिए औषधियाँ भी अब उपलब्ध हैं।

### बस्तियों की अवस्था

कलकत्ते की बस्तियों, निर्धनों के मुहल्लों और उप-नगर के इलाकों में पिछले १० वर्षों के दौरान में एक समाज-सेवी कार्यकर्त्री के रूप में मुझको यह अनुभव प्राप्त हुआ है कि यक्ष्मा-रोग वहाँ भीतर ही भीतर खूब फैला हुआ है। कलकत्ता और आसपास के इलाकों की बस्तियों में इस रोग के कारण होनेवाली दुखद घटनाएँ कभी-कभी अविश्वसनीय प्रतीत होती हैं। अक्सर सारा परिवार ही इस सांघातिक रोग का शिकार हो जाता है, क्योंकि परिवार के एक व्यक्ति को यदि यह रोग हुआ तो उसको परिवार से पृथक रखना या अस्पताल में दाखिल करना अर्थाभाव के कारण सम्भव नहीं होता और धीरे-धीरे पूरा परिवार ही रोगाक्रान्त हो जाता है। रोगी अपने प्रियजनों के सामने धीरे-धीरे घुलकर मृत्यु को प्राप्त होता है और उसकी प्राणरक्षा का कोई उपाय सम्भव नहीं हो पाता। क्षय रोग के प्रसार को रोकने की भी कोई व्यवस्था सम्भव नहीं होती। रोगी अक्सर थूकता रहता है और थूक के साथ खून भी निकल आता है। रोग-कीटाणुओं से परिपूर्ण थूक और कफ नालियों में जमा होता है और नाली में यदि कीचड़-मिट्टी रही तो उसकी सफाई काफी दिनों तक नहीं होती है। कलकत्ते में तो यह हाल है कि मोरियों को साफ कर सड़क के किनारे सारी गन्दगी जमा कर दी जाती है और अनेक दिनों तक उसको वहीं छोड़ दिया जाता है।

म्युनिसिपल अधिकारियों से मैंने एक बार पूछा था कि नालियों की सफाई के बाद कई दिनों तक सारा कूड़ा



**मोरी साफकर सड़क के किनारे गन्दगी जमा है।**

सड़कों पर क्यों छोड़ दिया जाता है। इसके उत्तर में मुझको बताया गया था कि कूड़ा जबतक सूख नहीं जाता तबतक उसको लारी पर लादना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार कूड़े से सारे इलाके में रोग के कीटाणु फैलते रहते हैं और जनता रोग से आक्रान्त होती रहती है। म्युनिसिपल अधिकारी से जब मैंने कूड़े को तत्काल हटाने की व्यवस्था के लिए गाड़ियों का प्रबन्ध करने का अनुरोध किया तो उन्होंने कहा कि हमारे पास पर्याप्त अर्थ नहीं है। अर्थाभाव के नाम पर पुरुषों, नारियों और बच्चों को ऐसी घृणित और हीन दशा में रखा जाता है, जहाँ कोई व्यक्ति अपने पालतू कुत्ते को भी रखना पसन्द नहीं करेगा। अर्थाभाव का नारा सर्वत्र लगाया जाता है। उद्योग-पति, सरकारी अधिकारी, म्युनिसिपल अधिकारी, बस्तियों

और मकानों के मालिक तथा व्यवसायी, सभी एक ही नारा लगाते हैं। ऐसी हालत में कोई क्या कर सकता है? और यक्ष्मा-रोगी अपने रोग के कीटाणुओं को नाली, सड़क और मकान में थूक के साथ फैलाता रहता है। उसको इस तरह थूकने से रोकनेवाला भी कोई नहीं होता और धीरे-धीरे उसके पिता, भ्राता, माता, पत्नी और बहन, सभी इस रोग के शिकार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यक्ष्मारोग के कारण होनेवाली मौतों की संख्या में क्रमशः यदि वृद्धि होती रहे तो आश्चर्य की बात कोई नहीं।



**अनेक व्यक्तियों का एक छोटे स्थान में निवास भी यक्ष्मा रोग के विस्तार का एक कारण है।**

## यक्ष्मा के प्रसार का कारण

यक्ष्मा रोग का प्रसार यत्र-तत्र थूकने के कारण ही नहीं होता। इस रोग के प्रसार का कारण निर्धन व्यक्तियों के वासस्थान का वातावरण भी है। एक छोटे से कमरे में ५ से १० तक प्राणी रहते हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक व्यक्तियों का एक छोटे स्थान में निवास भी यक्ष्मा रोग के विस्तार का एक कारण है। इसके अलावा बस्तियों के अधिकतर गृह मिट्टी और बाँस के बने होते हैं और उनपर फूस की छप्पर होती है। ऐसे गृहों की हमेशा मरम्मत की जरूरत होती है। मकान-मालिक अपने रैयतों से भाड़ा तो ठीक वसूल लेता है लेकिन मकान की मरम्मत की ओर ध्यान नहीं देता। इसके परिणामस्वरूप छप्पर से पानी टपकता है, कमरा नम बना रहता है और हर बरसात के बाद मिट्टी और बांस की दीवाल टूट जाती है। रैयतों को कई वर्षों तक ऐसी हालत में रहना पड़ता है, जिससे उनका फेफड़ा रोगाक्रान्त हो जाता है। यदि हर साल ऐसी ही हालत बनी रहती है तो उनको रोगमुक्त होने का कब मौका मिल सकता है? इसके साथ नालियों और पाखानों की भी बुरी हालत होती है, जिससे वातावरण पूर्णतया विषाक्त बना रहता है। फिर, बस्तियों के निवासी पूरा पौष्टिक भोजन और चिकित्सा के साधन भी नहीं पा सकते। इन सारी बुराइयों को दूर करने पर ही यक्ष्मा-निरोध सम्भव है, लेकिन इन बुराइयों को दूर करना आसान नहीं प्रतीत होता।

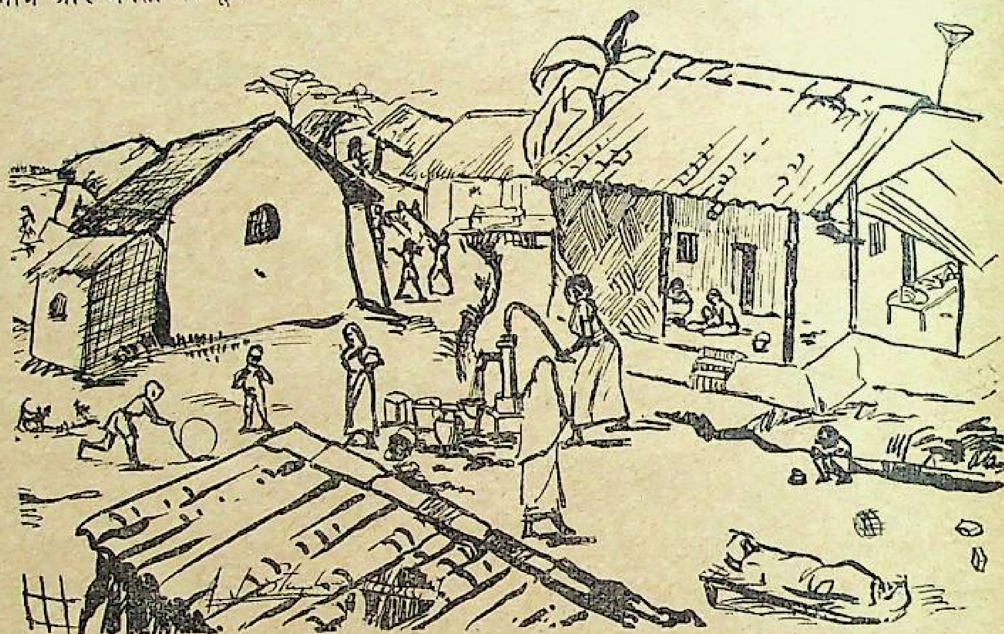


**बाँस और मिट्टी के मकानतभी अच्छे होते हैं, जब कि उसमें स्वच्छ हवा और प्रकाश की भी व्यवस्था हो।**

जन-स्वास्थ्य जाँच और सुधार कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि गृहों की अवस्था घोर असन्तोषजनक है तथा स्वास्थ्य-स्तर अत्यत उपेक्षित और अस्वच्छ है। उपयुक्त गृह-व्यवस्था का जनता के स्वास्थ्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। वासस्थान की स्थिति प्रतिकूल होने से ही यक्ष्मा और अन्य रोगों की उत्पत्ति होती है। मिट्टी और बांस से निर्मित घर अवांछनीय नहीं होते, लेकिन ऐसे घरों में स्वच्छ हवा के प्रवेश और मानव-जीवन के लिये आवश्यक अन्य पदार्थों की व्यवस्था जरूरी है। गृहों का नमी से बिल्कुल मुक्त होना भी जरूरी है। ऐसा अनुमान है कि देश की ५० प्रतिशत मृत्यु संख्या में कमी की जा सकती है और यह की जानी चाहिए। जनस्वास्थ्य को अक्षुण्ण रखने के लिए कुछ मौलिक शर्तों की पूर्ति आवश्यक है। इसके लिए यह जरूरी है कि वासस्थान का

वातावरण स्वास्थ्यकर हो, पर्याप्त पुष्टिकर भोजन मिले तथा धनी-निर्धन सभी लोगों के लिए बिना किसी भेदभाव के रोग-निरोधक और रोग-नाशक चिकित्सा की व्यवस्था रहे तथा जनता के स्वास्थ्य की रक्षा में जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो। यह कार्य अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। कोई व्यक्ति अकेला इसको नहीं कर सकता। राष्ट्र, समाज और जनता की पूर्ण जागरूकता से ही यह कार्य सम्भव है। यह सच है कि जनता के आवासगृहों की दशा अत्यन्त दयनीय है और उनके सुधार में वर्षों लग जायंगे, लेकिन मकान मालिकों को अपने घरों की मरम्मत करने में क्या अड़चन हो सकती है? सरकारी अफसरों का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे जनता को प्रदत्त सुविधाओं के पूर्ण उपयोग की व्यवस्था करें। म्युनिसिपल नालियों को साफ रखा जाय और खाद्य-सामग्रियों में मिलावट रोकने की सख्ती से कार्यवाही की जाय। उन गृहों के निवासियों में खासकर खाट का उपयोग करने की आदत डाली जाय ताकि घर की नमी उनकी हड्डियों में प्रवेश न कर सके। यह कार्य अत्यन्त जटिल है किन्तु प्रेम, दया और सेवा की भावना से यह सम्भव है। बस्तियों की हालत बड़ी हृदयद्रावक होती है। परिवार में यदि किसी को क्षय-रोग हुआ तो फिर उससे सारा परिवार आक्रान्त हो जाता है और धीरे-धीरे सभी व्यक्ति मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। भारत में वस्तुतः जिन्दगी बड़ी सस्ती है। यहाँ की औसत आयु मात्र २७ वर्ष है जब कि अन्य राष्ट्रों की औसत आयु ६० वर्ष से अधिक है। हमारे देश की गृहिणियों का यह कर्तव्य है कि अपने परिवार की स्वास्थ्योन्नति के लिए यथासाध्य प्रयत्न करें।

(आयुर्वेद से)



**वस्तियों की दयनीय दशा, अस्वास्थ्यकर वातावरण, गन्दगी और मकानों की अस्वच्छता को दूर करने से ही रोग-निरोध सम्भव है।**

---

# क्षय और उसका प्रतिबन्धन

डॉ० भा० गो० घाणेकर, एम० बी० बी० एस०, आयुर्वेदाचार्य

**प्रतिबन्धन के सिद्धान्त**--शरीर-रोगक्षम होने या बनाने से रोगों का प्रतिबन्धन होता है। एलोपैथी में रोगक्षमता की दृष्टि से प्रतियोगी (Antibody) प्राधान्य-वादी होने से कृत्रिम प्रतियोगियों को निर्माण करके रोगों का प्रतिबन्धन करने का प्रयत्न करती है। इसके लिए मसूरियाँ (Vaccihes) प्रयुक्त होती हैं। एलोपैथी में रोगक्षमता उत्पन्न करने का सर्वश्रेष्ठ साधन मसूरीकरण या टीका (Vaccination) है। इनसे शरीर में विशिष्ट प्रतियोगी उत्पन्न होकर तथा उनको उत्पन्न करने की शरीर की शक्ति बढ़कर विशिष्ट रोगों के लिए शरीर-क्षम बनाया जाता है। एलोपैथी में क्षमता उत्पन्न करने का जो यह साधन है वह प्रत्येक रोग के लिए स्वतन्त्र होता है, अनेक रोगों के लिए यह अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है, उससे उत्पन्न हुई क्षमता अल्पकालिक होने से प्रत्येक समय उस को प्रयुक्त करने की आवश्यकता होती है, तथा उसमें जो द्रव्य प्रयुक्त होते हैं, वे स्वयं विषैला होने के कारण स्वास्थ्य पोषक न होकर अनेक बार स्वास्थ्यनाशक हो जाते हैं।

आयुर्वेद रोगक्षमता में भी क्षेत्रप्राधान्यवादी होने से प्रत्येक मनुष्य को उचित आहार-विहारादि द्वारा शरीर और मन को स्वस्थ तथा सुदृढ़ बनाने के लिए प्रारम्भ से ही कहता है--

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥
अनुत्पत्यै समासेन विधिरेष प्रकीर्तितः।
निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये॥

--वाग्भट

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धी सत्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानु पतन्ति रोगाः॥

--चरक

आयुर्वेद के जनपदोदध्वंसनीय (Epidemology andpreveton of diseases) प्रकरण में महामारी (Epidemies) के तौर पर फैलकर जनता का संहार करनेवाले संपूर्ण रोगों का समष्टिरूपेण प्रतिबन्धन की दृष्टि से बहुत सूक्ष्म विचार किया गया है। वहाँ पर जनपदोद्ध्वंसक रोगों का बाह्य कारण देश, काल, जल, वायु इनका वैगुण्य और अभ्यन्तरीय कारण जनता का अधर्म बताया है--

तत्रवाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः।
तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतं तयोर्योनिप्रज्ञापराध एव॥

--चरक

यहाँ पर राजा, राज्याधिकारी, प्रजा इत्यादि का अपना कर्तव्य न करना इस प्रकार अधर्म का अर्थ है--"यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधानाधममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोप-जीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति ततः सोऽधर्मः॥ चरक॥" यहाँ पर जनपदोद्ध्वंसक रोगों से बचने के लिए दूषित स्थानादि के परिवर्जन के साथ शारीर-बल तथा मनोबल बढ़ाने वाले पौष्टिक आहार, धार्मिक आचार और रसायन ओषधियों का सेवन करने के लिए ही कहा गया है--

चतुर्ष्वपितु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नरः।
भेषजेनोपपद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा॥
रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते।
शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः॥
सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥

--चरक

यहाँ पर ओषधियों में गेहूं, चावल, चना, इत्यादि का समावेश (ओषधयः--गोधूमचणकशाल्यादयः--डल्हण) होता है और वे परिणतवीर्यवान् होनी चाहिए, इसका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। आयुर्वेद की इस पद्धति

द्वारा प्रतियोगीनिर्माण को शरीर का बल बढ़ाकर जो रोग प्रतिबन्धन करती है, वह स्थायी, सब रोगों के लिए उपयोगी, (फिर वे रोग चाहे निज हों या आगन्तुक, जीवाणुजन्य हों या अजीवाणुजन्य, अज्ञात कारिणिक हों या ज्ञात कारणिक) होता है, और उसके आचरण से स्वास्थ्य की वृद्धि ही होती है, स्वास्थ्य की हानि कदापि नहीं होती।

**बी० सी० जी० मसूरी**—एलोपैथी में क्षय का कारण यक्ष्मकवेत्राणु (Myc. tuberculosis) माना गया है और उसके प्रतिबन्धनार्थ काल्मेरी और ग्युरेन नामक शास्त्रज्ञ द्वय ने एक टीका-द्रव्य निर्माण किया है जिसको बी० सी० जी० मसूरी (B. C. G. vaccine) कहते हैं। इस टीका-द्रव्य में राजयक्ष्मा के ही कारणभूत सजीव अनुग्र दण्डाणु होते हैं जिनमें विशिष्ट संस्कार के कारण क्षमतोत्पादन-शक्ति तो बनी रहती है, परन्तु रोगोत्पादन शक्ति नगण्य होती है जिससे शरीर में प्रविष्ट होने पर ये शरीर को राजयक्ष्माक्षम तो बना सकते हैं, परन्तु क्षय पीड़ित नहीं कर सकते। इन दण्डाणुओं के गुणधर्म का अनुभव लेने के लिये प्रयोग योरोप के कुछ देशों में किये गये और उसके जो वृत्तान्त प्रकाशित हुए उससे यह स्पष्ट हुआ कि यह मसूरी राजयक्ष्मा प्रतिबन्धन में उपयोगी हो सकती है।

इन वृत्तान्तों से प्रभावित होकर भारत सरकार ने अपने आरोग्य विभाग द्वारा इस टीका का प्रयोग भारत में तेजी से फैलनेवाले राजयक्ष्मा के प्रतिबन्धनार्थ करने का संकल्प किया और अपने अधिकारियों द्वारा उसको कार्यान्वित करना भी प्रारम्भ किया। यह संकल्प भारत के लिए लाभदायक होगा या न होगा और यदि होगा तो कहाँ तक होगा यह एक बहुत ही विचारणीय प्रश्न है। इसमें सन्देह नहीं कि यह मसूरी योरोप के कुछ देशों में क्षय प्रतिबन्धनार्थ उपयोगी सिद्ध हुई, परन्तु उन देशों के अनुभव भारत के लिए अनुकूल ही होंगे यह नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि जल-वायु, आर्थिक स्थिति, समाजिक पद्धति, रहन-सहन, खाद्य समस्या, तथा सरकारी सार्वजनिक आरोग्य प्रवन्ध इत्यादि आरोग्य सम्बन्धी अनेक बातों में भारत और उन देशों में आकाश-पताल का अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त इसके प्रयोग के समय अनेक बातों पर ध्यान देना पड़ता है, जिन में लापरवाही करने से टीका लगाए हुए व्यक्ति का स्वास्थ्य नाश या जीवनाश हुए बिना नहीं रह सकता। अभी इसका अधिक प्रयोग भी न हो पाया है, फिर भी जीवनाश की कुछ किम्वदन्तियाँ कानों तक आने लगी हैं। संक्षेप में बी० सी० जी० का लाभ संदिग्ध और भविष्यकालीन है और उससे होनेवाली हानि निःसंदिग्ध और सद्यः कालीन है।

**यक्ष्मा के हेतु**—इस टीका के प्रयोग के सम्बन्ध में आयुर्वेदीय दृष्टया कुछ कहने से पहले उसके आयुर्वेदीय कारणों का कुछ विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। आयुर्वेद में लिखा है कि यक्ष्मा रोगों का राजा है और राजा के आगे-पीछे अनेक सहचर लोग बराबर रहा करते हैं, वैसे ही इसके भी आगे-पीछे अनेक सहचर रोग बराबर लगे रहते हैं—"अनेकरोगानुगतो बहुरोग पुरोगमः। राजयक्ष्मा क्षयःशोषो रोगराट् इति च स्मृतः। वाग्भट।।" "यथा हि राजा प्राक्पश्चाज्जनैरनुगम्यते तथाऽयं रोगो रोगैः। अरुणदत्त।।" यक्ष्मा के लिये राजा की यह उपमा काव्य दृष्टया जितनी हृदयंगम है रोग-विज्ञान दृष्टया उतनी ही वस्तुस्थिति निर्देशक भी। ऐसा यह रोगों का राजा अनशन, अल्पाशन, रूक्षान्नाशन, विषमाशन, शक्ति से अधिक परिश्रम, शुक्रक्षय इत्यादि कारणों से पुरुष में उत्पन्न होता है—"यदा वा पुरुषो रूक्षान्नपानसेवी भवति, दुर्बलप्रकृतिरनाहारोऽल्पाहारो वा भवति यदा पुरुषो दुर्बलोहिसन् अतिमात्रं वा भारमुद्वहति अन्यद्वाकिञ्चिदेवंविधं विषमतिमात्रं वा व्यायामजातमारभते तदा शोषमाप्नोति।"

—चरक

साहसंवेगसंरोधः शुक्रौजःस्नेहसंक्षयः।
अन्नपानविधिस्त्यागश्चत्वारस्तस्यहेतवः।।

—वाग्भट

इन जन्मोत्तर कारणों के अतिरिक्त आयुर्वेद के अनुसार राजयक्ष्मा में कुलज प्रवृत्ति (Hereditary diathesis) भी होती है—

तत्रादिबलप्रवृताः शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्श प्रभृतयः।

—सुश्रुत

प्रभृतिग्रहणान्मेहक्षयादयः

—डल्हण

पाश्चात्य वैद्यक में यक्ष्मा का प्रधान कारण यक्ष्मदण्डाणु-

(शेषांश पृष्ठ १९९ पर)

# क्षय का निरोध आयुर्वेद द्वारा ही हो सकता है

वैद्य दत्तात्रय शास्त्री जल्कर, आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेद का दावा है कि वह दुनिया में किसी रोग को आक्रमण नहीं करने देगा। किन्तु साथ ही आयुर्वेद यह भी कहता है कि हे दुनिया वालो ! तुम्हें आयुर्वेद-प्रतिपादित तत्त्वों (आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः) पर पूर्ण विश्वास कर उसके उपदेशानुसार चलना होगा।

कौन कह सकता है कि आयुर्वेद का निम्नलिखित सिद्धान्त असत्य है—

"नित्यंहिताहार - विहार सेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वशक्तः।
दाता समः सत्य परः क्षमावान्
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

भावार्थ यह है कि नित्यप्रति अनुकूल आहार और आचरण करनेवाला तथा विचार पूर्वक कार्य करने वाला, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धेन्द्रियों के विषयों में जो आसक्त एवं सर्वदा मग्न न रहता हो, त्याग अर्थात् दूसरों के लिए तन, मन, धन द्वारा उपकार-वृत्ति जिसकी हो, सब प्राणियों में समदृष्टि रखे, सत्य का सच्चा सेवक और अन्तःकरण में सदैव क्षमावृत्ति का धारण करनेवाला तथा शिष्ट, गुरूजन, विद्वज्जन और अपने परिवार की रक्षा करने-वाला—कभी भी किसी रोग से आक्रान्त नहीं हो सकता। यह है आयुर्वेद का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त।

आयुर्वेद के उक्त सिद्धान्तानुसार जबतक हमलोग चलते रहे, तबतक "जीवेम शरदः शतम्। पश्येम शरदः शतम्।" अर्थात् सौ वर्ष तक निरामय जीवन व्यतीत करते रहने की प्रतीज्ञा बराबर चलती रही। किन्तु जबसे हमारे खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, धर्मा-धर्म की कल्पना, नीति-अनीति के विचार आदि में परि-वर्तन हुआ है, तबसे हम अनेक रोगों के शिकार होते चले जा रहे हैं और आज क्षय, संग्रहणी, पाण्डु, सूतिका आदि भयानक रोग घर-घर में दिखाई दे रहे हैं। क्या पाश्चात्य सज्जनों के द्वारा आविष्कृत सूचिकाभरण की औषधियों के यहाँ पहुँचने के पहले इन रोगों से पीड़ित रुग्णों की संख्या हम देखते भी थे !

लेखक

आयुर्वेद का कहना है, कि रोगोत्पत्ति होने पर केवल रोगों की चिकित्सा मात्र करना आयुर्वेदीय चिकित्सा का सिद्धान्त नहीं है, आयुर्वेद का सच्चा सिद्धान्त है—"विकाराणामनुत्पत्ती उत्पन्नानां च शान्तये" (च०सू० ८)।" जबतक इस सिद्धान्त का पालन अबाध रूप से होता रहा, तबतक 'क्षय' जैसे खतरनाक रोगों की संख्या भी भारतवर्ष में आज के जितनी नहीं थी। उस समय अकालमृत्यु राजा का दोष समझा जाता था। इसका कारण यह था, कि प्रजा के स्वास्थ्य-संरक्षण का भार राजा के ऊपर निर्भर रहता था। अस्तु।

## क्षय का निरोध

सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस रोग के जो प्रमुख कारण हैं, उन कारणों से अलिप्त रहना ही महत्त्वपूर्ण क्षय-चिकित्सा है। 'संक्षेपतः क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्"—जड़ को ही काट दो, वृक्ष नहीं बढ़ेगा। पूर्व रूप भी आगामी रोगों का अग्रदूत बन कर ही आता है। अतः उसके देखते ही सावधानी से प्रतिकार में लगने से क्षय रोग की घातक पीड़ा कभी नहीं होगी।

"धातवःपुनःशारीराःसमानगुणैःसमानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्या-हारविकारैरभ्यस्यमानैःवृद्धिप्राप्नुवन्ति (च० शा० ६)।"

क्षय रोग में सबसे बड़ी बात धातु-परिपोषणक्रम में क्षति पहुँचना ही है। इसलिये चिकित्सक को भी देखना चाहिये कि रोगी का शरीर किन-किन धातुओं की क्षीणता से क्षीण हुआ है और यह देखकर उन-उन धातुओंको बढ़ाने वाला आहार (खान-पान) औषध युक्त देना चाहिये। जिस तरह आयुर्वेद-शास्त्र में मांसाहारी लोगों के लिये मांसाहार वर्णित है, उसी तरह निरामिषाहारियों के लिये रस-रक्तादि सप्त धातुओं की वृद्धि करनेवाले कंद-मूल-फल-शाकादियों का भी वर्णन आयुर्वेद में पाया जाता है।

वात-प्रकोपक कारणों से बचना, यही एक सर्वोत्तम उपाय क्षय-निरोध के लिये संक्षेप में कहा जाता है। वात-वृद्धि के कारण वेगावरोध, अतिव्यायाम, अतिलंघन, रूक्ष अन्न-पान एवं वायु का सेवन, अति विषय-सेवन द्वारा शुक्र और ओज का नष्ट होना, साहस और विषम-अन्न सेवन आदि हैं। इसलिये इनका त्याग ही करना चाहिये।

किसी भी विकार की उत्पत्ति शरीर में न होने देना यह प्रथम कर्तव्य है। इसी को उस विकार का निरोध कहते हैं। 'क्षय' तीनों दोषों की दुष्टि का फल है। अतः इसको आयुर्वेद की परिभाषा में 'निज' रोग कह सकते हैं। बाह्य आघातादि कारणों से अत्यधिक रक्तस्रुति होकर क्षय की उत्पत्ति होती है। किन्तु, उसका प्रमाण आंतरिक कारणों से बहुत ही न्यूनतम पाया जाता है। बाह्य कारणों से होनेवाले किसी भी विकार को 'आगन्तुक विकार' कहते हैं। हमारे शास्त्रकारों ने इन निज और आगन्तु रोगों से बचने के लिये आदेश दिया है––

माधव प्रथमे मासि नभस्य प्रथमे पुनः।
सहस्य प्रथमे चैव हारयेत् दोषसंचयम्।।
स्निग्धस्विन्नशरीराणां ऊर्ध्वंचाधश्चनित्यशः।
बस्तिकर्म ततः कुर्यात् नस्य कर्म च बुद्धिमान्।।
यथाक्रमं यथा योग्यं अतऊर्ध्वं प्रयोजयेत्।
रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित्।।
रोगास्तथा न जायंते प्रकृतिस्थेषु धातुषु।
धातवश्चाभिवर्धन्ते जरामांद्यमुपैति च।
विधिरेष विकाराणाम् अनुत्पत्तौ निर्दशितः।।
निजानाम्......।" (च० सं० सू० ७)

भावार्थ––चैत्र, श्रावण और मार्गशीर्ष क्रमशः वसन्त, प्रावृट् और शरद ऋतु के अन्तर्गत होते हैं। ये तीन ही मास शरीर-शोधन कार्य करने के योग्य बताये गये हैं। संचित दोषों को शरीर के बाहर निकालना ही शोधन होता है। "स्थानात्बहिर्नयेदूर्ध्वं अधो वा मलसंचयम्। देह संशोधनं तत्स्यात्।।" शरीरस्थ मल-संचय बाहर निकालने की योजना 'शोधन' कहलाती है। यह मलों की बहिर्निष्कासन क्रिया दो तरह की होती है––ऊर्ध्व मार्ग और अधोमार्ग द्वारा। ऊर्ध्व मार्ग से करने के लिये वमन, अंजन और नस्य अर्थात् वान्ति, आँखों में दवा का प्रयोग और नाक में औषधि-प्रयोग से क्रमशः उल्टी के द्वारा, नेत्रस्राव होकर और छींकें आकर तथा नासास्राव होकर शोधन हो सकता है। देह के अधोभाग का संशोधन मल-मूत्र साफ करने के लिये रेचक तथा मूत्रल औषधियाँ और बस्ति विधि द्वारा किया जाता है। उक्त चैत्र मास के आदि में वमन, श्रावण मास के प्रथम बस्ति और मार्गशीर्ष मास के प्रारंभ में विरेचन द्वारा यह संशोधन कार्य किया जाना चाहिये। जिससे देह शुद्ध होकर रोगों का आक्रमण नहीं हो सके और रोग प्रतिकार की शक्ति अर्थात् रोग-निरोधक शक्ति बढ़े। यह विधि यथाशास्त्र ही होना चाहिये। अर्थात् स्नेह, स्वेदादि क्रिया विधिपूर्वक करने से रोग का आक्रमण नहीं हो सकता।

देह-शुद्धि के अनन्तर रसायन अर्थात् रसादि धातुओं को बढ़ानेवाले योगों का सेवन करना चाहिये। वृद्ध वैद्यों के शतशः-अनुभूत रसायन योग तथा वृष्य एवं हृष्ट-पुष्ट बनानेवाले योग समयानुकूल सेवन करने से रस-रक्तादि धातु स्थिर होते और बढ़ते हैं। इसके सेवन से वृद्धावस्था नहीं आती और किसी भी रोग का आक्रमण नहीं होता।

ऐसा आयुर्वेद शास्त्र का आदेश है। एलोपैथी आदि शास्त्रों में रोग-निरोध की यह दृष्टि नहीं दिखाई देती। केवल रोग का प्रतिकार करने के लिये ही उन शास्त्रों में औषधि-योग, सूचिकाभरण आदि के आविष्कार होते रहे ह। किन्तु, जब तक मूलगामी चिकित्सा नहीं की जाती, तब तक क्षय का निर्मूलन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त शुद्ध-स्वच्छ और पौष्टिक परिमित आहार,

प्रकृति के अनुकूल परिश्रम, आसक्ति रहित विषय-सेवन और अनुकूल जलवायु तथा सूर्य-प्रकाश सेवन--इन बातों की सहायता से ही क्षय का निरोध हो सकता है। क्षय होने पर क्या किया जाना चाहिये यह लेख का विषय न होने से यहाँ केवल तात्त्विक दिग्दर्शन ही किया गया है।

जबतक उपर्युक्त बातों से भारतीय सन्तान पूर्ववत् परिचित नहीं होती, तबतक क्षय रोग के लिए किये गये सम्पूर्ण नवाविष्कार असफल ही रहेंगे। हमारा उद्देश्य रोग को दबाना ही नहीं होना चाहिये। आजकल जो इंजेक्शन दिये जाते हैं, इससे रोगों के कीटाणु समूल नष्ट न होकर केवल दब जाते हैं, आयुर्वेद का सिद्धान्त है--

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥

भावार्थ यह है कि एक व्याधि का उपचार करते समय अन्य व्याधि की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं होनी चाहिये। यह सिद्धान्त आयुर्वेद के अतिरिक्त और किसी भी चिकित्सा-पद्धति में नहीं है। अतएव मेरे विचार से क्षय रोग का निरोध आयुर्वेद द्वारा ही हो सकता है।



शेषांश ] क्षय और उसका प्रतिबन्धन [ १९६ पृष्ठ का

माना जाता है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु आयुर्वेदोक्त उपर्युक्त कारण उसमें भी सहायक माने गये हैं और कुछ पाश्चात्य चिकित्सकों ने आयुर्वेद के समान उनपर जोर भी दिया है।

आज भारतवर्ष को खाद्य की कमी, निकृष्टता और महंगी का त्रिदोष हो गया है। खाद्य की कमी से प्रत्येक भारतीय को अनशन, अल्पाशन रूक्षाशन करना पड़ रहा है; निकृष्टता से प्रत्येक को विषमाशन तथा दूषितअन्नाशन हो रहा है और महंगी से कुछ अपवाद छोड़, प्रत्येक को उदर-भरणार्थ अपनी शरीर-शक्ति तथा आहार-शक्ति से बहुत अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता हो रही है। इसके अतिरिक्त शृंगारिक तथा कामुक कथा-नाटक-उपन्यास तथा चलचित्रपट-बोलपट (Talky) के अनियन्त्रित प्रचार से जवानों में बलक्षय भी काफी बढ़ रहा है। संक्षेप में आयुर्वेद के अनुसार राजयक्ष्मा उत्पन्न होने की दृष्टि से सब प्रकार की अनुकूलता है। ऐसी अवस्था में बी० सी० जी० के टीका द्वारा उसको दबाने का प्रयत्न करने पर वह तो भले ही दब जाय, परन्तु उसके बदले समाज में अन्य अनेक रोग फूट निकल कर इसका संहार किये बिना नहीं रहेंगे। इसके अतिरिक्त उससे जो स्वास्थ्य-हानि और जीवननाश होगा सो अलग रहेगा। इसका कारण यह है कि जो कारण राजयक्ष्मा को उत्पन्न करते हैं वे ही अन्य अनेक रोगों को भी उत्पन्न करने वाले होते हैं। यदि राजयक्ष्मा उत्पन्न न हुआ तो वे कारण शरीर में वैसे चुप नहीं रहेंगे, कुछ न कुछ खुराफात जरूर करेंगे और यही सिद्धान्त 'यथा हि राजा' इत्यादि काव्यमय हृदयंगम भाषा में आयुर्वेद महर्षियों ने प्रदर्शित किया है। इसलिए यदि राजयक्ष्मा की रोक-थाम करनी हो तो वह बी० सी० जी० टीका से न होगी, बल्कि उपर्युक्त त्रिदोष वैषम्य को दूर करके, अर्थात्, महंगी को घटा कर, जनता को उत्कृष्ट पौष्टिक अन्न पर्याप्त मात्रा में जिस प्रकार मिल सके उस प्रकार प्रबन्ध करके तथा शृंगारिक एवं कामुक चित्रपटादिका नियन्त्रण करके ही होगी।



# राजयक्ष्मा के प्रसार का एक कारण—आज का वातावरण

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री

वातावरण का व्यापक अर्थ है—हमारे इर्दगिर्द का वह वायुमंडल, जिसमें हम श्वास-प्रश्वास की क्रिया करते और जो हमारे मन तथा मस्तिष्क को प्रभावित करता है। वस्तुतः मनुष्य जिस वातावरण में रहता है, उसका प्रभाव उसके शरीर और मन पर अनिवार्य रूप से होता है। शुद्ध वायुमंडल से हमारे फेफड़ों को प्राणवायु मिलती है—जब कि धूल-धूएँ से भरा वायुमंडल हमारे फेफड़ों में नये नये रोगाणुओं को पहुँचाता है। जिस वातावरण में स्वस्थ विचारधारा का प्रवाह होता है, वह मनको प्रसन्न रखती और जहाँ रात दिन विकृत भावनाओं का तांडव होता है, वहां मन में मलिनता रहती है।

मनुष्य केवल शरीरधारी जीव ही नहीं है—उसका मन भी उसके साथ है, और एक दूसरे का सम्बन्ध इतना अकाट्य है कि एक की स्थिति का असर दूसरे पर तत्काल ही होता है, या यों कहना ज्यादा सार्थक होगा कि शरीर और मन का सम्मिलित रूप ही व्यक्ति है। मन चूंकि शरीररूपी मशीन का संचालक है, अतः मानसिक स्थिति को स्वस्थ रखने के लिए "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु" की प्रार्थना अपना खास महत्त्व रखती है।

वातावरण का प्रभाव कितना स्पष्ट है, इसकी कल्पना एक ऐसे कैदी के जीवन से कीजिये, जो जेल जाने से पहले जरा भी तिकड़म नहीं जानता था और जेल में दो-तीन महीने रहने के बाद पक्का तिकड़मी और चंठ बन जाता है। प्राचीनकाल की तपोभूमियों के पास जाते ही विचारों की विकृति समाप्त हो जाती थी—इसका कारण वातावरण की शुद्धि ही थी। वातावरण जहाँ मनुष्य को देवता और स्वस्थ बनाता है, वहाँ राक्षस और रोगी भी बनाता है और यही वजह है कि आज का हमारा वातावरण यक्ष्मा जैसे रोग के प्रसार का प्रधान कारण बन रहा है।

यक्ष्मा एक महा भयानक रोग है और इसके फैलने में आज का हमारा वातावरण एक प्रधान कारण बन रहा है। अन्दाजा कुछ ऐसा है कि प्रतिवर्ष सारे संसार में ११ लाख के लगभग मृत्यु इस महारोग के कारण होती है, और इस ११ लाख में से आधी संख्या के लगभग हिन्दुस्तान की मृत्यु संख्या मानी जाती है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि इतनी बड़ी दुनिया के इतने बड़े भाग में हिन्दुस्तान ही एक ऐसा अभागा देश है जो यक्ष्माजनित कुल मृत्यु संख्या आधी संख्या का श्रेय प्राप्त करता है।

सचाई तो यह है कि वातावरण की जितनी अशुद्धि हिन्दुस्तान में है, उतनी दुनिया के सारे देशों में मिलकर भी नहीं है, और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज का हमारा यह विकृत स्वास्थ्य है।

जिस वायुमंडल में हम श्वास-प्रश्वास की क्रिया करते हैं—रात-दिन रहते हैं, उसकी भयानकता की कल्पना तो जरा कीजिये। शहरों की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, प्रकाश और हवा को ही नहीं रोकती, अपने इद गिर्द दुनिया भर की गन्दगी भी रखती है। सील भरे छोटे-बड़े तहखाने जहां कभी हवा और रोशनी का प्रवेश ही नहीं, मिलों से उड़नेवाला धूआँ और खुले रूप में सड़नेवाले कूड़े के ढ़ेर, हमारे वातावरण को इतना अशुद्ध रखते हैं कि प्राणवायु का तत्त्व तो इसमें बहुत ही कम रहता है।

फेफड़ों को जीवनीय शक्ति देने वाली वायु के नाम पर दूषित वायु ही हमारी श्वासनली में जाती है, धूल और धुआँ के साथ नये-नये रोगाणु हमारे शरीर में पहुँचते हैं, जो नित्य ही हमारी रोग-संहारक-शक्ति क्षीण करते हैं। इस तरह शरीर की जीवनीय शक्ति निरंतर क्षीण ही होती रहती है, जो कालान्तर में हमारे लिये क्षय जैसे रोग की पृष्ठभूमि बन जाती है।

आज के वातावरण का एक बहुत खतरनाक अभिशाप है मानसिक अशान्ति, जो जिन्दगी को ऐसा रसहीन और अशान्त बनाये दे रही है कि जीवन-यात्रा में न कोई आनन्द रहा है, न कोई ध्येय और न कोई सिद्धान्त। सद् विचार तो आज के वातावरण में हैं ही नहीं, मानवता की भावना भी कोसों दूर भाग गई है। एक दूसरे पर घात-प्रतिघात,

पराये की निन्दा और बेजा तरीके से धन इकट्ठा करने की प्रवृत्ति आज के हमारे वातावरण की सामान्य चीजें हैं।

गन्दे साहित्य, उत्तेजक सिनेमा तथा रात-दिन की रसीली चर्चाओं ने हमारे वातावरण में ऐसे रोगाणु उत्पन्न कर दिये हैं कि भरी जवानी में भी टानिक खाने की जरूरत होने लगी है। व्यभिचार की भावनाओं ने मस्तिष्क की सारी प्रतिभा को नष्ट कर दिया है और हर वक्त की मानसिक अप्रसन्नता खाये हुए अन्न का उचित परिपाक होने में पूरी तरह से बाधक बन रही है।

क्या घर का, क्या अड़ोस-पड़ोस का और क्या गांव-कस्बे या शहर का, सभी जगह का वातावरण कुछ ऐसा गला घोंटने वाला बन गया है कि कहीं भी शान्ति और सुख नहीं रहा। मियाँ-बीबी की चख-चख, बच्चों की फर्माइश, आवश्यकताओं की पूर्त्ति में बाधा, निर्वाह के साधनों की कमी ने नवयौवन की सारी स्फूर्ति को नष्ट कर दिया है। इर्द-गिर्द के वातावरण में न केवल कूड़े-कर्कट की गन्दगी है, बल्कि जिन्दगी की वाटिका को झुलसाने वाली लुओं की ऐसी प्रचंड लपटें भी हैं, जो सारी रमणीयता और स्निग्धता को खाए जा रही है।

सुख और शान्ति तो आज के वातावरण में खोजने पर भी नहीं मिलती। पेट के खड्डे को भरने की समस्या का विशाल रूप दिल-दिमाग को ही नहीं चाट रहा, आंखों की शक्ति और भुजाओं के बल को भी खाए जा रहा है। सामाजिक और राजनीतिक जीवन के घात-प्रतिघात ने जिन्दगी को ऐसा युद्धक्षेत्र बना दिया है, जिसमें न्याय-अन्याय और धर्म-अधर्म का कोई विचार ही नहीं रहा है। एक दूसरे को धराशायी बना कर उसकी लाश पर नंगानृत्य करनेवाले लोगों की मनोवृत्तियों का तांडव, आज के हमारे वातावरण की एक साधारण-सी चीज बन गई है।

'मातृवत् परदारेषु' का आदर्श-वाक्य आज मजाक की चीज बन गई है, 'परद्रव्येषुलोष्ठवत्' का सिद्धान्त मुर्खों की बात बन गई है और 'आत्मवत् सर्वभूतानि' की भावना को तो दीमक चाट गई है।

नैतिक जीवन के न्याय, उदारता, परोपकार, और सत्य-अहिंसा आदि नियमों की जिस निर्दयता से हत्या हो रही है, उसे देख कर तो कुछ ऐसा लगता है कि जैसे प्रलय का वातावरण ही अपने संहारक-रूप को प्रकट करने जा रहा है।

गांवों का वातावरण अपनी स्वच्छता तथा ताजगी के लिये प्रसिद्ध था और चैन की सांस लेने के लिये शहर वालों का इसमें आकर्षण था, किन्तु वह भी आज समाप्त होने जा रहा है। गर्मी-सुजाक जैसे यौन-सम्बन्धी रोग आज गांवों में भी फैल गये हैं, शहरियों जैसी मनोवृत्ति आज गांव वालों की भी हो गई है। गन्दगी, स्वास्थ्य सम्बन्धी अज्ञान और बीमारी के उपचार की कमी ही आजकल गांवों की विशेषता रह गई है। इस तरह आज गांवों का वातावरण भी क्षय जैसे महाभयानक रोग का उत्पादक कारण बनता जा रहा है।

शहरों में रहने वाले मानव नामधारी जीवों की आज जो दयनीय दशा हो रही है, उसे देख-सुनकर तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। भुखमरी, आधा पेट भोजन, रात-दिन की चिल्लाहटों और रोगाणुओं से भरा हुआ वातावरण हर मिनट जीवनीय शक्ति को खाए जा रहा है।

एक-एक मकान में रहने वाले सैकड़ों व्यक्तियों के लिये पाखानों की जो थोड़ी-सी संख्या होती है, वह भी आज के वातावरण को बिगाड़ने में पूरी सहायक है। कुल मिला-कर यह कहा जा सकता है कि आज के वातावरण में अकेले क्षय के नहीं, नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों के कीटाणु है, जो नाक, मुंह और विचारों के रास्ते हमारे शरीर और मन को जर्जर बना रहे हैं।

इस वातावरण का यह स्पष्ट प्रभाव है कि जिन्दादिली तो तलाश करने पर भी नहीं मिल रही, काम-क्रोध-लोभ जैसे मानसिक विकार हरवक्त सिर पर सवार रहते हैं, प्रफुल्लता, शान्ति-दायक निद्रा और शरीर को पुष्ट बनाने वाला शुद्ध वायु नहीं मिल रहा तथा क्षय जैसे रोगों के बवंडर ने हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्य को बुरी तरह लंगड़ा बना दिया है।



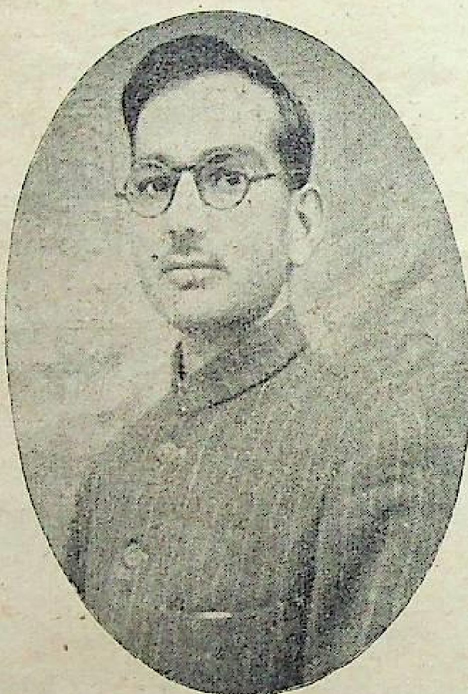
# राजयक्ष्माप्रसारस्य मूलकारणं तत्प्रतिरोधश्च

कविराज सत्यनारायणप्रसाद शास्त्री, साहित्यायुर्वेदाचार्यः

सम्प्रति श्रूयते सर्वत्र राजयक्ष्मणश्चर्चा। दरीदृश्यन्ते प्रतिनगरं राजयक्ष्माक्रान्ता वर्षीयसो युवानो बालाश्च। यस्मिन् वीरबहुले भारते प्रतिगृहं हूंकुर्वन्ति स्म बलदर्पिता युवानः, उत्तारयन्ति स्म तरवारि प्रसङ्गे सति वृद्धाः, कुमाराश्च केसरिकिशोरकैः सह क्रीडनोत्सुका भवन्ति स्म तस्मिन्नेव भारते स्वस्थपुरुषदर्शनमपि दुर्लभं सञ्जातम्। हंहो! सोपबर्हमहार्हतूलासन्दीप विराजमानानां भित्तिलिखित नग्ननारीतैलचित्रविलोकनजतोनिद्रामस्मरवेगव्याकुलित चेतसां, अनवरतमर्धनग्नसीमन्तिनीसम - र्पितहारहूरासुराचषकपानापहत - विवेकवृत्तीनांनिधुवने नारीदर्प - दलनमेव स्ववीर्यस्य चरमलक्ष्यमवबुध्यमानानां राज्ञामपि विरेलेष्वेव एतदाक्रमणं समालोक्य कृता महर्षिभिरस्य व्याधे राजयक्ष्मेति संज्ञा। सम्प्रति नितान्तनिर्धनेषु जनेषु प्रसारमुपगता वस्तुतो विडम्बनामावहति। किमयं व्याधिरद्यापि राजयक्ष्मा एव? अस्तु

इदानीं भारतवर्षे व्याधेरस्य प्रचुरं प्रसारं निभाल्य केनाभिशपन्ति भारतीयनिर्धनत्वं केचन स्वच्छवातजलप्रकाशाभाववार्त्तामुदीरयन्ति, परे पौष्टिकभोजनाप्राप्यतां साम्रेडमभिदधति; अन्ये च समुचितविश्रमाव्यवस्थामेव निन्दन्ति; केचिच्च शरीरक्षमताशक्तिह्रसिमानमुपालभन्ते।

एवं चास्य प्रतिरोधविधास्वपि नानाविधत्वं स्फुटमेव दृष्टिपथमारोहति। केचन शरीरतत्त्वविदः स्वच्छवातावरणं शोभनं खाद्यं नवनीतफलादीनां प्राचुर्यं विश्रमं च प्रशंसन्ति, परे नवचिकित्साविज्ञानभेषजानि स्ट्रेप्टोमाइसिनादीनि सफलान्युद्घोषयन्ति; अपरे बी० सी० जी० गुणान् गायन्ति; अन्येच वसन्तमालती, कल्याणसुन्दरमृगाङ्कादीन् स्तुवन्ति। कियती विभिन्नता! कियद्वैचित्र्यम्! वास्तविकता तु काचिदन्या एव।



लेखक

आः! कियान् कष्टस्य विषयः। यदा पश्यत्स्वेव मातापितृषु युवानस्तनुजनुषो विरहयन्ति भुवम्, यदा प्रेमालापप्रतीक्षणपरासु प्रियतमासु प्रियतमा नेत्रे पिदधति, यदा शुभमाशासानेषु राष्ट्रकर्णधारेषु भविष्यति राष्ट्रधुरवाहिनो मृत्युमुखमुपयान्ति। राष्ट्रकिशोराणामेतादृशं वर्धमानं क्षयमवलोक्य रोमाञ्चं चञ्चूर्ति तनुः। किंच चिकित्सकानां वैज्ञानिकानां राष्ट्रकर्णधाराणां तत्प्रतिरोधार्थं विभ्रान्ते पथि आहिण्डनं च निभाल्य वपुरनुभवति शतसरीसृपाणां सरीसरणम्। यक्ष्मकारणानि निर्दिशन् आह भगवांश्चरकः——यथा——

"अयथाबलमारम्भं
वेगसन्धारणं क्षयम्।
यक्ष्मणः कारणं विद्या-
च्चतुर्थं विषमाशनम्॥ इति

पुरातने हि काले अलीकसभ्यतापिशाचीवशमनापन्ना मुक्तमारुत-प्रवाहिपानीयसेवन - सात्विकभोजनदेवोपासनादि शुद्धकर्मनिरताः स्वावलम्बिनः कामक्रोधलोभादिमनःक्लेशलभावदूरवर्तिनो यथाप्राप्तसन्तुष्टा दान्ताश्चासन् प्रायशः सर्वेऽपि जनाः कुतस्तेषु राजयक्ष्मण आक्रमणावसरः। ये च प्रकृतिमुपहसन्तो विषयानन्दमेव परमानन्दं मानयन्तो

मनोनीतमानिनीमार्गणसंलग्नतया शक्तिमतिक्रम्यारभन्ते स्म, समयमुल्लंघ्य भुञ्जते स्म; वेगान्धारयन्ति स्म अनवरतमन्तःपुरविलासिनीनिर्मन्दाक्षकटाक्षवागुरा - संयता-भगवन्तं रतिवल्लभमेवोपासते स्म, त एव प्राप्नुवन्ति स्म फले व्याधिममुम्। तादृशो राजानस्तु विषयमोहिता अलीकसुखमृगमरीचिकामुहेरीकृताः स्वेच्छया प्रकृतिमति-क्राम्यन्ति स्म, किन्तु अद्य साधारणो जनोऽपि प्रकृतिमुल्लंघ-यितुम् विवशीक्रियते राष्ट्रेण समाजेन सभ्यतया परिस्थित्या च। यदि जनो मुक्तवातावरणे सविशेषोल्लासं क्रीडितु-मीहते तदा मिथ्यासभ्यताभिमानिनः कृत्रिमवातावरण-पालिताः पौरुषशून्या अपि तथाकथितपुरुषा उपहसन्ति तम्। इयं सभ्यतापिशाची, इयं गौरवभावना, इयं कृत्रिमता, अयं मिथ्याभिमानः; अयं स्वावलम्बत्यागः, अयं पाश्चात्य-संस्कृत्यन्धानुसरणव्यामोहः, इदं प्रकृत्युल्लंघनम्, इदं गो-द्विजदेवगुरुजनावहेलनं न जाने क्व नेष्यति भारतम्; क्व पातयिष्यति राष्ट्रस्वास्थ्यम्।

साम्प्रतिकी सामाजिकी व्यवस्था सभ्यताव्यामोहश्च राजयक्ष्मप्रसारस्य प्रमुखतमे कारणे वर्तेते। इदानीं चरकोक्तानि चत्वारि कारणान्यपि अनयोरधीनान्येव। यदि जनः सभ्यता व्यामोहं विहाय समाजपञ्जरं च भित्वा स्वच्छन्दं विहरेत्, तदा चरकोक्तकारणप्रसङ्ग एव नाप-द्येत। चरकोक्तकारणानामपि मूलं पूर्वोक्तकारण द्वयमेव। चरकोक्तकारणचतुष्टयप्रशमायापार्ष्णिमस्तक स्वेदस्रावं कुर्वत्सु चिकित्सकेषु सत्स्वपि राजयक्ष्मणोऽ-विरामप्रवाह एतद्विचारयितुं विवशीकरोति यत् एतत्कारण-चतुष्टयमूलमपि किञ्चिदन्यदेव। यदा वयं चरकोक्तकारणान्य पहाय केवलं व्याधिप्रशमनाय समुज्जृम्भमाणान् पाश्चात्य-चिकित्सकान् राजयक्ष्मप्रसारे ह्रसिमानमनापद्यमानं निभाल्य उपहसामस्तथैव वयमपि वेगरोधं क्षयकारणं मन्यमाना वेगरोधकारणं यावन्न पर्यालोचयामस्तावत् सत्यमेवोप-हासभाजनानि स्मः, यः समाजः, या सभ्यता, यन्नगरम्, जनान् वेगरोधं विषमाशनं साहसं च कर्तुं विवशी करोति तस्मिन् सति राजक्ष्मसमूलोच्छेदस्य चेष्टा पोतमनाश्रित्य सिन्धुसन्तरणचेष्टेव वृथा वर्तते।

यदाहं शिशून् चिकित्सितुं गच्छामि तदा तद्दर्शन-समकालमेव तन्मातापितृभ्यः क्षणं क्रुध्यन् सभ्यतापिशाचीं समाजव्यवस्थां चाभिशपामि। हा किं तैः शिशुभिरपराद्धं ये जन्मप्रभृत्येव असाध्यव्याधिव्याधवशगाः सञ्जायन्ते। यदा शिशोरेकस्यांगुलीं गृहीत्वाऽपरं च क्रोडे कृत्वा सगर्भाः षोडश्यो रक्ताल्पतादिभीषणव्याधिग्रस्ताश्चिकित्सार्थमायान्ति तदा बलात् स्फुरति चक्षुषोरग्रे काश्मीरराज्यग्रामजानामुत्फुल्ल-शतपत्राभकपोलानां प्रकृतिप्राङ्गणे स्वच्छन्दमुच्छलन्तीनां बालिकानां सौन्दर्यपूर्णं स्वास्थ्यम्। यदा च चिपटित कपोला भारतभाग्यविधातारो युवानः पौष्टिकभेषजस्पृह-याऽऽयान्ति तथा स्मृतिमधिरोहति हरियाणाप्रान्तस्थं घोष-यौवनं यस्य विस्तीर्णं वक्षो रक्तवर्णमाननं विभक्तघन-गात्रता ज्योतिः पूर्णे नेत्रे आकर्षयन्ति दर्शकम्।

ये हि विचारशीला नगरमधिवसन्ति ते जानन्ति नागरजीवनस्यासन्तुलितताम्, कृत्रिमं वातावरणं, अशुद्धं खाद्यं, मलमूत्रत्यागादिदैनिककार्यव्यवस्थां स्वास्थ्य नियमाव-हेलनं च। एतदेव चरकोक्तकारणानां मूलम्। एतद्वि-स्मृत्य राजयक्ष्मप्रतिरोधे साफल्यासादनं तमसि प्रकाश-किरणान्वेषणमेव।

वस्तुतः पिशाचीमपि आपाततो मोहिनीमिमां सभ्यता देवीं ये उपासते ते नाम किं किं कुर्वन्ति, इति न तिरोहितं तत्त्वविदाम्। सद्योजातान् शिशून् अनावश्यकवस्त्रैराच्छाद्य-विद्युद्व्यजनाधः शाययित्वा विद्युद्वल्लुरीविभासित प्रकोष्ठ-स्थांश्च कृत्वा प्राकृतवातातपसहिष्णुताशून्यान् कुर्वन्ति पितरः। स्वसौन्दर्यह्रासमिथ्याभयभीता मूर्खा मातरश्च स्वदुग्धमपाययित्वा विषकुट्ट (विस्कुट) गलक्षय (ग्लैक्षो) प्रभृतिकृत्रिमखाद्यप्रयोगद्वारा तेषामुदरं दूषयन्ति। अल्पीय-स्वेव रोगचिह्नेषु दृष्टेषु पाश्चात्यचिकित्सा विज्ञानाविष्कृत विषगर्भा ओषधीः प्रयुज्य तद्दैहिक क्षमताशक्तिं ह्रसयन्ति। अल्पवयसां बालानामग्र एव सभ्यता चिह्नं धूमपानं कुर्वाणः सुरामास्वादयन्तश्च तेषां चरित्रमपि न्यक्कुर्वन्ति। पञ्च-वर्षानेव बालान् पाठशालां गमयित्वापि मिथ्यागौरवाभिभूता-गृहेऽध्यापकद्वारा घटिकात्रयं तानवरोधयन्तस्तत्स्वच्छन्द-चेष्टापुप्रत्यूहमुपस्थापयन्ति। प्रत्यहं छायाचित्रादिव्यर्थकार्य व्यापृतास्तेषां सुरक्षा-भोजनव्यवस्थां प्रत्युदासते। माता पितृणामिदमसावधानत्वं बालकान् प्रकृतिस्वच्छरङ्गमञ्च-क्रीडाविरतान् विहाय तेषां कलेवराणि मनांसि च दूषयत्, राजयक्ष्मादिभीषणव्याध्याक्रान्तान् करोति। निर्बलमाता-

पितृभ्यामुत्पादिताः कृत्रिमवातावरणे पालिता दूषितखाद्य-पोषिता बाला एव यदि यक्ष्मणा नाक्रम्येरन् तत् किं ग्राम-सुन्दरीक्रोड़स्थाः सुमनस इव उत्फुल्लाः शिशव आक्रमिष्यन्ते ?

नवसभ्यताभिमानिनां यूनां तु कथैवान्या। विगते घटिकाचतुष्टयात्मके दिवसे क्षीणनिद्राः पर्यङ्क एव विपकुट्टनीलपेयादिकमास्वादयन्ति। गौरवधिया ललितहट्टेषु (होटल) दूषितं पर्युषितमखाद्यमपि तत्क्षणमुष्णीकृत्य परिचारकैर्दीयमानं यत्किञ्चिदपि सास्वादमश्नुवते। अर्ध-रात्रं यावल्ललितहट्टेषु सुन्दरीकटिदत्तहस्ता नृत्यन्तो निद्रोपस्तम्भमुपहसन्ति। सुरापानोत्तेजिताः कुत्सितपुस्तक-पठनापहृतविवेका निर्बाधं निधुवनमाचरन्तो ब्रह्मचर्य-मर्यादामुल्लंघन्ति। एवं स्वास्थ्योपस्तम्भांस्त्रीनेवातिक्रम्य पाश्चात्यसभ्यतापिशाचीवशमापन्नास्ते धनाढ्ययुवकाः, किंच भोजनानन्तरं सत्वरमेवोच्चपदाधिकारिक्रूराकृतिभीताः कार्यालये गच्छन्तस्तत्र मुहूर्तद्वयातीतरजनीं यावत् लेखनीं परिचाल्य नितान्तं श्रान्ता अकृत्वैवमलोत्सर्गं किंचिद्भुक्त्वा अजीर्णेऽन्न एव शयानाः, अर्थाभावचिन्तापरा धूमपानताम्बूल-चर्वणादिव्यसनकृशीकृतधातवो मध्यवर्गीया युवानो यदि राजयक्ष्माग्रस्ता न भविष्यन्ति तदा किं ते नवनीतदुग्धाहाराः क्षेत्र हरितिभोल्लसितवातावरणे स्वच्छन्दविहारपरा ग्राम-युवका भविष्यन्ति।

एवमेव गृहावरणाभ्यन्तरवर्तिन्योऽसूर्यम्पश्याः कृत्रिम-वातप्रकाशसेवनविवशाः श्वश्रूननान्दृकुटिलवचोबाण-विद्धहृदयत्वादहोरात्रं चिन्तापरा पौष्टिकखाद्यमलब्ध्वाऽपि सर्वं गृहकार्यमाचरन्त्यः, प्रतिवर्षं रुग्णशिशुजननक्षयित देहाः कुत्सित समाजपंजरे पशूभूता युवत्यो मध्यमवर्गीयाः, किंच कालेजशिक्षाप्राप्ता रञ्जिताधराः पाण्डुरानना अपि कृत्रिमपदार्थप्रयोगकृतारुणानना मित्रमण्डलीमध्यङ्गता अहो-रात्रं गृहाद्बहिरेवाशनपानादिकं सम्पादयन्त्यः, काष्ठा-पुत्तलिका इव सभ्यजनैर्नाट्यमानाः, स्वास्थ्यपालननियमान् विहाय यथेच्छं विहरन्त्यः,उत्तेजक साहित्यपाठासात्विक-भोजन प्रयोग प्रवृद्धकामा निर्बाधं निधुवनमाचर्यासमय एव क्षपितयौवना धनिकयुवत्यो यदि राजयक्ष्मणे आक्रमणावसरं न दास्यन्ति तत् किं स्वच्छवातावरण विहारिण्यो जलपूर्णघटद्वयमपि शिरसि निधाय मत्तमत-ङ्गजिन्य इव धीरमन्थरगतिकास्ता ग्रामवध्वो दास्यन्ति।

वराकाः प्रौढ़ा अहर्निशं परिवारभरण--बालकस्वास्थ्य शिक्षणव्यवस्था--बालिका--विवाहादिनानाविधचिन्ताकुला अर्थोपार्जनाय शरीरयन्त्रेण अयथाबलमारभमाणाः परिस्थितिवैवश्येन विषममश्नन्तो निस्त्रिंशस्वामिभयतो वेगान्धारयन्तः क्षीणधातवो यदाकदाचिदभिभूयन्त एव यक्ष्मणा।

भावुकाश्छात्रा अकिञ्चित्करीवैदेशिकशिक्षावस्तुतत्व मजानन्तः स्वास्थ्यबुद्धिधर्मनाशकरीं तामेवाधिजिगमिषवः कालेजशुल्कस्वीयखानपानादिकव्यवस्थां सम्पादयितुं वृत्त्याशया इतस्ततो भ्रमन्तः समुचित व्यवस्थाभावाद् वेग-धारणाय विषमाशनाय च बाध्याः विस्तृतपाठ्यग्रन्थाध्ययन भार व्याकुलमस्तिष्काः कठिनपरिश्रमक्लान्तशरीराः क्षीण-धातव आक्रम्यन्त एव प्रायशो यक्ष्मणा। ये चिकित्सा विज्ञानमधिगम्य परांश्चिकित्सितुमिच्छन्ति ते छात्रा अपि यक्ष्मणाभिभूयन्त इति वर्तते महती छलना।

उपरिक्तेनानेनविवेचनेन सिद्ध्यतीदं यद् यक्ष्म-प्रसारस्य मूलकारणानि त्रिणि सन्ति, नगराणि, समाज-व्यवस्था, नवीनसभ्यताव्यामोहश्च। एतानि चरकोक्त राजयक्ष्मकारणानामपि कारणानि। प्रत्यहमनुभवन्ति चिकित्सका यन्त्रागरिकाणां बद्धकोष्ठचिकित्सा न भवति सुकरा, एवमेवान्येषामपि रोगाणाम्। नात्र भेषजाकिञ्चित्कारिता किन्तु नागरिकी कुव्यवस्था एव हेतुः। अतो विप्रकृष्टनिदानं सर्वथा विस्मृत्य यदि सन्निकृष्टनिदान परिवर्जनाय एव भिषजःस्वचिकित्साकौशलं दर्शयिष्यन्ति तदा सफलतादेव्या दर्शनं दुर्लभमेव भविष्यति।

अन्ते च ससिंहनादं मयैतद् उद्घोष्यते यद्, यदि भारतीयाश्चिकित्सका राष्ट्रनेतारश्च राजयक्ष्मप्रसारावरोधं मनसा कामयन्ते तदा तैः समाजव्यवस्था परिवर्तनीया, नगरवृद्धिरवरोद्धव्या; पाश्चात्यसभ्यताव्यामोहपरित्यागाय च चेष्टितव्यम्। अन्यथा तद्दिनं नास्ति दूरं यस्मिन् भारतस्याबालवृद्धवनिता जनता समस्ता राजयक्ष्मणाऽऽक्रान्ता स्वक्रन्दनैर्बधिरयिष्यति दिशः, स्वचक्षुषोरग्र एव यूनोः पुत्रयोश्चितां प्रज्वलन्तीमालोक्य सोरस्ताडं विलपतोः पित्रोर्दीनदशामालोक्य शतधा भिन्नं भविष्यति भारतमातुर्हृदयम्! -- प्रभो! विश्वम्भर! पाहि भारतम्!

# राजयक्ष्मा-रोगी की दिनचर्या

कविराज महेन्द्र कुमार शास्त्री. बी. ए. आयुर्वेदाचार्य, वैद्यवाचस्पति

राजयक्ष्मा नाम से ही स्पष्ट है कि यह रोगराज है। चरक भगवान ने "क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोगो एकार्थो दुःख संज्ञकः" इस रोग के पर्यायों में 'दुःख' को भी यक्ष्मा का पर्याय कहा है। वास्तव में यह महान् दुःख देने वाली व्याधि है। शरीर के समस्त जीवनीय रस का नाश करने वाला इससे बड़ा कोई भी रोग नहीं हैं। इस व्याधि से देह कितना अशक्त हो जाता है यह भगवान् अग्निवेश के निम्न वचनों से स्पष्ट है—

"सर्वधातुक्षयार्त्तस्य
बलं तस्य हि विड्बलम्"

तथा—

'शोषी मुञ्चन्ति गात्राणि
पुरीष स्रंसनादपि ।।"



लेखक

अतः इस प्रकार क्षीण व्यक्ति की दिनचर्या का प्रथम और एकमात्र उद्देश्य यही होना चाहिए कि उसकी शारीरिक शक्ति को न केवल स्थिर रखा जाय, अपितु यथाशक्ति बढ़ाया जाय; ताकि वह रोग का अधिकाधिक निरोध कर सके। अतएव, आचार्य चरक ने कहा है—

"धातुपोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति ।
यक्ष्मिणस्तत् प्रयोक्तव्यम् बलमांसाभिवृद्धये ।
शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित् ।
दद्यात् मांसाद्मांसानि बृंहणानि विशेषतः ।।

इसी ध्येय को सामने रखकर यक्ष्मा के रोगी की दिनचर्या का निश्चय करना चाहिए। नीचे हम एक सामान्य दिनचर्या दे रहे हैं; जो प्रायः विशेष अपवादों को छोड़कर सर्वत्र प्रयोग में लाई जा सकती है। दिनचर्या में आहार-विहार के साथ-साथ आचार को भी स्थान दिया गया है; क्योंकि मानसिक स्थिति तथा विचारों का भी रोग और रोगी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

**आहार**—राजयक्ष्मा क्षीणता का रोग है; अतः रोगी के बल और शरीर की रक्षा करना प्रथम कार्य है। एतदर्थ रोगी को इस प्रकार का आहार दिया जाए, जो सुपच होने के साथ-साथ रोगी के बल और धातुओं का वर्धक हो। शरीर के भार को बढ़ाता रहे, घटाए नहीं। रोगी की रुचि के अनुसार विविध प्रकार के अन्न-पान, भूख के अनुसार उचित मात्रा में देने चाहिए। मांस या अंडा आदि का भक्षण, चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त है—यद्यपि धर्मशास्त्र की दृष्टि से नहीं। साधारण हल्के ज्वर की अवस्था में भी भोजन का निषेध नहीं हैं। क्षय रोगी के लिये लंघन उचित नहीं है। किन्तु, रोगी की रुचि और पाचनशक्ति से अधिक खिलाना भी अवांछनीय है। नीचे हम केवल निदर्शनार्थ ही भोजन का समय-विभाग दे रहे हैं। यह नवीन वैद्यों का मार्ग-प्रदर्शन करेगा।

**प्रातराश**:—प्रातः ८ बजे के लगभग दूध १ पाव से आधा सेर तक, अण्डा १-२ तक, पाचन शक्ति के अनुसार।

दोनों को मिलाकर च्यवनप्राश के साथ सेवन करें।

**मध्यान्हभोजनः**--१२ या १ बजे। इच्छानुसार रोटी, चावल, घी, दूध, दही, शाकादि।

**अपराह्न**--४ या ५ बजे के लगभग शुष्कफल, बादामादि, दूध के साथ।

**रात्रि-भोजन**--८ बजे से पूर्व ही, हल्का, पौष्टिक, स्निग्ध भोजन दें। बीच-बीच में फलों का यथेच्छ उपयोग करना चाहिए। दिन-भर में कम-से-कम निम्नोक्त मात्रा में आहार रोगी को ग्रहण करना चाहिए।

| | |
|---|---|
| गेहूँ की रोटी* | ४ छटाँक। |
| मांस | २ छटाँक। |
| दूध | २४ छटाँक। |
| घी | १ छटाँक। |
| अण्डे | २-४ वा यथेच्छ पाचन- |

शक्ति के अनुसार। उल्लिखित समय आदि में रोगी को चिकित्सक की इच्छानुसार तथा जलवायु और परिस्थितियों को देखते हुए परिवर्त्तन कर लेना चाहिये। भोजनार्थ द्रव्यों की सूची चरकानुसार नीचे दी जा रही है।

गेहूँ, जौ, चावल, विशेषतः लाल चावल, मूँग, मसूर, चना, उड़द, घृत, दूध, तिल, दाड़िम, आलू, मूली, शाक, खर्जूर, शृंगाटक, सेव। मांस--लावा, तितर, वर्त्तक, मुर्गा, हंस, शूकर, ऊँट, मछली आदि विशेषतः मृग-पक्षियों के मांस--तथा तक्र, सुरा, वारुणी आदि, और अन्य सब प्रकार के ताजे फल और भाजियाँ। मांस के विषय में चरक का मत निम्न प्रकार है।

"मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम्।
तीक्ष्णोष्ण लाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम्।।
मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिवतोऽपिच।
वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जन सेविनः।।
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम्।।"

हमारे विचार में मांस खाना आपद् धर्म ही समझना चाहिये।

**अपथ्य**--अधिक मात्रा में चाय, काफी, सोडा, तम्बाकू, मद्य, लालमिर्च, मसाले, नमक, जुलाव, वेगरोध, स्वेद, विषम भोजन, रुक्ष भोजन, रात्रि-जागरण, शक्ति से अधिक परिश्रम और मैथुन का तो सर्वथा परित्याग ही कर देना चाहिये।

भोजन के विषय में आचार्य अग्निवेश के निम्न वचन स्मरण रखने चाहिये।--

"इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धवत् पानभोजनम्।
इष्टमिष्टैरुपहितं सुखमद्यात् सुखप्रपदम्।।
समातीतानिधान्यानि कल्पनीयानि शुष्यताम्।
लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च।
यानि प्रहर्ष कराणि तानि पथ्यतमानि हि।।
चरक चि० अ० ८

यद्यत् संतर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु।
अन्नपानं निषेव्यं तत्क्षतक्षीणैसुखार्थिभिः।।
च० चि० अ० ११।९३

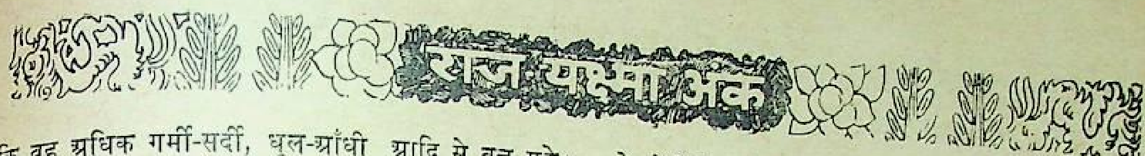
**विहार**--इसमें भोजन को छोड़कर शेष दिनचर्या तथा दैनिक कर्तव्य कर्म सम्मिलित हैं। इसे पुनः दो भागों में विभक्त किया गया है। शारीरिक और मानसिक। मानसिक विहार का वर्णन सद्वृत्त में किया गया है। कायिक विहार में चिकित्सा की दृष्टि से सर्वप्रथम निवास-स्थान और विश्राम आता है। अतः उसके विषय में कुछ विवेचन किया जा रहा है।

रोगी का निवास-स्थान नगर या ग्राम से कुछ हटकर, बाहर खुले स्थान में होना चाहिए, जहाँ रोगी को शुद्ध वायु और धूप अच्छी तरह मिल सके और शहर या गाँव की गन्दगी से वह बचा रहे। अलग रखने का एक प्रयोजन रोग के संक्रमण को रोकने का भी है। आयुर्वेद के अनुसार यदि रोगी के पास कुछ बकरियाँ या बन्दर रहें, तो उत्तम है। आजकल प्रायः आरोग्यशालाओं (सेनेटोरियमों) में रोगियों को रखा जाता है। प्राचीन काल में भी कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था थी।

शुष्क वायुमण्डल यक्ष्मा के रोगियों के लिए अति लाभप्रद है। ऐसा जलवायु किन्हीं पर्वत-विशेषों पर पाया जाता है। किन्तु, ऐसा वायुमण्डल एकान्तेन आवश्यक नहीं है। अधिक गर्मी और अधिक सर्दी हानिकारक है। समुद्र-यात्रा भी वांछनीय नहीं है।

रोगी के रहने का स्थान इस प्रकारका बना हो--

* हाथ से पिसा और बिना छना आटा उत्तम है।




कि वह अधिक गर्मी-सर्दी, धूल-आँधी आदि से बच सके; किन्तु रोगी को दिनरात शुद्ध और स्वच्छ वायु मिल सके। खिड़कियाँ खुली रहें। बरामदे में सोना अधिक लाभप्रद है।

आरोग्यशाला (Sanatorium) में रहने से निम्नलिखित लाभ होते हैं :--

(१) चिकित्सक द्वारा प्रतिदिन निरीक्षण की योजना।

(२) शुद्ध और स्वच्छ वायु।

(३) विश्राम या व्यायाम की नियमितता।

(४) पौष्टिक तथा मात्रानुसार भोजन का प्रबन्ध।

(५) ज्वरितावस्था में उचित उपचार और विश्राम तथा मानसिक शान्ति।

(६) अन्य रोगों के संक्रमण की संभावना की न्यूनता।

(७) स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों के अनुसार निवास।

**विश्राम या व्यायाम**--इसकी मात्रा का निर्णय करने के पूर्व रोगी के ताप का पूर्ण विवरण जान लेना चाहिए। यदि रोगी को ताप हो, तो पूर्ण विश्राम की आवश्यकता है। जब तक रोगी का ताप स्वस्थावस्था तक न हो जाए, तथा वहाँ पर ही स्थिर न हो जाए, तबतक विश्राम कराना चाहिए। पुरुषों में ९८० तथा स्त्रियों में ९९० से ऊपर यह ताप नहीं जाना चाहिए। जब ताप उक्त ताप से नीचे या वहीं तक रहे, तब ही व्यायाम प्रारम्भ कराना चाहिए। किन्तु यदि साधारण व्यायाम से ताप बढ़ने लगे, तो उसे बन्द कर दें। जब तक स्वस्थावस्था तक ताप न आ जाय तबतक व्यायाम न करने दें।

प्रारम्भ में हलका व्यायाम--घूमना आदि प्रारम्भ करें। धीरे-धीरे व्यायाम की मात्रा तथा प्रकार बढ़ाते जायँ। अन्नपाचन तथा क्षुधा के लिए और शरीर की पुष्टि के लिए व्यायाम आवश्यक है। साथ-ही-साथ इस प्रकार के व्यायाम से रोगी का दृष्टिकोण भी बदल जाता है। वह अपने को रोगी न समझकर स्वस्थ समझने लगता है। धीरे-धीरे व्यायाम बढ़ाने से पुनः भारी कार्य करने में भी रोगी समर्थ हो जाता है और ताप भी उसका नहीं बढ़ता।

**निद्रा**--रोगी को पर्याप्त निद्रा लेनी चाहिए। प्रायः ८ घण्टे सोना बुरा नहीं है। ९-१० बजे के बीच में सोकर प्रातः ५-६बजे तक उठ जाना चाहिए। इस प्रकार राजयक्ष्मा के रोगी के निवासस्थान और व्यायाम का विवेचन करने के बाद रोगी की चरकोक्त दिनचर्या का दिग्दर्शन कराना उचित होगा।

## मुखशोधन

**दन्तधावन**--प्रातः उठकर शौचादि से निवृत्त होकर मुख प्रक्षालन या मुखधावन करना चाहिए। आजकल प्रायः कुछ व्यक्तियों में भ्रम फैला हुआ है कि आयुर्वेद के स्वास्थ्य विषय में दन्तधावन आदि का उल्लेख नहीं है। ये सब पाश्चात्यों की देन हैं। यह भ्रम निम्न उद्धरणों से दूर हो जाता है।

"परं मुखस्य वैरस्यनाशनं रोचनं शृणु।
द्वौकालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनम्।
तद्वत् प्रक्षालयेदास्यं धारयेत् कवलग्रहान्।।"

--चरक चि० अ० ८।१३४-१३५

मुख की विरसता को नष्ट करने के लिए और रुचि बढ़ाने के लिए दोनों (दन्तधावन तथा कवलग्रह) करने चाहिए।

## अभ्यंग-स्वेदन-उत्साहन

"बहिःस्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतःपरं विधिः।
स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत्।।
स्रोतो विबन्ध मोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च।।
उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनराक्तैः सुखैः करैः।
मृद्नीयात् सुखमासीनं सुखं चोत्सादयेन्नरम्।।"
एतदुत्सादनं कार्यं बलपुष्टिविवर्धनम्।
गौरसर्षप कल्केन कल्कैश्चादि सुगन्धिभिः।।

--चरक चि० अ० ८।१७३-१७८

बाह्य शुद्धि के लिए निम्न विधि बरतनी चाहिए--

रोगी को लाक्षादि तैल वा मिश्रक स्नेह आदि से अभ्यंग (मालिश) करके अवगाह-स्वेद कराना चाहिए। यह स्वेद बल और पुष्टि देने वाला तथा स्रोतों को खोलने वाला है। इस प्रकार रोगी को बराबर (अवस्था के अनुसार) अभ्यंग तथा अवगाह-स्वेद कराना चाहिए।

उत्सादन (उबटन) स्वेदन के पश्चात् यवचूर्ण या उड़द या तिलपिष्टी, अलसी चूर्ण, तैल आदि से मृदु हाथ से सुखासीन रोगी को उबटन लगाना चाहिए।

स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयौषधैःशृतैः ।
गन्धैःसमाल्यैर्वासोभिर्भूषणैश्च विभूषितः ।।
स्पृश्यान्संस्पृश्य संपूज्य देवताः सभिषग् द्विजाः ।
इष्टवर्ण रसस्पर्शगन्धवत् पानभोजनम् ।।

अर्थात्--उबटन के पश्चात् ऋतु के अनुसार सुखप्रद (अनुकूल जल से जो जीवनीय औषधियों से तैयार किया गया हो)--स्नान कराना चाहिए। पश्चात् सुगन्धित माला, चन्दन लेपादि द्वारा युक्त होकर, सुवासित स्वच्छ हलके कपड़े, आभूषण आदि पहनने चाहिये और इष्ट देवता तथा पूज्यों को नमस्कार करके रुचिप्रद भोजन-पानादि ग्रहण करना चाहिए।

अभ्यंगोत्सादनैश्चैव वासोभिरहतैः प्रियैः ।
यथर्तुविहितैःस्नानैरवगाहैर्विमार्जनैः ।।
वस्तिभिः क्षीरसर्पिभिर्मांसैर्मांस रसौदनैः ।।
× × × × × रोगराजो निवर्त्तन्ते ।।

ऋतु के अनुसार अभ्यंग, उत्सादन, अवगाहन, स्नान, वस्त्र आदि के सेवन तथा उचित वस्तियों के सेवन से और दूध, घी, मांस, मांसरस, चावल आदि के सेवन से रोगराज (राजयक्ष्मा) रोग नष्ट हो जाता है।

**सदवृत्त या मानसिक विहार**--मन का देह के साथ गहरा सम्बन्ध है। काया और मन दोनों का परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। अतएव किसी कवि ने कहा है--

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

प्रसन्न मन वाले व्यक्ति का रोग भार भी आधा हो जाता है और उसे शीघ्र ही स्वास्थ्य-लाभ होता है। यक्ष्मा के लम्बे रोगी के लिए तो और भी आवश्यक है कि उसे रोग को भुलाने का प्रयत्न करना और प्रसन्न रहना चाहिए। इस विषय में प्राचीन आचार्यों ने ही नहीं, अपितु आधुनिक आचार्यों ने भी इसके महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। आचार्य सेविल कहते हैं--

"Amusement is necessary but it requires to be carefully regulated. The patient should not talk too much and any excitement or heated discussion is bad. The whole day, and, if possible, the night also, should be spent out of doors, no matter what the weather may be and outdoor amusement cultivated"

Savill's. Medicine, Page 199.

अर्थात्--मनःप्रसादन आवश्यक है, किन्तु यह भी नियमित होना चाहिए। रोगी को अधिक बोलना अथवा उत्तेजनाप्रद कार्य--बातचीत-विवाद नहीं करना चाहिए। सारा दिन और संभव हो तो सारी रात भी कमरे से बाहर ही बितानी चाहिए। चाहे कोई भी ऋतु हो।

आयुर्वेद के आचार्य तो इससे भी आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने मन के सूक्ष्म भावों का भी विवेचन करके चिकित्सा-शास्त्र को समृद्ध किया है। आचार्य अग्निवेश द्वारा निर्दिष्ट राजयक्ष्मा के रोगी का सद्वृत्त देखिए।

"इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः ।
सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः ।।
गीतवादित्र शब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ।
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरुणां समुपासनैः ।।
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः ।
सत्याचारयोगेन मंगल्यैरप्यहिंसया ।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव राजरोगो निवर्तते ।।

चरक चि० अ० ८।१८४-१८६

अर्थात्--इष्ट मद्यों के सेवन से, मनोहारी गन्धों के सेवन से, प्रिय मित्रों, सम्बन्धियों, स्त्रियों के दर्शन और वार्ता से-जिससे रोगी को एकाकीपन का अनुभव न हो और वह यह न सोचे कि मेरी खबर लेने वाला कोई नहीं, या रोग के कारण मुझे मेरे मित्रों और सम्बन्धियों ने छोड़ दिया है, इससे मानसिक ग्लानि और क्लान्ति हो जाती है और रोगी रोग से लड़ने और उससे जीतने में उत्साहहीन हो जाता है, अतः मित्रों और सम्बन्धियों को मिलते रहना चाहिए। किन्तु नियमानुकूल (एक-दो घण्टे) ही, कर्ण-प्रिय गाना-बजाना सुनने से, प्रसन्न तथा आश्वस्त रहने से गुरुओं की उपासना और ब्रह्मचर्य, दान-तप, देवताओं की पूजा, सत्य, आचार, अहिंसा वैद्य और ब्राह्मणों की सेवा से और अन्य मंगलमय कार्यों से रोगी रोगों के राजा क्षय रोग से मुक्त हो जाता है।

सूक्ष्म अध्ययन के बाद हमारे आचार्यों ने इस मानसिक विहार को निर्धारित किया है। इसका सेवन करते रहने से अवश्य राजयक्ष्मा से मुक्ति मिल सकती है।

--:o:--





















ये पाँच लक्षण हों तो

तुरन्त किसी योग्य चिकित्सक से मिलें





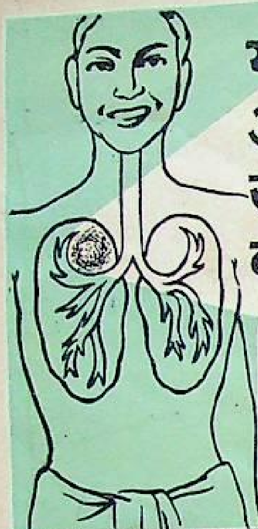






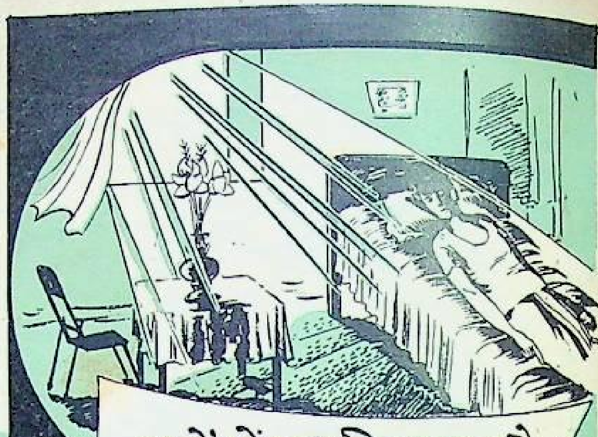






# यक्ष्मा से आप अपनी रक्षा कैसे करें ?

यदि इन नियमों का ध्यान रखेंगे तो इस संहारक महारोग के चंगुल में आप कदापि नहीं फसेंगे।



घरों में खुली हवा और मुक्त प्रकाश आने दें ;



संतुलित भोजन करें ;



उपयुक्त आराम और विश्राम करें ;




रोग-संक्रमण के कारणों को जानें और उनसे बचें ;



समय-समय पर स्वास्थ्य-परीक्षा करायें।

और सबसे बड़ी बात

शरीर को दुर्बल न होने दें। ऋतु के अनुसार आहार-बिहार और आयुर्वेदीय पौष्टिक औषधियों का सेवन करें।

# राजयक्ष्मा—प्रसार के मूलकारण

कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय आयुर्वेदाचार्य

राजयक्ष्मा के प्रसार और उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में आयुर्वेद और एलोपैथी की विचारधारा में बहुत बड़ा विरोध दिखाई पड़ता है। परन्तु संकीर्णता के दायरे से यदि मस्तिष्क को ऊँचा उठाकर विचार किया जाय, तो अन्तर बहुत सूक्ष्म या नहीं भी मालूम होगी।

एलोपैथी राजयक्ष्मा का कारण एक प्रकार के कीटाणुओं को मानता है। उस कीटाणु का नाम है ट्यूबरकिल बेसिलस। यक्ष्मा रोगी के कफ, फेफड़े आदि में ये कीटाणु पाये जते हैं। वैज्ञानिक अन्वेषण के आधार पर यह तथ्य निर्णीत है। कीटाणुवाद भारतीय वैज्ञानिकों के लिए कोई नूतन आविष्कार नहीं है। वेदों तक में कीटाणुओं की और विशेषत: राजयक्ष्मा के कीटाणुओं की चर्चा है। हम तो यह मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान द्वारा भारतीय कीटाणुवाद की पुष्टि हुई है और जो कार्य हम वैद्यों को करना चाहिए था, उसे एलोपैथी ने किया है।

आयुर्वेदीय विज्ञान के अध्ययन में जो शिथिला आ गई थी, उसे दूर करने के लिए कीटाणुवाद ने संजीवनी बूटी का काम किया। उसके प्रभाव से हमें आयुर्वेद के सिद्धान्तों और वेदों के अध्ययन और मनन की प्रेरणा मिली और एक खोई हुई सम्पत्ति हाथ लगी। एलोपैथी और आयुर्वेद में कीटाणुवाद का अन्तर न होकर सिद्धान्त का अन्तर है। यदि सिद्धान्त हमारी समझ में आ जाय, तो आयुर्वेद की महत्ता स्वयं सुरक्षित हो जाती है। उसी पर हम यहाँ कुछ विचार करना चाहते हैं।

कुछ पाठकों को हमारे इस कथन से कि आयुर्वेद कीटाणुवाद से अपरिचित नहीं है, परितुष्टि नहीं होगी, क्योंकि हम लोग चिकित्सा करते समय एलोपैथी की तरह सर्वत्र कीटाणुनाशक औषधियों का प्रयोग नहीं करते। इसका एक बहुत बड़ा कारण है और उसी कारण से प्रभावित होकर अथर्ववेद में प्रतिपादित कीटाणुवाद को अग्निवेश, आत्रेय, भारद्वाज, चरक, सुश्रुत प्रभृति महान वैज्ञानिकों ने स्वनिर्मित आयुर्वेद के ग्रन्थों में कीटाणुवाद को प्रविष्ट नहीं किया। यह उनकी भूल नहीं, विश्व के लिए एक महान् देन थी और विज्ञान का सच्चा स्वरूप और रहस्य था।

कीटाणु पराश्रयी होते हैं। जो आश्रय वे ग्रहण करते हैं, यदि वह उनके जीवित रहने और वंशवृद्धि के अनुकूल नहीं हुआ तो रोग उत्पन्न करने के पहले ही उनका नाश हो जाता है। सृष्टिकर्त्ता कीटाणुओं से अनभिज्ञ नहीं था। उसने कीटाणु बनाये तो हमारे शरीर को भी ऐसी शक्ति दी कि वह कीटाणुओं से स्वयं अपनी रक्षा कर सके। कीटाणुओं को मार डालने या कैद करने की शक्ति हमारे भीतर ईश्वर-प्रदत्त है। उस शक्ति की रक्षा के लिए प्रकृति ने हमें अनेक सिद्धान्त दिये हैं। उन सिद्धान्तों और नियमों का पालन करके हम अपने शरीर की रोग-क्षमता बढ़ा सकते और बढ़ाते तथा सुरक्षित रखते हैं।

जीवनीय शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए भोजन-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, ब्रह्मचर्य, प्रज्ञापराध आदि नियम आरम्भ काल से ही प्रचलित हैं। न इनमें कभी संशोधन हुआ है और न भविष्य में कभी होगा। ऊँचे दरजे के आधुनिक वैज्ञानिक भी कीटाणुओं के सम्बन्ध में वही सिद्धान्त स्वीकार करते हैं, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है और जो आयुर्वेद सम्मत हैं।

दूसरे शब्दों में हम कहना चाहें, तो इस प्रकार कह सकते हैं कि एलोपैथी बीज को प्रधानता देता है और आयुर्वेद क्षेत्र को। बीज में अंकुर तभी निकलता है, जब ऋतु अनुकूल और भूमि उर्वरा और उस बीज के पनपने के उपयुक्त बनी हो। यदि बीज को गरम रेत में बो दिया जाय अथवा कुएँ में डाल दिया जाय, तो उस बीज से न अंकुर निकलेंगे और न उससे पौधा ही तैयार होगा। ठीक यही दशा कीटाणुओं की है। एलोपैथी के वैज्ञानिक जीवनी-शक्ति सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रकार के इन्जेक्शन लगाया करते हैं। यह भी शरीर की ही शक्ति बढ़ाने के लिए किया जाता है, जिसमें कीटाणु नष्ट हो जायँ। आयुर्वेद के मत से यह क्रिया अप्राकृतिक है।

ऊपर हमने जो कुछ लिखा है, उसका सार यह है कि शरीर की जीवनी-शक्ति सुरक्षित रहने से यक्ष्मा के कीटाणु कुछ भी नहीं कर सकते। न वे रोगी बना सकते हैं और न मृत्यु ही निकट ला सकते हैं। परन्तु यदि जीवनी-शक्ति क्षीण हो जाय, तो ये कीटाणु जो हर समय हवा, धूल, भोजन, मक्खी आदि द्वारा हमारे शरीर में प्रविष्ट करते रहते हैं, रोग उत्पन्न कर देगें। एक बात यह भी याद रखनी चाहिए कि राजयक्ष्मा के ऐसे रोगी भी पाये गये हैं, जिनमें क्षय के कीटाणु नहीं थे और वे रोगग्रस्त थे। ऐसे रोगी एलोपैथी के लिए सिरदर्द पैदा कर देते हैं।

इस महाव्याधि के कारण के सम्बन्ध में आयुर्वेद जितनी गहराई तक घुस सका, वह आज के वैज्ञानिक युग में भी प्रशंसनीय और अभूतपूर्व है। आयुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है--

"वेगरोधात्क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतु चतुष्टयः॥"

अर्थात् इस महारोग के चार कारण हैं, वेगरोध, साहस, विषमाशन और धातुओं का क्षय। यह रोग त्रिदोष से उत्पन्न होता है। केवल एक श्लोक में चार कारण का नाम बता कर विस्तृत व्याख्या गुरुमुख से सुनने के लिए कपाट आवृत रखा गया। इन चार कारणों की विस्तृत व्याख्या कर दी जाय, तो श्लोक का मूल्य वास्तविक रूप में समझ में आ जायगा।

राजयक्ष्मा के अनेक कारण हो सकते हैं और हैं भी, परन्तु उन सबका समावेश इन्हीं चार कारणों में हो जाता है। उक्त श्लोक की टीका करते समय मधुकोश और आतंक दर्पण के टीकाकारों ने स्पष्ट लिख दिया है कि "असंख्येया अपि हेतव उक्त चतुष्टय एवान्तर्भवन्ति।"

ऊपर के श्लोक में दूसरा अभिप्राय यह भी निहित है कि यदि वे चार कारण जीवन में न आवें, तो राजयक्ष्मा से बचे रहने की पूरी शक्ति शरीर में मौजूद रहेगी और जीवन भर कभी क्षय रोग होने का भय न रहेगा। आयुर्वेद में निदान-परिवर्जन, चिकित्सा का मुख्य अंग है। उसी प्रकार यदि रोग उत्पन्न करने वाले कारणों से बचा जाय, तो उस रोग से बचे रहने की शक्ति सुरक्षित रहेगी।

ऊपर आयुर्वेद के मत से हमने राजयक्ष्मा के कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है और उसके लिए मुख्य रूप से चार कारणों का नाम बताया है। उन चारों के ऊपर विचार न करके हम इस लेख में केवल क्षय और विषमासन--इन दो ही कारणों पर विस्तार के साथ विचार करना चाहते हैं। यदि अवकाश मिला, तो शेष दो पर भी विचार करने का प्रयत्न किया जायगा।

धातुओं का क्षय तीन कारणों से होता है--(१) **दरिद्रता**, (२) **अतिव्यवाय और** (३) **दूषितआहार**। विषमाशन का अर्थ भोजन करने का गलत तरीका है। अर्थात् इस लेख का विषय मुख्यरूप से भोजन, दरिद्रता और अति मैथुन से सम्बन्धित है। नीचे हम एक-एक पर अलग-अलग विचार करने का प्रयत्न करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार उक्त कारण राजयक्ष्मा के प्रसार में सहायता करते हैं।

## राजयक्ष्मा का कारण दरिद्रता—

गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है :--

"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।"

वास्तव में दरिद्रता से बढ़कर स्वास्थ्यनाशक कारण कोई नहीं है। कोई युग था, जब यह समझा जाता था कि दरिद्रता अपने कर्मों का फल है, परन्तु आज के युग में यह शासन के कुप्रबन्ध का फल कहा जाता है। दरिद्रता के लिए पूर्ण रूपेण सरकारें जिम्मेदार है। दरिद्रता वह घुन है, जो मस्तिष्क, दिल, दिमाग, स्वास्थ्य आदि को सदैव के लिए विकृत कर देता है। चिन्ता-फिक्र, मनोदैन्य आदि तो इसके पक्के सहचर हैं। दरिद्रता से पीड़ित व्यक्ति अपने और अपने परिवार के उदर-पोषण के लिए दिन-रात परिश्रम करता है। लोहार, बढ़ई, दरजी, कारीगर, कुली, खोमचा बेचने वाले आदि सभी जातियों के लोग इस राक्षसी के शिकार हैं। इन्हें रहने के लिए स्वास्थ्यप्रद घर नहीं, खाने के लिए पौष्टिक-स्निग्ध आहार नहीं, पहनने के लिए ऋतु अनुकूल वस्त्र नहीं, रोगी होने पर इलाज के लिए साधन और द्रव्य नहीं। इनके काम के घण्टों के बारे में न पूछिए। रात-दिन जी-तोड़ परिश्रम, कई घण्टे लगातार आँख गड़ा कर बैठ-बैठे काम करना, इनके जीवन का अंग बन जाता है। पैसे के लालच में ये बेचारे दिन-रात, जाड़ा-गरमी, धूप-बरसात की परवाह न कर छाती-

तोड़ परिश्रम करते हैं। कुछ बेचारे ऐसे अभागे हैं, जिनके पास कोई काम नहीं, जीविका का कोई साधन नहीं। ऊपर वज्र, नीचे धरती। उनके विषय में क्या कहा जाय? उन्हें काम कौन दे तथा उनको और उनके बाल-बच्चों को भोजन, वस्त्र, मकान, औषध आदि कौन दे, कहाँ से आवे?

इस प्रकार दीनता के चंगुल में फँसा व्यक्ति भगवान्, भाग्य, देश, शासन और अपने आप को कोसता हुआ जीवनी-शक्ति और रोग-निवारक-शक्ति को क्षीण करता है। पौष्टिक-भोजन के अभाव और अर्थ कमाने के परिश्रम एवं चिन्ता के कारण वात की वृद्धि होकर रसादि धातु सूखने लगते हैं और धातुओं के क्षीण होने से क्षय रोग उत्पन्न हो जाता है। वायु की वृद्धि से शुष्ककास और फेफड़े में घाव का हो जाना स्वभाविक है। रोग-निवारक-शक्ति के घट जाने से वह कीटाणुओं के हमले को नहीं सँभाल सकता और रोग से आक्रान्त होना स्वाभाविक है।

गरीबों को अँधेरे और सीलवाले गन्दे मकानों में रहना पड़ता है। उन मकानों को दूसरा नरक कहना चाहिए। कुछ लोगों के घर पाखानों के बीच में होते हैं। ऐसे घरों में रहने वाले औरत-मर्द-बच्चे किस प्रकार स्वस्थ रह सकते हैं? ऐसे गन्दे और अस्वास्थ्यकर घर राजयक्ष्मा के गढ़ हैं। ऐसे स्थानों में यक्ष्मा के कीटाणु पनपते हैं और ऐसे स्थानों में रहने वालों की जीवनी-शक्ति एवं रोग-निवारक-शक्ति क्षीण रहती ही है।

### राजयक्ष्मा का कारण अतिव्यवाय

आयुर्वेद के मत से हमारे शरीर में सात धातुएँ हैं—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, और शुक्र। हमारे भोजन के प्रथम पाचन द्वारा रस बनता है। उसके बाद धात्वग्नियों के द्वारा पाचन होता हुआ आगे वाली धातुएँ बनती हैं। शुक्र सर्वोपरि धातु है। इसकी शरीर में विशेषता रहने से अपूर्व बल, साहस, ओज, कान्ति, बुद्धि, स्मृति आदि आदर्श गुण व्यक्ति में मौजूद रहते हैं।

मैथुन द्वारा शुक्रधातु शरीर से बाहर हो जाती है और स्त्री के रज के साथ गर्भ-स्थापन का कार्य इसीसे होता है। मैथुन में कुछ विशेष आनन्द प्राप्त होने के कारण कुछ लोग इसमें आवश्यकता से अधिक लिप्त रहते हैं। शुक्र के क्षय से ओज, कान्ति, मेधा, स्मृति, बल, साहस सबका नाश हो जाता है। जीवनी शक्ति और रोग-निवारक-शक्ति क्षीण हो जाती है। चरक का मत तो यह है कि शुक्र के अधिक क्षय हो जाने से मज्जा धातु क्षीण हो जाती है और मज्जा के क्षीण होने से मांस, मांस के क्षीण होने से रक्त और रक्त के क्षीण होने से रस क्षीण हो जाता है और व्यक्ति सूखने लगता है। यह क्षय विलोमगति से होता है। इसके बाद रोगी का शरीर पीला पड़ जाता है, मन्दाग्नि भी घर दबाती है। धातुओं के क्षय से वायु की वृद्धि हो जाती है और शुष्क कास, ज्वर, फेफड़े में घाव आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

यक्ष्मा रोग के प्रसार के लिए सबसे भयानक कारण यह है। आजकल पश्चिमी विज्ञान की चमक में ब्रह्मचर्य व्यर्थ की चीज समझी जा रही है। कामवासना को उत्तेजित करनेवाले दूषित यौन-विज्ञान की पुस्तकें पढ़कर आज के विद्यार्थी प्राचीन आदर्श को हेय समझने लगे हैं, और उसका कुफल भी वे भोग रहे हैं। स्वप्नदोष, हस्तमैथुन आदि भी बहुमैथुन की तरह क्षय के कारण बन जाते हैं। मधुमेह भी क्षय का कारण होता है।

आजकल सिनेमा भी कम कामुकता उत्पन्न नहीं करते और वे दर्शक को अधोगति की ओर ले जाते हैं। नृत्य, हाव-भाव, कटाक्ष, कामोत्तेजक संगीत, ये सभी एक साथ दर्शक पर प्रहार करते हैं, और स्नायुओं, नाड़ियों, मस्तिष्क, कामोत्तेजक केन्द्रों आदि पर तनाव और क्षोभ उत्पन्न करके हृदय को दुर्बल कर देते हैं और मानसिक व्यभिचार को प्रश्रय देते हैं। इस प्रकार यह सिनेमा नौजवानों की कब्र खोद कर देश को रसातल पहुँचा रही हैं और परोक्ष रूप में भी क्षय के प्रसार का मुख्य कारण बन रहे हैं।

स्कूल-कालेज और विद्यालयों में सह-शिक्षा भी कम विषवपन नहीं कर रही है। छात्र-छात्राएँ एक साथ रहती हैं। दर्शन, स्पर्शन-स्मरण आदि द्वारा कामवासना जाग्रत होती है, परन्तु देश की सामाजिक-बाधाओं के कारण मिलन दुर्लभ अथवा असम्भव बन जाता है और कामाग्नि में जल-जलकर प्रेमी-प्रेमिका क्षयग्रस्त हो जाते हैं। क्षय का प्रसार रोकने का प्रयत्न करते समय हम इन तथ्यों को आंख से ओझल नहीं कर सकते। यह सभी कारण बहुमैथुन के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। मैथुन

कर लेने में उनती हानि नहीं होती, जितनी क्षोभ की अवस्था में होती है। नाड़ियाँ और मस्तिष्क में क्षोभ की अवस्था में बराबर तनाव होता रहता है और क्षुब्ध मन के धक्के केन्द्रों में लगते रहते हैं, नसों में मंथन जारी रहता है तथा इससे वीर्य-स्राव, स्वप्नदोष, पागलपन, हिस्टीरिया आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जीवनी-शक्ति और रोग-निवारक-शक्ति शरीर में शेष नहीं रह जाती और भाग्य को कोसता हुआ प्राणी क्षय का ग्रास बन जाता है।

## राजयक्ष्मा का कारण दूषित आहार

सर्वतत्त्व सम्पन्न सबल रक्त ही स्वास्थ्य का मूल कारण होता है और रक्त का मूल भोजन है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि उत्तम भोजन स्वास्थ्य का मूल है। उत्तम भोजन एक ऐसा शब्द है, जिससे बहुत बड़ी गलतफहमी हो जाने का डर है। अलग-अलग व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार उत्तम भोजन की व्यवस्था करते हैं। उत्तम भोजन रुचि, स्वाद, आदि की दृष्टि से कई प्रकार का होता है। परन्तु वैज्ञानिक की भाषा में उत्तम भोजन वह है, जो शरीर के लिए आवश्यक सभी तत्त्वों से पूर्ण हो। कोई भोजन कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो, यदि उसमें उचित सभी पोषण तत्त्वों की कमी हो, तो उसे हम उत्तम भोजन कहने में हिचकेंगे।

आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से सृष्टि पंचभूतात्मक है। हमारा शरीर भी पंचतत्त्व से ही बना है। अतः हमारा भोजन वह उत्तम होगा, जिस में हमारे शरीर के पोषण के लिए आवश्यक पांचोंतत्त्व उचित मात्रा में होंगे। इसी बात को आज के वैज्ञानिक इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि हमारे शरीर के लिए प्रोटीन (मांस घटक पदार्थ), कार्बोहाइड्रेट (शक्तिदायक तत्त्व), जल, खनिज द्रव्य और विटामिनों की आवश्यकता रहती है और उनके दृष्टिकोण से वही भोजन उत्तम होता है, जिसमें पाँचोंतत्त्व उचित रूप में रहते हैं।

आजकल होटलों में और घर के भोजन में भी प्रोटीन और स्टार्च, चीनी, मसाले आदि की अधिकतावाले भोजन खुले आम व्यवहार में आते हैं। लोग प्रायः खनिज लवण और विटामिनों की उपेक्षा करते हैं। चीनी, घी, डालडा की अधिकतावाले पदार्थ खूब खाये जाते हैं। तरकारियाँ मसालों से इस प्रकार बनाई रहती हैं कि उनका गुण नष्ट हो गया रहता है। वैज्ञानिकता के नाम पर ये सब अनर्थ किए जाते हैं। अब तो दूर देशों से मांस, मछली, दूध के पादार्थ, जेम, जेली आदि डिब्बों में बन्द आते हैं और हमारे देश में भी उनकी काफी अच्छी खपत होती है। ये वैज्ञानिक कहे जानेवाले पदार्थ भी कम हानिकर नहीं होते।

उत्तम भोजन वही है, जिसमें पाँचो तत्त्व तो मौजूद ही हों, साथ ही अधिक-से-अधिक वह प्रकृति के नजदीक हों। यदि वह पूर्णरूप से प्राकृतिक हो, तब तो सर्व सुन्दर। अमीरों का भोजन अधिक घी, मसाले भूनने, तलने आदि के कारण दूषित हो जाता है और गरीबों का भोजन चिकनाई की तथा अन्य पोषक सामग्रियों से रहित होने के कारण दूषित समझा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अमीर और गरीब दोनों में ही दूषित भोजन प्रचलित है और दोनों ही वर्ग अपनी सहज रोग-निवारक शक्ति को क्षीण करके दुख पा रहे हैं।

आयुर्वेद का एक श्लोक स्मरण आता है, वह यह है :—

"उष्णेनाम्भसा स्नानं पयःपानं नवाः स्त्रियः।
एतद्वै मानवाः पथ्यं स्निग्धमुष्णं च भोजनम्।"

इस श्लोक के दो पदार्थ—पयःपान और स्निग्ध-उष्ण भोजन—मानव मात्र के लिए हितकर हैं, यह न भूलना चाहिए। जब तक रोज नियमित रूप से दूध न मिले और ताजा शुद्ध सामग्री से बना स्निग्ध शुद्ध घी से युक्त भोजन न मिले, कोई भी मनुष्य स्वस्थ नहीं रह सकता।

आज के विज्ञान के युग में हम इन्हीं दो पदार्थों की कमी संसार में पाते हैं। दूध के नाम पर बनावटी दूध, डिब्बाबन्द दूध, बहुत अधिक चीनी और आटा मिला हुआ दूध और घी के नाम पर बनस्पति। हमारी सरकार इन्हीं बनावटी भोजन के बल पर जनता का स्वास्थ्य उन्नत करने का उपहास्य प्रयत्न कर रही है। यह याद रखिए, घी का स्थान तेल को नहीं प्राप्त हो सकता। घी में विटामिन ए स्वाभाविक रूप में होता है, किन्तु दाल में नहीं होता। वनस्पति बनानेवाले उसमें विटामिन ए होने का दावा करते हैं। सम्भव है, अंडे की जरदी मिलाकर उस कमी की पूर्ति की जाती हो। घी की वसा कोमल होती है




कम आंच पर गल जाती है और वनस्पति को अधिक तेज आंच की आवश्यकता पड़ती है। अतः दोनों में कोई समता नहीं है।

मैंदा, चीनी, धुली दाल, मशीन का छँटा हुआ चावल, बासी-सूखा शाक, सूखा बासी मांस, वनस्पति, टिन के अन्दर बन्द विलायती भोजन, बासी तथा ठण्ढा दूध, ये सब दूषित भोजन के अन्दर आते हैं। तरह-तरह की मिठाइयाँ और वे भोजन पदार्थ, जिन पर गर्द, गुब्बार, मक्खी आदि बैठती हों, दूषित भोजन है और किसी न किसी रूप में वे रोग उत्पन्न करते हैं। ये सब प्रकार के भोजन राजयक्ष्मा के उत्पन्न करने के कारण हैं; क्योंकि इन भोजनों से जो रक्त बनता है, उसमें शरीर के लिए आवश्यक सामग्री पूर्णरूप से नहीं रहती और इस अभाव के कारण शरीर सूखने लगता है और क्षय रोग हो जाता है।

## राजयक्ष्मा का कारण-विषमाशन

विषमासन शब्द का अर्थ होता है विषमरूप से भोजन करना। वैदिक विधि से भोजन की विधि यह है कि एक समय दोपहर को भोजन किया जाय और संध्या समय थोड़ा दूध और फल लिया जाय। परन्तु यह नियम सब से चलता नहीं। लोगों को अपने व्यवसाय के अनुसार हलके-भारी भोजन की आवश्यकता पड़ती है। फिर भी आयुर्वेदीय विधि दो बार दिन-रात में भोजन करने की है। इस साधारण नियम की अवहेलना करके लोग देर-सबेर, कम-बेश, पहले का भोजन पचे बिना खाया करते हैं। इसी विषमता लिए भोजन को विषम भोजन कहते हैं।

विषम भोजन से धातुएँ विषम हो जाती हैं, वात-पित्त-कफ सम परिमाण में नहीं रहते, अग्नि भी विषम अथवा मन्द हो जाती है। एक दिन के विषमाशन से राजयक्ष्मा तो नहीं हो सकता, परन्तु यदि किसी को इसकी लत पड़ जाय, तो वह अपनी जीवनी-शक्ति खोकर रोग का शिकार हो जाता है।

शरीर में काँटा गड़ जाय तो क्या होता है? वह जगह पकती है और फूट कर काँटा बाहर निकलता है, यदि उसे पहले ही न निकाल दिया जाय। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि काँटा शरीर के लिए विजातीय पदार्थ है और वह पच नहीं सकता। इसी प्रकार विषम भोजन से रस-रक्त आदि कम बनते हैं और जो रक्त बनता है, उसमें अम्लता अधिक होती है। उस भोजन से विजातीय पदार्थ अधिक बनता है, वह विजातीय पदार्थ ही रोग उत्पन्न करने के लिए जिम्मेदार होता है। जिस प्रकार काँटे को निकालने के लिए वह स्थान पक जाता है, उसी तरह उस विजातीय पदार्थ या दूषित रस को निकालने के लिए शरीर उचित प्रयत्न करता है और उसे हमलोग रोग कहते हैं। दूषित रस विष के समान घातक प्रभाववाला होता है। लिखा भी है—

मन्दवह्निविदग्धस्तु कट्वम्लो भवेद्रसः।
सकुर्याद्विहुलान् रोगान् विषकृत्य करो यदि।।"

विषमाशन के कारण विषम हुए वातादि दोष-रस रक्त बहानेवाले स्रोतों को बन्द कर देते हैं और धातुओं की वृद्धि होने के कारण प्राणी सूखने लगता है और यही राजयक्ष्मा का रूप है।

राजयक्ष्मा से बचने के लिए इन्हीं गुणों से बचने का प्रयास होना चाहिए, जिनका विवेचन ऊपर के पृष्ठों में किया गया है।

—:०:—

# आदर्श आयुर्वेदीय सेनोटोरियम

डा० चन्द्रा के० गुप्ता

क्षय रोग से पीड़ित व्यक्ति की रोगमुक्ति के लिए आवश्यक परिस्थिति या वातावरण में, उसके निवास-स्थान का प्रश्न भी विशेष महत्त्व रखता है। इस सम्बन्ध में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान तथा प्राचीन आयुर्वेद-विज्ञान—दोनों ही एकमत हैं। रोगी के लिए उपयुक्त निवासस्थान की रचना के बारे में आयुर्वेद की दृष्टि से विचार करते समय, आनूपादि देश के साथ दूष्य, काल, बल, अग्नि, प्रकृति आदि सभी दृष्टियों से रोग एवं रोगी का विचार करना वांछनीय है। एलोपैथी के जीवाणु-विज्ञान की अपेक्षा आयुर्वेद के त्रिदोष-विज्ञान में रोग एवं रोगी के सम्बन्ध में अतिसूक्ष्म विचारों का समावेश है। अतएव, रुग्ण-शय्या के स्थान, उसकी लम्बाई-चौड़ाई तथा रोगी के श्वासोच्छ्वास के लिए आवश्यक शुद्धवायु की मात्रा तक ही नहीं, वरन् उसके प्रत्येक कार्य में आयुर्वैदिक रहस्यों के महत्व का पूर्ण विवेचन किया जाना चाहिये। क्षय रोग की प्रकृति एवं सम्प्राप्ति पर अन्य रोगों की उत्पत्ति के कारणों की दृष्टि से तुलनात्मक विचार जरूरी है, जिसके आधार पर रोगी की चिकित्सा के लिए सभी प्रकार से उपयुक्त तथा रोग-निवृत्ति में सहायक आदर्श निवासस्थान का निर्माण किया जा सके। आधुनिक विचारधारा के प्रवाह से मुक्त रहकर भी आधुनिक विज्ञान की सर्वसुलभ देन का उपयोग करते हुए आदर्श निवासस्थान का निर्माण किया जा सकता है।



लेखिका

## राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति

राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति के कारणों का वर्णन करते हुए चरक-संहिता में कहा गया है—

स्रोतसांसन्निरोधाच्च रक्तादीनाञ्चसंक्षयात्,
धातूष्माणांचापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्त्तते ॥

—च० अ० ८-२०

शारीरिक धातुओं के पोषक मार्गों—स्रोतसों में रुकावट पैदा हो जाने पर धातुएँ निर्बल हो जाती हैं और सम्पूर्ण धातुओं के प्रधान पोषक—रक्त-धातु की कमी होने से एक ओर तो धातुओं की आवश्यक मात्रा में उत्पत्ति रुक जाती है और दूसरी ओर वात-प्रधान प्रकुपित दोष उनका शोषण करने लग जाते हैं, जिससे राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न हो जाता है। रोग के नाशार्थ उपयुक्त औषध-कल्पों की योजना होने पर भी अन्यान्य जो कारण रोग के निवारण में बाधक हो सकते हैं, उनमें रोगी का निवासस्थान तथा उसके आसपास का वातावरण किसी हालत में कम महत्त्व नहीं रखता।

यक्ष्मा रोग चाहे जिस प्रकार का भी हो, पर यह निश्चित ही है कि सभी प्रकार के यक्ष्मा रोगों में रोगी की धातुएँ क्षीण होती हैं और धातुओं की वृद्धि के लिए उपाय करना ही चिकित्सक का प्रधान कर्तव्य होता है। किसी रोग की चिकित्सा तब तक सफल नहीं हो सकती, जब-तक रोगी को रोग-नाशक वातावरण में तथा उपयुक्त आहार-विहार पर नहीं रखा जाता। यदि वातावरण और आहार-विहार प्रतिकूल हो तो रोग-वृद्धि हो जाती है। अतएव, रोगी के निवासस्थान की रचना में इन बातों का पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। रोगी का निवासस्थान ऐसा हो, जिससे रोग को उत्तेजना न मिले तथा रोगी की धातुओं की वृद्धि में सहायता मिले। निसर्ग

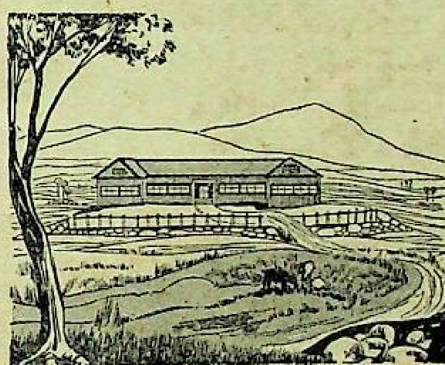
निर्मित क्षत से क्षीण एक प्रसूता के निवास के लिए बनाये जानेवाले भवन की रचना के सम्बन्ध में यह शास्त्रीय निर्देश है कि—"व्रणितस्य प्रथमेवागारमन्विच्छेत् तच्चागारं प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातापवर्जिते। निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तु मानसाः।' (सु० सू० अ० १६)
"प्राग्द्वारमुद्गद्वारंवा" (च० शा० अ० ८–७५)

चरक और सुश्रुत, दोनों ने ही व्रणितागार एवं प्रसूतागार को 'वातातपवर्जित' रखने का निर्देश किया है। स्वस्थ व्यक्तियों के शयनागार को 'वातवर्जित' रखने का सुश्रुत ने निर्देश किया है। यथा—'ब्रह्मचर्यनिवातशयनोष्णोदक स्नान निशा स्वप्नं व्यायामाश्चैकान्ततः पश्यतमाः।' (सू० सू० अ० २०) चिकित्सा स्थानान्तर्गत अनागताबाध प्रतिषेधाध्याय में स्वस्थ व्यक्तियों के लिए सुखकारक आचरणों का सुझाव देते हुए इसका और भी स्पष्टीकरण किया गया है। यथा—'प्रवातं रौक्ष्य वैवर्ण्यस्तम्भकृद्दाह पक्तिनुत। स्वेदमूर्च्छापिपासघ्नम् अप्रवातमतोऽन्यथा। सुखं वातं प्रसेवेत ग्रीष्मे शरदि मानवः। निवांतह्यायुषे सेव्यमारोग्याय च सर्वदा।'
(सु० चि० अ० २४)

उपर्युक्त शास्त्रीय वर्णनानुसार शरद एवं ग्रीष्म ऋतुओं के अतिरिक्त अन्य चार ऋतुओं में स्वस्थ पुरुषों के शयन के लिए 'निवात स्थान' की जिस प्रकार आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रसव जनित सहज व्रण के कारण धातुक्षीणा प्रसूता तथा अन्य रोगों से उत्पन्न व्रण के कारण धातुक्षीण पुरुष के लिए 'वात तथा आतप वर्जित' स्थान में स्वास्थ्य-प्राप्ति तक निवास करना आवश्यक होता है।

जिस प्रकार गर्मी के मौसम में तीव्र वायु के स्पर्श से शरीर के पसीने का शोषण हो जाता है, उसी प्रकार अन्य ऋतुओं में वायु-स्पर्श से शरीर-धातुओं के रजकणों का शोषण होता है। क्षय रोगी के धातुओं को बलवान बनाने की आवश्यकता होती है, अतः वायु के इस शोषण कार्य से उसकी रक्षा जरूरी है। 'आतप' के कारण प्रकाश और ऊष्मा की प्राप्ति होती है और रोगी को आतप से वंचित रखने का कारण यह है कि प्रकाश एवं ऊष्मा से स्रोतसों का विकास होता है और इससे क्षय-रोगी के रक्तवाही-स्रोतसों के विकसित हो जाने से अधिक मात्रा में रक्तस्राव होने की आशंका होती है। अतः आतप भी रोगी के व्रण को भरने तथा शारीरिक धातुओं की बल-वृद्धि करने में बाधक सिद्ध हो सकते हैं। इन दोनों कारणों से क्षतक्षीण व्रणी के निवासस्थान का वात-आतप वर्जित होना आवश्यक है। किन्तु क्षय रोगी के लिए केवल वातवर्जित स्थान जरूरी है, आतप वर्जित स्थान उसके स्रोतसोरोधजनित रोग की ओर भी वृद्धि कर सकता है। अतः राजयक्ष्मा के रोगी का निवासस्थान वातवर्जित किन्तु आतप सहित होना चाहिये।

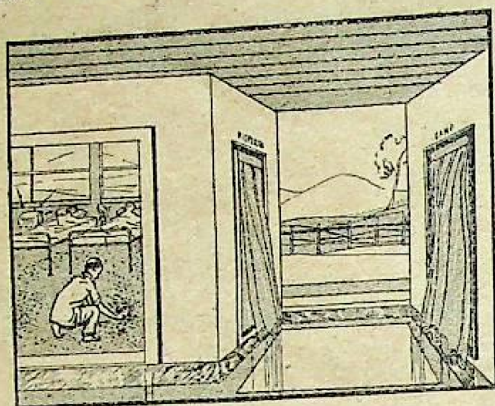
आधुनिक मतानुसार स्वास्थ्यप्रद निवासस्थान की रचना ऐसी होनी चाहिये, जिसमें शयन के लिए प्रतिव्यक्ति ७० से १०० वर्गफीट तक जगह हो। प्राचीन मत का इससे पूर्ण साम्य है। कमरे की लम्बाई आठ हाथ, चौड़ाई



**सेनेटोरियम का निर्माण ऊँची भूमिपर होना चाहिये और दूर में बड़े वृक्षादि रहने चाहिये।**

४-५ हाथ और ऊँचाई ७-८ हाथ होनी चाहिये। इससे ३००० घनफीट शुद्ध वायु प्रतिघण्टा मिल सकता है। इस दृष्टि से आदर्श आयुर्वेदीय सेनेटोरियम की रचना के बारे में यहाँ संक्षेप में बताया जा रहा है।

सेनेटोरियम का निर्माण कम से कम २०-२५ फीट ऊंची भूमि पर होना चाहिये। मुख्य मकान के आसपास २०-२५ फीट की दूरी तक कोई बड़ा वृक्ष नहीं रहना चाहिये। वास्तु-शास्त्र में वर्णित वृक्षों के अतिरिक्त क्षयरोगी के लिए आवश्यक वृक्षादि भी निचले भूभाग में ही रहने चाहिये। बकरियों के रहने का स्थान भी इसी निचले भूभाग में, किन्तु मुख्य मकान के उत्तर या दक्षिण में होना चाहिये। इसके लिए चरकोक्त 'समदेश' की भूमि



**बैठक के आसपास की जमीन पर रेत बिछी रहनी चाहिये और फूलों के गमले रहने चाहिये।**

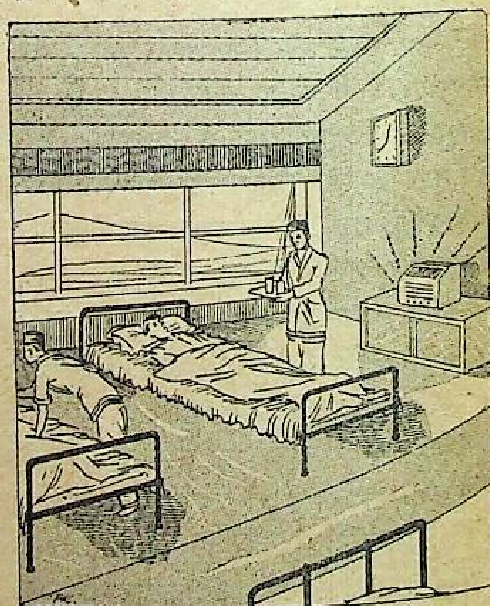
पसंद करनी चाहिये। यथा—'अपहृतास्थिशर्कराकपाले देशं प्रशस्त रूप रस गंधायां भूमौ। गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा'। (चरक सं० ८–७५) **वृक्षादि वर्णन**:—'बिल्वी निम्बक निर्गुण्डी पिण्डितः सप्तपर्णकः। सहकारश्च षड्वृक्षैःसरूढ़ा या समस्थला...गर्गादि सम्मतम्।' **देश वर्णन**:—'संसृष्ट लक्षणो यस्तु देशः साधारणो मतः। समाः साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्णमारुताः। समता तेन दोषाणां तस्मात्साधारणो वरः।'

मकान की बैठक का भाग आसपास की जमीन से ४ फीट की ऊंचाई पर हो और उसके आसपास के २०-२५ फीट समभाग में केवल रेत ही बिछी रहे। इस पर जहाँ-तहाँ सुगन्धित पुष्पों के गमले रहें, जो इसकी शोभा-वृद्धि करने के साथ-साथ अपने पुष्पों की सुगन्ध से मकान के वातावरण को सौरभयुक्त बनाये रहें।

मुख्य मकान का लम्बाई में उत्तर-दक्षिण और चौड़ाई में पूरब-पश्चिम रखना चाहिये। उत्तर और दक्षिण ओर की दीवारों में केवल दो दरवाजे रहने चाहिये, जिससे उत्तर और दक्षिण दोनों ओर की स्वास्थ्यकर और बलवर्द्धक हवा का सरलता एवं अधिकता से मकान में संचार होता रहे। यथा—'मधुरश्चाविदाही च कषायानुरसो-लघुः। दक्षिणो मारुतः श्रेष्ठश्चक्षुष्यो बलवर्द्धनः। रक्तपित्त प्रशमनो न च वातप्रकोपणः।' साथ ही 'उत्तरो-मारुतः स्निग्धो मृदुर्मधुर एव च। कषायानुरसः शीतो दोषाणां चाप्रकोपणाः। तस्माच्च प्रकृतिस्थानां क्लेदनो बलवर्द्धनः। क्षीणक्षयविषार्तानां विशेषेण तु पूजितः।'
—सु० सू० अ० २०

मुख्य मकान के दोनों दरवाजों के बीच में सफेद चमकीले टाइल्स से छः या आठ फ़ीट चौड़े एक मार्ग का निर्माण आवागमन के लिए कराना चाहिये। इस मुख्य मार्ग के दोनों पार्श्व की ८-१० फीट चौड़ी भूमि को समान बनाकर रखा जाये और प्रतिदिन या एक दिन के अन्तर से उस स्थान का लेपन बकरी की लेंड़ी के चूर्ण एवं मूत्रादि से किया जाय। इसी भाग पर रोगी के रहने के कमरे का निर्माण होना चाहिये। मुख्य मार्ग की ओर खुलने वाले केवल एक-एक दरवाजे के बन्द कमरों का इस स्थान पर निर्माण किया जाय, जिसमें एक-एक क्षय रोगी को रखा जाय। इस प्रकार इन कमरों का विस्तार ६३ से ८० वर्गफीट तक होगा। इसके इर्द-गिर्द की चारो दीवारें जमीन से ६॥ फीट की ऊंचाई तक अस्पष्ट कांच की बनी होनी चाहिये तथा कमरे की एक ओर की दीवार ६॥ फीट के ऊपर पारदर्शक कांच की बनी होनी चाहिए। मकान की छत भी कांच की टाइल्स से ढंका होना चाहिये। इससे रोगी को पर्याप्त परिमाण में प्रकाश और ऊष्मांक मिलता रहेगा।

छत के भाग में विविध रंगों के पर्दे की व्यवस्था रहनी

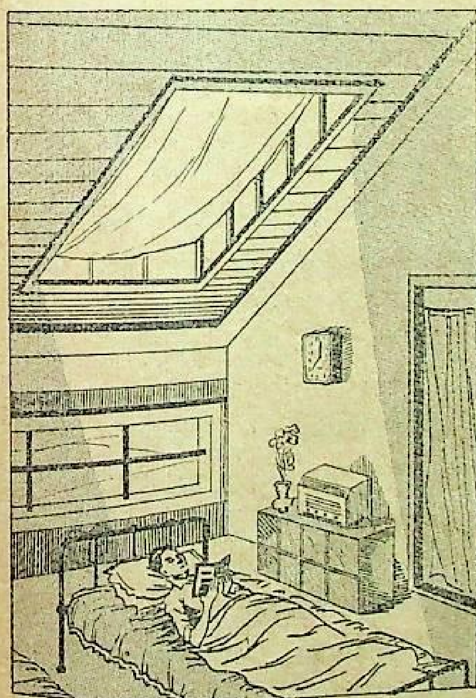


**कमरे की ऊपरी भाग पारदर्शक कांच का बना हों, जिससे पर्याप्त रोशनी मिलती रहे।**

चाहिये और रोगी को, उसके प्रकुपित दोष तथा प्रकृति आदि पर विचार कर, आवश्यक रंग के प्रकाश में प्रतिदिन नग्नावस्था में कुछ देर बिठाना चाहिये। प्रकाश की तीव्रता को कम करने के लिए अन्य गाढ़े सफेद कपड़े के पर्दे की भी व्यवस्था की जाय। सूर्य-स्नान के लिए आवश्यक प्रतीत होने पर रोगी को कुछ देर ५-६ फीट की ऊंचाई पर नग्न लिटाने की भी व्यवस्था की जानी चाहिये।

चारों ओर से बन्द कमरे में शुद्ध वायु के संचार के लिए एक हवादान दोनों किवाड़ों के बीच नीचे के भूभाग से सटाकर बनाया जाय। मुख्य मकान के प्रत्येक कमरे की दीवार में भी छत के समीप एक-एक हवादान बनाया जाना चाहिये। इसके अलावा उत्तर और दक्षिण के दरवाजों के ऊपर छत के समीप दो पंखे इस कारण लगाये जायं कि वायु का वेग स्तंभित रहने पर कमरे के अन्दर की हवा को बाहर फेंका और कमरे में शुद्ध वायु का संचार किया जा सके। इस पंखे की गति को हमेशा मन्थर रखना चाहिये।

क्षयरोगी की खाट को हवादान वाली दीवार से इस तरह सटाकर रखा जाय कि हवादान से आनेवाली हवा के वेग का उसके शरीर से सीधा स्पर्श न हो, वरन हवा पलंग के नीचे से आकर कमरे में फले। बरसात में मेघ



कपड़े के पर्दे से छनकर आनेवाले सूर्यप्रकाश में रोगी को लिटाने का प्रबन्ध जरूरी है।



रोगी के मनोरंजन के लिए रेडियो एवं फूलों के गमले भी रहने चाहिए।

के कारण अन्धकार होने पर या रात्रिकाल में प्रकाश के लिए 'मरकरी लम्प' का उपयोग अच्छा है। सेनेटोरियम के भीतरी भागों तथा कमरों में आनन्ददायक दृश्यों के चित्र भी लटकाये जायं और मनोरंजन के लिए मधुर गान का भी प्रबन्ध रहे। वहां का सम्पूर्ण वातावरण ऐसा हो, जिससे रोगी का मन प्रफुल्लित और उत्साहित रहे। मन प्रसन्न रहने से शुक्रधातु का निर्माण और वृद्धि होती और शुक्रधातु से आनन्द की उत्पत्ति होती है। इस कारण वहां के वातावरण में शुक्रधातु के समान गुणों से युक्त निर्मलता तथा सुगन्ध का प्राचुर्य रहना चाहिये। लेकिन, वहाँ कामोत्तेजक कोई सामग्री नहीं रहनी चाहिये। शुक्र-धातु का किसी कारण से क्षय होने पर रोगी के लिए बड़ा ही अनिष्टकर परिणाम हो सकता है। सुश्रुत संहिता में इसी कारण क्षतक्षीण मनुष्य को समागम करने योग्य स्त्रियों के दर्शन का भी निषेध किया गया है। यथा—
'गम्यानां च स्त्रीणां संदर्शन सम्भाषण संस्पर्शनानि दूरतः परिहरेत्। स्त्री दर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं स्रवेत। ग्राम्य धर्मं कृतान्दोषान् सोऽसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात।
—सु० सु० अ० १९

सेनेटोरियम में कदापि स्त्री-परिचारिका नहीं रखी जाय। बल्कि ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिये कि रोगी को किसी स्त्री का दर्शन ही न हो। रोगी की पत्नी को भी एकांत में या अधिक देर तक रोगी के साथ रहने नहीं दिया जाय। इस प्रकार सभी धातुओं की जननी शुक्र-धातु के साथ अन्यान्य धातुओं के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए स्रोतसोरोध-नाशक और धातुओं के संरक्षक उपायों का अवलम्बन आयुर्वेद की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

# यक्ष्मा-प्रतिरोध के लिए विश्व को आयुर्वेद की देन

श्री मदनगोपाल वैद्य, ए. एम. एस, एम. एल. ए. स्वर्णपदकप्राप्त

यक्ष्मा आज एक सार्वभौम समस्या है। इसके निरोध का उपाय भी विश्व के सभी राष्ट्रों की सरकारें तथा सभी देशों के वैज्ञानिक मिलजुल कर एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन यूनेस्को (Unesco) तथा (Who) हू आदि के निर्णयों के अनुसार करने में प्रयत्नशील हैं। भारत में भी केन्द्रीय व प्रदेशीय सरकारों तथा रेडक्रास आदि कतिपय गैर सरकारी संस्थाओं के सहयोग से करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यद्यपि ये सभी प्रयत्न विज्ञान के नाम पर एक उच्चादर्श से किये जाते हैं, पर इनके व्यावहारिकरूप में व्यापारवृद्धि का अच्छा सम्मिश्रण है। परीक्षण और रोक-थाम के लिए जितने भी उपकरण आवश्यक होते हैं, वे प्रायः सब के सब विदेशों से मँगाये जाते हैं। इस प्रकार पिछड़े हुए देश, विज्ञान वा स्वास्थ्य के नाम पर, उन्नत देशों के बाजार बन गए हैं, जहां उनका माल खप जाता है।



लेखक

स्वास्थ्य तथा चिकित्सा का विषय तद्विद्य (Technical expert) का विषय ह, और भारत सरकार इस सम्बन्ध में तद्विद्य से ही परामर्श लेती है, कोई दूसरा उसमें दखल नहीं दे सकता। सौभाग्य से पाश्चात्य चिकित्सक ही आज तद्विद्य माने जाते हैं। आज भारतीय संस्कृति तथा आयुर्वेद में क्षयनिरोध के जो अनुपम और कम व्यय-साध्य मार्ग हैं, उनका कोई स्थान नहीं है।

इसका मुख्य कारण यही है कि आयुर्वेद में जो कुछ भी है, उसका अंग्रेजी भाषा द्वारा पाश्चात्यों तक पहुँचाने तथा उसका प्रचार करने में हम अबतक असमर्थ रहे हैं।

आयुर्वेदविहित, प्रयोगसिद्ध विधियों के ही उपयोग की बात महर्षि अग्निवेश ने कही है और इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि क्षय-निरोध कार्य में आयुर्वेद सहस्रों वर्ष पूर्व सफल हो चुका है। राजा चन्द्रमा को क्षयरोग से मुक्त करने की कथा प्रायः सभी लोग जानते हैं। नाटककार आनन्दराम माखिन ने विक्रम संवत् से शताब्दियों पूर्व 'जीवानन्द' नामक एक नाटक लिखा था। इस नाटक में क्षय के कारण, निरोध तथा इसकी सफल चिकित्सा का विस्तृत उल्लेख है। इससे सिद्ध है कि विक्रम संवत् से पूर्व आयुर्वेद कितने उच्चशिखर पर था और क्षय का निरोध तथा चिकित्सा कितनी सफलता के साथ की जाती थी।

**ब्रह्मचर्य**

पाश्चात्य विज्ञान में हवा, पानी तथा भोजन, स्वास्थ्य के तीन स्तम्भ माने जाते हैं। परन्तु आयुर्वेद-शास्त्र में **ब्रह्मचर्य, आहार** तथा **निद्रा** (स्वप्न) स्वास्थ्य के ये तीन स्तम्भ माने जाते हैं। अर्थात् स्वास्थ्य के लिए ब्रह्मचर्य तथा निद्रा का भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है, जितना हवा, पानी या आहार का है।

क्षय एक ऐसा रोग है, जिससे मनुष्य का स्वास्थ्य गिरता जाता है और यदि स्वास्थ्य बराबर बढ़ता रहे, तो फिर उसको कभी भी क्षय नहीं हो सकता। अतः आयुर्वेद-विधि से स्वास्थ्य-वर्धक तथा क्षयरोग-नाशक विधियों में 'ब्रह्मचर्य' का प्रमुख स्थान है। कितना भी पोषक आहार-विहार का उपयोग करें और ब्रह्मचर्य का पालन न करें, तो मनुष्य सुखी व स्वस्थ नहीं रह सकता और क्षय रोग का शिकार आसानी से हो सकता है। ब्रह्मचर्य का व्यावहारिक अर्थ वीर्य-संरक्षण है। वीर्य-संरक्षण व संचय से मनुष्य में बल, प्रभाव, ओज की वृद्धि के कारण कोई भी रोग शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता। वीर्य-संरक्षण में अपार शक्ति होती है। ऐसा पुरुष रोगों का शिकार नहीं हो सकता। आप कितना भी पोषक आहार या विटामिन आदि सेवन करें, कोई भी रोग-प्रतिरोध शक्ति बढ़ानेवाली (Immunity) सुई लगवाएं, पर ब्रह्मचर्य की तुलना कोई नहीं कर सकते। थोड़ा भी वीर्य-संचय से जितनी शक्ति आती है, उतनी किसी भी

विटामिन या पोषक-आहार से नहीं आ सकती। वीर्य-क्षय से जितना बल का नाश होता है, उतना रक्त-स्राव से या अन्यान्य विधियों से नहीं होता। अतः वीर्य की रक्षा व संचय करना स्वास्थ्य व क्षय-निरोध के लिये अनिवार्य विधि है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को वीर्य-संरक्षण के प्रभाव को समझ कर वीर्य-रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। विवाहित होने पर भी कम से कम मैथुन करना चाहिए।

क्षय के शतप्रतिशत रोगियों में वीर्यनाश, वीर्य-स्राव, मैथुनेच्छा आदि का इतिहास मिलता है। क्षय के पूर्व भी वीर्यनाश, वीर्य-विकार, स्वप्नदोष, उग्रमैथुनेच्छा की प्रवृत्ति होती है। आज के वातावरण में सिनेमा, उपन्यास, रहन-सहन, अश्लील विज्ञापन आदि सब में ब्रह्मचर्य-नाशक प्रवृत्ति मिलती है। सम्पूर्ण शिक्षा-विभाग तथा पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान में ब्रह्मचर्य का कोई महत्व नहीं है। आज के समाज व शिक्षा-प्रणाली में यह सब से बड़ा दोष है। एक समय था जब विद्यार्थी तथा ब्रह्मचारी एक प्रकार से पर्याय थे, परन्तु आज के विद्यार्थी-वर्ग में ब्रह्मचर्य की गन्ध भी नहीं रह गई है।

प्राचीन काल में ब्रह्मचारी-विद्यार्थी पूर्ण स्वस्थ व बलवान् होते थे। उनको स्वास्थ्य के लिए चिकित्सक से परिक्षा नहीं करानी पड़ती थी। ये विद्यार्थी भविष्य में भी आरोग्य रहा करते थे। जिस विद्यार्थी का १०-१५ वर्ष तक एक नियमित जीवन होता था, जो ब्रह्मचर्य धारण करता था, वह भला रोगी कैसे हो सकता था? ब्राह्म-मुहूर्त में उठने वाले ब्रह्मचारी-विद्यार्थी तथा सूर्योदय के बाद बाद उठनेवाले अब्रह्मचारी-विद्यार्थी के स्वास्थ्य तथा बल में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। अतः व्यक्ति तथा समाज व देश को नीरोग तथा बलवान बनाने के लिए, क्षय रोग तथा रोग मात्र का समूल नाश करने के लिए ब्रह्मचर्य-धारण-वीर्य-संरक्षण की अनिवार्य आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य-धारण से ही नैसर्गिक स्वास्थ्य संभव है। इसलिए क्षय रोग निरोध के लिए ब्रह्मचर्य अमोघ-अस्त्र है।

अब प्रश्न है कि ब्रह्मचर्य को कैसे धारण किया जाय, जब कि आज का वातावरण इसके प्रतिकूल है? जरा भी पोषक भोजन करने लगे, तो स्वास्थ्य कुछ ठीक हुआ, पर कामेच्छा सताने लगी अथवा स्वप्नदोष होने लगा। इस तरह जो जितना ही कमजोर तथा रुग्ण है, उसके लिए ब्रह्मचर्य धारण करना उतना ही कठिन है। इस कठिनाई का भी ऋषियों ने निराकरण किया और इसका भी व्यावहारिक उपाय बताया। यह उपाय है प्राणायाम!

## प्राणायाम

शुद्धवायु मानव जीवन के लिये अनिवार्य है। नैसर्गिक-रूप से हम हर समय वायु को ग्रहण करते तथा शरीर के अन्दर की अशुद्ध वायु को बाहर निकाला करते हैं। स्वास्थ्य के लिए यह वायु न अत्यधिक उष्ण होनी चाहिए न शीत। इसमें दुर्गन्धि भी न होनी चाहिए तथा इसमें धूल-धूम्र आदि का मिश्रण भी न होना चाहिए। इस वायु की क्रिया में इतनी करामात है, जिसे समझ कर दंग रह जाना होता है। यह प्राणवायु काले को लाल बनाती है--अर्थात् अशुद्ध रक्त को शुद्ध करती है। शरीर में ताप का भी नियन्त्रण करती है। वाह्य वायु के नियन्त्रण और विशुद्धीकरण के अनेक उपायों तथा उपकरणों का वर्णन पाश्चात्य विज्ञान में है। परन्तु जो वायु साक्षात् हमारे शरीर में प्रवेश करती है, जिससे शरीर में जीवन उत्पन्न होता है, उसके नियन्त्रण तथा उस वायु के गुणोत्कर्ष की विधि का वर्णन अगर किसी ने बताया है, तो वह है भारत देश।

क्षय-निरोध में ताजी हवा की बड़ी महिमा है। स्वास्थ्य-रक्षा में भी ताजी हवा की बड़ी महत्ता है। परन्तु विज्ञान की प्रगति यहीं रुक गई। इसके आगे न गई। ऋषियों का यह सन्देश उन्होंने ग्रहण न किया। श्वास-प्रश्वास की क्रिया में ताजी हवा को संस्कार-द्वारा गुणाधान करके स्वास्थ्य, आरोग्य-बल तथा आयुष्य बढ़ाने की विधि को '**प्राणायाम**' कहते हैं। अथवा शब्दार्थ के अनुसार प्राणपोषक प्राणवायु के आयाम-व्यायाम को प्राणायाम कहते हैं।

नैसर्गिक श्वास-क्रिया में शुद्धवायु फुफ्फुस में पहुँचती है और वहां हृदय से आये हुए अशुद्ध रक्त से इसका सम्पर्क होता है। फेफड़े में अशुद्ध नीलवर्ण रक्त शुद्ध वायु को आक्सीजन को ग्रहण करके विकृति विषमसमवाय-क्रिया से लाल वर्ण का शुद्ध रक्त बन जाता है। अशुद्ध रक्त, कार्बनगैस तथा अन्य मल इस शुद्ध रक्त से पृथक होकर

आॅक्सीजन विहीन अन्तःश्वसितवायु में मिल जाती है और वहिर्निःश्वास के साथ अशुद्ध वायु के रूप में दिखाई देती है। इस प्रकार से फुफ्फुस में इस क्रिया द्वारा निसर्ग में—

(१) रक्त शुद्ध होता है—(अ) रक्त आक्सीजन ग्रहण करके नील से लाल वर्ण हो जाता है। (व) अशुद्ध रक्त स्थित कार्बन तथा अन्य मल पृथक् हो जाते हैं।

(२) रक्त में ताप की नियामन-क्रिया होने से नियमित ताप रहता है।

(३) प्राणायाम से शुद्ध रक्त में गति उत्पन्न होती है, जिससे शुद्ध रक्त सारे शरीर में फैलता है।

निसर्ग में यह क्रिया प्रति मिनट १८ बार होती है, परन्तु इस व्यायाम के द्वारा एक बार में अधिक मात्रा में शुद्ध हवा भेजी जा सकती है। स्वभावतः श्वास लेने में जितनी हवा भीतर जाती है, प्राणायाम में उससे अधिक हवा खींची जाती है तथा उसे अधिक समय तक रोक कर भीतर में रक्त-शुद्धि-कार्य अति वेग से कराया जाता है। इस क्रिया से रक्त की पूर्ण शुद्धि होने के साथ-साथ मल का भी पूर्ण निर्हंण होता है और शुद्ध रक्त का, आगे का प्रभाव भी तेजी से और अधिक मात्रा में होने लगता है, जिससे शिर तथा सम्पूर्ण शरीर को अधिक शुद्ध रक्त तेजी के साथ मिलता है और सब अंगों का प्रचुर पोषण होता है।

प्राणायाम द्वारा शरीर के प्रत्येक अवयव में सफाई व रक्तसंचार हो जाता है। जैसे नाली से पानी हर समय बहता रहता है, पर सफाई करने से पानी बहने के साथ-साथ मल भी निकल जाता है, वैसे ही प्राणवायु से रक्त तो शुद्ध होता ही है, पर सब रक्तवाहिनियों की सफाई भी हो जाती है। उनका मल निकल जाता है और शुद्ध रक्त वेग से अधिक मात्रा में सर्वत्र पहुँच जाता है। इस प्रकार प्राणायाम से संक्षेप में निम्न कार्य होते हैं—

(१) रक्त-शुद्धि (आक्सीजन का ग्रहण)

(२) मलनिर्हंण (कार्बन तथा अन्य मल का निष्कासन)।

(३) शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में तेजी से सब अंगों में पहुँचना।

(४) ताप-नियन्त्रण (शरीर में गरमी उत्पन्न करना),

(५) श्वास तथा रक्त-परिभ्रमण-गति में परिवर्तन।

इन कार्यों का परिणाम यह होता है कि शरीर व रक्त की पूर्ण शुद्धि होने से अपेक्षाकृत शरीर का अधिक पोषण होता है और रोग-प्रतिरोधक शक्ति में वृद्धि होती है। प्राणवायु का अधिक संचार होने से दीर्घायुष्य में वृद्धि होती और आरोग्य लाभ होता है तथा अंगों की पुष्टि और बुद्धि की वृद्धि होती है। आत्मा, मन तथा नाड़ीमण्डल पर सात्विक प्रभाव पड़ता है। अन्य व्यायामों से तामसिक बृत्ति बढ़ती है, पर प्राणायाम से सात्विक वृत्ति बढ़ती है, जिससे मन-बुद्धि पर भी सात्विक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार प्राणायाम द्वारा अपूर्व स्वास्थ्य-लाभ करके क्षय रोग का पूर्ण उन्मूलन किया जा सकता है।

## आहार

आहार भी स्वास्थ्य के तीन स्तम्भों में से एक है। मनः प्रिय पोषक आहार का प्रभाव शरीर पर बड़ा अच्छा होता है। क्षय-प्रतिषेध तथा चिकित्सा में लघु, सुपच,स्वादिष्ट और सुगन्धित भोजन का विशेष स्थान है। भारतमें दरिद्रता के कारण भी लोग को उचित मात्रा में पोषक भोजन न मिलने से रोग का शिकार हो जाना पड़ता है। आहार से ही सन्तर्पण होता है और तृप्ति होने से आरोग्य व वल-वृद्धि होती है। प्राच्य-पाश्चात्य विज्ञान में क्षयरोगियों के आहार पर बहुत ध्यान दिया जाता है। पोषक आहार मिलने से रोगी का वजन बढ़ने लगता है और रोग-वृद्धि रुक जाती है। इसी प्रकार रोग-प्रवृत्त का भी भय नहीं रहता।

इष्टगन्ध, वर्ण, स्वादु तथा रुचिकर लघु भोजन से शरीर का अधिकतम पोषण होता है। अन्न, घृत, दुग्ध, मांसरस, नाना प्रकार के पेय पदार्थ, मद्य, आसव, फल, शाक, शक्कर, लवण, मसाले तथा ऋतु व प्रकृति के अनुकूल भोजन करने से तथा आहार के अन्य नियमों का पालन करने से शरीर का अधिकतम पोषण होता है। आजकल नाना प्रकार के संसिद्धि व संस्कारित खाद्य बाजारों में मिलते हैं और घरों में भी बनाये जाते हैं, जो स्वास्थ्य को अति लाभ पहुँचाते हैं। इन का पुस्तकों में अतिविशद वर्णन है, विशेषतः आयुर्वेद में ऋतु व प्रकृति के अनुकूल भोजनों का विशद वर्णन है जैसा कि पाश्चात्य शास्त्रों में नहीं है।




क्षय के लिए अत्युत्तम उपयोगी पोषक आहार का एक उदाहरण है "घृतं खर्जूर मृद्वीका शर्करा क्षौद्र संयुतम्। सपिप्पलीकं।" पिप्पली के स्थान में वंशलोचन का भी प्रयोग किया जा सकता है। क्षय-प्रकरण के शास्त्रों में अन्न, मांस आदि का बहुत विशद व लाभकारी विवेचन है, जिसका यहाँ वर्णन करना संभव नहीं है। यहाँ केवल इतना ही प्रतिपादन करना अभीष्ट है कि क्षय-निरोध के लिए सन्तर्पक लघु, पोषक, स्वादिष्ट, मनोनुकूल भोजन की अनिवार्य आवश्यकता है, जिसका उपयोग ऋतु व प्रकृति तथा देश व जलवायु के अनुकूल होना चाहिए।

## विहार

मनुष्य के रहन-सहन का स्वास्थ्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्वस्थवृत्त में प्रतिपादित दिनचर्या, रात्रि-चर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त, व्यायाम, स्नान, अभ्यङ्ग आदि कार्यों को नियमित रूप से करना चाहिए, जिससे शरीर का सन्तर्पण व पोषण हो। आजकल प्राकृतिक चिकित्सा में अभ्यङ्ग प्रक्रिया का अच्छा विकास हुआ है। आयुर्वेद में भी इसका विशद विवेचन है, पर ये क्रियाएँ अब व्यवहार में लोप-सी हो गई है। इन सब प्रक्रियाओं को पुनरुज्जीवित करना है। इन सभी क्रियाओं का प्रयोग चिकित्सालयों वा आरोग्याश्रमों में ही हो सकता है।

विहारों के अन्तर्गत स्वप्न (निद्रा) का भी विशेष महत्त्व है। निद्रा के द्वारा शरीर का जितना पोषण व तृप्ति होती है, अन्य उपायों से उतनी नहीं होती। इसी कारण आयुर्वेद में निद्रा को स्वास्थ्य के तीन स्तम्भों में से एक स्तम्भ माना गया है। आयुर्वेद में तो यहाँ तक कहा गया है कि सुख-दुख, आरोग्य-रोग, जीवन-मरण, ये सब निद्रा के अधीन हैं। (निद्रायत्तं सुखं दुःखं जीवनं मरणं तथा) अर्थात् आरोग्यधारण में निद्रा का विशेष महत्त्व है। साधारण मनुष्य को ६ से ८ घण्टे की निद्रा लेनी चाहिए। रोगावस्था में निद्राकाल को बढ़ा देना चाहिए। निद्रा के समय ही रोगी को पूर्ण विश्राम मिलता है और विश्राम से रोगी का अधिकतम हित होता है। अतः रोग-प्रतिषेध के लिये उचित निद्रा की व्यवस्था होनी चाहिए। आजकल प्रायः रात्रि जागरण अधिक होता है। व्यवसाय सिनेमा, मैथुन आदि कार्यों में मनुष्य रात्रि में देर तक जागता है। ऐसी व्यवस्था अब समाज में स्थापित हो चुकी है तथा प्रातः काल में देरतक सोने की भी परिपाटी चल पड़ी है। यह परम्परा अच्छी नहीं है। ब्राह्ममुहुर्त्त में जागने से तथा रात्रि में जल्दी सो जाने से अपेक्षाकृत स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता है। अतः आरोग्य लाभ के लिए उचित निद्रा का सेवन करना चाहिए।

## मन व इन्द्रियों की प्रसन्नता

स्वास्थ्य स्थिर रखने के लिए मन व इन्द्रियों की प्रसन्नता अत्यन्त अनिवार्य है। रोग-प्रतिषेध के लिए मन व इन्द्रियों को हर प्रकार से प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। मन, मस्तिष्क, बुद्धि, हृदय तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता का स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव पड़ता है और जिनका मन प्रसन्न रहता है, उन्हें रोग कभी नहीं हो सकता। इसके लिए भय व चिन्ता का पूर्ण परित्याग करना चाहिये।

**कर्ण**--कर्णप्रिय संगीत व वाद्य से कानों की तृप्ति करनी चाहिए।

**त्वचा**—सुगन्धित लेप, उवटन, जीवनीयगण के द्रव्यों द्वारा सिद्ध जल से स्नान, स्वच्छ-सुगन्धित वस्त्र व आभूषण के धारण, अभ्यङ्ग, प्रमदा स्पर्श, ऋतु के अनुकूल जल व वायु की व्यवस्था से स्पर्शनेन्द्रिय की तृप्ति होती है।

**नेत्र**—चक्षुरिन्द्रीय की रमणीय पदार्थों तथा प्रमदाओं के दर्शन से तथा प्रियजन व मित्रों के दर्शन तथा छोटे बालकों के देखने से तृप्ति होती है।

**रस या स्वादु**—इष्ट-प्रिय खाद्यपदार्थों के मनोनुकूल विधि से बने और अपनी रुचि के अनुकूल स्वादुवाले पदार्थों के सेवन से पूर्ण तृप्ति व आरोग्य प्राप्ति होती है।

**गन्ध**—मनःप्रिय गन्ध से भी मन प्रसन्न व स्वस्थ होता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के सन्तर्पक कार्यों से भी स्वास्थ्य लाभ होता है। हाथ-पैर, पायु, उदस्थ, मुख, इनका सम्यक् उपयोग करने से आरोग्य लाभ होता है।

जो कारण या परिस्थितियाँ क्षय रोग की प्रवृत्ति में सहायक हों, उनका परित्याग करना चाहिए। मल-मूत्र, वीर्य, अपानवायु, वमन, छींक, उद्गार, जृम्भा निद्रा, निःश्वास, तथा क्षुत्पिपासा इनके वेग को रोकना नहीं चाहिए शरीर की शक्ति के बाहर कोई बल का कार्य नहीं करना

चाहिए। आहार-विहार में हमेशा सतर्क रहना चाहिए। स्वस्थ मनुष्य को क्षय रोगी तथा उसके मल-मूत्रादि के सम्पर्क से बचना चाहिए। इसके लिए क्षयरोगियों का पृथक् निवास की व्यवस्था होनी चाहिये। क्षय रोगी को समाज से पृथक् रहने की व्यवस्था होने से रोग-प्रसार का भय नहीं रहता। इसी प्रसंग में यह भी कहना उपयुक्त होगा कि क्षयग्रस्त रोगियों को सन्तानोत्पादन या विवाह की अनुमति नहीं होनी चाहिये। यदि विवाहित हों, तो उन्हें वीर्यवाहिनी शिरा का शल्यकर्म करके सन्तानोत्पादन के अयोग्य कर देना चाहिए। जब रोगी खाँसता या थूकता रहे, तो उसके सम्मुख नहीं रहना चाहिए। थूक आदि के निक्षेप की उचित व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे रोग का प्रसार न हो। रोगी के कफ व थूक के यत्र-तत्र पड़े रहने से रोग का निरन्तर प्रसार होता रहता है। अतः रोगी के थूक व कफ का नियन्त्रण होना चाहिए।

### बी० सी० जी० का जाल

प्रतिषेधक विधियों में आजकल बी० सी० जी० का बड़ा बोलबाला है। आज विज्ञान के नामपर कोई भी कार्य कर डाले, उस पर कोई सन्देह नहीं करता। बी० सी० जी० के सम्बन्ध में सब वैज्ञानिक एकमत नहीं हैं। परन्तु विदेशियों की स्वार्थमूलक व्यावसायिक वृद्धि के शिकार इसकी महिमा का गान करते नहीं अघाते। भारत जैसे दरिद्र देश में भी बी० सी० जी० का प्रयोग उसका प्रभाव जानने के लिए किया जा रहा है। बी० सी० जी० के सम्बन्ध में एक प्राथमिक वैज्ञानिक डा० ओमरा की सम्मति इस सम्बन्ध में उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा––

"Preventive Inoculation by means of Calmett's B. C. G. vaccine has given encouraging results in France and other Countries, but although there have been one or two tragedies and its effectiveness is not universally accepted' it seems ,likely that more research may produce a really valuable and harmless immunizing vaccine."
O' Meara's Medical Guide.

इस प्रकार वैज्ञानिक लोग अन्धकार में टटोल रहे हैं और लाखों रुपया भारत का इस पर व्यय हो रहा है, जबकि इसका प्रभाव निश्चित नहीं है। यह है विदेशियों व वैज्ञानिकों का जाल, जिसमें भारत फँसा हुआ है।

### मण्टो-प्रणाली द्वारा चर्म-परीक्षा

त्वचा में ट्यूबरकुलीन का इंजेक्शन लगाकर यह परीक्षा की जाती है। इस परीक्षा से यह पता लगता है कि अमुक व्यक्ति क्षयग्रस्त हो चुका है। इस परीक्षा में यदि पुरुष रोगग्रस्त होता है तो जहाँ पर बाहु में टीका लगता है, वहाँ पर चर्म में उत्सेध रक्तवर्ण का उभरा हुआ चर्म हो जाता है। इससे प्रतीत होता है कि व्यक्ति में रोग के जीवाणु सक्रियरूप में प्रविष्ट हो चुके हैं। इस परीक्षा का एक दूसरा परिणाम भी है। इस परीक्षा में टी० बी० के जहर का टीका लगाने पर भी अगर कोई असर न हो, तो इसका दूसरा अर्थ यह भी लगाया जाता है कि इस व्यक्ति में टी० बी०की प्रतिरोध-शक्ति नहीं हैं और यह समझा जाता है कि ऐसा व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा जरूर रोगग्रस्त हो सकता है, अतः उसे टी० बी० रोगी के सम्पर्क से पृथक् रहना चाहिए। इस प्रकार इस वैज्ञानिक परीक्षा का प्रथम परिणाम भी सन्दिग्ध हो जाता है, क्योंकि ट्यूबरकुलीन के टीका लगाने पर, हर मनुष्य में जो स्वस्थ तथा सबल होगा, जरूर इसकी प्रतिक्रिया होती है। अतः यह परीक्षा भी निष्फल प्रायः है।

प्रतिषेध के सम्बन्ध में आजकल पुस्तकों में एक अति व्ययसाध्य परीक्षा का वर्णन किया जाता है। इस परीक्षा का नाम Miniature Mass Radiography है। इसमें सड़कों पर जनता के फोटो लेने की व्यवस्था होती है। कहा जाता है कि इस परीक्षा द्वारा ज्योंही रोगारम्भ होता है, इससे पता चल जाता है। अन्य कोई परीक्षा पाश्चात्य विधि में नहीं है, जिससे रोगी की साध्यावस्था में उसका पता चल सके। इस विधि का लाभ यह है कि साध्यावस्था में ही रोग का पता चल जाता है और रोगी अपेक्षाकृत थोड़े व्यय में अपने घर पर ही २-३ मास के विश्राम व चिकित्सा व पथ्य से अच्छा हो जाता है। एक दिन में अच्छी सड़क पर इस विधि से ३००-४०० रोगियों या व्यक्तियों की परीक्षा हो सकती है। अभी इस यन्त्र का भारत में प्रचार नहीं हुआ है, अतः इसके विषय में कोई सम्मति नहीं दी जा सकती और न इसके विरोध में ही किसी ने अभी तक सम्मति दी है, जिस प्रकार से बी० सी० जी० का विरोध में कई वैज्ञानिकों ने इसके विरोध में सम्मति दी है।

# सेनेटोरियम

कविराज शिवशरण वर्मा, भिषगाचार्य धन्वन्तरि

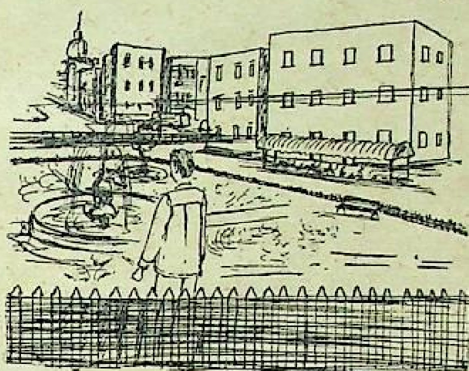
एक विशेषज्ञ का कथन है—"सेनेटोरियम अस्पताल नहीं है, अपितु यक्ष्मा-रोगियों के लिए स्वास्थ्य-विज्ञान का एक शिक्षालय है। रोगमुक्ति ईश्वराधीन तथा रोगी के संयमी जीवन पर निर्भर है।"

राजयक्ष्मा एक अत्यन्त छूत वाला रोग है। इसकी छूत जब किसी घर में घुस जाती है, तो वर्षों उस घर के लोग इस दूषित व्याधि से ग्रस्त होते रहते हैं। ऐसे बीमारों को पृथक रखने के लिए तथा उनकी स्वास्थ्योन्नति के लिए पर्वतों, झीलों, जंगलों, समुद्रों, नदियों, खुले मदानों, बाग़ों, खुले खेतों तथा उद्यानों में निवास-स्थान बनाए



लेखक

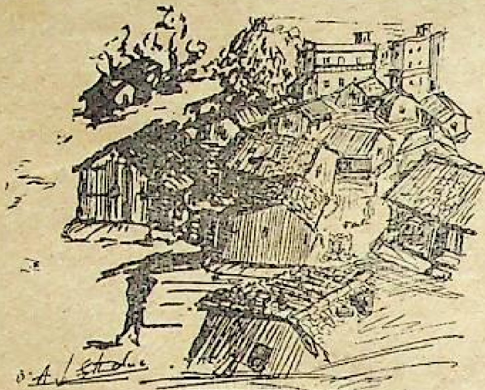
जाते हैं, ताकि उन्हें आबादी से दूर रखा जा सके। ऐसे स्थानों को अंग्रेजी भाषा में सेनेटोरियम कहा जाता है। हम उन्हें 'स्वास्थ्य-गृह' के नाम से पुकारेंगे। यूरोप में आपको सहस्रों सेनेटोरियम ऐसे भी मिलेंगे, जो सर्वसाधारण जनता की स्वास्थ्योन्नति के लिये प्रयुक्त किए जाते हैं। वहाँ पर लोग अवकाश के दिनों में प्रविष्ट होकर स्वास्थ्य-नियमों व प्राकृत-चिकित्सा का पूर्णतया पालन करते हैं तथा अपने स्वास्थ्य को उन्नत करते हैं। हम में और पश्चिमीय देशों के लोगों में केवल यही फरक है कि हम तो अपने शरीर की देखरेख की ओर तब ध्यान देते हैं, जब हम वास्तविक रूप से रोगी बनकर खटिया पर पड़ जाते हैं। पर वे लोग स्वस्थावस्था में ही अपने शरीर को रोगों से सुरक्षित रखने का यत्न करते हैं।



**सेनेटोरियम का निर्माण आबादी से दूर स्वास्थ्यकर स्थान में होना चाहिये।**

पेरिस के एक यक्ष्मा-विशेषज्ञ का कथन है कि खुले स्थानों पर बने मकानों की अपेक्षा घनी आबादी में रहने से दस गुनी मौतें अधिक होती हैं। अतः यह कहना ठीक होगा कि खुला साफ मकान कुटुम्ब के लिये वास्तव में एक सेनेटोरियम ही बना रहता है। भारत के मकान प्रायः स्वास्थ्य-नियमों के अनुकूल नहीं बनाए जाते। मैं तो यह कहूँगा कि भारत में जो पाँच लाख मौतें प्रतिवर्ष टी० बी० से हो जाती हैं, उनकी अधिकता का एक विशेष-कारण यहाँ के मकानों का स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों को उल्लंघन करके बनाया जाना भी है। यद्यपि ग्राम-सुधार तथा पाँच साला योजना के अन्तर्गत बढ़िया स्वास्थ्य-वर्धक मकानों के नमूने भारत-सरकार ने प्रदर्शनियों में दिखाए हैं, पर तो भी ग्रामों व कस्बों में आप को लाखों मकान ऐसे मिलेंगे, जो गंदे, सीले, छोटे, प्रकाश-विहीन, तंग और घच-पच से हैं और वहाँ यदि जाकर उन मकानों में रहने वालों के स्वास्थ्य का निरीक्षण किया जाय, तो बहुसंख्या ऐसे लोगों की मिलेगी, जो राजयक्ष्मा से पीड़ित हैं।

अतः देश को राजयक्ष्मा से सुरक्षित रखने और रोगियों की चिकित्सा के लिये वैद्य समुदाय को इन बातों का विशेष



घनी आबादी और मकानों की अस्वास्थ्यकर बनावट भी यक्ष्मा-प्रसार में सहायक होती है।

ध्यान रखना होगा--(१) जनता के मकान स्वास्थ्य-नियमों के अनुसार बनवाए जायें और (२) स्थान-स्थान पर सेनेटोरियम (स्वास्थ्य-गृह) स्थापित किए जायें।

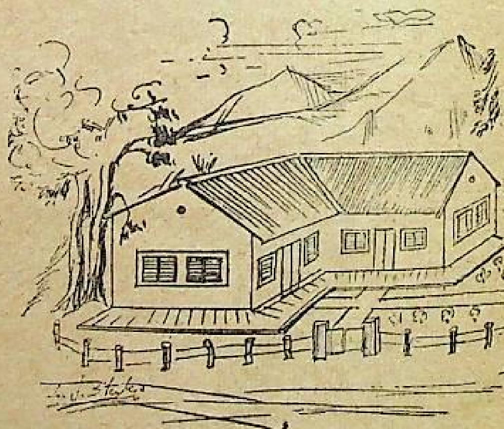
रामकृष्ण मिशन सेनेटोरियम, डुमरी में भाषण देते हुए १० नवम्बर १९५३ को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने इस विषय को और भी स्पष्ट कर दिया था। उन्होंने कहा--"यक्ष्मा रोगियों की चिकित्सा के लिए अधिक-से अधिक केन्द्रों के स्थापित करने की जरूरत है, क्योंकि भारतवर्ष में राजयक्ष्मा का प्रसार बहुत ही अधिक है।"

भारत-सरकार का विचार है कि प्रत्येक वर्ष ३००० यक्ष्मारोगियों के इलाज के लिये शय्या का प्रबन्ध वृद्धिक्रम से जारी रहे। अस्पतालों की अपेक्षा क्लिनिक्स पर कम व्यय होता है। अतः क्लिनिक्स अधिक खोले जायेंगे। यक्ष्मा-प्रभावित व्यक्तियों के लिए पृथक निवास-ग्राम स्थापित किए जायेंगे, जैसा कि अन्य देशों में रिवाज है। पटियाला में अभी एक अस्पताल खोला गया है, जिसके साथ ५० शय्या का प्रबन्ध आयुर्वेद-वार्ड के लिये भी होगा।

## आयुर्वेदिक सेनेटोरियमों की कमी

भारत में इस समय ६० से कुछ ऊपर ही सेनेटोरियम हैं, पर वे सब डाक्टरी चिकित्सा के अनुसार ही कार्य करने-वाले हैं। किसी स्वास्थ्य-गृह में आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सा का प्रबन्ध नहीं है। मैंने जब अपनी पुस्तक 'फेफड़ों की परीक्षा' रोग व चिकित्सा, लिखने का संकल्प किया तो उस समय मैंने भारत के सारे प्रसिद्ध आयुर्वेद-हितैषियों, आयुर्वेदीय संस्थाओं व सरकार से पत्र-व्यवहार करके यह जानने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान में कितने ऐसे सेनेटोरियम हैं, जहाँ पर आयुर्वेद-पद्धति के अनुसार यक्ष्मा-रोगियों की चिकित्सा का प्रबन्ध है? पर मुझे जो भी उत्तर प्राप्त हुए, उन से मैं इसी नतीजे पर पहुँचा कि आयुर्वेदिक उत्थान के लिये तथा आयुर्वेद मतानुसार चलनेवाले सेनेटोरियम नहीं के तुल्य हैं। मैंने उक्त पुस्तक में, ऐसे सब पत्रों को देकर, शासन तथा जनता से यह अपील की है कि वास्तविक रूप से आयुर्वेदोत्थान के लिये अधिक से अधिक आयुर्वेदिक सेनेटोरियम हमें खोलने चाहिये। यद्यपि आल इंडिया आयुर्वेदिक कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर सरकार का ध्यान इधर खींचने की कोशिश की है, तथापि केवल प्रस्ताव पास करने मात्र से काम नहीं चल सकेगा। वैद्यों को राजयक्ष्मा-विशेषज्ञ बनकर जनता व सरकार को आयुर्वेद के गुणों के चमत्कार दिखलाना होगा। भारत में सभी प्रसिद्ध आयुर्वेदिक कालेजों व अस्पतालों में राजयक्ष्मा रोग की चिकित्सा के लिये आयुर्वेद-प्रद्धति के अनुसार विशेष प्रबन्ध होना चाहिए।

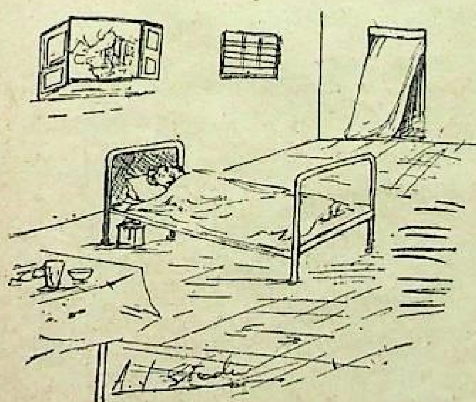
**गढ़रवल का आयुर्वेदिक सेनेटोरियम**--इसके सम्बन्ध में जानने की बहुत कोशिश की पर कोई उत्तर न मिला। श्री स्वामी आनन्दगिरि शास्त्री ने यही सूचना दी कि पिछले वर्ष उसमें केवल दो रोगी प्रविष्ट हुए। उन्हें कोई सुयोग्य वैद्य नहीं मिला।



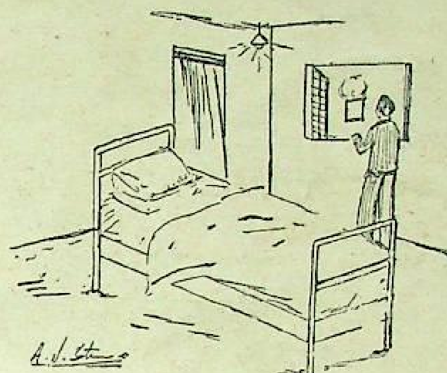
वृक्षों से दूर खुले स्थान में निर्मित स्वास्थ्यगृह ही उपयुक्त होते हैं।

**यक्ष्मीग्राम व निवास-क्षेत्र**––उत्तर-प्रदेश सरकार के ध्यान में एक योजना है, जो यक्ष्मा से मुक्त हुए स्वस्थ रोगियों को बसाने व काम पर लगाने के संबंध में है। इस योजना की रचना उत्तर-प्रदेश के यक्ष्मानिरोध-संघ ने की है और यह इंगलैण्ड के पेपवर्थ व प्रेस्टनहाल सेटलमेन्ट्स के आधार पर है। ग्राम-निवास-क्षेत्र फैजाबाद के निकट स्थित होंगे। वहाँ टी० बी० सेनेटोरियम स्थापित किये जायेंगे। सेनेटोरियम के निकट टी० बी० से मुक्त व्यक्तियों के दैनिक निर्वाह के लिये निम्न कार्य उत्साहित किए जायेंगे––

डेयरी, मुर्गी पालना, भेड़-बकरियाँ पालना, पीपल वृक्ष व केला की खेती, साबुन-निर्माण, प्लास्टिक व रबर के खिलौने बनाना, तेल व आईने बनाना, फोटोग्राफी व ड्राइंग आदि। इन कार्यों के लिये रुपये की जरूरत होगी, जिसका प्रबन्ध शासन की ओर से किया जायगा। कठिन काम मशीन के द्वारा किए जायंगे। ऐसा ही एक केन्द्र शहरियों के लिए लखनऊ के निकट होगा और वहाँ पर जिल्दसाजी, सिलाई, सूत कातना, कपड़ा बुनना, चित्रकारी, थैले व बेग बनाना, चमड़े का काम व बढ़ई का काम वे कर सकेंगे। इस पर लगभग १६६०००) रुपया खर्च होगा। सेनेटोरियम के सभी मैनेजरों व अधिकारियों को आदेश दिया जा रहा है कि वे अपने-अपने केन्द्र से स्वस्थ हुए व्यक्तियों को प्रमाणपत्र प्रदान करें कि वे टी० बी० से पूर्णतया स्वस्थ हो चुके हैं और यह भी लिखें कि वे किस प्रकार का काम कर सकते हैं।



लाल बैज का रोगी पूर्ण विश्राम कर रहा है।



पीला बैज का रोगी कमरे के भीतर तक ही चल सकता है।

**यक्ष्मारोगी-पत्र**––राजयक्ष्मा से पीड़ित रोगी के संबंध में पहले चिकित्सक को निम्न बातों का पूर्ण ब्योरा सेनेटोरियम के प्रधान चिकित्सक के नाम भेजना चाहिये––रोगी का नाम, पिता या पति का नाम, आयु, व्यवसाय, लिङ्ग व जाति, घर का पता, परीक्षा-तिथि, (परिणाम) वजन और शक्ति का ह्रास, ज्वर, खाँसी, थूक, रक्त-मिश्रित थूक, पुराने दस्त, साँस फूलना, वक्ष-पीड़ा, ज्वर की खराबी, रात का पसीना, भूख की कमी, बदहजमी, कै, शारीरिक चिन्ह, एक्स-रे का परिणाम, मूत्र-परीक्षा-परिणाम।

**सेनेटोरियम में प्रविष्ट होने के नियमादि**––प्रत्येक सेनेटोरियम के नियमादि प्रायः मुद्रित मिल सकते हैं। यदि किसी रोगी को वहाँ प्रवेश होना अभीष्ट हो, तो उनसे पत्र-व्यवहार करके पहले फैसला कर लेना चाहिये। सभी सेनेटोरियमों में प्रायः इन बातों का प्रबन्ध होता है––निवास-स्थान, औषधालय, चिकित्सालय, अनुसन्धानशाला, निदानशाला, ऐक्स-रे, बगीचा, सैरगाह, वाचनालय, शस्त्र-क्रिया-भवन, कृत्रिम वायु भरने का प्रबन्ध (ए० पी० क्रिया), फल-दूध-भोजनादि की दूकान।

**रोगी का सामान**––किंग एडवर्ड सेनेटोरियम धर्मपुरा (शिमला हिल्स) में रोगी की आवश्यक वस्तुओं का ब्योरा कुछ इस प्रकार से हैं, जो उसे अपने साथ घर से लाना चाहिये––ग्रीष्म ऋतु के लिये––खेसी १, शिरहाना १, बिस्तर, चादर सफेद ४, शिरहाना गिलाफ ४, कम्बल २, दरी ७, चटाई १; (पहनने के वस्त्र) अण्डरवियर ऊनी २, लिनन के २, गरम सूट २, ठंडे सूट २, कमीज ६, गरम

कमीज २, पाजामे ६ (२ गरम ४ ठंडे), बूट जोड़ा १, चप्पल १, रूमाल १२, तौलिये ४, कच्छे ४, झाड़न ४, छतरी १, बरसाती १, धोती ४। सर्दियों के लिये—ऊपर के अतिरिक्त दो कम्बल या एक रजाई, ओवरकोट १, गरम दस्ताने १, गरम जुराब २ जोड़े, गरम टोपी १, गरम जर्सी १, गरम जल के लिये रबर बोतल १। स्त्री रोगियों के लिये भी इसी तरह के वस्त्र होने चाहिए। भोजन के सभी आवश्यक पात्र, प्लेट, प्याले, चाय का सामान, साबुन-तेल, नहाने का सामान, टिफिन-कैरियर, मिट्टी के तेल का स्टोव, चिलमची, जग, लोटा-गिलास, साबुन-दानी, लालटेन, बैटरी भी साथ लाना चाहिये।

**सेनेटोरियम की ओर से निम्न वस्तुएँ मिलेंगी**—चारपाई, थूकदानी, छोटी मेज, बड़ी मेज, कुर्सी, आराम-कुर्सी, बेंच, बाल्टी।

**समय-विभाग**—प्रत्येक सेनेटोरियम में राजयक्ष्मा के रोगियों का समय-विभाजन निश्चित होता है। राजयक्ष्मा के रोगियों को उनके रोग की दशा के अनुसार तीन या चार श्रेणियों में बाँटा जाता है और उस दशा के अनुसार ही समय-विभाग निश्चित किया जाता है। मदार यूनियन सेनेटोरियम, अजमेर में समय-विभाजन इस प्रकार है—

## घोर अवस्था में समय-विभाग

| | | |
|---|---|---|
| प्रातः छः बजे जागते ही | | तापमान लेना |
| ६–३० | ,, | मुखादि धोना |
| ७–३० | ,, | लघु आहार |
| ९ | ,, | तापमान लेना |
| ११ | ,, | भोजन |
| १२ | ,, | तापमान लेना |
| १२ से ३ | ,, | चुपचाप विश्राम |
| ३ | ,, | तापमान लेना |
| ३–३० | ,, | चाय व फलाहार |
| ५ | ,, | भोजन |
| ६ से ८ | ,, | चुपचाप विश्राम |
| ८ | ,, | ईश्वराराधना |
| ८–४५ | ,, | तापमान लेना |
| ९ | ,, | रोशनी बंद व चुपचाप नींद |

## साधारणावस्था में समय-विभाग

| | |
|---|---|
| प्रातः ६ बजे | तापमान लेना |
| ६–३० ,, | उठना और हाथ-मुँह धोना |
| ७ ,, | शौच, सन्ध्योपासना |
| ७–३० ,, | प्रातः का लघु आहार |
| ८ से १० ,, तक | सैर (हलका व्यायाम आदि चिकित्सक की आज्ञा से) |
| १० से ११,, तक | बिस्तर पर चुपचाप आराम |
| ११ ,, | भोजन |
| ११ से ३ ,, तक | शान्त-विश्राम |
| ३ ,, | तापमान लेना |
| ३–३० ,, | चाय व फलाहार |
| ४ से ५ ,, तक | आराम |
| ५ ,, | चाय |
| ५–३० से ६–२५ तक | धीरे-धीरे सैर |
| ६–२५ बजे | तापमान लेना |
| ६–३० से ८ तक | बिस्तर पर चुपचाप आराम |
| ८ बजे | ईश्वर-प्रार्थना |
| ८–१५ से ८–४५ तक | आराम |
| ८–४५ बजे | तापमान लेना |
| ९ बजे | सोना। |

**भिन्न-भिन्न रंगों के बैज या फीते**—रोग की दशा को दर्शाने के लिए भिन्न-भिन्न रंगों के बैज या फीते रोगी की कमीज़ या बाजू पर लगा दिए जाते हैं, ताकि उनको पहचानने में सरलता हो सके। मदार यूनियन सेनेटोरियम में इन रंगदार फीतों के संबंध में निम्न नियम हैं—

**लाल बैज**—जब रोगी को पूर्ण आराम करने का कड़ा आदेश हो, रोगी को अपना बिस्तर छोड़ने की तनिक भी आज्ञा नहीं हो। यहाँ तक कि टाँगों व बाजुओं की हरकत को भी बहुत ही घटाना पड़ता है।

**संगतरी बैज**—रोगी को बिस्तर पर ही पड़े-पड़े अपना निजी काम करने, यथा अपना मुख धोना, स्नान के समय छाती व बाजुओं को मलना, भोजन के लिए बिस्तर पर ही बैठ जाना आदि की आज्ञा होती है।

**पीला बैज**—रोगी को भोजन के लिए बिस्तरसे हटकर एक

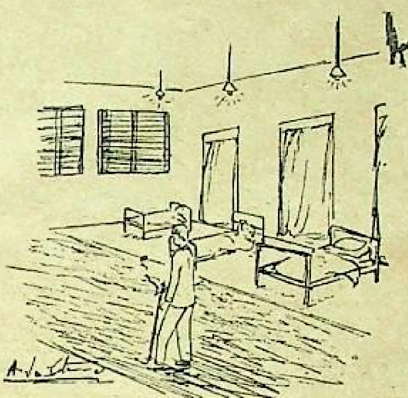
ओर बैठने की आज्ञा हो। स्नानगृह में जाने तथा टट्टी-पेशाब के लिए जाने की आज्ञा हो।

**नीला बैज**---रोगी को सारा दिन बिस्तर पर पड़ा रहने की आज्ञा नहीं हो। उसे बिस्तर पर तभी रहना चाहिये, जबकि ऐसा समय-विभाग में लिखा हो। उसे दो फरलाँग तक घूमने की आज्ञा रहती है।

**हरा बैज**--जब दो फरलांग से अधिक घूमने-फिरने की आज्ञा हो।

**निवास-व्यय**--किंग एडवर्ड सेनेटोरियम में व्यय का व्योरा इस प्रकार है--

ए० क्लास काटेज--२४०) प्रतिमास
बी० क्लास काटेज---१८०) ,,
सी० क्लास काटेज--१३५) ,,
डी० क्लास काटेज--- ७५) से १३०) प्रतिमास



**नीला बेज का रोगी दो फर्लाङ्ग तक घूम सकता है।**

**चिकित्सा**--चिकित्सा-व्यय सारा रोगी के जिम्मे होता है। एक विशेषज्ञ ने तो एक बार यह बात कही थी कि भारत में जितने भी सेनेटोरियम आजकल चल रहे हैं, वे कोई इस भाव से नहीं चलाए जा रहे कि उनको जनता की सेवा करना है। वे तो एक व्यापारिक दृष्टि से काम कर रहे हैं। उनका व्यय इतना अधिक रखा गया है कि साधारण आय वाले व्यक्ति उनसे लाभ नहीं उठा सकते। यह तो सभी को मालूम है कि राजयक्ष्मा रोग हीन, अल्प आहार का ही नतीजा है। भारत की अधिक आबादी तो श्रमजीवी मजदूरों की है। अतः पाठक अन्दाजा लगा लें कि दो-चार रुपये मजदूरी करनेवाला व्यक्ति इन प्रचलित एलोपैथिक सेनेटोरियमों से क्या और कितना लाभ उठा सकता है।

---:o:---

# यक्ष्मा में स्नान से लाभ

वैद्य रामलखन मिश्र, आयुर्वेदाचार्य

स्वास्थ्य के लिए स्नान परमावश्यक है। स्नान करने से शरीर स्वच्छ होता है और चित्त में ताजगी एवं प्रसन्नता आती है। कहा गया है कि सौ काम छोड़कर भोजन और हजार काम छोड़कर स्नान करना चाहिये। इससे प्रकट होता है कि भोजन से स्नान का महत्त्व अधिक है और स्नान से स्वास्थ्य सुधरता है।

राजयक्ष्मा के रोगी को ज्वर रहा करता है, अतः ज्वर में नहाने से कुछ लोग घबड़ा सकते हैं। लेकिन, इसमें घबड़ाने की कोई बात नहीं है। स्नान करने की मनाही नये ज्वर में होती है, लेकिन पुराने ज्वर में स्नान करने से बहुत लाभ होता है। यक्ष्मा में स्नान एक आवश्यक उपचार है। विधि पूर्वक स्नान करने से यक्ष्मा रोग दूर हो जा सकता है।

महर्षि सुश्रुत का कथन है कि 'नियमानुकूल स्नान करने से एक मास में यक्ष्मा रोग निर्मूल हो जाता है।' क्षय रोगी के शरीर पर तैल मर्दन कर दूध या जल से स्नान कराने से स्रोतों के रुकावट खुल जाते हैं तथा शरीर पुष्ट होता है। जल के गुणों का वर्णन वेदों तथा अनेक मन्त्रों में किया गया है। भावमिश्र ने कहा है कि उत्तम जल रसोत्पादक तथा जीवनदायक है। वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि 'जल में जीवन-तत्त्व है। जल ही औषध और रोगनाशक है। संसार की सभी ओषधियों में जल सर्वश्रेष्ठ महौषधि है।' जर्मन डाक्टर लुइकुने ने जल-चिकित्सा द्वारा सारे संसार में अक्षय-यश लाभ किया था। सहज प्राप्य जल सभी ओषधियों में प्रधान तथा प्राणीमात्र के लिये अम्बर पीयूष-सा परम आधारभूत है।

प्रसिद्ध प्राचीन चिकित्सक धन्वन्तरि ने जल के गुणों के बारे में कहा है कि 'जल रुचिकारक, दीपन, पाचन और हल्का है। यह थकावट, प्यास, वायु, कफ और मेद को नष्ट करता तथा शरीर को पुष्ट करता है। जल से क्षय, मोह, भ्रम, निद्रा, आलस्य और विष दूर होता है तथा बुद्धि, बल एवं वीर्य की वृद्धि होती है। जल से नष्ट अंग पुनः पुष्ट होते हैं।' चरक ने भी क्षय रोगी को सफेद सरसों के उबटन और सुगन्धित द्रव्य की मालिश कर ऋतु के अनुकूल स्नान कराने की सलाह दी है।

हमारे शरीर का चर्म केवल अंगों को सुरक्षित रखने के लिये नहीं है, हम इससे साँस भी लेते हैं। हमारे चर्म में असंख्य नन्हें-नन्हें सूराख हैं, जिनके द्वारा हवा हमारे शरीर के भीतर प्रवेश करती है और सफाई का बहुत कुछ कार्य करती है। शरीर से जो पसीना इन सूराखों के रास्ते बाहर निकलता है, उसके साथ शरीर से काफी मात्रा में विष बाहर निकल आता है। पसीने से शरीर पर मैल जम जाने से सूराख बन्द हो जाते हैं। इससे पसीना निकलना बन्द हो जाता तथा हवा शरीर में प्रवेश नहीं कर पाती है। शरीर से विष के बाहर निकलने की क्रिया में इससे व्याघात होता है। यह विष फेफड़े से निकलता है और शरीर से विष के बाहर निकलने में कठिनाई होने पर फेफड़े का काम काफी बढ़ जाता है। यक्ष्मा में फेफड़ा कमजोर रहता है, अतएव फेफड़े का काम यदि बढ़ जाता है तो कमजोर फेफड़ा उससे और भी कमजोर हो जाता है। कार्बोनिक गैस के रूप में जितना विष २४ घण्टे में फेफड़े से बाहर निकलता है, उसका दूना विष हमारे चर्म के रास्ते बाहर निकल आता है। इससे चर्म की सफाई की आवश्यकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। स्नान करने से शरीर का मैल ही नहीं धुल जाता, वरन् हमारा चर्म स्वस्थ, कोमल और स्निग्ध होता तथा रोगों से मुक्त रहता है।

स्वस्थ व्यक्तियों को ठंडे पानी से स्नान करना अच्छा है। ठंडे जल से स्नान करने से सर्दी बर्दाश्त करने की शक्ति बढ़ती है। गरम पानी से स्नान करने से यह ताकत घटती है। इसके अलावा, गरम पानी से स्नान करने के बाद यदि बदन को खुला रखा जाय, तो ठंड लगने का भय रहता है। यक्ष्मा रोगी यदि तन्दुरुस्त हो और ज्वर, पुराना हो गया हो तो कुएँ के ताजा जल से स्नान करना

(शेषांश पृष्ठ २३४ पर)

# देश-विदेश में यक्ष्मा-निरोध अभियान

श्री बी० एम० करियप्पा

विश्व के विभिन्न देशों में पिछली अनेक दशाब्दियों से यक्ष्मा रोग के विरुद्ध अभियान जारी है। ब्रिटेन में करीब ५५ वर्ष पूर्व राष्ट्रीय यक्ष्मा निरोध संघ स्थापित किया गया था। इसका प्राथमिक लक्ष्य जनता में यक्ष्मा के विरुद्ध प्रचार करना, यक्ष्मा प्रसार के कारणों से जनता को अवगत कराना, स्थानीय संघों की स्थापना करना तथा यक्ष्मा के नियन्त्रणार्थ विधान बनाने के लिए सरकार के समक्ष सुझाव पेश करना था। १९११ ई० में राष्ट्रीय स्वास्थ्य वीमा कानून बनने के परिणाम स्वरूप ब्रिटेन में सरकार द्वारा सेनेटोरियमों तथा यक्ष्मा चिकित्सालयों की स्थापना की व्यवस्था हो गयी। इससे संघ के लिए यक्ष्मा चिकित्सालयों की स्थापना करने के कार्यों में संलग्न रहने की आवश्यकता नहीं रही और उसने स्वस्थ यक्ष्मा रोगियों के लिए रोगोत्तर निवास केन्द्रों की स्थापना करने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इस समय ब्रिटेन में ऐसे २०० केन्द्रों का संघ द्वारा संचालन हो रहा है। उक्त केन्द्र भूतपूर्व यक्ष्मा रोगियों के लिए रोजगार, निवास स्थान और अन्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। सरकारी स्वास्थ्य विभाग से उसको सामान्य आर्थिक सहायता मिलती है, लेकिन उसकी प्रधान आय सील की बिक्री से होती है।

**ब्रिटिश** राष्ट्रीय यक्ष्मा निरोध संघ का कोष प्रधानतः सार्वजनिक दान, करीब ३ हजार सदस्यों के चन्दे, प्रकाशनों की बिक्री तथा सील बिक्री से एकत्र होता है। इसको किसी रूप में सरकारी सहायता नहीं मिलती। ब्रिटिश लोकसभा के पाँच सदस्य इसकी कौंसिल में हैं। यक्ष्मा के सम्बन्ध में किसी विचाराधीन सरकारी नीति या विधान के विषय पर वे संघ का परामर्श ग्रहण करते हैं। इसका कार्यक्रम इस ढंग का है कि जनसाधारण, रोगी, चिकित्सक, समाज सेवी कार्यकर्ता, सभी इससे परामर्श, सूचना, जानकारी और पथप्रदर्शन पाते हैं। यह तीन पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करता है। इसका एक विभाग भूतपूर्व यक्ष्मा रोगियों के लिए गृह-उद्योगों का संचालन करता तथा उन्हें रोजी कमाने में मदद देता है। अभावग्रस्त परिवारों को आर्थिक सहायता देने के लिए पृथक् विभाग है तथा विभिन्न विभागों में सम्पर्क कायम रखने के लिए भी एक विभाग कायम है।

**अमेरिका** के पेनसिलवानिया नगर में सर्वप्रथम १८९२ में यक्ष्मा-निरोध संघ कायम किया गया था। इसके बाद अमेरिका के अन्यान्य प्रदेशों में यक्ष्मा-निरोध संघों की स्थापना हुई और आज ऐसे संघों की संख्या तीन हजार से अधिक है, जिनमें से अधिकतर राष्ट्रीय यक्ष्मा-निरोध संघ से सम्बद्ध हैं। १९०७ ई० से इन संघों का कार्यक्रम सील-बिक्री की आय पर पूर्णतया आधारित है। इस आय का अधिकांश उन इलाकों को प्राप्त होता है, जहाँ सील-बिक्री होती है। किन्तु, प्रदेशों को भी इससे भाग मिलता है और प्रत्येक प्रदेश अपने भाग का छः प्रतिशत अंश राष्ट्रीय यक्ष्मा निरोध संघ को प्रदान करता है। राष्ट्रीय यक्ष्मा-निरोध संघ का कार्यालय विभिन्न विभागों में विभक्त है, जिनमें सर्वप्रथम प्रकाशन, सूचना, स्वास्थ्य-शिक्षा, जन-सम्पर्क, प्रबन्ध, प्रशिक्षण, अनुसन्धान, नर्सिंग शिक्षा, विशेष सहायता और पुनर्वास, सील-बिक्री तथा कर्मसंस्थान विभाग हैं। केन्द्रीय संघ सरकार से कोई आर्थिक सहायता नहीं लेता। सरकारी स्वास्थ्य विभागों से यह निकट सम्पर्क रखता है तथा प्रतिवर्ष सभी संस्थाओं के प्रमुख अधिकारियों के सम्मेलन का आयोजन कर विचार-विनिमय करता है।

**कनाडा** में १९०० ई० में यक्ष्मा-संघ गठित हुआ। उस समय कनाडा में कोई सुसंगठित स्वास्थ्य विभाग नहीं था। इसका प्रधान कार्यक्रम शैक्षणिक था। इसके बाद अन्यान्य संस्थाएँ सार्वजनिक सहायता से खुलीं और उनका कार्यक्रम सेनेटोरियमों की स्थापना करने तक सीमाबद्ध रहा। कनाडा में वर्तमान काल में चालू यक्ष्मा-निरोध-संघों में से अधिकांश की स्थापना कनाडियन यक्ष्मा-

निरोध-संघ ने किया था। कालान्तर में उन संघों को सरकार ने अपने नियन्त्रणाधीन कर लिया। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के मध्यवर्ती काल में कनाडा के प्रायः सभी प्रान्त में स्वास्थ्य विभाग कायम हो गये थे। यक्ष्मा-निरोध-संघ का वर्तमान कार्यक्रम जनता को स्वास्थ्य रक्षा के उपायों से अवगत कराना है, जबकि सरकार यक्ष्मा-रोगियों के लिए सेनेटोरियमों का संचालन एवं प्रबन्ध करती है। सील-बिक्री तथा चन्दे से इसको अच्छी आमदनी हो जाती है। सरकार से भी इसको वार्षिक सहायता मिलती है और यक्ष्मा सम्बन्धी विषयों पर सरकार को संघ आवश्यक परामर्श देता है।

**डेनमार्क** में वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में यक्ष्मा जनित मृत्यु का अनुपात २०० से ३०० तक प्रति लाख था। डेनमार्क के चिकित्सकों की केन्द्रीय संस्था ने यक्ष्मा-रोगियों की मदद करने के उद्देश्य से १९०० ई० में एक संघ बनाया तथा १०० शय्याओं का एक सेनेटोरियम कायम किया। राष्ट्रीय यक्ष्मा-निरोध-संघ की स्थापना दो प्रमुख चिकित्सकों द्वारा १९०१ ई० में की गयी। उनमें एक व्यक्ति डेनिश लोकसभा के सदस्य थे। इस संघ ने इतना व्यापक प्रचार किया कि सरकार को यक्ष्मा की समस्या की जाँच कर विधान का मसविदा तैयार करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति करने को वाध्य होना पड़ा। आयोग के प्रयत्नों से १९०५ ई० में दो कानून बने और यक्ष्मा विरोधी अभियान को सरकार का सहयोग प्राप्त हुआ।

१९१० ई० तक संघ ने ८ सेनेटोरियमों को चालू कर दिया था। बड़े दिन पर सील की बिक्री का कार्यक्रम सर्वप्रथम डेनमार्क में ही आरम्भ हुआ और अन्यान्य देशों ने उसका पथानुसरण किया। लेकिन, डेनमार्क में सील-बिक्री की सारी आय शिशु-कल्याण कार्य में खर्च की जाती है। बालकों के लिए भी यहाँ कई सेनेटोरियम बने हुए हैं। डेनमार्क में यक्ष्मा-विरोधी कार्यक्रम इतना अधिक अग्रसर हो चुका है कि संघ ने इस कार्य से पूर्णतया हाथ खींचकर अन्य समाज-कल्याण कार्यों में मनोयोग किया है। यक्ष्मा जनित मृत्यु का अनुपात १४ प्रति-लाख हो गया है। यहाँ अब ऐसी स्थिति आ गयी है कि यक्ष्मा रोगियों का मिलना कठिन हो गया है और अस्पतालों की खाली शय्याओं को भरने के लिए सरकार तथा संघ प्रतिवर्ष विदेशों के रोगियों को आमन्त्रित करता है।

**नार्वे** के राष्ट्रीय यक्ष्मा-निरोध-संघ के अन्तर्गत २० प्रादेशिक संस्थाएँ हैं। उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सील-बिक्री, बसन्त कुसुमों की बिक्री, पुराने स्टाम्पों की बिक्री, चन्दा और लाटरी की आय से होती है। इस अर्थ राशि का उपयोग यक्ष्मा-चिकित्सालयों के संचालन, स्कूली छात्रों की दन्तरोग चिकित्सा तथा भोजन प्रबन्ध, प्रसूतागारों के संचालन, जनता की स्वास्थ्योन्नति के कार्यों, यक्ष्मा रोगियों तथा उनके परिवारों की सहायता के कार्यों में होता है। इसको विभिन्न सूत्रों से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। नार्वे में भी यक्ष्मा-निरोधक कार्य काफी अग्रसर हो चुका है। अतएव, संघ ने अब अन्य जन-कल्याण कार्यों को शुरू किया है।

**स्वेडेन** के गृह-विभाग के अधीनस्थ राजकीय चिकित्सा संस्थान के सन्तर्गत स्वास्थ्य एवं यक्ष्मा-निरोध शाखाएँ चालू हैं। राष्ट्रीय यक्ष्मा-संघ के महामंत्री इन शाखाओं के परामर्शदाता हैं। देश के सभी सेनेटोरियमों तथा केन्द्रीय चिकित्सालयों की वे देख-रेख करते हैं। संघ का प्रधान कार्यक्रम सील-विक्रय अभियान, स्वास्थ्य प्रशिक्षण, वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा यक्ष्मा-रोगियों की सहायता है। यक्ष्मा-विरोधी सरकारी कार्यक्रमों को यह अग्रसर करता तथा सरकारी नीति-निर्द्धारण में मदद देता है।

**फ्रांस** का राष्ट्रीय यक्ष्मा-संघ सरकारी विभागों के घनिष्ट सहयोग से यक्ष्मा-निरोधक अभियान चला रहा है। स्वास्थ्य-मंत्रालय के अधीनस्थ यक्ष्मा-निरोध विभाग द्वारा रोग-निदान और चिकित्सा कार्य किया जाता है। यक्ष्मा-रोगियों के लिए फ्रांस में ८८ हजार ७०० शय्याएँ हैं तथा ९१० चिकित्सालय चल रहे हैं। संघ की आय का प्रधान सूत्र सील-बिक्री है।

## भारत

भारत में यक्ष्मा-निरोध अभियान का सूत्रपात वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में कुछ ईसाई धर्म प्रचारकों ने किया था। उन्होंने देश के कुछ स्थानों में यक्ष्मा रोगियों की चिकित्सा के लिए संस्थाएँ खोलीं तथा रोग-निरोध के




लिए प्रयास आरम्भ किया। १९२१ में यक्ष्मा रोग के प्रसार तथा उसके निरोध के उपायों की जाँच करने के लिए सरकार ने एक आयोग का गठन किया। यक्ष्मा-विरोधी अभियान में १९२८–२९ साल में विशेष प्रगति हुई, जबकि सम्राट जार्ज पंचम की रोगमुक्ति के उपलक्ष में आनन्दोत्सवों के लिए संग्रहीत अर्थ राशि का उपयोग यक्ष्मा-निरोधक कार्यों में करने का निश्चय हुआ। देश के विभिन्न स्थानों में स्वास्थ्य-शिक्षण तथा चिकित्सकों को यक्ष्मा विषयक प्रशिक्षण का इससे प्रबन्ध हुआ। १९-३७ में भारत के तत्कालीन वायसराय की पत्नी लेडी लिनलिथगो ने सम्राट का यक्ष्मा-निरोध कोष खोला और करीब एक करोड़ रुपये की अर्थराशि एकत्र की। इसका करीब ९५ प्रतिशत अंश राज्यों को लौटा दिया गया-तथा शेष ५ प्रतिशत रकम से १९३९ में भारतीय यक्ष्मा संघ की स्थापना की गयी। पिछले पाँच वर्षों से राजकुमारी अमृत कौर इस संघ की अध्यक्षा हैं।

भारतीय यक्ष्मा संघ (Tuberculscis Association os India) को अपने जन्मकाल से ही संगीन मुसीबतों के बीच से गुजरना पड़ा। संघ के उद्घाटन के छः मास के भीतर ही विश्वयुद्ध छिड़ गया और इसके परिणाम स्वरूप देश की साधारण अवस्था अत्यन्त संकट-पूर्ण होगयी। अनेक स्थानों की आबादी अत्यधिक बढ़ गयी और यातायात में भीषण कठिनाई होने लगी। देश की राजनैतिक स्थिति अनिश्चित तथा संकटापन्न हो गयी। देश में खाद्य-संकट उपस्थित हुआ और १९४३ में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। देश विभाजन के वाद शरणार्थियों की समस्या ने स्थिति को और भी नाजुक वना दिया। जनता के रहन-सहन की स्थिति में काफी अवनति हुई। लेकिन, इन सारी कठिनाइयों के बावजूद सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं ने देश में यक्ष्मा की समस्या का सफलतापूर्वक सामना किया। यक्ष्मा-अस्पतालों में शय्याओं की संख्या बढ़कर १३ हजार ५०० हो गयी। ऐसी आशा है कि यह संख्या आगामी वर्ष में दूनी हो जायगी। भारत सरकार द्वारा बी० सी० जी० टीका का कार्यक्रम १९४८ के अगस्त में आरम्भ किया गया और इसमें आशातीत सफलता मिली। मार्च १९५३ तक १३१ लाख व्यक्तियों की ट्यूबरकुलीन परीक्षा हुई तथा ४२० लाख व्यक्तियों को टीका दिया गया। दिल्ली, पटना और त्रावणकोर में यक्ष्मा-निरोध प्रशिक्षण केन्द्र खुले एवं पंचवर्षीय योजना में यक्ष्मा-निरोधक कार्य के लिए ३ करोड़ ३० लाख रुपये की व्यवस्थ हुई।

भारतीय यक्ष्मा-संघ ने वैज्ञानिक पद्धति पर यक्ष्मा-निरोध अभियान को अग्रसर करने में महत्वपूर्ण अंश ग्रहण किया है। यक्ष्मा-चिकित्सा सम्बन्धी प्रशिक्षण की इसने व्यवस्था की है तथा सरकार पर इस व्यवस्था के लिए दवाव डाला है। यक्ष्मा के निदान, चिकित्सा और उपचार तथा रोग-निरोध के सम्बन्ध में इसने सरकार को महत्वपूर्ण परामर्श दिया है। भूतपूर्व सैनिकों तथा शरणार्थियों के लिए संघ ने दो यक्ष्मा अस्पतालों को चालू कर रखा है। यक्ष्मा की औषधियों के उपयोग के सम्बन्ध में भी यह सरकार एवं संस्थाओं को आवश्यक परामर्श देता है। भूतपूर्व रोगियों को रोजगार दिलाने के प्रयास में भी इसने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

भारतीय यक्ष्मा-एसोसिएशन की १७ प्रादेशिक शाखाएँ हैं। प्रत्येक प्रादेशिक शाखा स्वतंत्रतापूर्वक कार्यक्रम बनाती और उन्हें कार्यान्वित करती है। केन्द्रीय संघ का सभी प्रादेशिक संघों से घनिष्ट सम्पर्क रहता है। संघ ने १९५० से सील-बिक्री का कार्यक्रम ग्रहण किया है। यह कार्यक्रम महात्मा गांधी की जन्म तिथि से आरम्भ होकर गणराज्य दिवस को समाप्त होता है। पिछले तीन वर्षों में सील-बिक्री से संघ को ३० लाख रुपये की आय हुई है। इस अर्थ राशि का उपयोग निर्धन यक्ष्मा रोगियों की सहायता करने, पुनर्वास केन्द्र खोलने, यक्ष्मी-निवासों का निर्माण कराने, चिकित्सालय चलाने, चिकित्सा के आवश्यक सामान जुटाने तथा यक्ष्मा निरोध के सम्बन्ध में आवश्यक अनुसन्धान करने में किया जा रहा है। केन्द्रीय संघ के कार्यों में सहयोग देने के लिए विभिन्न समितियाँ कायम हैं। इन समितियों में अनेक प्रमुख सरकारी अफसर तथा सम्भ्रान्त सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हैं।

केन्द्रीय संगठन द्वारा प्रतिवर्ष यक्ष्मा-निरोध कार्यकर्ताओं के महत्त्वपूर्ण सम्मेलन का आयोजन किया जाता है। इन सम्मेलनों में यक्ष्मा-निरोध के विषय पर विचार विनिमय होते तथा इस दिशा में हुए कार्यों का सिंहावलोकन किया जाता है। भारतीय यक्ष्मा संघ अन्तर्राष्ट्रीय यक्ष्मा संघ से सम्बद्ध है। संघ के प्रतिनिधि उसके सम्मेलनों में हमेशा भाग लेते हैं। संघ द्वारा एक त्रैमासिक पत्रिका का भी प्रकाशन हो रहा है, जिसमें यक्ष्मा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विवेचन रहता है। भारतीय यक्ष्मा-संघ रोगियों को निःशुल्क चिकित्सा, रोगी परिवार की सहायता, भूतपूर्व रोगियों का पुनर्वास एवं रोग-निरोध के लिए सक्रिय कदम उठाने को व्यग्र है। भारत में प्रतिवर्ष करीब ५ लाख व्यक्ति यक्ष्मा रोग से मरते हैं और २५ लाख व्यक्ति रोगाक्रान्त रहते हैं। भारत म प्रत्येक १७५ रोगी पर एक शय्या की व्यवस्था है। सुयोग्य चिकित्सकों, परिचारकों एवं विशेषज्ञों का भी अभाव है। फिर भी, संघ को यह आशा है कि वह देश से यक्ष्मा रोग के उन्मूलन की दिशा में शीघ्र सफलता प्राप्त करेगा।

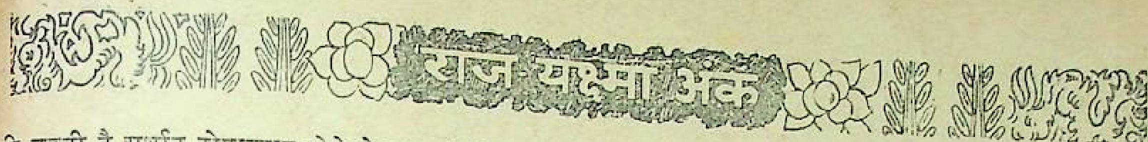
——:o:——

# यक्ष्मा में रोगोत्तर-सावधानी का महत्त्व

रेवेरेण्ड आर० एम० बार्टन, एम० ए० (आक्सन)

कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि 'यक्ष्मा रोगी को सेनेटोरियम में भेजने से क्या लाभ है? सेनेटोरियम में रोगी की हालत सुधर जाती तथा वह चंगा मालूम होने लगता है, लेकिन घर में वापस आते ही वह फिर बीमार पड़ जाता है।' यह अभियोग कुछ अंशों में सत्य है। हमने इस बात का पता लगाने की कोशिश की है कि सेनेटोरियम से निकलने के बाद रोगी की यह हालत क्यों होती है? सभी रोगियों के बारे में ठीक-ठीक कुछ बताना सम्भव नहीं है, क्योंकि करीब दो तिहाई रोगी ही हमारे पत्रों के उत्तर देते हैं और उत्तर देनेवाले व्यक्तियों में आधे से अधिक ऐसे होते हैं, जो बताते हैं कि वे अच्छी तरह हैं और सेनेटोरियम से निकलने के पांच वर्षों के बाद भी काम-काज में लगे हुए हैं। पांच वर्षों का समय परीक्षात्मक माना जाता है, क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि यदि कोई भूतपूर्व रोगी पांच वर्षों तक जीवित रहता है और उसपर दुबारा रोगाक्रमण नहीं होता तो यक्ष्मा से उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि शेष आधे रोगियों की मृत्यु सेनेटोरियम से निकलने के बाद हो जाती है। यह एक कटु सत्य है, लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उनमें ऐसे अनेक रोगी थे जो काफी विलम्ब से सेनेटोरियम में पहुँचे थे तथा अवस्था में किसी प्रकार के सुधार के बिना ही घर वापस चले गये। लेकिन जो व्यक्ति हालत में सुधार के साथ वापस गए, उनमें दो-तिहाई से अधिक व्यक्ति पांच वर्षों के बाद भी स्वस्थ रहे। हमारी यह आदत है कि दुखद घटनाओं को हम हमेशा स्मरण रखते हैं, लेकिन सुखद घटनाओं को तुरत भूल जाते हैं। यक्ष्मा जैसी सांघातिक व्याधि में यह एक महान सफलता ही मानी जायगी कि इतनी अधिक संख्या में यक्ष्मा-रोगी अच्छे होकर अपना साधारण जीवन-यापन करने लगते हैं। इस सिलसिले में यह बात भी हमें याद रखनी चाहिए कि यक्ष्मा उन रोगों के समान नहीं है कि रोगी पूर्णतया चंगा होकर अस्पताल से निकले और पुनः रोगाक्रान्त होने की आशंका से मुक्त हो जाए। कोई भी चिकित्सक ऐसा नहीं कह सकता कि यक्ष्मा-रोगी पूर्णतया चंगा हो गया है। वह सिर्फ इतना कहेगा कि रोग को नियन्त्रित कर लिया गया है अथवा रोग का प्रसार रुक गया है या रोगी की दशा सुधर रही है। क्षतों की पूर्ति अत्यन्त मन्थर गति से होती है और सेनेटोरियम से निकलने के बाद यदि रोगी उपयुक्त अवस्था में तथा पूरे संयम के साथ रहे तो कई वर्षों के बाद क्षयज-क्षत दूर होते हैं और रोगी पूर्णतया रोगमुक्त समझा जाता है।

जब कोई रोगी सेनेटोरियम से घर वापस जाने को होता है तो वह चिकित्सक से अक्सर अपने रहन-सहन, काम-काज, दवा—परहेज आदि के बारे में परामर्श पूछता रहता है। चिकित्सक उसको सलाह देता है कि 'घर जाकर खूब संयम से रहो, पूर्ण विश्राम करो, स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन करो, खुले स्थान में शयन करो, हल्के काम करो और करीब-करीब सेनेटोरियम के जैसा जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करो।' लेकिन इन सलाहों का ठीक पालन होने की क्या निश्चितता है? रोगी का घर जनाकीर्ण हो सकता है, खुलेस्थान में उस का सोना असम्भव हो सकता है या उसके मकान के पास कूड़े के ढेर इकठ्ठे हो सकते हैं, घर में पूर्ण पौष्टिक भोजन का अभाव हो सकता है और हल्का काम कर रोजी कमाने की उसकी आशा स्वप्नवत सिद्ध हो सकती है। इसके अलावा जब रोगी सेनेटोरियम से वापस आता है तो वह अपने घर का सर्वाधिक स्वस्थ और सबल व्यक्ति दिखायी देता है। ऐसी अवस्था में वह अपने लिए किसी विशेष सुविधा का दावा नहीं कर सकता। अतएव अधिकतर क्षेत्रों में चिकित्सक की सलाह व्यर्थ हो जाती है और रोगी पुनः रोगग्रस्त हो कर सारी चिकित्सापटुता तथा अर्थव्यय को बर्बाद कर देता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि चिकित्सा जितनी अच्छी होती है, समस्या भी उतनी



ही बढ़ती है अर्थात् रोगाक्रान्त होने के बाद जो रोगी शीघ्र मर जाते हैं, वे अधिक समस्या उत्पन्न नहीं करते; किन्तु सुचिकित्सा से कई वर्षों तक जीवित रहनेवाले रोगी पूर्णतया रोगमुक्त नहीं होकर दूसरों में रोग का प्रसार करते हैं। अतएव यक्ष्मा रोगियों के लिए रोगोत्तर सावधानी की सब से अधिक आवश्यकता है।

यह समस्या हमारे देश में ही नहीं, सारे संसार में उपस्थित है। चिकित्सालय से निकलने के बाद भी रोगी की पूरी देखरेख होनी चाहिए और उसको संयम तथा सावधानी से रखना चाहिए। यह रोगोत्तर सावधानी की समस्या सब से अधिक जटिल है और इस के समाधान की सारी योजनाएँ दुराशामात्र प्रतीत होती हैं। क्षय रोग की चिकित्सा में शुद्ध वायु का सब से अधिक महत्व है और इसी कारण पाश्चात्य देशों में भूतपूर्व रोगियों को बागवानी, पशुपालन तथा ऐसे ही कामों के लिए सलाह दी जाती है। किन्तु ऐसे कामों में भी काफी परिश्रम होता है और सभी प्रकार के मौसम में काम करना पड़ता है; अतएव भूतपूर्व रोगी के लिए भारत में या अन्यत्र कहीं भी ऐसे काम उचित नहीं कहे जा सकते। पश्चिमी देशों में भूतपूर्व रोगियों के लिए हल्के कामों की व्यवस्था की ओर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा है।

कुछ बड़े कारखानेवालों से अनुरोध किया गया था कि वे अपने कारखानों में भूतपूर्व रोगियों को काम दें तथा उनसे हल्का काम लें। पर इसमें उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। अनुभवों से सिद्ध हुआ कि भूतपूर्व रोगी से भी बंधा हुआ काम लिया गया और काम में कमी होने पर उनका पारिश्रमिक भी कम हो गया। इसके अलावा भूतपूर्व क्षय रोगियों के साथ काम करने में अन्य कर्मचारियों को जबर्दस्त आपत्ति थी।

इस समस्या के सावधान का दूसरा उपाय शहर के बाहर भूतपूर्व रोगियों के लिए उद्यान-गृहों का निर्माण है। ऐसा होने पर वे रोजाना शहर में आकर काम करेंगे और पुनः अपने घर वापस चले जायंगे। लेकिन इस आवागमन में उनको अतिरिक्त अर्थ, समय और शक्ति का व्यय करना पड़ेगा। ब्रिटेन में इस समस्या के समाधान की एक योजना पूर्ण सफल हुई है। पैपवर्थ नामक स्थान पर एक ग्राम्य उपनिवेश बसाया गया है, जिसमें अस्पताल, सेनेटोरियम और उपनिवेश तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। उपनिवेश में अनेक कारखाने भी हैं, जिनमें भ्रमण-सामग्रियों, फैन्सी सामानों, खिलौने का उत्पादन और छपाई का काम होता है। किन्तु, पुनर्वास की इन सारी योजनाओं से अधिक महत्वपूर्ण सभी भूतपूर्व रोगियों की देखरेख और जांच की व्यवस्था है।

भूतपूर्व रोगियों की समस्या के समाधान के दीर्घकाल-व्यापी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष निकला है कि भूतपूर्व रोगियों को उन व्यक्तियों के साथ सदैव सम्पर्क रखना चाहिए, जो उनके रोग और क्षमता की जानकारी रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों से भारी काम नहीं लिया जाना चाहिये और भूतपूर्व रोगियों से सम्बन्धित किसी योजना में उसका परिवार भी सम्मिलित रहना चाहिए।

भारत में भूतपूर्व रोगियों की समस्या को अबतक उपयुक्त महत्व नहीं दिया जा रहा है। भारत की कुछ यक्ष्मा-चिकित्सा-संस्थाओं में भूतपूर्व रोगियों को काम दिया जाता है और इससे अधिक कुछ करने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। यहाँ के सेनेटोरियमों से अनेक रोगी अपने घर को वापस जाकर पुराने कामकाज में जुट जाते तथा भले चंगे रहते हैं, लेकिन उनमें से एक तिहाई व्यक्तियों की मृत्यु पांच साल के अन्दर क्षयरोग से हो जाती है। भारत में क्षयरोगियों के लिए एकमात्र ग्राम्य-उपनिवेश आरोग्य-वरम् (मदनपल्ली जिला) में हैं। यहाँ २० भूतपूर्व रोगियों के निवास की व्यवस्था है। यहाँ उन रोगियों से दूकान, मुद्रणालय, दफ्तरीखाना, दर्जीखाना, कताई-बुनाई और बागवानी का काम लिया जाता है। यहाँ की दूकान का आरम्भ एक भूतपूर्व रोगी और एक कुली की सहायता से से किया गया था और शुरू में हर रोगी के पास खोमचे में सामान लेकर पहुँचता था। आज इस दूकान की बिक्री १४ हजार रुपये मासिक है। यहाँ का छापाखाना ७०) मूल्य के एक हस्तचालित यन्त्र के साथ आरम्भ हुआ था पर आज इस प्रेस में सभी प्रकार की छपाई का काम होता है और विभिन्न प्रकार के यंत्र मौजूद हैं। बुनाई के काम से छः हजार रुपये की मासिक आय होती है।




आज यह उपनिवेश आत्मनिर्भर है और क्रमशः इसका प्रसार हो रहा है।

भारत के कुछ नगरों में भूतपूर्व क्षयरोगियों की देख-रेख क्षय-चिकित्सालयों द्वारा की जाती है। यद्यपि क्षय-चिकित्सालयों के कार्यों का यह भी एक प्रधान अंग है, जिसमें सभी भूतपूर्व अवस्था की सृष्टि, उपयुक्त रोजगार का प्रबन्ध, भूतपूर्व रोगी तथा उसके परिवार के लिए उपयुक्त खाद्य और वस्त्र का प्रबन्ध तथा रोग निरोध व्यवस्था सम्मिलित है, तथापि हमारे देश में क्षय चिकित्सालयों की संख्या इतनी कम है और क्षय-रोगियों की चिकित्सा के कार्य में वे इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि भूतपूर्व रोगियों के प्रति कुछ भी ध्यान देने का उन्हें जरा भी अवसर नहीं मिलता।

पाश्चात्य देशों में भूतपूर्व यक्ष्मा रोगियों के पुनर्वास की अधिकतर योजनाएँ गैर-सरकारी प्रतिष्ठानों के रूप में चालू हुई हैं, लेकिन उनके पीछे जनसाधारण की पर्याप्त सहानुभूति है। ब्रिटेन में भूतपूर्व रोगी को सरकारी कोष से तबतक सहायता दी जाती है, जबतक वह अपनी रोजी कमाने में पूर्ण समर्थ नहीं हो जाता। भारत में अभी ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है और हमें इस बात को भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेना है कि रोगी की चिकित्सा में अर्थव्यय करने से ही समस्या हल नहीं हो जाती। रोगी की सहायता तबतक जारी रहे जबतक वह अपनी रोजी कमाने में सक्षम नहीं हो जाता। इस अतिरिक्त व्यय से जन और धन की आगे चल कर बचत होगी और भूतपूर्व रोगी के बहुमूल्य स्वास्थ्य को अक्षुण्ण रखने में सहायता मिलेगी। इस समस्या के मूल में भूतपूर्व रोगी है, जो वाह्य जगत के साथ प्रतियोगिता करन में असमर्थ है तथा अपने लिए एवं अपने परिवार के लिए संरक्षण चाहता है। यदि उसको उपयुक्त काम दिया जाय तथा उचित देखरेख की जाए तो वह भी समाज का एक उपयोगी सदस्य बन सकता है और सामाजिक जीवन में उपयुक्त अंश ग्रहण कर सकता है।

---o---

शेषांश ]

## यक्ष्मा में स्नान से लाभ

[ २२८ पृष्ठ का

अच्छा है। लेकिन यदि रोगी कमजोर हो तथा ठंडा पानी बर्दाश्त नहीं कर सकता हो तो गर्म पानी से स्नान करना चाहिये। सिर और आँखों पर गर्म पानी नहीं डालना चाहिये। पानी अधिक गर्म नहीं होना चाहिये। बदन को खूब रगड़ कर स्नान करना चाहिये। सप्ताह में कम-से-कम दो बार स्नान करना जरूरी है। कभी-कभी जरूरत पड़ने पर रात को सोने के पहले भी गरम जल से स्नान किया जा सकता है। यदि बदन पर पानी डालने से नुकसान पहुँचने का डर हो, तो भींगे तौलिये से सारे बदन को खूब रगड़कर पोंछ डालना चाहिये।

कमजोर रोगियों को बिस्तर पर लिटाकर, गरम जल में तौलिया भिगोकर बदन अच्छी तरह पोंछ देना चाहिये। यक्ष्मा रोगी को अधिक देर तक नहलाना नहीं चाहिये। कमजोर रोगी को बन्द कमरे में नहलाना या बदन पोंछना चाहिये, अन्यथा ठंड लग जाने का भय रहता है।

नहाने का सही तरीका घर्षण स्नान है। इसमें अंगों को अच्छी तरह रगड़ा जाता है, जिससे चर्म का अच्छा व्यायाम हो जाता है और ऊपरी सतह तक खून का दौरा होने लगता है। रोमकूपों के मुख खुल जाते हैं और चर्म का काम अच्छी तरह होने लगता है। घर्षण स्नान के बाद कुनकुने पानी में तौलिया भिगोकर बदन पोंछ देना चाहिये।

कटिस्नान को आयुर्वेद में बहुत महत्त्व दिया गया है। यक्ष्मा रोगी के लिए यह स्नान बहुत लाभदायक है। मन्द ज्वर इससे दूर हो जाता है। इसकी विधि यह है कि रोगी के शरीर पर तेल मालिश कर उसको तेल, दूध या जल से परिपूर्ण टब में सुखपूर्वक बिठाये। इससे शरीर का बल बढ़ता है। जिसको मन्द ज्वर हो और यक्ष्मा होने का सन्देह हो, उसको यदि उपवास कराया जाय और गले तक उपर्युक्त विधि से कटिस्नान कराया जाय, तो ज्वर शीघ्र दूर हो जाता है तथा यक्ष्मा होने का भय नहीं रहता। राजयक्ष्मा के रोगी को इस स्नान से बड़ा लाभ होता है। इससे आंतें मजबूत होती हैं और ज्वर रुक जाता है। इसके साथ ही धूप और वायु का सेवन यक्ष्मा रोगी के लिए अत्यन्त हितकारी है।

---




(शेषांश पृष्ठ १६ वें का)

बचपन में तापाङ्क बहुत चञ्चल होता है। इतना चञ्चल कि बच्चों का कोई ताप-मान निश्चित नहीं कहा जा सकता। बहुत से बच्चों का ताप-मान १०० डिग्री होने पर भी, यदि उनमें कोई अन्य रोग-चिन्ह न हों तो बहुत से चिकित्सक ज्वर नहीं मानते। परन्तु जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती जाती है, तापमान स्थिर होता जाता है और प्रौढ़ावस्था पर पहुँचने तक वह इतना स्थिर हो जाता है कि किसी विकृत अवस्था में ही घटता बढ़ता है, स्वस्थावस्था में नहीं। मुँह में ९८.४ और गुदा में इससे आधी डिग्री अधिक तापमान प्रौढ़ मनुष्य की स्वस्थावस्था समझी जाती है, किन्तु इसमें भी कुछ दैनिक परिवर्तन स्वस्थावस्था में होते रहते हैं जैसे प्रातः काल चारपाई से उठने से पूर्व आधी डिग्री कम होता है। उठने के थोड़ी देर बाद आधी डिग्री बढ़ जाता है और फिर दिन भर उतना ही बना रहता है। कुछ लोगों में स्वस्थावस्था में तापमान कम अर्थात् मुख का ९७.० होता है। ऐसे लोगों में ९८.० या ९८.५ ताप-मान में ज्वरांश समझना चाहिये। ऐसा कभी उन क्षय-रोगियों में पाया जाता है, जिनका प्रकृतिस्थ तापक्रम कम होता है, इनमें ९९° ताप होते ही ज्वर लक्षण व्यक्त होने लगते हैं।

**ताप-मान की वृद्धि के आगन्तुक कारण**--परिश्रम करने से शरीर का ताप कुछ बढ़ जाता है। प्रकृतिस्थ तापमान से यह २ डिग्री तक बढ़ते देखा गया है। गरम चीजों के खाने और पीने से तापमान बढ़ जाता है। खाने के डेढ़ घंटे बाद ताप १ डिग्री तक बढ़ जाता है। स्त्रियों में मासिक धर्म के दिनों में या उससे एक दो दिन पहले १ से २ डिग्री तक तापमान बढ़ जाता है। मनुष्य के चित्त में क्रोध, शोक, चिन्ता, व्यग्रता आदि भावों से शरीर में तापमान बढ़ जाता है। जब किसी क्षय के रोगी को अपने में क्षय रोग की आशंका होती है तब थर्मामीटर से तापमान लेते समय शङ्काजन्य घबराहट के कारण ताप में और भी वृद्धि हो जाती है। इसलिए क्रुद्ध, उद्विग्न और अन्य भावों से चञ्चल चित्त क्षय रोगियों के तापाङ्क निश्चित करने में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। जब उपक्रान्त क्षय रोग का सन्देह हो तो निर्णय करने के लिए चलने-फिरने वाले या कठिन परिश्रम का काम करने वाले व्यक्तियों में ९८.४ मुखताप को आरोग्यताप मानने में कोई हानि नहीं है। प्रातःकाल सोकर उठने के बाद इससे एक-आध डिग्री कम और सायंकाल या परिश्रम करने के बाद एक आध डिग्री अधिक हो सकता है, किन्तु इससे अधिक मिले तो उसका कारण खोजना चाहिए और यदि अन्य कारण न मिले तो राजयक्ष्मा रोग की सम्भावना समझनी चाहिये।

यदि उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर शरीर का ताप थर्मामीटर से देखा जाय तो पता लगेगा कि हरारत या ज्वर क्षय रोग के सक्रिय विकास या रोग की आरम्भिक अवस्था में विशिष्ट लक्षण होता है और ज्वर का अभाव सक्रिय रोग के न होने का द्योतक होता है। जो क्षयरोगी थर्मामीटर से देखने में ज्वर-रहित प्रतीत होते हैं, उनमें से अनेकों में ज्वर न मिलने का कारण प्रायः ज्वर नापने की विधि में त्रुटि होना है। उपक्रान्त क्षय रोगी को चौबीस घंटे निरन्तर ज्वर नहीं रहता, बल्कि दोपहर बाद घंटे-दो-घंटे के लिए किसी समय थोड़ी-सी हरारत हो जाती है। यदि उस समय तापाङ्क न लिया जाय और सुबह-शाम थर्मामीटर लगाकर नित्य देख लिया जाय, जैसा कि साधारणतः कर लिया जाता है, तो ज्वर का पता नहीं लग सकता। क्षय रोगियों का तापमान चित्तोद्वेग आदि के कारण बड़ा चंचल होता है, उसमें बड़ी जल्दी उतार-चढ़ाव होता रहता है। यद्यपि उद्वेग आदि के कारण स्वस्थ मनुष्यों के ताप में भी चंचलता आती है, किन्तु उसमें इतना अन्तर है कि स्वस्थ मनुष्यों का आगन्तुक कारणों से बढ़ा हुआ तापमान, कारणों के अभाव में, आधे या अधिक से अधिक एक घंटे के बाद प्रकृतिस्थ हो जाता है पर क्षय रोगियों में ऐसा नहीं होता।

प्रातःकाल स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा क्षय रोगी के तापाङ्कों में अधिक अन्तर हो जाता है अर्थात् यदि स्वस्थ मनुष्य का तापाङ्क सायंकाल ९८° या ९८.६ है तो प्रातः काल ९७° या ९७-१२ हो जाता है परन्तु क्षय रोगी का तापाङ्क यदि सायंकाल १००° है तो प्रातःकाल ९९°६ या ९७° डिग्री हो जाता है। क्षय रोग में केवल ताप की अधिकता ही नहीं यह भी देखना चाहिए

कि दिन-रात में कम-से-कम और अधिक-से-अधिक ताप कितना होता है। स्वस्थ मनुष्यों के इन दोनों तापों में केवल एक डिग्री का अन्तर होता है परन्तु क्षय रोगों में दो या इससे अधिक अन्तर होता है।

**क्षय रोगी के ज्वर का भेद**—अन्य प्रकार के ज्वरों से क्षय रोगी के ज्वर का भेद सहयोगी कारणों से जाना जा सकता है। अन्य सब ज्वरों में नाड़ी की गति तापमान के अनुकूल तेज या मंद होती है परन्तु क्षय रोगी के ज्वर में नाड़ी की गति ज्वर की अपेक्षा बहुत तेज होती है। अनेक क्षय रोगियों को ज्वर से पूर्व कुछ ठंड लगती है, हाथ-पाँव कुछ ठंडे होने के बाद ज्वर बढ़ता है। ज्वर थोड़ा होने पर भी क्षयी के चेहरे पर चमक और आँखों में एक प्रकार की विशेष ज्योति आ जाती है जिसे अनुभवी चिकित्सक पहचान सकते हैं। रोगी को गरमी प्रतीत होने लगती है। ऐसा मालूम देता है कि पांसुवों के दोनों तरफ और कन्धों के पास जलती अंगीठी रखी है और उसमें से सेक लग रहा है। हाथ और पैरों की तली में से आग-सी निकलती है। सिर भारी-भारी और सारे शरीर में दर्द होता है। यहाँ एक बात स्मरण रखने योग्य यह है कि इन सब लक्षणों के होते हुए भी शाम को रोगी की भूख कम नहीं होती। भोजन में अरुचि, प्रारम्भिक राजयक्ष्मा रोग के ज्वर को छोड़ कर अन्य सब प्रकार के ज्वरों में पायी जाती है। अन्य प्रकार के ज्वरों में रोगी खाट पर पड़ जाता है, परन्तु राजयक्ष्मा का रोगी काम करने को उत्साहित रहता है। केवल घंटे दो घंटे को जब तक हरारत रहती है, उसे उठने-बैठने में आलस्य का अनुभव होता है। राजयक्ष्मा के कुछ रोगियों को रात में पसीना आता है जो कभी-कभी वह इतना अधिक होता है कि रोगी बिल्कुल तर हो जाता है। उपर्युक्त लक्षण न्यूनाधिक मात्रा में सब क्षय रोगियों में पाये जाते हैं। अन्य कारणों से उत्पन्न हरारतों से क्षय-रोग की हरारत की पहचान करने में यह लक्षण बड़े सहायक और पथ-प्रदर्शक होते हैं। वस्तुतः तीसरे पहर की तबीयत की गिरावट क्षय रोगियों में विष व्याप्ति का इतना विशिष्ट लक्षण होता है कि यह प्रायः उन रोगियों में भी मिलता है जिनमें ज्वर नहीं होता। ऐसे रोगियों के ज्वर को, जिनका तापमान थर्मामीटर में नहीं आता परन्तु जिनमें ज्वर के लक्षण होते हैं—अप्रत्यक्ष ज्वर (Blank या latent fever) कहते हैं। यह ज्वर क्षय रोग की आरम्भिक अवस्था में कुछ रोगियों में देखने में आता है। यही कारण है कि क्षय रोगियों की चिकित्सा में अकेले थर्मामीटर पर ही अधिक भरोसा नहीं करना चाहिए। कभी अप्रत्यक्ष ज्वर का उलटा भी देखने में आता है अर्थात् रोगी का तापमान बढ़ जाता है परन्तु विष व्याप्ति के अन्य लक्षण नहीं होते। ऐसे रोगियों का भविष्य बहुत अच्छा होता है।

क्षय रोग के आशङ्कित रोगियों में आगन्तुक ज्वर का बड़ा महत्त्व है। वह क्षय रोग का निश्चय करने में बड़ा सहायक है। जब किसी रोगी में क्षय रोग का पता लगाना हो तो उसे मील-दो-मील चला कर देखना चाहिए। इससे इससे रोगी में ज्वर के चिन्ह अर्थात् हरारत, थकान और कमजोरी बढ़ जायेगी। यद्यपि भिन्न प्रकार के मनुष्यों में भी चलने फिरने से हरारत आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु क्षय रोगी के और उनके लक्षणों में बड़ा अन्तर है। दूसरे लोगों की बढ़ी हुई हरारत केवल आधा या अधिक से अधिक एक घंटा रह सकती है। इसके बाद उनका टेम्परेचर प्रकृतिस्थ हो जाता है किन्तु क्षय रोगियों की बढ़ी हुई हरारत दो तीन घंटे और कभी-कभी तो इससे भी अधिक रहती है। यदि ऐसा हो तो क्षय रोग का उपक्रम समझना चाहिए।

स्त्रियों में ऋतुकाल के दिनों में बढ़ा हुआ ज्वर भी क्षय रोग की ओर संकेत करता है। नितान्त स्वस्थ स्त्रियों को यह नहीं होता। यद्यपि कुछ क्षयरहित स्त्रियों को भी माहवारी के दिनों में हरारत हो जाती है, किन्तु क्षयोपक्रान्त अथवा क्षय की आरम्भिक अवस्था में स्त्रियों को माहवारी के दिनों में हरारत के साथ क्षय के कुछ अन्य लक्षण भी रहते हैं जो क्षय रहित स्त्रियों में नहीं पाये जाते तथा पार्श्वशूल और रक्त निष्ठीवन भी होने लगता है। कुछ चिकित्सकों का मत है कि जिन रोगिणियों में पहले हरारत नहीं होती, उनमें माहवारी के दिनों में हरारत हो जाती है और जिनमें पहले से हरारत होती है उनमें उन दिनों में बढ़ जाती है। जो हो उन




दिनों की हरारत क्षय की पहचान में बड़ा महत्त्व रखती है। यदि किसी स्त्री को माहवार के दिनों में हरारत बार-बार होती हो और उसकी जननेन्द्रिय में कोई रोग नहीं हो तो क्षय का सन्देह करना चाहिए। कुछ क्षय विशेषज्ञों का मत है कि मासिक धर्म से पूर्व की हरारत गुप्त या सक्रिय क्षय रोग की द्योतक होती है उस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। यह हरारत मासिक धर्म के कुछ दिन पूर्व से होती है और ऋतु काल भर रहती हैं। इस बात पर विचार करते हुए कि क्षयी स्त्रियों में से ४०-५० प्रतिशत में ऋतुकालिक या ऋतु सन्निहित पूर्वकालिक ज्वर होता है और निरोग स्त्रियों में बहुत कम को होता है, उन विशेषज्ञों का मत है कि क्षय-रोग का निर्णय करने में यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण लक्षण होता है। यदि ऋतुकालिक ज्वर न हो तो सक्रिय क्षय नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार इस एक ही लक्षण पर विशेष ध्यान देने से स्त्री-रोगियों में क्षय का निश्चय करने में बहुत-सी उलझनें सुलझ जाती हैं।

साधारण पुरातन क्षय रोग की उपक्रान्त अवस्था में केवल थोड़ी-सी हरारत होती है। यदि लगातार सप्ताह-दो सप्ताह तक हर दो घंटे पर थर्मामीटर लगाकर न देखा जाय अथवा किसी नब्ज विशेषज्ञ से निश्चय न कराया जाय तो उसका पता नहीं लगता। कभी-कभी हरारत रात को होती है। इसलिए, यदि रात को हर दो घंटे पर थर्मामीटर न लगाया जाय तो उसका पता नहीं लगता। कभी-कभी ज्वर का उलटा क्रम होता है अर्थात् दोपहर बाद होने के बजाय ज्वर दोपहर के पहले होता है। यह बहुत बुरा लक्षण समझा जाता है। इसलिए दिन रात में हर दो-दो घंटे के बाद ज्वर का तापक्रम लेकर एक कागज पर रोज लिखना चाहिए, ऐसा आजकल के विशेषज्ञ चिकित्सकों का मत है। परन्तु इससे जहाँ चिकित्सक को रोग ज्ञान में सहायता मिलती है वहाँ रोगी को परेशानी भी बहुत होती है। बार-बार हरारत की ओर ध्यान जाने से भी हरारत में वृद्धि होती है और किसी भी कारण से क्षय के रोगी में हरारत का बढ़ना बुरे लक्षणों में सम्मिलित है, इसलिए हर दो घण्टे में थर्मामीटर लगाने की अपेक्षा किसी नब्ज के विशेषज्ञ को दिखाकर रोग निश्चय कराना अधिक अच्छा है। नब्ज का वैसा विशेषज्ञ न मिमने पर थर्मामीटर से ही काम निकालना चाहिए।

तीसरे पहर की हरारत, जो क्षय के विशिष्ट लक्षणों में से एक है, केवल क्षय रोग में ही नहीं, अन्य भी कई रोगों में वैसी ही हरारत हुआ करती है, जैसे--रक्त की कमी, जिगर और तिल्ली की वृद्धि, दाँतों की जड़ों से पीव का निकलना, कान का पुराना-बहाव, श्वास नलिका का फूलना, वृक्क विकार, स्त्रियों के जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोग, पुराने उपदंश आदि रोगों से भी हरारत हो सकती है। इसलिए जब तक फेफड़े के विकार के अन्य चिह्न न मिलें; केवल हरारत से ही क्षय रोग का निश्चय नहीं कर लेना चाहिए। कुछ ऐसे रोगी भी देखने में आते हैं, जिनमें अन्त तक ज्वर बहुत ही कम या नहीं के बराबर रहता है; किन्तु अरुचि, खाँसी, कृशता, रक्त निष्ठीवन आदि लक्षणों से उनकी मृत्यु हो जाती है। इसलिए केवल ज्वर की कमी या वृद्धि पर रोग की कमी और वृद्धि निर्भर नहीं करती। सभी लक्षणों पर ध्यान रखकर रोग निश्चय करना चाहिए।

एक बड़ी भारी उलझन यह है कि क्षय रोगी को एक सा या एक प्रकार का ज्वर नहीं होता। भिन्न अवस्थाओं में भिन्न प्रकार के ज्वर होते हैं। अतएव किसी भी ज्वर को क्षय का लाक्षणिक ज्वर नहीं कहा जा सकता। फिर भी कुछ लक्षण ऐसे मिलते हैं जो रोग की दशा उपद्रव और साध्यता तथा असाध्यता का बोध कराने में पथ-प्रदर्शक का काम करते हैं।

**अविरत ज्वर**--यदि रक्त निष्ठीवन के बाद अथवा किसी अज्ञात कारण से रोगी को अविरत ज्वर हो जाय तो समझना चाहिये कि फेफड़ों में रोग बढ़ गया है और यदि यह ज्वर तीन या चार सप्ताह से अधिक रहे तो रोगी का भविष्य शोचनीय समझना चाहिए। अच्छी चिकित्सा से सम्भव है कुछ रोगियों की दशा में कुछ सुधार हो जाय परन्तु वे अच्छे नहीं हो सकते।

**विषम ज्वर**--बहुत से रोगियों को प्रगतिशील क्षय रोग के अन्त में विषम ज्वर हो जाता है। इसे ग्रामीण भाषा में 'विरवम' कहते हैं। जिन रोगियों के फेफड़े में गलाव हो जाता है और गलाव धीरे-धीरे कफ के साथ बाहर निकल कर फेफड़े में छिद्र बन जाते हैं उनमें रेखा चित्र (Chart)

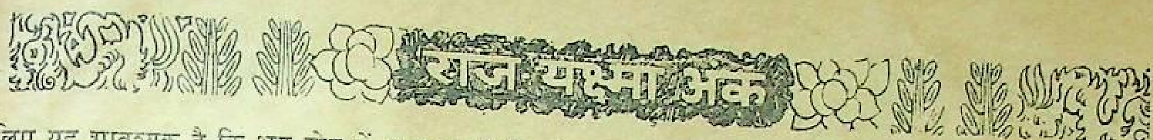
को देखने से इस ज्वर का पता लग जाता है। प्रातःकाल ज्वर बहुत कम हो जाता है, प्रायः आरोग्य-तापमान से भी कम तापमान हो जाता है। दोपहर बाद कुछ सरदी लगती है या बड़े जोर का जाड़ा चढ़ता है और नाड़ी, जो ज्वररहित अवस्था में भी कमजोर किन्तु अतिशीघ्रगामी होती है, और भी तीव्रगामी हो जाती है। शरीर का ताप बढ़ने लगता है और १०४° तक पहुँच जाता है। ऐसे रोगियों को रात्रि में स्वेद अधिक आता है, जिससे रोगी शिथिल हो जाता है। इन विषम ताप के रोगियों में ताप की सबसे अधिक तेजी का समय अलग-अलग होता है। प्रायः तीसरे पहर ताप अधिक बढ़ता है पर कभी-कभी दोपहर को ही ताप बढ़कर सायंकाल तक उतर जाता है। इस प्रकार का विषम ज्वर कई सप्ताहों और कभी-कभी तो महीनों तक चलता है। अरुचि और अतिसार जैसे कई सहगामी लक्षणों के कारण ऐसे ज्वर के समय रोगी का शरीर गीले और मटीले चमड़े से ढँका हुआ अस्थि-पंजर मात्रा रह जाता है जिसके पैरों पर सूजन, ओठों और नखों पर श्यामता, आँखों और गालों में गहरापन दृष्टि और स्वर में दीनता ऐसे लक्षण उत्पन्न कर देते हैं, जिन्हें देखकर पुराने अनुभवी चिकित्सक भी निरुत्साह हो जाते हैं और समय मापनार्थ ही किसी औषध का उपयोग करते रहते हैं। किन्तु इन रोगियों में बहुतों की मेधा शक्ति आश्चर्यजनक दुरुस्त रहती है और रोगी अपने जीवन से निराश नहीं होते। एक-आध अति कष्टप्रद लक्षण को दूर करने के लिए चिकित्सक से प्रार्थना करते रहते हैं और यह कहते रहते हैं कि यदि यह शिकायत किसी प्रकार दूर हो जाय तो वे शीघ्र अच्छे हो जांय। परन्तु यह स्थिति ऐसी गम्भीर होती है कि किसी भाग्यवान् की ही सुधरती है।

**खाँसी**—फेफड़े के क्षय में खाँसी प्रधान लक्षण है। प्रायः सबसे पहले इसी से रोग जाना जाता है। कुछ चिकित्सकों का ऐसा मत है कि बिना खाँसी के भी राजयक्ष्मा होता है। किन्तु राजयक्ष्मा के विशेषज्ञों में अधिक का मत यही है कि रोग में किसी न किसी रूप की खाँसी अवश्य होती है। राजयक्ष्मा की खाँसी कई प्रकार की होती है। खाँसी के द्वारा राजयक्ष्मा की पहचान में यही एक बड़ी उलझन है। यदि राजयक्ष्मा की खाँसी एक ही प्रकार की होती तो रोग की पहचान में कोई दिक्कत न होती।

**जुकाम और खाँसी**—कई रोगियों को सक्रिय राजयक्ष्मा होने से पहले बहुत दिनों तक बार-बार जुकाम और हल्की खांसी होती रहती है। लोग इसकी ओर कम ध्यान देते हैं और इसका कारण जुकाम है ऐसा समझते रहते है। किन्तु बार-बार जुकाम और खाँसी हो तो किसी क्षय विशेषज्ञ से इसकी परीक्षा अवश्य करानी चाहिए।

**दौरेदार सूखी खाँसी**—अनेक क्षय रोगियों में रोग के प्रारम्भ में या बाद में खाँसी बड़े वेग से उठती है। इसके दौरे होते हैं। जब सूखी होती है तब बड़ी कष्टदायक होती है। जब यह सायंकाल में अधिक तीव्र होती है तो रोगी रात में सो नहीं सकता। इससे छाती में पीड़ा और निद्रा नाश तथा रोगी को थकावट बहुत होती है। ऐसी खाँसी क्षय के बिना भी होती हैं किन्तु उसमें क्षय का कोई अन्य लक्षण नहीं होता। यदि क्षय के अन्य लक्षणों के साथ खाँसी हो तो फेफड़े के क्षय की निश्चित सूचना देती है।

**वमनकारी खाँसी**—क्षय की आरम्भिक अवस्था में बहुत से रोगियों को ऐसी खाँसी होती है कि खांसते-खांसते उलटी हो जाती है। ऐसी खाँसी को वमनकारी खाँसी कहते हैं। भारत के बाहर के देशों के राजयक्ष्मियों में यह खाँसी बहुत पायी जाती है। भारत में भी कुछ रोगियों में यह मिलती है। फ्रांसीसी डाक्टरों का कहना है क्षय रोगियों में ५०-६० प्रतिशत वमनकारी खांसी होती है। इससे प्रतीत होता है कि यह उस देश के राजयक्ष्मियों में अधिक होती है। परन्तु यह खांसी भी निश्चित क्षय रोग का प्रतीक नही है। क्षय के बिना भी वेगवाही खाँसी में वमन हो जाता है। दूसरी ओर बिना खाँसी भी प्रतिशत क्षय रोगियों को वमन हो जाता है। तथापि यदि पुराने मदिरापान करने वालों में मिलने वाली खाँसी, कूकर खाँसी और नासिका के प्रदाह की खाँसी को निकाल दिया जाय तो वमनकारी खाँसी क्षय का एक विशिष्ट लक्षण मानी जा सकती है। क्षय रोग का निश्चय करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु इसके रोग निरूपक मूल्य को ठीक-ठीक समझने के




लिए यह आवश्यक है कि क्षय रोग में अन्य कारणों से जो वमन होता है उससे इसकी ठीक-ठीक पहचान करली जाय।

वमनकारी खाँसी इस प्रकार की होती है कि रोगी दोपहर या शाम को जब भोजन करता है तो उसके १५-२० मिनट के बाद या इसके भी बाद एक घंटा तक उसको अचानक खाँसी का दौरा उठता है और उसको उसके गले में कफ चिपका हुआ प्रतीत होता है जो निकलने में नहीं आता। उसे निकालने के लिए खांसते-खांसते उसे कै हो जाती है—जिसमें खाया-पीया सब निकल जाता है। दौरे से पहले जी नहीं मिचलाता किन्तु खांसते-खांसते एकाएक वमन हो जाता है। इस प्रकार अन्य वमनों से इसकी पहचान की जा सकती है।

खाँसी के अलावा अन्य कारणों से भी क्षय में वमन होता है; जैसे आमाशय का फूलना, आमाशय का पुराना प्रदाह, मद्यपान की पुरानी आदत, क्षय रोग की समृद्ध अवस्था में क्षय के उपद्रव के रूप में भी वमन होता है और कभी-कभी वह इतना प्रबल होता है कि रोगी को कुछ भी खाना कठिन हो जाता है किन्तु इस प्रकार के वमन को 'वमन कारी खांसी' नहीं कहते।

वमनकारी खांसी बहुधा ऐसे क्षय रोगियों में पायी जाती है जिनकी पाचनशक्ति अच्छी होती है। इसमें वमन के पूर्व सदैव खाँसी का दौरा होता है। भोजन के उपरान्त यह दौरा सदा निश्चित समय पर होता है। क्षय रोगी को यदि वमनकारी खाँसी हो और उसमें कूकर-खाँसी या मद्यपों का पुरातन कण्ठ प्रदाह ऐसी कोई शिकायत न हो तो तुरन्त क्षयरोग का सन्देह करना चाहिए। यदि यह सिलसिला कुछ लंबा होता दिखे तो क्षयरोग का निश्यात्मक कोई अन्य चिन्ह न मिलने पर भी क्षय-रोग का होना समझना चाहिए।

**क्षय रोग की समृद्धावस्था की खाँसी**—जैसे-जैसे रोग बढ़ता जाता है, खाँसी उत्तरोत्तर बढ़ती और कफवाली होती जाती है और कफ के निकलने में तकलीफ कम होती जाती है। फेफड़े में रन्ध्र बन जाने पर खाँसी में प्रायः कमी होती जाती है और रात में निद्रा भंग नहीं होती क्योंकि कफ रन्ध्र में जमा होता रहता है। प्रातः काल तब तक खाँसी होती रहती है, जब तक फेफड़ों के रन्ध्र कफ से खाली नहीं होते। रोगियों को बैठने की अपेक्षा लेटने पर खाँसी अधिक आती है। कुछ रोगियों को खड़े होने से खाँसी अधिक आती है। इस अवस्था में रोगी को बहुत तीव्र खाँसी आती है जिससे उसे बेचैनी बहुत होती है। यह ठीक है कि खाँसी से रोग की अधिकता की सूचना मिलती है परन्तु कुछ रोगी ऐसे भी देखने में आते हैं जिन्हें खाँसी अन्त तक नहीं होती। ऐसे रोगी प्रायः वे होते हैं जिन्हें वृद्धावस्था में क्षय होता है। युवावस्था के क्षय रोगी को खाँसी अधिक होती है। चिड़चिड़े और तेज स्वभाव और अधिक कामी राजयक्ष्मियों को खांसी अधिक होती है। शान्त प्रकृति के रोगियों को खाँसी कम होती है।

रोग के साध्यासाध्य विचार की दृष्टि से भी खाँसी का महत्त्व है। खाँसी के तीव्र होने और दौरे के देर तक रहने से रोग के फैलने की सम्भावना रहती है। सबसे अधिक असाध्य रोगी वह होते हैं जिन्हें खाँसी रात में अधिक उठती है। जिन्हें केवल दिन में खाँसी उठती है वे रोगी असाध्य नहीं होते। सबसे अधिक साध्य वे होते हैं जिन्हें केवल प्रातःकाल खाँसी उठती है। कभी-कभी खाँसी का एकाएक बन्द हो जाना राजयक्ष्मा के किसी भारी उपद्रव का सूचक होता है। स्वर यन्त्र में भारी व्रण होने से भी ऐसा होता है। तब खाँसी तो कम हो जाती है किन्तु भोजन में अरुचि से शक्तिनाश होकर रोगी का अन्त निकट आने लगता है।

कफ भी क्षय रोग की पहचान का प्रमुख अङ्ग माना जाता है। डाक्टर लोग तो बहुधा कफ की परीक्षा से ही क्षय रोग का निर्धारण करते हैं। यदि क्षय के कृमि कफ में नहीं मिलते तो क्षय रोग नहीं होता, ऐसा बहुधा डाक्टर मानते हैं। किन्तु यह पहचान एक आध बार कफ की परीक्षा से निश्चित नहीं कर लेनी चाहिए। क्षय की आरम्भिक अवस्था में प्रायः सूखी खाँसी होती है तो कफ आता ही नहीं और आता भी है तो बहुत हल्का और पतला जैसा जुकाम में आया करता है। उसमें बहुत बार कृमि नहीं मिलते। थोड़े दिनों में जब कफ गाढ़ा और पीला होने लगता है, तब यह कफ में मिलते हैं। कफ में

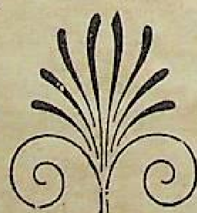
कीड़े उस अवस्था में अधिक मिलते है जब फेफड़े में पीव पड़ जाता है और वह गलने लगता है। ज्यों-ज्यों कफ गाढ़ा पीला या शुद्ध हरा निकलने लगता है, त्यों-त्यों रोग की प्रवृद्ध अवस्था की सूचना मिलती है। उस अवस्था में थूक पानी में नीचे डूबने लगता है और उसके मुद्राकार पिण्ड थूकदान में नीचे बैठे मिलते हैं। प्राचीन काल के वैद्यों ने इस प्रकार के कफ की अवस्था के रोगी को कृच्छ्रसाध्य या असाध्य माना है।

ज्वर और कफ की कमी क्षय रोगी के लिए शुभ लक्षण है। इससे फेफड़े के द्रवों की सूचना मिलती है। इसके विपरीत कफ की अधिकता से रोगी शीघ्र शक्तिहीन हो जाता है। चेपदार कफ को उखाड़ने में रोगी को जोर से और देर तक खांसना पड़ता है। उससे फेफड़ों का घाव बढ़कर रोग बढ़ जाता है। कभी-कभी कफ में खून आने लगता है। बहुत बार कफ के बिना भी रोगी को रक्त के कुल्ले आते है और उसमें १-१ पाउन्ड रक्त एक साथ निकल जाता है। जब रक्त स्राव बन्द होता है तब भी रक्त के पिछले कफ में बहुत दिनों तक निकला करते हैं। अन्तिम अवस्था में कफ पानी सा पतला और कत्थई रंग का हो जाता है। उसमें वायु के बुलबुले होते हैं उससे फुफ्फुस के शोथ की सूचना मिलती है। ऐसी दशा में रोगी नहीं बचता।

**स्वर भंग**—क्षय रोग के कुछ रोगी ऐसे भी देखने को मिलते हैं जिनकी आवाज बैठ जाती है। यह भी क्षय का एक बलवान् लक्षण है। इसे स्वरभंग कहते हैं।

राजयक्ष्मा आरम्भ होने से पहले कुछ ऐसे रूप दिखायी देते हैं, जिनसे राजयक्ष्मा के होने की निश्चित सूचना मिलती है। जैसे बार-बार जुकाम होना और इसका सिलसिला बहुत दिन चलाना। अच्छा खाने-पीने पर भी सूखते जाना और कमजोर होते जाना। अच्छी बातों में भी बुराई दीखना, शरीर में ग्लानि होना, स्त्री सम्भोग, मांस और मद्य में अधिक रुचि होना, मुंह ढंकने को मन करना, खाने और पीने की चीजों में मक्खी, बाल, घुन, (अन्न को खराब करने वाले कीड़े) का गिरना, स्वप्न में मांसखोर पक्षी, पशु, आदि को अपने ऊपर आक्रमण करते दिखायी देना और भस्म के ढेर पर चढ़ना, तालाब, नदी, समुद्र को जल रहित देखना, जङ्गल और पर्वतों में चारों ओर आग लगी देखना या उन्हें सूखे देखना सूर्य, चन्द्रमा और तारे का आकाश से नीचे गिरते देखना। इसी प्रकार के अन्य भी घोर और भयानक रूपों का देखना भावी राजयक्ष्मा की सूचना देते हैं। इस प्रकार के विकृत दर्शनों का अधिक दर्शन होना यह सिद्ध करता है कि द्रष्टा को राजयक्ष्मा होने वाला है। यह आयुर्वेद के आचार्यों की अपनी विशेषता है कि उन्होंने प्रत्येक रोग के निदान पूर्व रूप सम्प्राप्ति उपशम और अनुपशम आदि लिखे हैं, जिससे रोग की पहचान में अपेक्षित सहायता प्राप्त होती है। आजकल के चिकित्सक भी भी इन उपायों को अभीष्ट-सिद्धि का कारण मानने लगे हैं और इनसे काम लेने लगे हैं। मिश्रित और अनियत और अस्पष्ट लक्षणों की उलझनों को सुलझाने में ये लक्षण बहुत सहायक होते हैं। इनको जाने बिना चिकित्सक रोग की पहचान में उलझा ही रहता है। इसलिए इनको जान कर ही यक्ष्मा की पहचान में कदम बढ़ाना चाहिए।

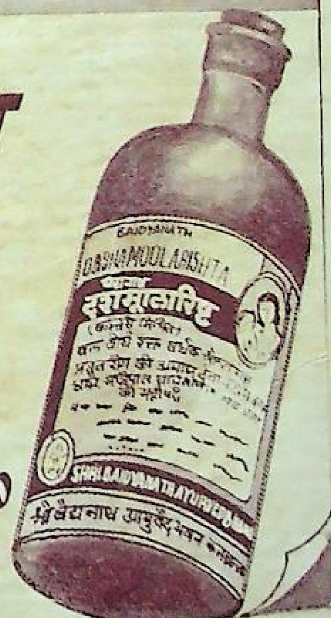












BAIDYANATH
DASHAMOOLARISHTA
दशमूलारिष्ट
SHRI BAIDYANATH AYURVED BHAWAN

प्रकाशक : पं० रामनारायण शर्मा, (१, गुप्ता लेन, कलकत्ता) के लिए, ... प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स लि० कलकत्ता में मु



